15758.

पुराणगत वेदविषयक सामग्री
का
समीक्षात्मक अध्ययन

लेखक
डा० श्री रामशंकर भट्टाचार्य
प्राचीनव्याकरणाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक
मोहनलाल भट्ट
सचिव
प्रथम शासन निकाय
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशन वर्ष
शक संवत् १८८७
सन् १९६५ ई०
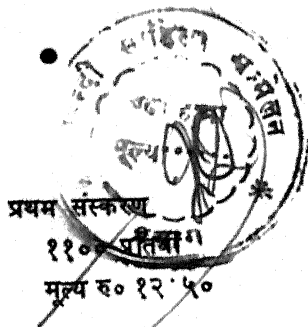
प्रथम संस्करण
११०० प्रतियाँ
मूल्य रु० १२·५०

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

समर्पण

परमपूज्य

माता-पिता

के

चरण-कमलों

में

समर्पित

रामशंकर भट्टाचार्य

प्रकाशकीय

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" "आत्मा पुराणं वेदानाम्" आदि-- उक्तियाँ इस देश में चिरकाल से प्रसिद्ध रही हैं और वे हैं भी बिल्कुल ठीक; क्योंकि वेदों का मर्मार्थ समझने के लिए इतिहास-पुराण अनन्य सहायक हैं। पूर्वाचार्यों की यह मान्यता वर्तमान काल के विद्वानों को भी माननी पड़ रही है। हमारा पौराणिक साहित्य वेदविद्या के क्षेत्र में कितना उपकारक सिद्ध हो सकता है इसका विशदरूप से निदर्शन न तो किसी प्राचीन ग्रन्थ में हुआ है और न इतःपूर्व प्रकाशित किसी अर्वाचीन ग्रन्थ में ही। यह अभाव अवश्य ही खेद का विषय है। प्रस्तुत ग्रन्थ इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास है और विश्वास है कि यह वह उक्त अभाव को दूर करने में बहुत कुछ सफल होगा।

इस ग्रन्थ में मुख्यतया पुराण-वचनों के आधार पर वेदविद्या के शब्दमयरूप का विवेचन किया गया है। इसमें वैदिक साहित्य का विवेचन पूरे ऊहापोह के साथ हुआ है; किन्तु इसमें सामान्य रूप से वैदिक सिद्धान्त, वेदप्रतिपाद्य विषय और वेदशब्दार्थ आदि अन्तरंग विषयों का भी किया गया विवेचन मिलेगा। इसके अतिरिक्त, ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक रूप से उन सभी मान्यताओं की पृष्ठिभूमि का अन्वेषण प्रस्तुत करने का भी भरसक प्रयास किया है जो वेद के विषय में विभिन्न सम्प्रदायों एवं शास्त्रों में पायी जाती रही हैं।

डा० रामशंकर भट्टाचार्य का पुराण-विषयक अध्ययन अत्यन्त विशाल और गहन है और दृष्टि भी उनकी बड़ी पैनी है। इसीलिए वे इस विषय को इतने अच्छे रूप में प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। यह हिन्दी में इस प्रकार का सर्वप्रथम मौलिक चिन्तन है और इसके लिए डा० भट्टाचार्य हमारे साधुवाद के अधिकारी हैं। हमें विश्वास है कि वैदिक और पौराणिक साहित्य में रुचि रखने वाले शोधप्रिय पाठकों को इस चिन्तन-प्रधान ग्रन्थ से अवश्य लाभ होगा।

मोहनलाल भट्ट
सचिव
प्रथम शासन निकाय

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

निवेदन

न काचिन्मे वैदुष्यहह सुमहासाहसमिह
स्वमौढ्यं वा हेतुर्निरवधिकृपा वा भगवतः।
प्रभुत्वं वा हीनेऽप्युदयति यदाद्ये प्रहसितं
द्वितीये त्वानन्दं प्रतिपदमिदं धोक्ष्यति सताम्।।[1]

भारतवर्ष सदृश एक विशाल देश में विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा विभिन्न प्रकार के जितने साधन किए गए हैं तथा विभिन्न महापुरुषों द्वारा जो भी शास्त्रचिन्तन हुए हैं, उन सब मतों और साधनों का विपुल संग्रह पुराणों में विद्यमान है। 'वैदिक', 'तान्त्रिक' और 'मिश्र' इन तीन धाराओं का स्वच्छ विवरण पुराणकारों ने अपनी उदार दृष्टि और मनीषा के अनुसार निबद्ध किया है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास के ज्ञान के लिये इन पुराणों की सहायता सर्वथा अपरिहार्य समझनी चाहिए।

पौराणिक साहित्य—जिनमें उपपुराण भी सम्मिलित हैं—में चिरकाल से ही मेरी रुचि रही है। प्रस्तुत 'शोधप्रबन्ध' (अधि-निबन्ध या थीसिस, कहीं-कहीं संक्षेपार्थ केवल निबन्ध शब्द भी प्रयुक्त हुआ है) के कार्य से पहले शब्दशास्त्र और दर्शनशास्त्र के अनुसार इस साहित्य का अध्ययन यथामति मैंने किया था। अध्ययनकाल में मैंने यह अनुभव किया था कि धर्मशास्त्रीय दृष्टि से निबन्धकारों ने पुराण-साहित्य का यद्यपि प्रचुर उपयोग किया है तथापि वैदिक सामग्री के क्षेत्र में पुराणगत सामग्री की सहायता को लेकर कोई भी पूर्णाङ्ग विचार पूर्वाचार्यों ने नहीं किया। पुराणों के माध्यम से वेद-विद्या का 'उपबृंहण' करना चाहिए—इस मान्यता की परीक्षा होनी अभी अवशिष्ट है। कार्य की उपादेयता को सोचकर

---

१. इस ग्रन्थरचनारूप-साहसिकतापूर्ण कार्य में मेरा कोई पाण्डित्य नहीं है, पर अपनी मूढ़ता या भगवान् की अहैतुकी कृपा ही इस कार्य में प्रवृत्ति का हेतु है। यदि पहला हेतु माना जाए तो 'हीन व्यक्ति प्रभुत्व की इच्छा कर रहा है,' ऐसा जानकर विज्ञजन परिहास करेंगे और यदि द्वितीय हेतु माना जाए तो यह ग्रन्थ प्रकृत साधुजनों को आनन्द देगा—इस प्रकार दोनों दृष्टियों से यह ग्रंथ आनन्द-दायक होगा—यह निश्चित है।

मैंने इस विषय पर ही गवेषणा[१] करने का निश्चय किया। इस विषय में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, यह इस शोधप्रबन्ध के परीक्षक महोदयों की संस्तुतियों से जाना जा सकता है।[२] वेद का स्वरूप और वैदिक साहित्य ही मुख्यतः इस निबन्ध में पुराणवचनों के आश्रय से विचारित हुए हैं, और वेदार्थ, वैदिकमत एवं वेदोत्पत्ति आदि विषय विचार की पूर्णता के लिये आलोचित हुए हैं (अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूप से)। पुराण और वेद का सम्बन्ध कितना घनिष्ठ है[३] —यह भूमिका में यथास्थान दिखाया गया है।

---

१. मूलतः यह शोधप्रबन्ध आगरा विश्वविद्यालय को पी-एच० डी० उपाधि के लिये समर्पित किया गया था। प्रकाशक की इच्छा के अनुसार 'वैदिक' शब्द के स्थान पर 'वेदविषयक' शब्द रखा गया है (ग्रन्थनाम में)।

२. (क) As a matter of fact, Sanskritists should be grateful to the author for the vast information from the Puranas regarding the Vedas which he has collected in his thesis. As a result of his devoted labour, our knowledge has been definitely enriched.

(ख) The thesis has proved and streamlighted how the forms, structure and terminology as well as the hidden or deep historical, ritualistic and philosophical significance of the Vedas can be brought out clearly and authentically with the help of the Puranas. The thesis throws ample, though not full, light on such and other problems and goes a long way towards their solution.

३. पुराण और वेद के सम्बन्ध की घनिष्ठता के विषय में ये आठ वाक्य सूत्ररूप हैं—

(१) आत्मा पुराणं वेदानाम्। (रेवा० १।२२); (२) इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् (महाभारत आदि० १।२६७); (३) पुराण-पूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः (महाभा० आदि० १।८६); (४) वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः (प्रभास० २।९०); (५) वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थम् (तत्त्वसन्दर्भ, पृ० ३८ धृत-नारद-पुराण-वचन); (६) इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते (भाग० १।४।२०); (७) श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम् (काशी० २।९६); (८) सर्ववेदार्थसाराणि पुराणानि। (नारदीय० १।९।९७)।

पुराणगत प्रायः सभी वैदिक विषय सामान्य-विशेषरूप से यहाँ आलोचित हुए हैं, यह विषयसूची के देखनेमात्र से स्पष्टतया ज्ञात होगा। 'प्राक्कथन' में विषय की रूपरेखा पर जो आलोचना की गई है, वह इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

पुराणवाक्यों के पाठ, पौराणिक विषयों की विकीर्णता और परस्पर विरोध आदि बहुत ही जटिल विषय हैं। मेरे विचार से पुराणगत सभी मत समूल और सहेतुक हैं। निरुद्देश्य कोई भी मत पुराणों में नहीं है, यह मेरी तर्कसंगत धारणा है। ज्यों-ज्यों मेरा कार्य अग्रसर होता गया, मेरी यह धारणा पुष्ट होती गई कि प्रत्येक पुराणमत की कुछ न कुछ पृष्ठभूमि अवश्य है। इस पृष्ठभूमि के ज्ञान से पुराणोक्त आपातविरुद्ध और असंगत प्रतीत होने वाले मतों की संगति बैठाई जा सकती है।

इस प्रबन्ध की लेखन-प्रणाली में कुछ विलक्षणता दिखाई दे सकती है, जिसकी ओर सहृदय पाठकों का ध्यान जा सकता है। यथा—

१. यद्यपि ग्रन्थों का आकरस्थलनिर्देश सर्वत्र समान पद्धति से ही किया गया है, तथापि कहीं कहीं एकाधिक रीति का आश्रय भी करना पड़ा है। यथा— शाबरभाष्य के निर्देश में अध्याय-पाद-सूत्र संख्या दी गई है, पर कहीं-कहीं बिब्लियोथिका इन्डिका संस्करण की पृष्ठसंख्या भी दी गई है। ये स्थल चूँकि Col. G. A. Jacob कृत शाबरभाष्यसूची (Index to Sabara's Bhasya, सरस्वती भवन स्टडीज की कई संख्याओं में प्रकाशित) से दिए गए हैं, अतः सूची-निर्दिष्ट पृष्ठसंख्या ही देनी पड़ी है।

२. आकर-ग्रन्थों के निर्देश में ग्रन्थगत विभाग (अध्याय, पाद, कण्डिका, परिच्छेद आदि) के अनुसार ही आकरस्थल-निर्देश करने का यत्न किया गया है, चूंकि यही उत्कृष्ट पद्धति है। इतना होने पर भी कहीं-कहीं पृष्ठसंख्या का निर्देश किया गया है, विशेषकर उन स्थलों के लिये जहाँ आलोच्य विषय कई पृष्ठों में व्याप्त है। उदाहरणार्थ—"तत्तु समन्वयात्" (ब्रह्मसूत्र १।१।४) सूत्र के शारीरकभाष्यवाक्य के लिये १।१।४ संख्या का निर्देश करना अपर्याप्त है, क्योंकि इस सूत्र का भाष्य ५९ पृष्ठों में (निर्णयसागर संस्क० सन् १९१७) व्याप्त है। ऐसे स्थलों में पृष्ठ का उल्लेख करना अधिक संगत जान पड़ता है। जहाँ भी पृष्ठसंख्या का निर्देश किया गया है, वहाँ संस्करण-भेद होने पर संस्करण का नाम भी दिया गया है। सन्देह होने पर आकर-ग्रन्थ-सूची देखकर संशय का निराकरण करना चाहिए। तन्त्रवार्त्तिक आदि कुछ दुष्प्राप्य ग्रन्थों के लिये परिस्थितिवश एकाधिक संस्करणों का उपयोग करना पड़ा है, पर यथास्थान ऐसा निर्देश किया गया है जिससे भ्रम होने की सम्भावना नहीं रहती।

३ कभी-कभी टीकाओं की भिन्नता के कारण एक ही ग्रन्थ के एकाधिक संस्करणों का उपयोग करना पड़ा है, क्योंकि ग्रन्थ की विविध टीकाएँ विभिन्न

संस्करणों में प्रकाशित हुई हैं। एक ही ग्रन्थ के विभिन्न संस्करणों में सूत्रसंख्यादि में भेद होता है। टीका के उल्लेख करने में उस टीका से संबद्ध आकरस्थान ही दिया गया है। यथा——महाभारत की देवबोधकृत टीका के उल्लेख में देवबोध के अनुसार आकर-स्थल निर्दिष्ट हुआ है, नीलकण्ठानुसार नहीं। ग्रन्थ में सर्वत्र ऐसे निर्देश दिए गए हैं, जिनसे भ्रम होने की सम्भावना नहीं रहती। इतना होने पर भी यदि कहीं अनवधानतावश भ्रमोत्पादक स्थल रह गया हो तो उसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

४. विभिन्न सूचियों की सहायता पदे-पदे ली गई है; सूचीगत आकरस्थल भी सर्वत्र दिए गए हैं। यदि उन सूचियों में ही कहीं आकरस्थलनिर्देश प्रामादिक है तो प्रस्तुत निबन्ध में भी वे दोष विद्यमान हो सकते हैं, यह निश्चित है।[1] विशिष्ट विचार क्षेत्र में आवश्यकता होने पर सूचीदर्शित आकरस्थलों को मूल से मिलाया गया है, तथापि यदि कहीं अनवधानताजनित दोष रह गया हो तो उसके लिये भी क्षमा की याचना करता हूँ। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनेक वचन हंसराजकृत वैदिक-कोष से संगृहीत हुए हैं और उनमें जैसा आकरस्थल निर्दिष्ट हुआ है, यहाँ भी वैसा ही दिखाया गया है।

५. दो अंग्रेजी ग्रन्थ के हिन्दी नाम भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हुए हैं। पर्जिटरकृत Ancient Indian Historical Tradition ग्रन्थ के लिये "प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक परम्परा" नाम तथा History of Dharmasastra (म० म० काणेविरचित) के लिये "धर्मशास्त्रेतिहास" या "धर्मशास्त्र का इतिहास" नाम क्वचित् व्यवहृत हुए हैं। ग्रन्थ-नामों में संशय होने पर संलग्न आकरग्रन्थ-सूची द्रष्टव्य है।

६. कहीं-कहीं विचारों की पुनरावृत्ति मिल सकती है। इसके निवारण के लिये प्रयास किया गया है, पर वैदिक विषय ऐसे अन्योन्य सम्पर्कयुक्त हैं कि कहीं कहीं पुनरुक्ति करना अनिवार्य हो गया है।

७. प्रबन्ध में प्रयुक्त शब्दों की वर्णानुपूर्वी के विषय में कुछ वक्तव्य है। सुखाववोध के लिये संस्कृत शब्दों में सन्धिकार्य न कर कहीं कहीं पदों को पृथक् रखा गया है। संस्कृत उद्धरण में शब्दशास्त्रीय नियम के अनुसार जहाँ वर्णद्वित्व

---

१. वैदिक पदानुक्रमकोश (ब्राह्मण भाग) से आकरग्रन्थनिर्देश की अशुद्धि का एक उदाहरण दिया जा रहा है। इस सूची में अविमुक्त शब्द पर शतपथ ब्राह्मण के दो स्थल निर्दिष्ट हुए हैं (१/९/२/३/,३/४/१/४)। इनमें प्रथमोक्त आकरस्थल अशुद्ध है। प्रकृत स्थल १/९/२/३२ होगा। पदानुक्रमकोश के सम्पादक महोदय से पत्र-व्यवहार करने पर यह ज्ञात हुआ कि वे इस मुद्रणाशुद्धि का संशोधन कर चुके हैं।

होना चाहिए, उन शब्दों में सर्वत्र द्वित्व नहीं किया गया है, (छात्र आदि शब्द इसके उदाहरण हैं)। नियमतः गङ्गा, परम्परा आदि शब्द ङ-म-घटित ही हैं, यद्यपि हिन्दीवाक्यों में गंगा, परंपरा आदि पद साधु ही माने जाते हैं। अंग्रेजी शब्दों के देवनागरी लिपिकरण में कहीं कहीं अनेकता मिल सकती है।

८. हिन्दीभाषी पाठकों के समक्ष एक व्यक्तिगत त्रुटि को रखना चाहता हूँ। मैं जन्मतः बंगलाभाषी हूँ, अतः हिन्दीभाषा की प्रकृति के अनुसार विचारने पर मेरे द्वारा प्रयुक्त भाषा और शैली में किंचित् अन्तर परिलक्षित हो सकता है। हिन्दी वाग्विधि (मुहावरा) की दृष्टि से मेरी भाषा स्थान-स्थान पर अवश्य ही भिन्न दिखाई दे सकती है, जो एक जीवन्त भाषा के लिये ग्राह्य है। विषय की जटिलता और शास्त्रीयता के कारण कहीं-कहीं वे संस्कृत शब्द (यथा—क्वाचित्क, वदतोव्याघात, उभयतस्पाशा नेदिष्ठ, स्मार्य इत्यादि) भी प्रयुक्त हुए हैं, जिनका प्रयोग हिन्दी में संभवतः सुप्रचलित न हो। "सम्मेलन" के सुझाव के अनुसार इस दोष का निवारण यथासंभव कर दिया गया है।

इस प्रबन्ध के लेखन में अनेक जटिल गुत्थियाँ सुलझानी पड़ी हैं। पुराण के श्लोकों के भ्रष्ट पाठों के अतिरिक्त वेदशास्त्र की अगाधता और दूरूहता एक दुरुत्तार्य व्यवधान की तरह प्रतीत होता था। प्रतिपद हमें वैदिक विद्वानों की शरण में जाना पड़ा है। अनेक विद्वानों के साथ पत्रव्यवहार के माध्यम से तथा प्रत्यक्ष वार्तालाप से भी क्लिष्ट स्थलों का स्पष्टीकरण करना पड़ा है। इस क्षेत्र में श्रद्धेय म० म० गोपीनाथ कविराज, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, श्रीधर शास्त्री वारे, श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक, श्री रघुनाथ शर्मा, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, (अब दिवंगत), श्री भगवद् दत्त आदि विद्वानों का जो आशीर्वाद, निदेश और विचार मुझे मिले हैं, वे चिरस्मरणीय हैं। निर्देशक के रूप में डॉ० मङ्गल देव शास्त्री महोदय की जो सहायता और विचारसरणि मुझे मिली है, तदर्थ उनके प्रति मैं चिरऋणी रहूंगा। जिस समय मैं सर्वभारतीय काशिराजन्यास में बृहत् पुराण सूची का निर्माणकार्य कर रहा था, उस समय यह ग्रन्थ लिखा गया है। सूचीप्रणयनकार्य के कारण ही मैं पुराण-वाङ्मय का इतना गंभीर पर्यालोचन कर सका, एतदर्थ मैं न्यास के अध्यक्ष पूत-चरित विद्योत्साही अत्रभवान् काशिनरेश महोदय के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकटित करता हूं।

इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि इस प्रबन्ध में सिद्धान्तरूप से जो मत स्वीकृत हुए हैं, उनमें से सब को मैं व्यक्तिगत मनन की दृष्टि से भी पूर्णतः सत्य ही समझता हूँ, ऐसा समझना नहीं चाहिए। 'संन्यासधारा अवैदिक है' या 'सांख्ययोग

वेदमूलक नहीं है'—इत्यादि कई विषय यद्यपि आधुनिक शोध के क्षेत्र में 'सिद्ध सत्य' माने जाते हैं और हमने यहाँ उसी रूप में उन को अपनाया भी है, तथापि अपनी वैयक्तिक दृष्टि में मैं इन धारणाओं को निर्विवाद नहीं समझता हूँ। विद्या के क्षेत्र में इस प्रकार का मतभेद सर्वथा संभाव्य है; और ग्रन्थ लिखने के समय किसी एक मान्य दृष्टि को लेकर ही ग्रन्थ लिखना अनिवार्य हो जाता है—ऐसा जानकर ही इस ग्रन्थ का अध्ययन पाठक करें।

इस विचारबहुल ग्रन्थ के प्रत्येक दोष के लिये "पण्डितानां दासोऽहं क्षन्तव्य-मेतत् स्खलनम्" कहने के अतिरिक्त मेरे लिये और कोई मार्ग नहीं है। हम जानते हैं—

> शान्तश्रियः परमतत्त्वविदो महान्तः
> वैगुण्यपुञ्जमपि सद्गुणतां नयन्ति।
> दोषावलीमपरितापितया मृदूनि
> ज्योतींषि विष्णुपदभाञ्जि विभूषयन्ति॥[1]

विद्वज्जनानुचर—

श्री रामशंकर भट्टाचार्य

---

१. शान्तमूर्ति परमभागवत चारों ओर की वैगुण्यराशि (दोष) को भी सद्गुण से मण्डित कर देते हैं; जिस प्रकार ताप-प्रदान में विरति होने के कारण आकाशस्थ मृदुज्योति नक्षत्रादि-ज्योतिष्क अन्धकाराच्छन्न रात्रि को भी भूषित करते हैं, उसी प्रकार दूसरों को ताप या दुःख न देने के स्वभाव के कारण तारका-सदृश मृदुस्वभाव वाले विष्णुभक्त दोषों को भी विभूषित कर देते हैं।

विषय-सूची

संकेत और संक्षेप — क–ङ
प्राक्कथन — १–८

भूमिका

१. पुराण का आदिम स्वरूप और क्रमिक विकास — ९–२०
२. अष्टादश पुराणों का क्रमिक विकास और रचनाकाल — २०–३६
३. वेद और वैदिक धर्म-सम्बन्धी पौराणिक दृष्टियाँ — ३६–५१

प्रथम अध्याय ● वैदिक साहित्य का सामान्य परिचय

प्रथम परिच्छेद – वेद का सामान्य स्वरूप — ५५–६९
द्वितीय परिच्छेद – मन्त्र — ७०–८५
तृतीय परिच्छेद – संहिता — ८६–९४
चतुर्थ परिच्छेद – ब्राह्मण और आरण्यक — ९५–१०३
पञ्चम परिच्छेद – उपनिषद् — १०४–११२
षष्ठ परिच्छेद – वेद की संख्या, क्रम और तुलना — ११३–१४०

द्वितीय अध्याय ● वेदों का विशिष्ट परिचय

प्रथम परिच्छेद – ऋग्वेद — १४३–१५२
द्वितीय परिच्छेद – यजुर्वेद — १५३–१६१
तृतीय परिच्छेद – सामवेद — १६२–१८१
चतुर्थ परिच्छेद – अथर्ववेद — १८२–१९३
पञ्चम परिच्छेद – विशिष्ट-मन्त्र-सूक्तानुवाकादि-विवरण — १९५–२१७
षष्ठ परिच्छेद – वेद और शाखाओं का परिमाण — २१८–२३३

तृतीय अध्याय ● वेदों की शाखाएँ

प्रथम परिच्छेद – वेदशाखा का स्वरूप और प्रवचन — २३७–२५७
द्वितीय परिच्छेद – ऋग्वेदीय शाखा-विवरण — २५८–२७६

तृतीय परिच्छेद	–	यजुर्वेदीय शाखा-विवरण	२७७–२९५
चतुर्थ परिच्छेद	–	सामवेदीय शाखा-विवरण	२९६–३०८
पञ्चम परिच्छेद	–	अथर्ववेदीय शाखा-विवरण	३०९–३१६
चतुर्थ अध्याय	●	**वेदार्थ और वैदिक विषय**	
प्रथम परिच्छेद	–	वेदमन्त्रों की व्याख्या	३१९–३३३
द्वितीय परिच्छेद	–	ब्राह्मणवचनों की व्याख्या	३३४–३३९
तृतीय परिच्छेद	–	वैदिक शब्दों का अर्थ और निर्वचन	३४०–३५०
चतुर्थ परिच्छेद	–	वेद का प्रतिपाद्य विषय और तात्पर्य	३५१–३६०
पञ्चम परिच्छेद	–	वैदिक मन्त्र, वेदवाद और वेदवाक्य-निर्देश	३६१–३७१
पञ्चम अध्याय	●	**प्रकीर्ण वैदिकविषय**	
प्रथम परिच्छेद	–	वेदोत्पत्तिसम्बन्धी विभिन्न मत	३७५–३८५
द्वितीय परिच्छेद	–	वेद का अपहरण और नाश	३८६–३९४
तृतीय परिच्छेद	–	वेद के पदक्रमपाठ और विकृतियाँ	३९५–४०१
चतुर्थ परिच्छेद	–	वेद के पर्यायवाची शब्द	४०२–४१३
पञ्चम परिच्छेद	–	विद्या-प्रवर्तक ऋषि और वेदाध्ययन	४१४–४३६

परिशिष्ट

१. संस्कृत-हिन्दी-बंगलाग्रन्यादि का विवरण ४३७–४५४

२. विशिष्ट शब्द, विषय एवं वाक्यों की अनुक्रमणिका ४५५–४७६

संकेत और संक्षेप

●

अ	=	अध्याय
अग्नि	=	अग्निपुराण
अथर्व, अथर्ववेद	=	अथर्ववेदीय शौनकशाखा
अनु	=	अनुशासनपर्व (महाभारत)
अरुणा	=	अरुणाचलखण्ड (स्कन्दपुराण)
अश्व, अश्वमेध	=	आश्वमेधिक पर्व (महाभारत)
अष्टा	=	अष्टाध्यायी
आदि	=	आदिखण्ड (पद्मपुराण)[1] } सन्दर्भ से विवक्षित आदिपर्व (महाभारत) } ग्रंथ का नाम ज्ञातव्य है।
आनन्दा	=	आनन्दाश्रम संस्करण
आप	=	आपस्तम्ब
आ, आर	=	आरण्यक
आश्रम	=	आश्रमवासिकपर्व (महाभारत)
आश्व	=	आश्वलायन
उत्तर	=	उत्तरखण्ड (पद्मपुराण) } संदर्भ से विवक्षित ग्रंथ उत्तर पर्व (भविष्यपुराण) } का नाम ज्ञातव्य है। उत्तरखण्ड (स्कन्दपुराण) }
उद्योग	=	उद्योगपर्व (महाभारत)
उप	=	उपनिषद्
ऋग्, ऋग्वेद	=	ऋग्वेदीय शैशिरीयशाखा
ऐ, ऐत	=	ऐतरेय
कर्ण	=	कर्णपर्व

---

१. पद्मपुराण के उल्लेख में प्रायेण खण्डों की क्रमिक संख्या दी गई है, अतः सन्देह का कोई अवकाश नहीं होता। महाभारत के उल्लेख में पर्वनाम का संक्षिप्त रूप ही व्यवहृत हुआ है, यह ज्ञातव्य है।

काठक = काठक संहिता
कार्त्तिक = कार्त्तिकमासमाहात्म्य (स्कन्दपुराण)
काशी = काशीखण्ड (स्कन्दपुराण)
कुमा, कुमारिका = कुमारिकाखण्ड (स्कन्दपुराण)
कू, कूर्म = कूर्मपुराण
केदार = केदारखण्ड (स्कन्दपुराण)
कौ, कौषी = कौषीतकि
ख = खण्ड
गरुड = गरुडपुराण
गृह्य = गृह्यसूत्र
गोपथ = गोपथब्राह्मण
चतु:, चतुरशीति = चतुरशीतिलिंगमाहात्म्यखण्ड (स्कन्दपुराण)
चौखम्बा = चौखम्बा संस्थान द्वारा प्रकाशित नानासीरिज-गत ग्रन्थ-संस्करण
छा० उ०, छान्दोग्य = छान्दोग्य उपनिषत्
जीवा = जीवानन्द संस्करण
जै० आ० ब्रा० = जैमिनीय आर्षेय ब्राह्मण
जै० उ० ब्रा० = जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
टि, या टिप् = टिप्पणी
टी = टीका
ताण्ड्य = ताण्ड्य ब्राह्मण
तै, तैत्ति = तैत्तिरीय
देवी, देवीभाग = देवी भागवत
दैवत = दैवत ब्राह्मण
द्र = द्रष्टव्य
द्रोण = द्रोणपर्व (महाभारत)
द्वारका = द्वारका माहात्म्य (स्कन्दपुराण)
धर्म, ध० सू० = धर्मसूत्र
धर्मारण्य = धर्मारण्यखण्ड (स्कन्दपुराण)
नार०, नारदीय = नारदीय पुराण
नि = निरुक्त
निघ = निघण्टु

पञ्चविंश	=	पञ्चविंश ब्राह्मण
पद्म	=	पद्मपुराण
परि	=	परिच्छेद
पा	=	पाद
पाताल	=	पातालखण्ड (पद्मपुराण)
पुरुषोत्तम	=	पुरुषोत्तमखण्ड (स्कन्दपुराण)
पू	=	पूर्वार्द्ध, पूर्वभाग
पृ	=	पृष्ठ
प्रक	=	प्रकरण
प्रति, प्रतिसर्ग	=	प्रतिसर्गपर्व (भविष्यपुराण)
प्रभास	=	प्रभासखण्ड (स्कन्दपुराण)
बदरिका	=	बदरिकामाहात्म्य (स्कन्दपुराण)
बृ० आ०, बृहदा	=	बृहदारण्यक उपनिषत्
ब्रह्म	=	ब्रह्मपुराण ब्रह्मखण्ड (पद्मपुराण) } सन्दर्भ से विवक्षित ग्रन्थ का नाम ज्ञातव्य है।
ब्र० वै०, ब्रह्मवै	=	ब्रह्मवैवर्तपुराण
ब्रह्माण्ड	=	ब्रह्माण्डपुराण
ब्रा	=	ब्राह्मण
ब्राह्म	=	ब्राह्मपर्व (भविष्यपुराण)
भविष्य	=	भविष्यपुराण
भा	=	भाष्य
भाग	=	भागवतपुराण
भीष्म	=	भीष्मपर्व (महाभारत)
भूमि	=	भूमिखण्ड (पद्मपुराण)
मत्स्य	=	मत्स्यपुराण
मध्यम	=	मध्यमपर्व (भविष्यपुराण)
मन्त्र	=	मन्त्रब्राह्मण
महाभा	=	महाभारत
मार्क, मार्कण्डेय	=	मार्कण्डेयपुराण
माध्य, माध्यन्दिन	=	माध्यन्दिन संहिता (शुक्लयजुर्वेदीय)
मुण्डक	=	मुण्डक उपनिषद्
मैत्रा	=	मैत्रायणी

यजुः या यजुर्वेद	=	यजुर्वेदीय काण्वशाखा या माध्यन्दिन शाखा (विवक्षानुसार)
रामा	=	रामायण
रेवा	=	रेवाखण्ड (स्कन्दपुराण)
लिङ्ग	=	लिङ्गपुराण
वन	=	वनपर्व (महाभारत)
वराह	=	वराहपुराण
वस्त्रा, वस्त्रापथ	=	वस्त्रापथमाहात्म्य (स्कन्दपुराण)
वा	=	वार्त्तिक
वामन	=	वामनपुराण
वायु	=	वायुपुराण
वि, विष्णु	=	विष्णुपुराण
विष्णुध, विष्णुधर्म	=	विष्णुधर्मोत्तर
वेंकट	=	वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण
वेंकटा	=	वेंकटाचलखण्ड (स्कन्दपुराण)
शत, शतपथ	=	शतपथब्राह्मण (माध्यन्दिनशाखीय)
शाङ्खा	=	शाङ्खयन
शान्ति	=	शान्तिपर्व (महाभारत)
शिव	=	शिवपुराण
श्रौ० सू०, श्रौत	=	श्रौतसूत्र
श्वेताश्व	=	श्वेताश्वतर उपनिषद्
षड्	=	षड्विंश ब्राह्मण
सं	=	संहिता
सभा	=	सभापर्व (महाभारत)
साम, सामवेद	=	सामवेदीय कौथुमशाखा
सामवि	=	सामविधान ब्राह्मण
सू	=	सूत्र
सूत	=	सूतसंहिता
सृष्टि	=	सृष्टिखण्ड (पद्मपुराण)
सेतु	=	सेतुमाहात्म्य (स्कन्दपुराण)
सौप्तिक	=	सौप्तिकपर्व (महाभारत)
सौर	=	सौरपुराण
स्कन्द	=	स्कन्दपुराण

स्वर्ग = स्वर्गारोहणपर्व (महाभारत)
हरि = हरिवंश

अंग्रेजी शब्दों के संक्षिप्तरूप

●

A. I. H. T. = Ancient Indian Historical Tradition.
H. Dh. S. = History of Dharmasastra.
I. H. Q. = Indian Historical Quarterly
J. B. B. R. A. S = Journal of the Bombay Branch of Royal Asiatic Society.
Pur. Rec. or Puranic Records = Puranic Records on Hindu Rites and Customs

प्राक्कथन

(प्रस्तुत ग्रन्थ की रूपरेखा)

प्रस्तुत अध्ययन की महत्ता—प्राचीन काल से ही यह प्रसिद्धि रही है कि इतिहास-पुराण से वेदार्थ का उपबृंहण करना चाहिए।[1] उपबृंहण का अर्थ क्लिष्ट शब्दार्थ का स्पष्टीकरण ही नहीं है, बल्कि अर्थ (विषय) का विशदीकरण भी उपबृंहण-पदवाच्य है, जैसा कि रामानुज ने कहा है—"उपबृंहणं च श्रुतिप्रतिपन्नार्थ-विशदीकरणम्" (श्रीभाष्य २।१।१)। किस पद्धति से पञ्चलक्षणयुक्त पुराण वेदार्थ का उपबृंहण करते हैं, इसका विशद विवरण आचार्य सायण ने दिया है।[2] इस विवरण से पुराणीय उपबृंहण-पद्धति का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।[3]

पुराण के इस वैशिष्ट्य के कारण यह देखना आवश्यक हो जाता है कि प्रचलित पुराणग्रन्थों में वैदिक विषय की स्थिति किस रूप में है तथा पुराणों में वेद-

---

१. "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥—कहीं कहीं 'प्रतरिष्यति' पाठ भी है। यह वाक्य अनेक ग्रन्थों में मिलता है, यथा—

महाभारत आदि० १।२६७-२६८ वायु० १।२०१, पद्मसृष्टि० २६८-२।५१, शिव० वायवीयसंहिता १।३६, सूतसंहिता-शिवमाहात्म्यखण्ड १।३५। अपरार्क टीका में 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' वचन को मनुवचन कहा गया है (याज्ञवल्क्य स्मृति १।८), 'प्रतरिष्यति' पद के लक्ष्यभूत प्रतारण का अर्थ है—"वेदस्य प्रतारणं नाम तदभिप्रेतविपरीतार्थवर्णनमेव" (श्रीभाष्य की श्रुतप्रकाशिका टीका १।१।१)।

२. सूत० १।१।३३ की व्याख्या में 'नानाविधोपाख्यान-प्रतिपादन-पर्यवसित-पुराण' में वेदार्थ का प्रसंग ही क्या है, इस शंका का समाधान उदाहरण के साथ किया गया है। वेदार्थरक्षा में अङ्गादि की तरह पुराण भी सहायक है, यह मत न्याय-परम्परा में भी स्वीकृत है (न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका २।१।६७)। पुराणोक्त वंश-भुवन-कोशादि भी वेदार्थ के सहायक हैं, यह कुमारिल ने भी स्पष्टतः दिखाया है। (तन्त्रवार्त्तिक १।३।१)।

३. उपबृंहणसंबन्धी सामान्य विवरण के लिये 'संस्कृत साहित्य में उपबृंहण की पद्धति' शीर्षक मेरा लेख द्रष्टव्य है (कल्पना, सितम्बर १९५५)।

वाक्य और वैदिक मतों की व्याख्या किस दृष्टि से की गई है। इस प्रसंग में यह भी द्रष्टव्य है कि पुराणों में वैदिक वाङ्मय का जो परिचय मिलता है, वह कहाँ तक समीचीन है। प्रस्तुत अध्ययन में इन विषयों पर पुराणगत सामग्री का यथा-संभव पूर्णतया संकलन करने की चेष्टा की गई है।

अध्ययन की रूपरेखा—प्रस्तुत अध्ययन मुख्यतः अष्टादश महापुराणों पर आधृत है, यद्यपि शिवपुराण, देवीभागवत और विष्णु-धर्मोत्तर का भी समावेश कर लिया गया है, क्योंकि मतान्तर में इन तीनों का भी समावेश पुराणों में माना जाता है।[४] महाभारत (हरिवंश के साथ) से भी आवश्यक सामग्री स्थान-स्थान पर उदाहृत की गई है। अनेक स्थलों पर महाभारत के पाठ के आधार पर पुराणपाठों का संशोधन भी किया गया है। (द्र० वेद-परिमाण-परिच्छेदान्तर्गत ऋग्वेद-परिमाण-प्रसंग)। उसी प्रकार हरिवंश पुराण के पाठ के बल पर पुराणपाठ का संशोधन कहीं-कहीं करना पड़ा है। यथा—हरि० के ३।७-३२ अध्याय मत्स्य० के १६४-१७१ अ० और पद्म० के ५।३६-३८ अध्यायों के अनुरूप हैं। इन स्थलों में हरि० का पाठ अधिक समीचीन है तथा उस पर नीलकण्ठ की टीका रहने के कारण अर्थबोध में भी सरलता होती है। महाभारत के अनेक अध्याय पुराणों में अविकल रूप से मिलते हैं, अतः इस महान् ग्रन्थ का उपयोग इस निबन्ध में सर्वत्र किया गया है (विपुल मात्रा में वैदिक सामग्री शब्दतः इस काव्य में विद्यमान है)। दो-एक स्थलों पर रामायणवचनों के उद्धरण भी दिए गए हैं (द्र० वेदनाशपरिच्छेद)।

इस ग्रन्थ में उपपुराणों का पुराणवत् उपयोग नहीं किया गया क्योंकि ऐसा करने पर सामग्री का संकलन करना दीर्घकाल-साध्य हो जाता। उपपुराणों में वेद-सम्बन्धी ऐसी कोई भी विशिष्ट मौलिक सामग्री नहीं मिलती, जो पुराणों में न मिलती हो। इतना होने पर भी इस ग्रन्थ में सौरपुराण, देवीपुराण कल्किपुराण

---

४. देवीभागवत की नीलकण्ठकृत टीका के उपोद्घात में देवीभागवत ही मूल पुराण है—इस मत को सिद्ध करने का बहुत प्रयत्न किया गया है। श्रीधर स्वामी ने भागवत-टीका के आरम्भ में कहा है कि व्याख्येय भागवत ही प्रकृत भागवत है, अन्य कोई पुराण वस्तुतः भागवत नहीं है (भागवतं नामान्यदित्यपि नाशङ्कनीयम्)। वायुपुराण के स्थान पर शिवपुराण की गणना भी कहीं-कहीं की गई है (विष्णु० ६।३।२२)। विष्णुपुराण की श्लोकसंख्या जब त्रयोविंशति-साहस्र (२३०००) कही जाती है, तब उसमें विष्णुपुराण के साथ विष्णुधर्मोत्तर का भी समावेश किया जाता है—ऐसा अनुमित होता है। विशेष विवरण के लिये 'विष्णुपुराण-श्लोक-संख्या-समाधान' शीर्षक मेरा लेख द्रष्टव्य है (सिद्धान्त, वर्ष १४, अंक १९-२०)।

बृहद्धर्मपुराण आदि उपपुराणों के उद्धरण दिए गए हैं। उपपुराण पुराणों से पृथक् होते हुए भी पुराणों से निकले हुए हैं, ऐसा पुराणकारों ने ही कहा है (मत्स्य० ५३।६४), अतः स्थान-स्थान पर इन उपपुराणों का उपयोग करना आवश्यक था।[५]

पुराणजातीय अन्यान्य ग्रन्थों (जिनको पुराणसम्बद्ध माना जाता है, जैसे सूतसंहिता आदि) के वचन भी कहीं-कहीं उदाहृत हुए हैं। पुराणों के कुछ ऐसे भी वचन हैं, जो मुद्रित ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते, पर वे व्याकरण-अलंकार आदि के ग्रन्थों और निबन्ध ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। ऐसे पुराण-वचनों का उद्धरण भी इस निबन्ध में कहीं-कहीं दिया गया है। (द्र० ऋग्यजुःसामाथर्व का सूक्तादि-विवरणात्मक अंश)।

विचारणीय विषय की सीमा—इस ग्रन्थ में वैदिकवाङ्मय-सम्बन्धी पौराणिक विशिष्ट विवरण प्रायेण पूर्णतः संगृहीत हुआ है। मन्त्र, ब्राह्मण, संहिता, आरण्यक, शाखा आदि विषयों पर पर्याप्त रूप से विचार किया गया है। वैदिक मतों के पौराणिक उपबृंहण पर भी इस ग्रन्थ में संक्षेप से विचार किया गया है। चतुर्थ अध्याय में वैदिक शब्द, अर्थ और मत संबन्धी पुराणगत विवरण कहाँ तक सत्य है, इस पर विवेचन किया गया है, यद्यपि विषयविवेचन की पूर्णता की दृष्टि में इस विषय पर और अधिक विचार अपेक्षित है।

पुराणों द्वारा वैदिक कथाओं का उपबृंहण, पुराणों में वैदिक देवताओं के रूपान्तर और याज्ञिककर्मकाण्ड—ये विषय इस ग्रन्थ में विचारित नहीं हो सके, क्योंकि ये तीनों ही स्वतन्त्रनिबन्ध-साध्य हैं।

विचारपद्धति का स्वरूप—इस ग्रन्थ के मुख्य उद्देश्य दो हैं। प्रथम—वेद-सम्बन्धी पौराणिक मतों के मूल का अन्वेषण तथा द्वितीय—पौराणिक मतों की समीचीनता (या असमीचीनता) का प्रदर्शन। मूलान्वेषण में सर्वत्र वैदिक मूल के अन्वेषण की चेष्टा की गई है। जहाँ वैदिक मूल प्राप्त न हो सका, वहाँ स्मार्त मूल ही प्रदर्शित किया गया है। प्राचीन स्मृतियाँ अर्वाचीन पुराणों से प्राचीनतर हैं—यह मानकर ऐसा निर्देश किया गया है। पुराणों में परस्पर विरुद्ध और असंबद्ध वाक्य भी (साम्प्रदायिक दृष्टि के अनुसार या पुराणकार की अज्ञता के कारण) मिलते हैं; उनके समन्वय पर भी आवश्यक विचार सर्वत्र किया गया है।

---

५. उपपुराण और पुराणों के परस्पर संबन्ध तथा उपपुराणों के काल, प्रामाण्य आदि के विशद ज्ञान के लिये डा० हाजरा का Studies in the Upapuranas, **ग्रन्थ द्रष्टव्य है (प्रथमाध्याय)।**

पुराणगत मतों की पृष्ठभूमि का अन्वेषण भी यत्र-तत्र किया गया है (द्र० वेदनाशपरिच्छेद)। जिस दृष्टि या उद्देश्य से विशिष्ट पुराणवचन लिखे गए हैं, उस दृष्टि या उद्देश्य का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा भी यथासंभव की गई है।

पुराणवचनों के उद्धरण—कहीं कहीं संक्षिप्तता के लिये पुराणवाक्यों के आंशिक उद्धरण ही दिए गए हैं। मतों के निर्देश करने के समय सामानार्थक पर ईषत् शब्दभेद-विशिष्ट पुराणवचनों का संकलन प्रायः किया गया है। अनेक स्थलों पर संक्षिप्तता के लिये भ्रष्ट पाठ का संशोधन कर शुद्ध पाठ ही ग्रन्थ में उद्धृत किया गया है। आवश्यकता होने पर पाठभेदों का निर्देश भी कर दिया गया है। जहाँ स्पष्ट मुद्रण-प्रमाद हैं, वहाँ शुद्ध पाठ ही सर्वत्र उदाहृत हुए हैं। ब-व, ष-ख आदि वर्णों से संबन्धित भ्रष्ट पाठों को शुद्ध कर ही उदाहृत किया गया है।

विचारपद्धति की दुरूहता—पाठभ्रष्टता[६] के कारण बहुत-से स्थलों पर पुराणार्थ का निर्धारण करना दुरूह है—यह पहले ही ज्ञातव्य है। आनन्दाश्रम-संस्करणों में पाठान्तरों के निर्देश मिलते हैं, जिनसे कहीं-कहीं पाठनिर्णय में सुविधा होती है। यतः वेंकटेश्वर और जीवानन्द संस्करणों में पाठान्तरों के निर्देश नहीं हैं और हस्तलेखों का कहीं भी उपयोग नहीं किया गया, अतः पाठनिर्णय अनेक स्थलों पर सांशयिक ही हैं, यह ज्ञातव्य है।

पाठभ्रष्टता के साथ पाठलोप का प्रसंग भी आलोच्य है। मत्स्य० के १४५ वें अध्याय के अन्त में मन्त्रकृत्-ऋषिगणना के बाद ऋषिपुत्रों की गणना लुप्त हो गई

---

६. पाठभ्रष्टता के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं। ब्रह्माण्ड० १।३२।१२२ गत ऋषिगणना में 'इत्येषा नवतिः प्रोक्ता' कहा गया है, पर यह 'इति द्विनवतिः प्रोक्ता' होगा (द्र० ऋषिपरिच्छेद); ब्रह्म० २३६।३४ में 'दशवर्षसहस्राणि निर्मथ्यामृतमद्भुतम्' कहा गया है, जो 'दशेदमृक्सहस्राणि' होगा (द्र० ऋग्वेद परिमाण); ऋक्लक्षण, यजुर्लक्षण और सामलक्षण के विषय में ब्रह्माण्ड० में जो पाठ हैं, वे बहुत ही भ्रष्ट हैं। प्रकृतपाठ का निर्णय (ग्रन्थान्तरों की सहायता से) मन्त्रपरिच्छेद में द्रष्टव्य है; वेदपरिमाणसम्बन्धी ब्रह्माण्डपुराणीय श्लोक भी भ्रष्ट हैं, जिनके विवक्षित अर्थ का निर्णय चेष्टा करने पर भी नहीं किया जा सका (द्र० वेदपरिमाण परिच्छेद); ऋगादि चारों वेदों की उत्पत्ति से संबद्ध श्लोक कूर्म-लिङ्ग-वायु-ब्रह्माण्ड-आदि पुराणों में मिलते हैं, पर सभी के पाठ कुछ न कुछ भ्रष्ट हैं, केवल विष्णु० का पाठ समीचीन है (द्र० वेदोत्पत्ति-परिच्छेद); सूक्तनाम कहीं कहीं अत्यन्त भ्रष्ट रूप से मुद्रित हुए हैं। विवक्षा को देख कर यथासंभव प्रकृत नामों का निर्णय किया गया है (द्र० वेदों का सूक्तादिसम्बन्धी विवरण)।

है, यद्यपि मत्स्य० १४५।११८ में 'ऋषि पुत्रान् निबोधत' ऐसी प्रतिज्ञा मिलती है। वायु-ब्रह्माण्ड० में यह विवरण यथास्थान मिलता है। उसी प्रकार वायु० में ब्राह्मणलक्षण-प्रकरण नष्ट हो गया है, यह ब्राह्मणपरिच्छेद में विचारित हुआ है। काव्यमीमांसा[७] में ऋषिवाक्यसंबन्धी जो विवरण वायुपुराण से लिया गया है, वह इस पुराण के किसी भी प्रचलित संस्करण में नहीं मिलता (द्र० ऋषिपरिच्छेद)। प्रतीत होता है कि वायु० में मन्त्रकृत् ऋषिनामों की सूची खण्डित हो गई है।

जिन पुराणों की टीका आदि नहीं है, उनके पाठों का निर्णय करना अत्यन्त दुरूह है। चूंकि एक ही सन्दर्भ प्रायेण समान आनुपूर्वी अनेक पुराणों में मिलते हैं, इसलिये विभिन्न पुराणों के पाठों को देखकर प्रकृत पाठ का निर्णय करने की चेष्टा की गई है। उदाहरणार्थ—वायु० और ब्रह्मांड० के अनेक अध्याय समान हैं; ब्रह्म० का कृष्णचरित बहुलतया विष्णुपुराणवत् है; मत्स्य० का ययातिचरित अविकलरूप से महाभारत के आदिपर्व में मिलता है; स्कन्द० का पुरुषोत्तम माहात्म्य ब्रह्म० में मिलता है; विष्णुधर्मोत्तर० का गोत्रप्रवर-प्रकरण मत्स्य० में मिलता है; भागवत० १।३ अध्याय गरुड० १।१ अ० में प्राप्त होता है; देवीभागवत की पीठसूची पद्म० और मत्स्य० में मिलती है; शिव० के अनेक स्थल लिङ्ग० में मिल जाते हैं; इत्यादि। यतः पुराणों का पौर्वापर्यनिर्धारण सुकर नहीं है, अतः कौन पाठ प्राचीन है, इसका निर्णय भी बहुत कुछ संशयास्पद ही रहता है। इतना होने पर भी विभिन्न पाठों की तुलना से प्रकृत पाठ का निर्णय करना बहुत दूर तक संभव हो जाता है।

पुराणों में कहीं कहीं अध्याय-श्लोकांकों में अशुद्धि मिलती है (विभिन्न संस्करणों में अध्याय-श्लोकों की भिन्नता तो है ही)। किसी किसी पुराण में १००श्लोक-संख्या के बाद १०१ न लिखकर १ ही लिखा गया है और यही क्रम-सम्पूर्ण अध्याय में स्वीकृत हुआ है (द्र० स्कन्दपुराण का वेङ्कटसंस्करण; वङ्गवासी संस्करण—जो बंगला अक्षरों में है—में यह दोष नहीं है)। कहीं-कहीं श्लोक-संख्या देने के क्रम में विपर्यास हो गया है। कहीं कहीं पुष्पिका में प्रदत्त अध्यायाङ्क अशुद्ध हैं, यद्यपि बाद के अध्यायों के अङ्क यथार्थ ही दिए गए हैं। अध्यायश्लोकांक के निर्देश में यदि कहीं मुद्रण की अशुद्धि है, तो विशिष्ट स्थलों में उसका निर्देश भी कर दिया गया है।

व्यवहृत पुराणों के संस्करण—पाठशुद्धि की दृष्टि से मुद्रित पुराणों

---

७. सप्तमाध्याय के आरम्भ में वाक्य-प्रकार का विवरण द्रष्टव्य है। यहां 'वायुप्रोक्तपुराणादिभ्यः' ऐसा कहा गया है (पृ० २८)।

के निश्चित संस्करणों का आश्रय लेना आवश्यक था। अतः प्रत्येक पुराण का वक्ष्यमाण संस्करण ही मुख्यतः प्रयोग में लाया गया है। अर्थनिर्णय के लिये स्थान-स्थान पर अन्य संस्करणों के पाठ भी लिए गए हैं। जहाँ भी भिन्न-संस्करणों का पाठ लिया गया है, वहाँ संस्करणों का उल्लेख भी कर दिया गया है।

व्यवहृत पुराण	संस्करण
१. ब्रह्मपुराण	आनन्दाश्रम
२. पद्मपुराण	आनन्दाश्रम
३. विष्णुपुराण	जीवानन्द[८]
४. वायुपुराण	आनन्दाश्रम
५. भागवतपुराण	गीता प्रेस; टीकाओं के पृथक् संकरण[९]
६. नारदीयपुराण	वेंकटेश्वर
७. मार्कण्डेयपुराण	जीवानन्द
८. अग्निपुराण	आनन्दाश्रम
९. भविष्यपुराण	वेंकटेश्वर
१०. ब्रह्मवैवर्तपुराण	जीवानन्द
११. लिङ्गपुराण	जीवानन्द[१०]
१२. वराहपुराण	वेंकटेश्वर
१३. स्कन्दपुराण	वंगवासी (बंगला लिपि) संस्क० में इसमें अधिक सामग्री के रहने के कारण तथा समीचीन पाठों के आधिक्य के कारण यह संस्करण स्वीकृत हुआ है।
१४. वामनपुराण	वेंकटेश्वर
१५. कूर्मपुराण	वेंकटेश्वर
१६. मत्स्यपुराण	आनन्दाश्रम
१७. गरुडपुराण	जीवानन्द

---

८. विष्णु० की श्रीधरकृत आत्मप्रकाश टीका (जीवानन्द संस्क०)।

९. श्रीधरकृत भावार्थदीपिका टीका (वङ्गवासी संस्करण, कलकत्ता; इस संस्करण का श्लोकाङ्क कहीं-कहीं गीता प्रेस संस्क० से पृथक् है)।

१०. शिवतोषिणी टीका (वेंकट)।

व्यवहृत पुराण	संस्करण
१८. ब्रह्माण्डपुराण	वेंकटेश्वर
१९. शिवपुराण	वेंकटेश्वर
२०. देवीभागवत	काशी; नीलकण्ठी टीका का स्वतन्त्र संस्करण (वेंकटेश्वर)
२१. विष्णुधर्मोत्तर	वेंकटेश्वर

पुराणों के पाठ—पुराणों के प्रचलित संस्करण वैज्ञानिक पद्धति से मुद्रित नहीं हुए हैं, अतः पाठनिर्णय में सर्वदा भ्रम और प्रमाद होने की सम्भावना रहती है। भागवत का पाठ बहुत ही सुरक्षित रहा है, क्योंकि चिरकाल से इसका सम्प्रदाय सुप्रचलित है। इसकी टीकाओं से भी पाठ और अर्थ के विचार में महती सुविधा मिलती है। विष्णु० का पाठ भी समीचीन है। आत्मप्रकाशिका टीका (श्रीधरकृत) के कारण इस पुराण के पाठ और अर्थ के निर्णय में विशेष बाधा नहीं होती। (जीवानन्द संस्करण की श्रीधरी टीका में कहीं कहीं भ्रष्ट पाठ मिलता है)।

लिङ्गपुराण की एक आधुनिक टीका (शिवतोषिणी) मिलती है, जिससे कहीं कहीं पाठार्थ-निर्णय में कुछ सहायता मिल जाती है। देवीभागवत की टीका नीलकण्ठ (यह महाभारतटीकाकार नीलकण्ठ से पृथक् व्यक्ति हैं) ने की है। यह टीका उपलब्ध है। इस पुराण की अन्य टीकाओं का पता नहीं है। काशीखण्ड की रामानन्दकृत सुपदवीटीका उपलब्ध है। सम्भवतः अन्य एक-दो पुराणों पर भी किसी न किसी ने टीका रची होगी, पर वे टीकाएँ अप्रचलित हैं।[११]

पुराणेतर ग्रन्थों में पुराणपाठों का उद्धरण—पुराणपाठों के निर्णय में (तथा कहीं कहीं लुप्त पुराणांश की उपलब्धि में) निबन्धग्रन्थ बहुत ही उपयोगी हैं। सदाचार, कर्मकाण्ड आदि से संबद्ध पुराणपाठों का निर्णय इन ग्रन्थों से सहजतः किया जा सकता है। निबन्धकारों ने भी कहीं कहीं पुराणपाठ पर विचार किया है[१२] जिससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि इन ग्रन्थकारों के काल में भी पुराणों के पाठ ईषत् विपर्यस्त हो गए थे। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी कहीं कहीं निबन्धोद्धृतपाठ का उल्लेख कर अर्थविचार किया गया है। स्मृतियों की टीकाओं में भी अनेक पुराणवचन उद्धृत हुए हैं—यह ज्ञातव्य है।

---

११. मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत सप्तशती (दुर्गापाठ) की कई टीकाएँ प्रचलित हैं।

१२. द्र० तीर्थप्रकाश पृ० १७७; यहां मत्स्यपुराण के एक श्लोक की पाठ-समीक्षा की गई है।

निबन्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त दर्शनशास्त्रीय टीकादि में भी पुराणवचन उद्धृत मिलते हैं। शंकराचार्य की अपेक्षा वैष्णवाचार्य रामानुज-मध्व-बलदेव और उनके अनुयायियों के ग्रन्थों में विष्णु० और भाग० के अनेक वचन उद्धृत मिलते हैं। अप्पय्य-दीक्षित आदि शैवाचार्यों के ग्रन्थों में शिव०लिंग० आदि के वचन प्रायेण मिलते हैं। योगशास्त्रीय ग्रन्थों में पुराणगत योगप्रकरणोक्त श्लोक उदाहृत हुए हैं। महिदास आदि वैदिक विद्वानों के ग्रन्थ भी पुराणवचनों से भरे पड़े हैं। इस प्रकार विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों की सहायता से भी पुराणों के पाठ का बहुत कुछ निर्णय किया जा सकता है।

न केवल धर्मदर्शनादि के ग्रन्थों में अपितु साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी प्रसंगतः पुराण-वचन उद्धृत किए गए हैं। इस विषय का एक विशिष्ट उदाहरण ऋषि-परिच्छेद में द्रष्टव्य है, जहाँ काव्यमीमांसाधृत वायु० आदि पुराण-वचनों का आश्रय लेकर अर्थनिर्णय किया गया है।

ग्रन्थ की उपयोगिता--प्रस्तुत अध्ययन की महत्ता के विषय में पहले कहा गया है; अब इस अध्ययन के फल के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। इस अध्ययन से कई उपयोगी लाभ प्राप्त हुए हैं। सबसे मुख्य लाभ यह हुआ है कि "आत्मा पुराणं वेदानाम्" (रेवा० १।२२) या "वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे"[१३] आदि जो मत प्रचलित हैं, उनकी समीचीनता कहाँ तक है—यह इस अध्ययन से परिज्ञात हो जाता है। पौराणिक देवता और कथा के तुलनात्मक अध्ययन से यह विचार और अधिक प्रतिष्ठित होगा—ऐसी आशा है।

पुराणों में वैदिकशब्दसम्बन्धी जो सामग्री है, उनके पाठ के निर्णय के लिये भी यह अध्ययन उपयोगी है। पुराणगत वेद-मन्त्र के प्रतीक प्रायेण भ्रष्ट हैं; पुराणों के आगामी संस्करणों में यह दोष अवश्य ही दूर करने योग्य है। वैदिक शब्दों की अप्रचलितता के कारण कहीं कहीं वैदिक शब्द पुराणों में ईषत् भ्रष्ट रूप में मुद्रित हुए हैं (यथा 'शस्त्र' के स्थान पर 'शास्त्र' इत्यादि); वैदिक वाङमय के साथ तुलना करने पर इन दोषों का दूरीकरण सम्भव हो सकता है, जैसा कि इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर दिखाया गया है। याज्ञिक-कर्मसम्बन्धी पुराण-विवरणों के पाठ भी प्रायेण भ्रष्ट हो चुके हैं; उसी प्रकार ऋषिनामों की आनुपूर्वी भी कहीं कहीं भ्रष्ट हो चुकी है। यह दोष भी पूर्वोक्त रीति से दूर किया जा सकता है।

---

१३. 'उक्तं हि नारदीये' कह कर यह वचन तत्त्वसन्दर्भ में उद्धृत किया गया है (पृ० ३८)। स्कन्द० में ऐसा वचन मिलता है (रेवा० १।२०)।

भूमिका

(१)

पुराण का आदिम स्वरूप और क्रमिक विकास

पुराणगत वेदविषयक सामग्री पर विचार करने के लिये पुराणों के स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, ऐसा समझकर पुराणों के स्वरूप के विषय में एक संक्षिप्त आलोचना की जा रही है। चूंकि यह ग्रन्थ का मुख्य विषय नहीं है, इसलिये सामान्य दृष्टि से ही इस विषय पर विचार किया जा रहा है।

पुराणों की दो धाराएं—वेद, सूत्रग्रन्थ तथा इतिहास-पुराणों में पुराणस्वरूप के विषय में जो विभिन्न विवरण मिलते हैं, उनसे यह ज्ञात होता है कि पुराण-प्रवचनधारा के दो मुख्य सन्निवेस्थल हैं। प्रथम—कृष्णद्वैपायन व्यास से शुरू कर पुराणसंहिताओं की क्रमिक उपबृंहणयुक्त धारा, जिसमें प्रचलित पुराणग्रन्थों की रचना हुई और द्वितीय—व्यास से प्राचीन पुराणधारा। हमारा अनुमान है कि अत्यन्त प्राचीन काल में 'पुराण' एक अव्यवस्थित और बहुधा विकीर्ण परम्परागत लोकवृत्तात्मक विद्या-विशेषमात्र था और कृष्णद्वैपायन व्यास ने उस परम्परागत पुराण के साथ कुछ नवीन विषयों का संयोजन कर व्यवस्थित रूप से पुराण-संहिता का निर्माण किया। इस विषय में निम्नोक्त युक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

१. संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, धर्मसूत्र और प्राचीन स्मृतियों एवं महाभारत के प्राचीन अंश में सर्वत्र 'पुराण' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, कहीं भी 'पुराण-संहिता' शब्द नहीं मिलता। इससे यह निश्चित होता है कि व्यास से पहले 'पुराणसंहिता' की तरह व्यवस्थित कोई पुराणशास्त्र नहीं था। व्यास के समय पुराणों की जो लोकवृत्तात्मक बहुविध सामग्री विभिन्न परम्पराओं में सुरक्षित थी, व्यास ने लोक-हित की कामना से उन पुरातन विषयों के साथ आख्यानादि नवीन विषयों को जोड़कर 'पुराणसंहिता' का निर्माण किया, जिसका एक निश्चित परि-माण भी था। इससे पहले न पुराण का कोई व्यवस्थित रूप था और न कोई निश्चित विषय ही था। जो भी प्राचीन लोकवृत्त विभिन्न परम्पराओं में विद्यमान थे, वे ही पुराण के विषय समझे जाते थे, जैसा कि हम यथास्थान स्पष्ट करेंगे।

२. यदि व्यास से पहले पुराण का कोई निश्चित रूप रहता तो वेदादि अति-प्राचीन ग्रन्थों में उस पुराण के नामादि के विषय में कहीं कोई उल्लेख भी मिलता, पर वेद-धर्मसूत्रादि वाङ्मय में 'पुराण', 'पुराणवित्', 'पुराणज्ञ' आदि शब्दों के प्रयोग रहने पर भी व्यास-प्राचीन पुराणों के साहित्यिक रूप के विषय में कहीं कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता। आपस्तम्ब-धर्मसूत्रोक्त (२।९। २४।३६) 'भविष्यत्' शब्द किसी पुराणविशेष का नाम नहीं है, इस पर हम आगे विचार करेंगे।

३. वायु० १।५४, तथा मत्स्य० ३।३-४ में जो यह कहा गया है कि ब्रह्मा ने पहले पुराण का और बाद में वेद का स्मरण किया था, वह भी 'चिरकाल से प्रच-लित पुराणधारा' का ज्ञापक है। पुराणोत्पत्ति से संबद्ध ऐसे स्थलों में पुराणों में सर्वत्र 'पुराण' शब्द ही प्रयुक्त मिलता है, 'पुराणसंहिता' नहीं, इससे भी सूचित होता है कि यह 'पुराण' एक व्यवस्थित शास्त्र की तरह न था, बल्कि इतस्ततः विकीर्ण प्राचीन लोकवृत्त है 'पुराण'-पद से अभिहित होता था। इस ब्रह्मस्मृत (अर्थात् चिरकाल से प्रचलित) पुराण के ही सर्गादि पांच प्रतिपाद्य विषय थे, यह भी स्पष्ट-तया कहीं भी नहीं कहा गया। प्रचलित पुराणों में इस पुराण को 'त्रिवर्गसाधक' और 'शतकोटिप्रविस्तर' कहा गया है (मत्स्य० ५३।४), जो इसके लौकिकत्व और अव्यवस्थितत्व का ही ज्ञापक है।

इन उल्लेखों से पुराण के स्वप्रतिष्ठितत्व का भी ज्ञान होता है तथा यह भी सिद्ध होता है कि मूल में यह पुराण वेद का उपबृंहक और वेदाधीन शास्त्रविशेष के रूप में नहीं था।

४. यह आदिम पुराण कोई ग्रन्थविशेष नहीं है। इस अतिप्राचीन काल में पुराण का कुछ लिखित साहित्यिक रूप था, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। लोकपरम्परा में मौखिक रूप से लोकवृत्तात्मक नानाविध विषय पुराण के रूप में समझे जाते थे। 'पुरापरम्परां वष्टि पुराणं तेन वै स्मृतम्' आदि निर्वचन (पद्म० ५।२।५३, तु० वायु० १०३।५५) भी इस विद्या के अत्यन्त प्राचीनत्व के ज्ञापक हैं।

व्यासपूर्व पुराण का स्वरूप—व्यास[1] से प्राचीन यह पुराण किन-किन पर-

---

१. ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर भी व्यास को ईसा से पूर्वकालीन ही मानना पड़ता है। बौ० ध० सू० २।५।२७ में व्यास स्मृत हैं। तै० आ० १।९।२ में 'व्यास पाराशर्य' का उल्लेख मिलता है। गोपथ० १।१।२९ में 'व्यासः पुरोवाच' कहा गया है। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि व्यास की परम्परा ईसा से बहुत ही प्राचीन है (द्र० हाजरा महोदय का Did Vyasa Own His Origin to Berosses शीर्षक लेख, Purana Vol. II. पृ० १७-२२)।

म्पराओं में विकसित हुआ तथा कौन-कौन इसके प्रतिपाद्य विषय थे, इत्यादि विषयों पर अब विचार किया जा रहा है। इस प्रकरण में इस विषय का आंशिक निर्धारण ही किया जा सकता है। इस 'आदिम पुराण' के स्वरूप का कुछ परिज्ञान प्रचलित पुराणों से हो जाता है। यह भी कहना संगत ही है कि प्रचलित पुराण-ग्रन्थों से पहले जो वैदिक ग्रन्थ, धर्मसूत्र, मनु-याज्ञवल्क्य-पराशर-नारद आदि स्मृतियाँ रची गई थीं उनसे भी व्यासकृत पुराणसंहिता से प्राचीनतर पुराण का स्वरूप बहुत-कुछ ज्ञात हो सकता है। आदिम पुराण के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करने से पहले यह भी ज्ञातव्य है कि पुराण एक निश्चित विद्या के रूप में चिरकाल से नहीं चला आ रहा है। चूंकि यह जनसाधारण में लौकिकशास्त्र के रूप में प्रचलित था, इसलिये समाज की रुचि और परिवर्तन के अनुसार पुराण का रूप भी चिरकाल से बदलता हुआ आ रहा है। जहाँ बहुधा प्रवचन होने पर भी वेद की अनुपूर्वी में पुराण जैसी विलक्षणता नहीं आ पाई, वहाँ पुराण में (लोक-रुचि के अनुसार उपबृंहित होने के कारण) नवीन विलक्षणता उत्पन्न हुई है। पूर्वाचार्यों ने जो वेद को 'अकृत्रिम' और पुराण को 'कृत्रिम' कहा है (द्र० तन्त्रवार्त्तिक १।३।३) उसका हेतु भी यही विलक्षणता है। यह तथ्य "पुराऽपि नवं पुराणम्" इस निर्वाचन से भी ज्ञात होता है। "पुरापरम्परां वष्टि पुराणं तेन", "पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि", "यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन" आदि वाक्य पुराण के आदिम स्वरूप को सर्वथा स्पष्ट करते हैं।[२] इन वचनों से सिद्ध होता है कि समाज में प्रचलित परम्परागत विविध लोकवृत्त ही 'पुराण' नाम से अभिहित थे। आरम्भ से ही पुराण किसी एक देश या परम्परा में नियत नहीं था, बल्कि सर्वत्र समान रूप से इसकी स्थिति थी (द्र० तन्त्रवार्त्तिक १।३।११ गत वाक्य "पुराण-मानवेतिहास . . . . . . सर्वेषाम्")।

आदिम पुराण का प्रतिपाद्य विषय—यह प्रश्न किया जा सकता है कि व्यास के काल तक 'पुराण' नाम से किन-किन विषयों का ग्रहण होता था, तथा किन-किन विषयों का समावेश पुराण-विद्या में नहीं होता था? प्राचीन सामग्री के अभाव के कारण इसका निश्चित उत्तर देना कठिन है, तथापि उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इस विषय में जो कुछ अनुमान किया जा सकता है, संक्षेप में उसका विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

हमारा अनुमान है कि मूल में पुराण (जिसको वेद से भी प्राचीन कहा गया

---

२. मानवार्षभाष्य के उपक्रम (पृ० ४६-६०) में पुराण-शब्द के निर्वचन और लक्षण द्रष्ट० हैं।

है) 'वेद का उपबृंहक' नहीं था। इस विषय में हमारी युक्ति यह है कि 'प्राचीनतम पुराण वेदार्थ की व्याख्या के लिये प्रवृत्त हुआ था' इस मत के लिये कुछ भी प्रमाण नहीं मिलता। वेद मुख्यतः यज्ञ का प्रतिपादक है (यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः[3] न्यायभाष्य ४।१।६१) जब कि प्राचीन पुराणों के विषयों से यज्ञ का कोई साधारण सम्बन्ध भी प्रतीत नहीं होता[4]। वस्तुतः व्यास के बाद वैदिक परम्परा में जब पुराणों का सादर अनुप्रवेश होने लगा, उसके बाद ही वेदमन्त्रव्याख्यानात्मक और वेदगत कथाओं के उपबृंहणात्मक सन्दर्भों का पुराणों में अनुप्रवेश हुआ—ऐसा अनुमान किया जा सकता है और इस काल में ही यह प्रसिद्धि हुई कि "पुराण वेद का उपबृंहक है।" यदि वस्तुतः आदिम पुराण वेद का उपबृंहक होता तो पुराण के सर्गादि पांच लक्षण (जो सर्वत्र स्वीकृत हैं) वेद (अर्थात् वैदिक यज्ञादि) के व्याख्यापरक होते। पर वैदिक यज्ञ, देवस्तुति[5] आदि विषयों के साथ पौराणिक पञ्चलक्षणों का कुछ भी साम्य नहीं है, यदि कहीं ईषत् साम्य सिद्ध भी हो जाए तो इतने लघुतम साम्य से यह नहीं कहा जा सकता कि मूलभूत पुराण वेदव्याख्या के लिये ही प्रवृत्त हुआ था। यह स्पष्टतः देखा जाता है कि पुराणगत वंश-वंशानुचरित और मन्वन्तर का कोई भी प्रत्यक्ष मूल वेदों में नहीं मिलता। उसी प्रकार सर्ग-प्रतिसर्ग-विवरण भी पूर्णतः वैदिक वाक्यों पर आधृत नहीं है। पुराणगत सर्ग-प्रतिसर्ग का मूल सांख्यविद्या है, जो पूर्णतः वेदमूलक नहीं है।[6]

आदिम पुराण वेदविरोधी ही था ऐसा कहना प्रमाणसंगत नहीं है, पर यह कहना असंगत नहीं होगा कि पुराण वेद से पृथक् एक जन-साधारण का अलिखित साहित्य था। मुख्यतः पुराण जन-साधारण के लिये एक त्रिवर्गसाधक एवं रोचक वाङ्मय था, जिसका प्रवचन अत्यन्त प्राचीन काल में वेदज्ञानहीन सूतजाति के लोग करते थे। सूत जाति का मुख्य कर्म था राजाओं के चरितों को सुनाना[7]

---

३. न्यायभाष्य का सन्दर्भ यह है—"यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः"।

४. वेद के बाद जो धर्मसूत्र साहित्य बना, उसमें भी धर्म के विषय में पुराण का वेदवत् प्रामाण्य स्वीकृत नहीं हुआ है। अन्य क्षेत्रों में पुराणज्ञान के उपयोग का निर्देश इस साहित्य में मिलता है।

५. "स्तुत्यर्थमिह देवानां वेदाः सृष्टाः" (शान्ति० ३२७।५०)।

६. शंकराचार्य ने स्पष्टतः इस मत का प्रतिपादन किया है—"न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्" (शारीरकभाष्य २।१।१)।

७. पुराणप्रवेश (बंगला ग्रन्थ) के अनुच्छेद, ३, ४, ३२, ८२ द्रष्टव्य हैं।

अतः वे लौकिक विषयों से युक्त राजचरितप्रधान एवं साधारणजन के चित्तरंजनोपयोगी आकर्षक विषयों का प्रवचन 'पुराण' नाम से करते थे । धर्मसूत्रादि प्राचीन ग्रन्थों में सूत को 'क्षत्रिय और ब्राह्मण से जात' कहा गया है तथा रथ-चालन, राजान्नपाक, राजकार्यादिदर्शन आदि उसके कर्म कहे गए हैं (हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र भाग २, पृ० ९८)। सूत राजवंश-ज्ञानकुशल होते थे, यह वायु० ४।२ से भी ज्ञात होता है। पृथुयज्ञ में सूतजन्म और सूतकर्तृक राजस्तव—ये दो पौराणिक विवरण भी सूत-परम्परा की अत्यन्त प्राचीनता और उनकी राजवंशज्ञान में अभिज्ञता को सिद्ध करते हैं। मूल में पुराण के 'वंश-वंशानुचरित-प्रकरण' का प्रवचन सूतों द्वारा ही होता था—यह भी निश्चित ही है।

इस सूत-प्रोक्त पुराण में सर्ग-प्रतिसर्ग-विवरण नहीं था, ऐसा प्रतीत होता है। यह दार्शनिक विषय सूत-परम्परा द्वारा प्रचारित होने योग्य नहीं है, अतः यह विषय किसी दार्शनिक सम्प्रदाय के स्पर्श से आया है, ऐसा कहना समीचीन है। हमारा अनुमान है कि लौकिक-उन्नति-परायण अथर्वाङ्गिरस् मुनियों द्वारा बाद में आदिम लोक-प्रचलित पुराण का स्वीकार कर लिए जाने के कारण ही सर्ग-प्रतिसर्ग-संबंधी विचार भी पुराणों में मिलाया गया है। सूतपरम्परा में विद्यमान पुराण में केवल वंश-वंशानुचरित ही थे, सम्भवतः मन्वन्तर-वर्णन भी रहा हो।

अथर्ववेद और पुराण—यह कहा जा चुका है कि पुराणों में जो सर्ग-प्रतिसर्ग-मन्वन्तर-संबद्ध प्रकरण हैं, वे सूतपरम्परा के विषय नहीं हैं। धर्मसूत्रों में सामान्य धार्मिक विषयों पर पुराणों के मत दिखाए गए हैं, वे भी सूत-परम्परा के विषय नहीं हो सकते, अतः हमें मानना पड़ता है कि मननशील सम्प्रदायों में भी पुराणों का अस्तित्व था। यदि पुराणवाङ्मय सर्वथा सूतबुद्धिप्रसूत ही होता तो बहुश्रुतता के लिये पुराण का श्रवण (गौ० ध० सू० ८।४६), राजा के लिये पुराण-वेद-वेदाङ्ग का ज्ञान (गौ० ध० सू० ११।१२) आदि मत कभी भी कहे नहीं जाते। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि कभी पुराण अथर्ववेद की परम्परा में भी विद्यमान था, और इसके कारण कुछ उपयोगी लौकिक विषय भी पुराण में अन्तर्भूत हो गए। अथर्ववेद की दृष्टि बहुधा लौकिक है, तथा उसे 'जन-साधारण का वेद' कहा जा सकता है, अतः अथर्ववेदीय परम्परा में लौकिक पुराण का अनुप्रवेश और विकास होना उचित ही है। हम समझते हैं कि अथर्ववेदीय शौनकसंहिता (११।७।२४) में ऋक् आदि के साथ पुराण की जो उत्पत्ति कही गई है, वह भी इस अनुमान का समर्थन करती है। न्यायभाष्य (४।१।६१) में वात्स्यायन ने किसी लुप्त ब्राह्मण का एक ऐसा वचन उद्धृत किया है (ते वा खल्वेते

अथर्वाङगिरस एतदितिहासपुराणमभ्यवदन्) जिससे यह ज्ञात होता है कि अथर्वाङगिरस् मुनियों ने इतिहास-पुराण का प्रकथन किया था।

भाष्य का यह उल्लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ध्यान देना चाहिए कि अथर्ववेद में ऐहलौकिक विषयों का विवेचन है, जब कि अन्य वेद मूलतः पारलौकिक विषयों पर ही विचार करते हैं। नागर० २०२।१३-१८ में स्पष्टतः ऋगादि वेद की अपेक्षा अथर्ववेद की लोकपरायणता को विशद कर कहा गया है और यहाँ अथर्ववेद को स्पष्टतः "आद्य" वेद कहा गया है (यह मत न्यायमञ्जरी पृ० २ में भी है)। याज्ञवल्क्य स्मृति (१।१०१) में भी वेद से पृथक् अथर्ववेद का उल्लेख किया गया है। तान्त्रिक सम्प्रदायों में भी अथर्ववेद को वेदत्रय से पृथक् एवं तान्त्रिक परम्परा से संबद्ध मानने की प्रवृत्ति है। भावनोपनिषत् (३६) की भास्कररायकृत[८] टीका में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। तान्त्रिकसम्प्रदायों में अथर्ववेद का स्वीकरण भी सिद्ध करता है कि यह वेद जनव्यापी था। यह बात दूसरी है कि तान्त्रिक इस वेद को अपनी दृष्टि से अन्तरङ्गकर्म-परक मानते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अथर्ववेदीय लौकिक परम्परा में भी पुराण का आदिम विकास हुआ था। अथर्व० १५।६।११ में उक्त 'व्रात्य के साथ इतिहास-पुराण-गाथादि का अनुगमन' भी इस प्रसंग में अवलोकनीय है।

छान्दोग्य उपनिषत् (३।४।१) से भी अथर्ववेद के साथ इतिहासपुराण का सम्बन्ध ज्ञात होता है। यहाँ कहा गया है कि अथर्वाङ्गिरस् ही मधुकर हैं और इतिहासपुराण पुष्प हैं।[९] गौ० ध० सू० १।३९ के मस्करिभाष्य में धृत कण्वधर्मसूत्र के वचन से (तत्र तूक्तं कण्वेन-अथर्ववेदेतिहासपुराणानि ध्यायन्) तथा बौ० ध० सू० ४।३।५ (यत् प्रथमं परिमार्ष्टि तेन अथर्ववेदम्। यद् द्वितीयं तेन इतिहासपुराणम्) के वाक्य से भी पुराण और अथर्ववेद का घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है।

---

८. भास्करराज को भास्करराय भी कहते हैं।

९. अथर्ववेद के पूर्वोक्त स्थल और छान्दोग्य उपनिषद् के इस स्थल में इतिहास-पुराण का पृथक्-पृथक् उल्लेख है। अवश्य ही यह उल्लेख इन दोनों के परस्पर भेद का ज्ञापक है। सम्भवतः इन स्थलों में जगत् की प्रागवस्था (और लय) पुराणपदवाच्य है और पूर्व-चरित इतिहास कहलाता है। वंश-वंशानुचरितात्मक सूतपरम्परा का पुराण अथर्ववेदीय मुनियों द्वारा प्रकथित होने के कारण सर्ग-प्रतिसर्ग-विषय-प्रतिपादक हो गया था, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। परवर्ती काल में ये दो विषय पुराणों में समादृत हो गए हैं।

अथर्ववेद और पुराण के इस सम्बन्ध के विषय में यह ज्ञातव्य है कि भारतवर्ष में शूद्र (तथा स्त्री भी) सामान्य जन के रूप में ही माने गए हैं, और इन लोगों में परम्परा से जो विद्या प्रचलित है, वह अथर्ववेद का शेष है—यह एक मान्य सिद्धान्त है (आ० ध० सू० २।११।२९।११-१२)। इस उल्लेख से यह भी ध्वनित होता है कि जनसाधारण का सम्बन्ध अथर्ववेद से अधिक था। लौकिक पुराणों का अनुप्रवेश अथर्ववेद में ही क्यों हुआ, इस प्रश्न का उत्तर इससे मिल जाता है।

अथर्ववेद के साथ पुराण का यह सम्बन्ध पौराणिक विकास की दृष्टि से अवश्य विचारणीय है। चाहे मन्त्र की दृष्टि से अथर्व-मन्त्र ऋग्मन्त्र ही हो, पर अथर्ववेद में अधीत मन्त्र से त्रैवेदिक कर्मों का मिश्रण नहीं किया जाता है— यह मेधातिथि ने स्पष्टतः कहा है (मनुभाष्य २।६)। अथर्व० को वेद न मानने की प्रवृत्ति भी बहुत प्राचीन है—जैसा कि यथास्थान कहा गया है। हमारा अनुमान है कि श्रौत-धर्म से पृथक् किसी लौकिक परम्परा (जिसमें ऐहलौकिक दृष्टि ही मुख्य थी) में पुराण प्राचीनतम काल में था और पुराण के इस लौकिक स्वभाव के कारण ही अथर्ववेदीय परम्परा में उसका समादर हुआ था।[10]

पुराणधारा और वेदधारा का पार्थक्य—विषय की दृष्टि में पुराणधारा मूलतः श्रौतकर्ममय वैदिक धारा से पृथक् है, यह निश्चित है। मार्क० में सृष्टिवर्णन के प्रसङ्ग में 'मुनियों द्वारा पुराणों का ग्रहण' और 'ऋषियों द्वारा वेद का ग्रहण' (४५।२३) कहे गए हैं; ऐसा भेदपूर्वक निर्देश मूलतः दोनों धाराओं के पार्थक्य का ज्ञापक है। श्रौतयज्ञधारा से पृथक् इस अथर्वधारा में आने के पहले पुराण का वर्ण्यविषय क्या था, इसका यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता; पर इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि इस काल में पुराण में विशिष्ट धर्म्यविषय तथा दार्शनिक विचार नहीं थे। सूतों द्वारा प्रचारित होने के कारण पुराण का मूल विषय वंश-वंशानुचरित था, यह अनस्वीकार्य है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इन अथर्वाङ्गिरस् ऋषियों के कारण ही पुराण को वैदिक सम्प्रदाय में भी कथंचित् स्थान मिला था। विशिष्ट लोगों के लिये पुराण-श्रवण करने का ब्राह्मणग्रन्थोक्त निर्देश और वेद की तरह पुराण के उद्भव सम्बन्धी वैदिक ग्रन्थ के वचन—ये दो तथ्य निश्चयेन पुराण की इस द्वितीय स्थिति के ज्ञापक हैं।

---

१०. पुराणों में अनुष्टुप् छन्द की प्रमुखता भी अथर्ववेदहेतुक है, क्योंकि अनुष्टुप् छन्द को अथर्ववेद की सृष्टि के साथ संबद्ध माना गया है (विष्णु० १।४।५५, वायु० ९।५२, ब्रह्माण्ड० १।८।५३, कूर्म० १।७।६०)। वेद सृष्टि के प्रसंग में अनुष्टुप् का संबन्ध अथर्व के साथ ही क्यों दिखाया गया, यह अभी विचारणीय है।

सायण ने 'इतिहासवेद और 'पुराणवेद' को अथर्ववेद का उपवेद कहा है (अथर्ववेद-भाष्यभूमिका,पृ० १२२) और अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण (१।२।१०) में ही वेद को 'सपुराण' कहा गया है। अथर्वसंबद्ध ये दो उल्लेख निश्चयेन पूर्वोक्त अनुमान के ज्ञापक हैं। परवर्ती काल में वैदिक सम्प्रदायों में पुराण का अनुप्रवेश क्रमशः बढ़ता ही गया और बाद में उपनिषत्-काल में पुराण को पञ्चम वेद भी माना गया। यहाँ यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि पुराण को 'पञ्चम वेद' मानने का यह अर्थ नहीं है कि मूलतः पुराण वेदार्थ का उपबृंहक ही हो। इस विशेषण का अर्थ केवल इतना ही है कि इस समय समाज में पुराण का भी वेदवत् मर्यादित स्थान हो गया था; 'पञ्चम' शब्द में जो पूरणप्रत्यय है, वही इस अनुमान का ज्ञापक है।

'ब्राह्मणग्रन्थों के अंश-विशेष पुराण हैं', ऐसा भी एक मत है (बृहदारण्यक० २।४।१० का शांकरभाष्य; तै० आ० २।९ का सायण भाष्य)। हम समझते हैं कि 'पुराणविद्या' (अर्थात् परम्परागत प्राचीन घटना) के अनुरूप विषय जब वैदिक ग्रन्थों में देखे गए, तब उन अंशों को भी 'पुराण' नाम से कहने की प्रवृत्ति वैदिक आचार्यों में हुई। ब्राह्मणग्रन्थों में पुराण का जैसा उल्लेख मिलता है, उससे यह सर्वथा निश्चित है कि ब्राह्मणग्रन्थों से पृथक् स्वतन्त्र पुराण विद्यमान थे, अन्यथा ऋगादि वेद के अतिरिक्त पञ्चमवेद के रूप में 'इतिहासपुराण' को मानना युक्तियुक्त नहीं होता। इस विषय पर विस्तृत विचार अन्यत्र द्रष्टव्य है (द्र० "वेदेषु पुराणमहत्त्वम्" लेख—पुराणम् १।१)।

आदिम पुराण की संख्या—यह आदिम पुराण चूंकि ग्रन्थ रूप में नहीं था, इसलिये इसकी संख्या और परिमाण के विषय में प्रश्न ही नहीं उठता। पुराणों में आदिम पुराण को लक्ष्य कर जो "एकम्, शतकोटिप्रविस्तरम्" कहा गया है, यह भी कोई निश्चयात्मक विवरण नहीं है। 'एकं पुराणम्' कहने मात्र से पुराणग्रन्थ का संख्यानिर्धारण नहीं होता, बल्कि इतना ही सिद्ध होता है कि 'पुराण' नाम की कोई एक विद्या थी।

अथर्व० ११।७।२४ में भी 'पुराणम्' कहा गया है। शतपथ० १३।२।१।१२-१३ छान्दोग्य० १।४।१-२ आदि में भी 'पुराणम्' या 'इतिहासपुराणम्' पद है। तै० आरण्यक २।९।१०-११ में 'पुराणानि' यह बहुवचनान्त पद है और उसके बाद मनु० में भी 'पुराणानि' पद मिलता है (३।२३२)। इससे अनुमान होता है कि इस समय अनेक प्रकार की पुराणपरम्पराएँ हो गई थीं। यह भी कहा जा सकता है कि प्रवचन-भेद को लक्ष्य कर बहुवचन का प्रयोग किया गया है। शब्दशास्त्रज्ञ बहुधा विकीर्णता या अनिश्चित अवस्था को लक्ष्य कर भी बहुवचन का प्रयोग किया करते हैं। यदि इस काल में अनेक पुराण पृथक् पृथक् नामों के साथ प्रचलित

रहते तो मन्वादि में किसी पुराण के नाम का अनुस्मरण किया जाता। हमारा अनुमान है कि व्यास-परम्परा में पुराण-प्रवर्तन के बाद विभिन्न सम्प्रदाय के विद्वानों द्वारा पुराणों का नामकरण किया गया है। साम्प्रदायिक दृष्टियों के अनुसार ही अधिकांश पुराणों के नाम हैं, जो नामकरण-पद्धति की अर्वाचीनता को सिद्ध करते हैं।

पुराणनामकरण की अर्वाचीनता के खण्डन में यह प्रश्न किया जा सकता है कि आपस्तम्ब-धर्मसूत्र २।९।२४।६ में "इति भविष्यत्पुराणे" कैसे कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि यहाँ 'भविष्यत्' शब्द पुराण का नामविशेष नहीं है, बल्कि 'भविष्यत्पुराण' का अर्थ है—'भविष्यकालिक घटना को बतलाने वाला पुराणवाक्य'। सूत्र में उद्धृत वाक्य यह है—"पुनः सर्गे बीजार्था भवन्ति" और यह वाक्य जीव की भविष्यकालिक गति या जन्म को कहता है, अतः यहाँ भविष्यत् पुराण का अर्थ है—'होने वाली घटना को कहने वाला पुराण-वाक्य'। इस अर्थ में 'भविष्यत् पुराण' शब्द का प्रयोग शान्तिपर्व में मिलता है।[११] शान्तिपर्व में प्रयुक्त 'पुराणं भविष्यं' का अर्थ 'अनागत घटनाख्यापक पुराण' ही है। यदि ऐसा न माना जाय तो 'पुराणम्' शब्द का प्रयोग भविष्य शब्द के साथ करना वदतोव्याघात का ही उदाहरण होगा।

इस दोष के समाधान के लिये श्री पर्जिटर ने अनुमान किया है कि आपस्तम्ब से पहले ही पुराण शब्द का अर्थ लुप्त या विस्मृत हो गया था और तात्कालिक विद्वान् पुराण का अर्थ 'पुरातन विषय से सम्बद्ध शास्त्र' ऐसा न समझकर 'किसी भी प्रकार का मान्य ग्रन्थ' इतना ही समझने लग गए थे और इसीलिये 'भविष्य-पुराण' कहने में उनको किसी भी दोष की प्रतीति नहीं हुई थी। (A. I. H. T. पृ० ५०-५१)

श्री पर्जिटर का यह समाधान असंगत है। आपस्तम्ब के काल में 'पुराण' शब्द का तात्पर्य अज्ञात हो गया था, यह विश्वसनीय नहीं है। मनु० ३।२३२, याज्ञवल्क्य० १।४५ आदि में उक्त इतिहास-पुराण का भेदपूर्वक निर्देश सिद्ध करता है कि इनके समय में भी पुराण का स्वारसिक अर्थ ज्ञात था।

ध्यान देना चाहिए कि यदि 'भविष्यत्' कोई नाम होता तो आपस्तम्ब अन्य पुराण-वचनों के साथ भी किसी पुराण का नाम कहते, अन्यान्य धर्मसूत्रों में भी कहीं किसी पुराण का नाम लिया जाता, पर कहीं भी कोई नाम नहीं लिया गया। इससे सिद्ध होता है कि उस समय पुराण का कोई नाम (ब्रह्म, विष्णु आदि) नहीं था।

---

११. एतत् ते सर्वमाख्यातं ब्रह्मन् भक्तिमतो मया। पुराणं च भविष्यं च सरहस्यं च सत्तम॥ (शान्तिपर्व ३३९।१०८-१०९)।

हम समझते हैं कि पुराणों का नामकरण पाणिनिकाल के बाद प्रचलित हुआ है। यद्यपि पाणिनि के समय में पुराण वाङमय प्रचलित था (क्योंकि पाणिनिस्मृत महाभारत में पुराणों का स्मरण बहुशः किया गया है), तथापि यह आश्चर्य का विषय है कि उनके किसी भी सूत्र में पुराण-वाङमय का अणुमात्र संकेत नहीं मिलता, जबकि वैदिक ग्रन्थों के नाम आदि मिलते हैं। अष्टाध्यायी के 'प्रोक्त' या 'कृत' अधिकार में प्राचीन व्याख्याकारों द्वारा तथा अन्य शास्त्रों के आचार्यों द्वारा किसी भी पुराणग्रन्थ का नाम न लिया जाना यह सिद्ध करता है कि उनके काल में इस वाङमय के ग्रन्थों का स्वतन्त्र नामकरण नहीं हुआ था, केवल 'पुराण' इस सामान्य नाम का ही प्रचार था।

उपलब्ध साक्ष्य के अनुसार यह कहना न्याय्य है कि प्रवक्ता के नाम के अनुसार पुराणनामकरण व्यास-परम्परा में ही दृष्ट होता है। पाणिनि-प्राचीन कृष्णद्वैपायन व्यास के शिष्य रोमहर्षण की संहिता 'रोमहर्षणिका' कहलाती थी। 'सावर्णि' 'काश्यप' आदि द्वारा कृत पुराण-संहिताएँ भी कर्त्तृनामानुसार प्रसिद्ध रही होंगी। 'काश्यपीया पुराण-संहिता' का उल्लेख सरस्वतीकण्ठाभरण की दण्डनाथीय वृत्ति (४।३।२२९) और चान्द्रव्याकरणवृत्ति (३।३।७१) में मिलता है। मूल चार पुराण संहिताओं में से एक 'काश्यपीय संहिता' यद्यपि इन वृत्तियों में स्मृत हुई है तथापि वामनादि-अवतारों के नाम के आश्रित पुराणनाम प्राचीन ग्रन्थों में कहीं भी उद्धृत नहीं मिलते, यह ज्ञातव्य है।

धर्मसूत्रादि में वर्णित पुराण के कुछ मत—यह कहा गया है कि न्यायभाष्य (४।१।६१) में वात्स्यायन ने वेद का विषय 'यज्ञ' और पुराणेतिहास का विषय 'लोकवृत्त' कहे हैं। लोकसम्बन्धी प्राचीन पुरातन वृत्त ही मुख्यतः आदिम पुराण के विषय रहे होंगे। हमारी दृष्टि में सर्ग-प्रतिसर्ग -मन्वन्तर भी 'लोकवृत्त' की दृष्टि से ही बाद में पुराणों में जोड़े गए हैं। यह भी हो सकता है कि कभी 'वंश-वंशानुचरित' के अतिरिक्त अन्यान्य पूर्वचरितात्मक विषय भी पुराणों में अन्तर्भूत रहे होंगे, यद्यपि इस विषय में निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

धर्मसूत्र, प्राचीन स्मृति आदि के अध्ययन से प्राचीन पुराण के विषयों का ज्ञान हो जाता है। इन ग्रन्थों में सूक्ष्म दार्शनिक विषयों के प्रसङ्ग में कहीं भी पुराणों का नाम नहीं लिया गया है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।६।१९।१३-१४ में 'पुराण' कहकर जो श्लोक उद्धृत किया गया है, वह भोज्यान्न विषयक है और १।१०।१९ ७ में उद्धृत वचन आततायिविषयपरक है। २।९।२२।३-४ में उद्धृत श्लोक दक्षिणायन-उत्तरायण विवरण और उर्ध्वरेतः-प्रशंसापरक है। यह उर्ध्वरेतःप्रशंसापरक सन्दर्भ ज्ञापित करता है कि मूलतः पुराण वैदिक विद्याप्रवचन से संबद्ध गृहस्थ

ऋषि-परम्परा का नहीं है ;[१२] बल्कि मुनि-परम्परा में यह शास्त्र पल्लवित हुआ था। आ० ध० सू० २।९।२४।६ तथा २।९।२३।३ में जो वचन 'पुराण' के नाम से उद्धृत हैं (प्रलयान्तर सृष्टि और द्विविध ऋषि संबद्ध) वे उपबृंहण के साथ (अनुष्टुप् छन्द में) वायु० मत्स्य०, विष्णु०, ब्रह्माण्ड० में प्राप्त होते हैं (द्र० अष्टादशपुराणदर्पण, पृ० १९-२३)। वस्तुतः धर्मसूत्रादि के काल में पुराण-विद्या में उपर्युक्त सूक्ष्म विषयों का स्वल्प अन्तर्भाव हो चुका था। विभिन्न सूत्रग्रन्थों में राजा, पुरोहित आदि के लिये पुराणज्ञान की उपादेयता कही गई है। (इस समय पुराणों में सांप्रदायिक पूजा आदि, तथा दान, व्रत उपवासादि का अन्तर्भाव नहीं था, यह ज्ञातव्य है)। सामान्य आचार आदि के पुराणों में अनुप्रवेश होने पर भी पुराण को जनता-योग्य शास्त्र ही माना जाता था, क्योंकि शतपथ० १३।४।३।१३ में पुराण श्रोता के रूप में पक्षिविद्यावेत्ता (वयोविधिक) का निर्देश है। यज्ञ के विभिन्न दिनों में दोनों के प्रवचन होने के कारण इस काल में इतिहास पुराण से पृथक् था, यह भी ज्ञात होता है।

पुराण और पञ्चलक्षण—पुराण के ये पांच लक्षण[१३] (सर्ग-प्रतिसर्ग-वंश-वंशानुचरित-मन्वन्तर) कब से प्रवृत्त हुए हैं, यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। सूतपरम्परा में प्रोक्त पुराण में ये पांच विषय अवश्यमेव थे —ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि दार्शनिक-ज्ञान-रहित सूतों द्वारा सर्ग-प्रतिसर्ग का प्रवचन करना सम्भव नहीं है। वंश-वंशानुचरित सूत परम्परा द्वारा प्रचारणीय विषय हो सकते हैं। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि सर्ग-प्रतिसर्ग-मन्वन्तर रूप त्रिविध विषय अन्य परम्परा से पुराण में संकलित हुए हैं। सर्ग-प्रतिसर्ग का सम्बन्ध ब्रह्मा या प्रजापति से दिखाया गया है (पुराणों में); और ब्रह्मा (प्रजापति) का विशिष्ट विवरण अथर्ववेद में प्रोक्त होता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि अथर्वाङ्गिरस् ऋषियों द्वारा प्रोक्त होने के कारण पुराण में पञ्चलक्षण का अपेक्षित विकास हुआ था। इन पांच विषयों में कोई भी साम्प्रदायिक दृष्टि नहीं है और न ही इनमें किसी व्यक्ति, नदी, तीर्थ आदि का अतिरंजित माहात्म्य

---

१२. स्त्रीवर्ज कर्मत्यागात्मक जीवन प्राचीनतम वैदिक मत नहीं है, यह इस हेतु का बीज है। भारतीय संस्कृति का विकास (दशमपरिच्छेद) ग्रन्थ में यह मत सुप्रमाणित किया गया है।

१३. पञ्चलक्षणपरक "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च" इत्यादि प्रसिद्ध श्लोक प्रायेण प्रत्येक पुराण में मिलता है (द्र० पुराणम्, भाग १, अङ्क २ में म० म० गिरिधर शर्मकृत 'पुराणलक्षणानि" शीर्षक लेख।

दिखाने की प्रवृत्ति है। वंशानुचरित में राजवंशान्तर्गत राजाओं के चरितमात्र हैं, जो आज भी बहुत कुछ असाम्प्रदायिक रूप में ही मिलते हैं।

पुराणसंहिता की स्थिति—इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत-परम्परा में जिस पुराण का आरम्भ हुआ था, बाद में अथर्ववेद-परम्परा में उस पुराण का विकास हुआ और इस प्रकार 'पुराणविद्या' अनेक परम्पराओं में विभक्त हो गई। चूंकि लोकोपयोगी विषय ही इस शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय थे, इसलिये बहुसंप्रदाय में विभक्त इस उपयोगी विद्या को व्यवस्थित करना व्यास के समय में आवश्यक हो गया था। वस्तुतः व्यास के समय 'पुराण' नाम से सर्ग-प्रतिसर्ग आदि पांच विषय ही लिए जाते थे और आख्यानादि (वक्ष्यमाण चार विषय) पृथक् रूप से लोक में प्रसिद्ध थे। यह भी निश्चित है कि आख्यान आदि में अर्वाचीन काल की साम्प्रदायिक दृष्टि नहीं थी, यद्यपि बाद में साम्प्रदायिक विद्वानों ने अपनी दृष्टि से आख्यानादि में परिवर्तन आदि किए हैं। गौतमी-माहात्म्य इस नियम का एक उदाहरण है। ब्रह्म० के गौतमी-नदी-माहात्म्य (७० अ० से १७५ अ० पर्यन्त) में अनेक प्राचीन कथाओं का उपन्यास किया गया है और उन कथाओं में आंशिक परिवर्तन कर गौतमी नदी का माहात्म्य दिखाया गया है। मूलतः इस माहात्म्य में वर्णित सभी कथाएं गौतमी-माहात्म्यपरक नहीं हैं, पर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के आधिक्य के कारण उन कथाओं को साम्प्रदायिक रंग में रंजित कर दिया गया है। यह निश्चित है कि अहल्या आदि के चरितों के प्राचीन वर्णन में गौतमी-माहात्म्य संबद्ध नहीं था।

विभिन्न परम्पराओं में प्रचलित उपाख्यान आदि की लोकोपयोगिता को देखकर व्यास ने पुराण में इन विषयों का भी समावेश (सर्गादि पांच लक्षणों के साथ) कर दिया था और इस 'संहनन-क्रिया' के कारण 'संहिता' यह नूतन नाम पुराण के साथ संयुक्त हो गया था। बाद में इस संहिता के आश्रय से क्रमशः अनेक उपबृंहणात्मक पुराणों की रचना हुई है—जैसा कि आगे के प्रकरणों में दिखाया जाएगा।

(२)

अष्टादश पुराणों का क्रमिक विकास और रचनाकाल

पुराणसंहिता का प्रणयन—'व्यासकर्तृक पुराणसंहिता निर्माण' का बीजभूत श्लोक यह है—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः ॥

(विष्णु० ३।६।१६, वायु० ६०।२१, ब्रह्माण्ड० १।३४।१)। [वायु० में 'कल्पशुद्धिभिः' के स्थान पर 'कुलकर्मभिः' पाठ है और ब्रह्माण्ड० में 'कल्पजोक्तिभिः' पाठ है। तत्त्वसन्दर्भ (पृ० २५) में 'कल्पशुद्धिभिः के स्थान पर 'द्विजसत्तमाः' यह सम्बोधन-पद है। इस ग्रन्थ में यह श्लोक वायु० से उद्धृत किया गया है, यह ग्रन्थकार जीवगोस्वामी ने प्रकरण के आरम्भ में ही कहा है (वायुपुराणे सूतवाक्यम्, पृ० २४)]।

इस श्लोक से यह ध्वनित होता है कि पुराणसंहिता के प्रणयन में आख्यानादि चारों का उपयोग किया गया है। यतः यहाँ आख्यानादि शब्दों में तृतीया विभक्ति है, अतः यह भी ध्वनित होता है कि पहले से जो पञ्चलक्षण पुराणप्रसिद्ध था (इसीलिये 'पुराणार्थ-विशारद' यह हेतुगर्भ विशेषण यहाँ प्रयुक्त हुआ है), उसके साथ आख्यानादि को जोड़कर (पुराण के स्थान पर) पुराणसंहिता का (व्यास द्वारा) प्रणयन किया गया है। 'आख्यानैश्च' प्रयोग में जो 'च' है, वह सम्भवतः इसकी कुछ अन्य सजातीय सामग्री को भी लक्षित करता है, यद्यपि 'च'-कार मात्र के बल पर कुछ निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता। यह ज्ञातव्य है कि आख्यानादि भी लौकिक विषय हैं, अतः लोकवृत्तप्रधान पुराण के साथ इन चारों का संयोजन करना स्वाभाविक ही था। इन लौकिक विषयों की सुरक्षा और प्रचार हो—इस उद्देश्य से प्रेरित होकर ही लोककल्याणकामी व्यास ने लोकप्रिय पुराण के साथ इन विषयों का संयोजन किया था—ऐसा अनुमित होता है।

आख्यान-उपाख्यान-गाथा-कल्प—यह कहा गया है कि पहले सर्गादि पांच विषय पुराण में वर्णित थे और व्यास ने आख्यानादि चारों को जोड़कर पुराणसंहिता का प्रणयन किया। आख्यानादि के स्वरूप पर विचार करने से यह तथ्य और भी स्पष्ट होगा।

आख्यानादि शब्दों के विभिन्न लक्षण मिलते हैं,[1] पर इन लक्षणों का समन्वय करना बहुत कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्गादि पांच लोकप्रसिद्ध विषय हैं और आख्यानादि चार मुख्यतः वैदिक विषय हैं। वेद में प्राचीनतम आख्यानादि मिलते हैं। मनु० ३।२३२ के भाष्य में मेधातिथि ने 'आख्यान' की व्याख्या में कहा है "आख्यानानि सौपर्णमैत्रावरुणादीनि बाह्वृच्ये पठ्यन्ते"।

---

१. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (भाग १, प्रथमाध्याय) ग्रन्थ में आख्यान, उपाख्यान आदि पर विचार के प्रसंग में पूर्वाचार्यों के अनेक लक्षण संकलित हुए हैं।

कुल्लूक भी ऐसा ही कहते हैं। आख्यान के उदाहरण में केवल वैदिक उदाहरण देना (जहाँ किसी लौकिक आख्यान का उदाहरण देना सर्वथा संगत होता) आख्यान की वेदमूलकता का ज्ञापक है। उपाख्यान-गाथा-कल्प मूलतः वैदिक हैं। इन चारों की लोकोपयोगिता देखकर ही व्यास ने पुराणसंहिता के प्रणयनकाल में इनका संकलन सर्गादि पांच विषयों के साथ किया था।

वेद और सूत्रग्रन्थों में 'शुनःशेप' 'सौपर्ण' आदि की कथाएं 'आख्यान'-नाम से प्रचलित हैं। उसी प्रकार बृहद्रथ आदि के चरित (मैत्रायणी आरण्यक ११) उपाख्यानपदवाच्य हैं। सम्भवतः स्वतन्त्र कथाएं आख्यानपदवाच्य हैं और किसी तत्त्व की प्रतिपादक कथाएँ, एवं अर्थवादगत कथाएँ उपाख्यानपदवाच्य होती हैं। तन्त्रवार्त्तिक १।३।१ में आख्यानादि के जो लक्षण दिए गए हैं, उनसे यह भेद ज्ञात होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में गाथाओं के प्रचुर उदाहरण हैं। कल्प भी वैदिक हैं। धार्मिक अनुष्ठान सम्बन्धी विवरण कल्प का विषय है। हम समझते हैं कि जब व्यास ने लुप्तप्राय और इधर-उधर बिखरे हुए वैदिक वाङमय को (शाखाभेद के रूप में) व्यवस्थित किया, उस समय उन्होंने यह सोचा था कि वैदिक वाङमय के ये चार विषय पुराण में संकलित किए जा सकते हैं और लोककल्याण की कामना से ही उन्होंने इन चार विषयों का समावेश कर पुराणसंहिता का प्रणयन किया। इन चार वैदिक विषयों का समाहार होने के कारण ही व्यासपरम्परा में ब्राह्मणों द्वारा पुराणों का प्रवचन होने लगा, और पुराण वेदवर्जित सूत-परम्परा से हटकर वेदप्रामाण्यवादी समाज में भी प्रतिष्ठित हो गया। हमारा अनुमान है कि विभिन्न सम्प्रदायों के दार्शनिक तत्त्व तथा पूजा आदि विषय व्यासप्राचीन पुराण में नहीं थे, व्यास-परम्परा में ये विषय बाद में साम्प्रदायिक विद्वान् आचार्यों द्वारा संकलित हुए हैं।

इतिहास भी पहले पुराण से पृथक् था; सम्भवतः व्यासकाल से ही ऐतिहासिक सामग्री क्रमशः पुराणों में अनुप्रविष्ट होने लग गई थी। मनु के समय में भी इतिहास-आख्यान-पुराण-धर्मशास्त्र पृथक् पृथक् विद्या के रूप में थे (३।२३२)। याज्ञवल्क्य ने भी पुराण और इतिहास का एक ही वाक्य में पृथक् कर उल्लेख किया है (१।४५)। लोकरुचि को लक्ष्य कर तथा विषयों के साम्य के कारण इतिहास आदि का सम्मिश्रण पुराण में किया गया है। मत्स्य० ५३।८-९ से यह निश्चयेन अनुमित होता है कि कालानुसार प्रयोजनानुरूप पुराणों का संस्करण किया जाता है। कालानुसार पुराणविषयों के उपबृंहण का हेतु भी सहजतः ज्ञात होता है। इस प्रसंग में लिङ्ग० १।३९।६१ का "इतिहासपुराणानि भिद्यन्ते कालगौरवात्" वाक्य स्मर्तव्य है।

प्रचलित पुराणों के मूलभूत पुराण—इन पुराणग्रन्थों से पहले रोमहर्षण आदि की जो मूल पुराणसंहिताएँ थीं, वे बहुत पहले ही लुप्त हो चुकी हैं, यद्यपि ऐसा भान होता है कि इन संहिताओं के कुछ वाक्य प्रचलित पुराणों में भी अन्तर्भूत हैं। प्रचलित पुराणों के रचयिताओं को भी मूल पुराण-संहिताओं की सत्ता का ज्ञान था, क्योंकि इन पुराणों में भी 'पुराणसंहिता' 'आदिपुराण' इत्यादि प्रयोग मिलते हैं।

प्रचलित पुराणों का स्वरूप—अब प्रचलित पुराणग्रन्थों के विषय में कुछ विचार करना आवश्यक है। परम्परागत दृष्टि में प्रचलित पुराणों का संबन्ध व्यास से ही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कृष्णद्वैपायन व्यास अष्टादश पुराणों के रचयिता हैं। पुराणों की व्यासकर्तृकता गौणदृष्टि से ही है। नवमशताब्दी के मनु-संहिताभाष्यकार मेधातिथि भी 'पुराणानि व्यासादिप्रणीतानि' (३।२३२) कहते हैं। यहाँ तक कि पुराणों में ही पुराणों की बहुकर्तृकता कही गई है। इस प्रसंग में मार्क० ४५।२१ का "पुराणसंहिताश्चक्रुः बहुलाः परमर्षयः" वाक्य द्रष्टव्य है। कूर्म० १।१२।२६८ के "व्यासाद्यैः कथितानि पुराणानि" वाक्य भी इस तथ्य का ज्ञापक है। स्वयं पुराण में ही यह संकेत है कि व्यासशिष्य लोमहर्षण की पुराण-संहिता चतुःसहस्रश्लोकात्मक[२] थी और इस तथ्यपूर्ण उक्ति से यह भी सिद्ध होता है कि लोमहर्षणिका संहिता तथा तात्कालिक सावर्णि-आदि-कृत अन्य संहिताओं के आश्रय से यह पुराणशास्त्र जनसाधारण में बहुधा प्रोक्त होने लग गया था। इन संहिताओं का स्वरूप कैसा था, यह अज्ञात है, यद्यपि उनके विषय में पुराण में संकेत मिलता है।[३]

---

२. ब्रह्माण्ड० १।३५।६३-६९ (कुछ स्थलों में पाठ भ्रष्ट है, यथा—'खड्ग' के स्थान में 'षट्शः' होगा, 'मया युक्तं' के स्थान पर 'मयाप्युक्तं' होगा); वायु० ६१।५५-६१, विष्णु० ३।६।१७-१९, अग्नि० २७१।११-१२। षट्शः पुराण प्रवचन होने पर भी चार ही पुराणसंहिताएँ कही गई हैं (सावर्णि आदिकृत)। इनमें रोमहर्षण नाम प्रायः पुराणों में मिलता है, यद्यपि ब्रह्मवैवर्त आदि अर्वाचीन-पुराणों में रोमहर्षण का निर्देश नहीं है। वायु० में शांशपायन नाम भी स्मृत हुआ है। भाग० १२।६।४-७ में भी ईषत् भेद से यह विषय कहा गया है। यहां चारों की ही मूलसंहिताएँ कही गई हैं। विष्णु० की श्रीधरी-व्याख्या में कुछ भिन्न अर्थ है।

३. इन पुराणसंहिताओं में लोमहर्षणकृत संहिता सर्वमूल थी। शांशपायनकृत संहिता में चार सहस्र से अधिक श्लोक थे। सावर्णिकृत संहिता 'ऋजुवाक्यार्थ-

पौराणिक वचनों से यह ज्ञात होता है कि वेदव्यास द्वारा बहुपरम्परागत पुराण एक निश्चित रूप में[४] परिष्कृत एवं सज्जीकृत हुआ था और नियत परिमाण और निश्चित विषयों[५] से युक्त संहिता के रूप में उसका प्रवर्तन किया गया था। चार हजार श्लोकों में साम्प्रदायिक मत, व्रत, पूजा, दान तथा बड़ी-बड़ी कथाएँ, तीर्थ माहात्म्य आदि का अन्तर्भाव कथमपि नहीं हो सकता। इतना होने पर भी यह कहा जा सकता है कि व्यासकृत पुराणसंहिता में सर्गादि पांच लक्षणों के अतिरिक्त धर्मशास्त्रीय विषय और कुछ प्रसिद्ध आख्यान-उपाख्यानों के साथ वैष्णव धर्म का प्रारम्भिक अनुप्रवेश था। कृष्ण-माहात्म्य-ख्यापक व्यास (जिनके द्वारा भागवतधर्म-परक भगवद्गीता का प्रणयन हुआ है) द्वारा प्रणीत आदिम पुराण-संहिता में वैष्णवधर्म का सामान्यदृष्ट्या अनुप्रवेश होना तर्कलाघवतः सिद्ध होता है; 'नारायणं नमस्कृत्य'-रूप प्रतिपुराणीय आदिम श्लोक भी मूल पुराणसंहिता के वैष्णव-दृष्टियुक्तत्व का ज्ञापक है। यह वैष्णवदृष्टि आधुनिक वैष्णवदर्शन नहीं है—यह कहना अनावश्यक है। अधिकांश पुराणों में विष्णुतत्त्व या विष्णुप्राधान्य का ही कीर्तन हुआ है—यह तथ्य भी सिद्ध करता है कि प्रचलित पुराणों की मूलभूत संहिता में वैष्णव दृष्टि का आभास था।

सूतप्रोक्त पुराण—व्यास प्रवर्तित पुराणधारा में सर्वाधिक महत्ता लोमहर्षण सूत की है, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। प्रायः सभी पुराण ऋषि-सूत-संवाद से ही आरब्ध

मण्डित' है। शांशपायनकृता संहिता 'नोदनार्थविभूषित' है (वायु० में 'ऋजु' के स्थान पर 'यजुः' पाठ है)। इन विशेषणों का अर्थ कुछ अस्पष्ट है।

४. पुराणसंहिता-शब्दान्तर्गत 'संहिता' शब्द ही इस तथ्य का ज्ञापक है। वैदिकग्रन्थ, सूत्रग्रन्थ तथा अन्यान्य प्राचीन ग्रन्थों में 'पुराण' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, 'पुराणसंहिता' शब्द नहीं, यह पहले कहा गया है।

५. 'निश्चित विषय' कहने का अर्थ है—प्राचीनकाल से प्रचलित पुराण नामक विद्या (जो अव्यवस्थित रूप से बहुधा विकीर्ण थी) के साथ आख्यान-उपाख्यान गाथा-कल्पशुद्धि का योग (व्यास द्वारा)। कालप्रवाह से इन विषयों के साथ अन्यान्य विषय भी संयोजित हुए हैं (भुवनकोश आदि नानाविध विद्याएँ)। वेद से प्राचीन जिस पुराण का उल्लेख प्रभास० २।३-४, मत्स्य० ५३।३ आदि में मिलता है, वह वस्तुतः व्यास-परम्परा में कृत पुराण नहीं है। 'ब्रह्ममुख से आविर्भाव' कहने से ही यह सिद्ध होता है कि वह पुराण व्यासकृत पुराणसंहिता नहीं है।

हुए हैं।[६] इस 'सूत' शब्द पर कुछ ज्ञातव्य तथ्य हैं, सूतसम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिये जिनको जानना आवश्यक है।

व्यासप्राचीन पुराणधारा का प्रवचन सूतजाति के लोगों द्वारा किया जाता था, जैसा कि पहले कहा गया है। यह पुराण का आरम्भिक स्तर था। ये सूत वेदवर्जित थे। यह सूतजाति स्मृतिकारों के मत के अनुसार प्रतिलोमज हो सकती है, अश्वसारथ्य जिसकी वृत्ति मानी जाती है। यही कारण है कि सूतों में राजवंश-परिज्ञान भी था। बाद में यह पुराण अथर्वाङ्गिरसों द्वारा समादृत हुआ और उसमें अन्यान्य विषय भी समाविष्ट हुए; इस प्रकार पुराणशास्त्र क्रमशः बहुधा विकीर्ण हो गया। बाद में व्यास द्वारा संकलित होने के कारण यह पुराणसंहिता विद्वान् मुनियों द्वारा जनता में प्रचारित होने लगी। इस अवस्था में वेदवर्जित सूतों से पुराण का कोई भी संबन्ध दिखाई नहीं देता। व्यासपरम्परा ने पुराण के लोकवृत्तात्मक या आख्यानाद्यात्मक रूप को बढ़ा कर किञ्चित् शास्त्रीय रूप भी दे दिया था। यही कारण था कि पुराण क्रमशः दर्शन और सम्प्रदायधर्म के क्षेत्रों में भी अनुप्रविष्ट हो गया।

पुराण चूंकि लोकप्रतिष्ठित एक विद्या है, इसलिये लौकिक अवस्था के परिवर्तन के अनुसार उसमें विभिन्न प्रकार के असाधारण परिवर्तन का होना सर्वथा संभव ही है। पुराणों में ही कहा गया है—"इतिहासपुराणानि भिद्यन्ते लोकगौरवात्" (कुमारिका० ४०।१९८)। बाद में पुराणों में नानाविध विद्याओं का भी संकलन किया गया है। यह संयोजन वेदवर्जित सूतपरम्परा में नहीं हो सकता था। वैदिक ब्राह्मणपरम्परा में प्रचलित पुराणों के विकास होने के कारण ही ऐसा परिवर्तन संभव हो सका। प्रचलित पुराणों में वर्णित अनेक विषय वेदमूलक हैं, अतः यह मानना होगा कि ये पुराण अधिकांशतः वेदवादियों द्वारा प्रणीत हुए हैं।

व्यास परम्परा के सूत—व्यासशिष्य लोमहर्षण सूत जाति के नहीं थे; वे विद्वान् ब्राह्मण थे।[७] सावर्णि आदि पुराणसंहिता-प्रवक्ता भी सूतजातीय नहीं थे।

---

६. मार्कण्डेय और विष्णु पुराण के आरम्भ में सूत का प्रवचन नहीं है। इन पुराणों का आरम्भ प्राचीनतर काल में या सूत परम्परा से पृथक् क्षेत्र में हुआ था और बाद में पुराण संप्रदाय में इनका अनुप्रवेश हो गया है, ऐसा अनुमान होता है।

७. व्यासशिष्य लोमहर्षण (गौणी वृत्ति से जो सूत कहलाते हैं) ब्राह्मण थे, इस विषय में अनेक पुराणवचनों का संग्रह श्री सनातनधर्मालोक (तृतीय पुष्प, पृ० ३०१-३०९) में द्रष्टव्य है।

लोमहर्षण को सूत कहने का तात्पर्य गौणी वृत्ति से है।[८] अर्थात् व्यासप्राचीन पुराण पहले सूतों द्वारा प्रोक्त हुआ था, और बाद में चूंकि विद्वान् मुनियों द्वारा पुराणों का प्रवचन किया जा रहा था, इसलिये ये ब्राह्मण मुनि भी लक्षणा से 'सूत' पदवाच्य समझे जाते थे। लोमहर्षण नाम की तरह सूत शब्द भी जाति नाम न होकर एक प्रकार से व्यक्तिनाम की तरह हो गया था, 'सौति' यह तद्धितान्त प्रयोग ही इस मत का गमक है। जातिवाचक 'सूत' शब्द से अपत्यार्थ में 'सौति' पद निष्पन्न नहीं हो सकता। लोमहर्षण के 'सूत' रूप उपाधि के गौणत्व और सूतजाति के अपकृष्टत्व के कारण बाद में सूत-नाम का अप्रचलन हो गया और पुराणवाचक 'व्यास' नाम से अभिहित होने लगे। इस प्रकार विभिन्न पुराणवाचक व्यासों द्वारा अभिहित और संगृहीत होने के कारण ही 'प्रत्येक पुराण व्यासरचित है'—यह प्रवाद प्रसिद्ध हो गया। पुराणों के वाचक व्यास के लक्षण 'तत्त्वसन्दर्भ' की राधामोहिनी टीका, (पृ० १९) में द्रष्टव्य हैं। इस प्रकार के व्यास तथा विभिन्न सम्प्रदायों के पुराणप्रिय विद्वान् आचार्य ही पुराणों के विभिन्न प्रकरणों के लेखक हैं, यह निश्चित है।

अष्टादश पुराणों का विकास—एक लोमहर्षणिका पुराण संहिता (तथा सावर्णि आदि की अन्य तीन संहिताओं) से १८ पुराणों का विकास किस क्रम में हुआ है—इसका यथावत् ज्ञान करना सर्वथा अशक्य है।[९] ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि विभिन्न देशों और कालों में चार मूल पुराणसंहिताओं का प्रवचन होने के कारण तथा शैव-शाक्त-वैष्णवसम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा स्वीकृत किए जाने के कारण क्रमशः अनेक पुराणग्रन्थों का प्रणयन किया गया है। पुराणों के नामकरण भी सिद्ध करते हैं कि अनेक पुराणों का निर्माण शैवादि सम्प्रदायों में ही हुआ है।

यह देखा जाता है कि प्रवक्ता के नाम तथा विषय के अनुसार पुराणों का नाम पड़ा है (जैसे 'मत्स्य'-'वामन')। इस द्विविध रीति के लिये भी कुछ न कुछ हेतु रहा होगा। सम्भवतः प्रवक्तृ-नामानुसारी पुराण मूलतः साम्प्रदायिक रीति से प्रणीत नहीं हुए थे (द्र० 'मार्कण्डेय', 'वायु' 'मत्स्य' नाम) और प्रतिपाद्य-

---

८. 'लोमहर्षणो ब्राह्मण एव। सूतशब्दस्तु कथाप्रवक्तृत्वसामान्यात् (व्रात्यता-प्रायश्चित्तनिर्णय, पृ० १८)। यहां इस युक्तियुक्त मत के खण्डन के लिये चेष्टा की गई है। पर पुराणवक्ता व्यासशिष्य सूत का द्विजत्व, विप्रत्व और मुनित्व पुराणों में कण्ठतः उक्त हुए हैं, जिनका अप्रलाप करना असम्भव है।

९. पुराणों का उपबृंहण क्रमशः ही हुआ है। पुराणश्लोकपरिमाण के विषय में जो मतभेद मिलते हैं, वे इस तथ्य के ज्ञापक हैं।

विषयघटित नाम वाले पुराण पूर्णतः साम्प्रदायिक परिवेश में ही रचित हुए हैं (द्र० भागवत' 'विष्णु'-'शिव'-'लिङ्गनाम')। यतः प्रत्येक पुराण बहुधा उपबृंहित हुआ है, अतः यह भेद सार्वत्रिक नहीं है। किंच 'स्कन्द' आदि पुराण (प्रवक्तृनामानुसार होने पर भी) पूर्णतः साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रणीत हुए हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मूल में बहुत कुछ असाम्प्रदायिक पुराण भी कालक्रम में साम्प्रदायिकों द्वारा उपबृंहित हुए हैं तथा कुछ पुराण (भागवत, ब्रह्मवैवर्त) एक निश्चित साम्प्रदायिक दृष्टि से ही प्रणीत हुए हैं। (पुराण का अर्थ कहीं कहीं 'पूर्ण पुराण' न होकर उसके अधिकतर या विशिष्ट भाग को लक्ष्य करता है, यह ज्ञातव्य है)।

इस विषय में और भी कुछ तथ्य मननीय हैं। प्रायः एकाधिक पुराणों में अनेक प्रकरण प्रायेण एक ही शब्दानुपूर्वी में मिलते हैं (द्र० सर्ग-प्रतिसर्ग-वंश-वंशानुचरित मन्वन्तर तथा पुरुषोत्तममाहात्म्य, गोत्रप्रवर आदि)। यह समान आनुपूर्वी ही बतलाती है कि यह सामग्री कहीं अन्य स्थान से संकलित हुई है क्योंकि समान स्रोत होने के कारण ही शब्दानुपूर्वी में समता होती है। मत्स्य-वायु-लिङ्ग-मार्क-ब्रह्म-कूर्म आदि पुराणों में ऐसे अनेक प्रकरण प्राचीनतर स्रोत से आए हैं। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि यदि सर्गादि पांच लक्षणों के अतिरिक्त विषय किसी एक पुराण में ही मिलता है और अन्य पुराण में तदनुरूप आनुपूर्वी नहीं मिलती तो यह अनुमान करना संगत ही होगा कि वह पुराण या पुराणांश किसी सम्प्रदाय में ही नियत है तथा यह विषय अपेक्षाकृत नवीन है। भागवत का कोई भी प्रकरण उन्हीं शब्दों में अन्य पुराणों में नहीं मिलता (केवल १।३ अ० गरुड १।१ में मिलता है; भागवतीय वेदशाखाप्रकरण ब्रह्माण्ड-वायु-विष्णु० की तरह एकरूप नहीं है) अतः यह अनुमान होता है कि यह पुराण विशुद्ध वैष्णव परम्परा में पृथक् रूप से विरचित हुआ है। पद्म आदि पुराणों के रामाश्वमेध आदि प्रकरण अन्यत्र संकलित नहीं हुए हैं। पुराणों में बहुधा आवृत्त प्रकरणों की अपेक्षा एक बार ही प्रोक्त प्रकरण नवीन है। यदि ऐसा प्रकरण प्राचीन होता तो अन्यान्य पुराणों में भी उसका संकलन किया जाता—यह निश्चित है।

एकाधिक पुराणों में पठित प्रकरणों में भी नवीन-प्राचीन रूप भेद किए जा सकते हैं। भुवनकोशप्रकरण (प्रायेण समान आनुपूर्वी में) वायु-मत्स्य-कूर्म-लिङ्ग आदि पुराणों में मिलता है, उसी प्रकार दान आदि कुछ प्रकरण भी एकाधिक पुराणों में दृष्टिगोचर होते हैं। पुराणोक्त भुवनकोशप्रकरण दानादि से प्राचीनतर है—ऐसा कहा जा सकता है। दानादि विषयों का संयोजन पुराणों में अर्वाचीन काल में हुआ है। वर्णाश्रमधर्म का प्रकरण तीर्थव्रतादिप्रकरण की अपेक्षा प्राचीनतर है। प्राचीनस्मृतियों में तीर्थ-माहात्म्यादि विषय नाममात्र ही हैं और

अर्वाचीनस्मृतियों में ये विषय तान्त्रिक परम्परा से संकलित हुए हैं। विषयों की प्राचीनता भी पुराण-गत संकलन को प्राचीनता की बोधक है।

डा० हाजरा ने Puranic Records ग्रन्थ में इस विषय में विशद रूप से विचार किया है। धर्मशास्त्रीय विषय किस पुराण में किस काल में संयोजित हुआ है, इस विषय में उनके निर्देश मूल्यवान् हैं।

इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि जिन पुराणों में पञ्चलक्षण-धारा अत्यल्प है, वे पुराण अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। वामनपुराण में वस्तुतः पञ्चलक्षणधारा नहीं है, अतः यह अर्वाचीनकाल का है—यह कहा जा सकता है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण तो प्रायेण पुराणलक्षण-शून्य ही है, जो उसकी अत्यन्त अर्वाचीनता का ज्ञापक है।

प्रत्येक पुराण का बहुधा उपबृंहण—ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक पुराण क्रमशः उपबृंहित होता हुआ आया है, कोई भी पुराण रघुवंशादि ग्रन्थों की तरह एकप्रयत्नसाध्य और एकव्यक्तिकृत नहीं है (सम्भवतः भागवत और ब्रह्मवैवर्त इस नियम के अपवाद हैं)। इसके लिये उत्तरोक्त हेतु द्रष्टव्य हैं—

(क) पुराणों में प्रायः परस्पर असंलग्न विषय देखे जाते हैं जो सिद्ध करते हैं कि विभिन्न कालों में ये पृथक् विषय जोड़े गए हैं। मत्स्य० के प्रयाग और नर्मदामाहात्म्य, गरुड़ की स्मृतिशास्त्रीय सामग्री, कूर्म० की व्यासगीता और ईश्वरगीता, ब्रह्म० के पुरुषोत्तम-गौतमीमाहात्म्य आदि ऐसे विषय हैं, जिनका कोई भी विषयगत पूर्वापर-सम्बन्ध नहीं है। यह पूर्वापर-सम्बन्धहीनता पूर्वोक्त मत की ज्ञापिका है। सामाजिक आवश्यकता के कारण पुराणकारों ने इन विषयों को यथारुचि पूर्व-प्रचलित पुराणों के साथ जोड़ दिया है।[१०]

(ख) पुराणों में विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बद्ध जो विषय मिलते हैं, वे भी सिद्ध करते हैं कि विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न कालों में तत्तद् अंशों का संयोजन किया गया है। नाम से ही विष्णु-भक्ति-प्रधान नारदपुराण में जो शैवशास्त्रीय

---

१०. कभी कभी समग्र पुराण ही असंबद्ध खण्डों से युक्त प्रतीत होता है। ब्रह्मपुराण में जो अति बृहत् पुरुषोत्तममाहात्म्य, गौतमीमाहात्म्य और कृष्ण-माहात्म्य हैं, उनका कोई परस्पर संबन्ध नहीं है। संघबद्धता की दृष्टि में मार्कण्डेय पुराण सुचारु है। स्कन्दपुराण के विभिन्न खण्ड तो परस्पर असंलग्न हैं ही। पद्मपुराण के खण्ड भी असंलग्न ही हैं। पुराण के इस असंलग्नविषय-संयोजन रूप दोष पर सोदाहरण विवेचन ब्रह्मानन्दभारतीकृत 'पुराणतत्त्व' नामक-बंगला ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

सामग्री है (१।६३-९१ अ०) वह इस सिद्धान्त के विना उपपन्न नहीं हो सकती। लिङ्गपुराण के उत्तरार्ध के आरम्भ में जो कृष्णमाहात्म्यपरक अध्याय हैं (१-८ अ०) वे बाद का संयोजन है, अष्टम अध्याय के अन्त में प्रयुक्त 'कथा-सर्वस्व' (३५ श्लोक) पद भी इस प्रकरण की आपेक्षिक आधुनिकता को ज्ञापित करता है। शिव-भक्तिपरक स्कन्दपुराण का विष्णुखण्ड भी स्वतन्त्र संयोजन है। इसी प्रकार ब्रह्म० में जो सांख्ययोग का विवरण है, वह भी शान्तिपर्व से लेकर जोड़ा गया है, जिसका एकमात्र उद्देश्य है—पुराण को विविध विषयों से रोचक बनाना।

(ग) जिस किसी प्रकार संयोजन करने के कारण कभी कभी हास्यजनक अशुद्धि भी हो गई है। एक उदाहरण देना आवश्यक है। मुनियों को लक्ष्यकर व्यास ने एक स्थल पर 'इदं पुत्रानुशासनम्' कहा है (ब्रह्म० २३६।३३)। मुनि व्यास के पुत्र नहीं हैं, अतः यह सम्बोधन असंगत है। बात वस्तुतः यह है कि ब्रह्म० का यह अध्याय शान्तिपर्व २४६ अ० है, जहाँ व्यास-शुक-संवाद है। अतएव शुक के लिये प्रयुक्त 'पुत्र' शब्द उचित ही है। ब्रह्मपुराणसंग्राहक ने शान्तिपर्व से अध्याय का संग्रह तो किया, पर पूर्वापरसंबन्ध के प्रति दृष्टि न देने के कारण हास्यजनक भ्रम कर बैठा (ब्रह्म० २३६।३३=शान्ति० २४६।१३)।

(घ) एक ही विषय विभिन्न संवादों में पुराणों में कहा गया है। प्रयागमाहात्म्य पुष्कर-प्रादुर्भाव, पुरुषोत्तममाहात्म्य, गोत्र-प्रवर आदि एकाधिक पुराणों में है। इन स्थलों में प्रायेण शब्दानुपूर्वी के समान होने पर भी वक्ता-श्रोता के नाम विभिन्न हैं। यह विभिन्नता ज्ञापित करती है कि मूल में ये विषय स्वतन्त्र रूप में विद्यमान थे और पुराणकारों ने स्वग्रन्थों में उन विषयों को शब्दानुपूर्वी के साथ ले लिया (यत्किञ्चित् शाब्दिक परिवर्तन कर)। विभिन्न संवादों में पठित ये विषय आरम्भ में पुराणों में नहीं थे, यह भी सुतरां सिद्ध होता है। यह एक रोचक प्रश्न है कि क्या इतिहास-पुराण चिरकाल से संवादशैली में ही प्रोक्त हुआ है या किसी कालविशेष में यह शैली अपनाई गई है? यह शैली वैदिकग्रन्थों में नहीं है, यद्यपि स्मृतिग्रन्थों में किञ्चित् मात्रा में है। स्मृतियों में भी पुराणों की तरह बहुप्रश्नोत्तरात्मक संवादशैली दिखाई नहीं देती।

एकाधिकबार-प्रवचन होने के कारण किसी किसी पुराण में एकाधिक सम्प्रदाय की सामग्री मिलती है। लिङ्गपुराण का कृष्णमाहात्म्यपरक अंश इसका एक उदाहरण है। इतना होने पर भी प्रायः सभी पुराण एक ही धारा में मुख्य रूप से उपबृंहित हुए हैं और उनके अन्तिम रूप तो सम्प्रदायों में ही नियत हुए हैं। ब्रह्मविष्णु आदि पुराणों में कालानुसार उपबृंहण होने पर भी उनका प्रचलित रूप वैष्णवप्रधान है। मत्स्यकूर्म-पुराण भी तथैव शिवप्रधान हैं। पद्मपुराण के

उपबृंहण में रामभक्तिशाखा और कृष्णभक्तिशाखा का हाथ रहा है, यह प्रत्यक्ष ही है।

पुराणों के बहुधा उपबृंहण में प्रमाण—विभिन्न धाराओं में संक्षेप-विस्तार रीति से विभिन्न दृष्टियां के आधार पर पुराणों का प्रणयन हुआ है, इस तथ्य के प्रमाणीकरण के लिये पुराणों में ही पर्याप्त सामग्री मिलती है। यथा—

१. पुराणों में कहीं-कहीं यह कहा गया है कि पहले अमुक अमुक विषयों का प्रतिपादन संक्षेप से किया गया है और अब विस्तार से किया जाएगा (पद्म० ६। २१९।२९, लिङ्ग० १।७०।१, १।१९।१-३, वायु० २७।२)। ऐसे स्थलों से यह निश्चित रूप से ज्ञापित होता है कि लक्षित स्थलों का प्रवचन द्वितीय बार हुआ है और यह प्रवचन उपबृंहणात्मक ही है।

२. कहीं कहीं पुराणवाक्यों से यह भी अवगत होता है कि अमुक विषय नवीन रूप से संयोजित हुआ है। प्रभास० ३।१-२ में कहा गया है कि 'पहले सर्गप्रतिसर्ग आदि कहे गए हैं, अब हम (पुराणश्रोता ऋषि) तीर्थविस्तर सुनना चाहते हैं'। यह वाक्य सूचित करता है कि तीर्थविवरणात्मक यह अंश बाद में प्रणीत होकर स्कन्द० में संयोजित हुआ है।

३. पुराणों में जो नाना प्रकार के व्यत्यास और निरर्थक पुनर्वचन हैं, वे भी बहुधा पृथक् प्रवचन और उपबृंहण के ही फल हैं, यह अवश्य स्वीकार्य है। ब्रह्माण्ड० २।२१।१ में 'इत्थं प्रवर्तमानस्य जमदग्नेर्महात्मनः' कहा गया है, पर उसके पहले जमदग्नि का कोई भी प्रसंग नहीं है। वामन० में द्विधा वामनावतार-कथा तथा पद्मपुराणीय उत्तरखण्ड में द्विधा जालंधर-कथा अनेकधा उपबृंहण का ही फल है—ऐसा ज्ञात होता है। वराहपुराण के ११३ अध्याय का आरम्भ प्रथम अध्यायवत् है। पूर्वोक्त हेतु यहाँ भी प्रयोज्य है।

४. एक पुराण में उसी पुराण का नाम लेना (उद्धरण के रूप में) उस पुराण के बहुधा उपबृंहण का निश्चयेन ज्ञापक है। लिङ्ग पुराण में जो "इति लैङ्गे च पठ्यते" कहा गया है (१।४।१५), वह उपर्युक्त नियम का ही सुस्पष्ट उदाहरण है। उसी प्रकार वायु० में जो "वायुप्रोक्ता महासत्त्वा राजानः प्रथमेऽन्तरे" कहा गया है (३१।१९), वह भी इस विषय का प्रकृष्ट उदाहरण है।

५. पुराणों के विभिन्न हस्तलेखों से भी यह ज्ञात होता है कि पुराणों के विभिन्न अंश बाद में संयोजित हुए हैं। पुराणों के प्राचीनतर हस्तलेखों में कई नवीन माहात्म्य-ख्यापक अंशों का संकलन दृष्ट नहीं होता, जिससे यह सिद्ध होता है कि वे अंश बाद में पुराण में संयोजित हुए हैं। पद्मपुराण के उत्तरखण्ड के हस्तलेखों के आधार

पर यह अनुमान संगत रूप से प्रदर्शित किया जा सकता है।[११] अन्यान्य पुराणों के हस्तलेखों से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है कि उनका क्रमिक उपबृंहण हुआ है।

प्रचलित पुराणों की संग्रहात्मकता—यह कहा जा चुका है कि वर्ण्यविषयों को देखने से यह ज्ञात होता है कि सर्ग-प्रतिसर्ग-वंश-वंशानुचरित-मन्वन्तर के साथ आख्यान-उपाख्यान-गाथा-कल्पशुद्धियों का संयोजन व्यासीय पुराणसंहिता में था। इसके बाद निम्नोक्त विषयों का संयोजन पुराणों में किया गया है।

१. भुवनकोश, २. वर्णाश्रमधर्म, ३. संस्कारश्राद्ध आदि, ४. वैदिकसाहित्य, ५. व्रतोपवासदान, ६. पूजादीक्षा, ७. राजधर्म, ८. तीर्थमाहात्म्य, ९. शैव-वैष्णव-शाक्त-धारा के दर्शन-उपासना-प्रमेय, १०. आयुर्वेद रत्नपरीक्षा आदि विद्याएँ। (प्राचीन विषयों के अतिरिक्त जिन नवीन विषयों का संयोजन पुराणों में किया गया है, उनकी एक सूची वायु० १०४।११-१७ में द्रष्टव्य है)।

उपर्युक्त विषय ऐसे नहीं हैं कि एक के बाद अन्य का कहना न्यायतः प्राप्त होता हो। भुवनकोश के साथ व्रतोपवास का कोई भी संबन्ध नहीं है, व्रतोपवास से राज-धर्म का अणुमात्र संबन्ध नहीं है, राजधर्म के साथ तीर्थमाहात्म्य का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ये विषय समाज में पृथक् पृथक् रूप से प्रचलित थे और इन विषयों की उपादेयता को देखकर पुराणों को अधिक जनोप-योगी बनाने के उद्देश्य से पुराणकारों ने प्रचार की सुविधा के लिये उनका संयोजन पूर्वसिद्ध पुराणों के साथ कर दिया है।[१२] यदि ये विषय मुख्यतः पुराण के ही होते तो पुराणों में ये विषय पूर्णतः विकसित और संघबद्धरूप में प्रतिपादित रहते; राजधर्मादि सूक्ष्म विषय पुराणों में वस्तुतः अपूर्ण रूप में ही प्रतिपादित हुए हैं।

पुराणगत विवरण की सामान्यात्मकता—पुराणप्रतिपादित दार्शनिक विषय चूंकि लोकानुरञ्जनार्थ अन्य शास्त्रों से पुराणों में संकलित हुए हैं, इसलिये ये विषय सामान्यदृष्टि से ही वहाँ उपन्यस्त हुए हैं। पूजा-दीक्षाश्राद्ध आदि विषयों में भी यह न्याय चरितार्थ होता है। सम्भवतः तीर्थ-माहात्म्य, व्रत और दानप्रकरण ही ऐसे हैं, जो पुराणों में पूर्णतः पल्लवित हुए हैं। व्रतादि पूर्णतः लौकिक कर्म हैं और पुराणरचना-काल में इनके विस्तार से प्रतिपादन करने की आवश्यकता थी। बौद्धादि

---

११. द्र० पुराण (भाग ३, अंक २) में प्रकाशित लेख—

The Characteristic Feature of the Uttarakhanda of the Padma Purana.

१२. पुराणिक रेकर्ड्स० ग्रन्थ में हाजरा महोदय ने भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है (पृ० ६)।

द्वारा प्रतिपादित धर्म की अपेक्षा प्रचलित सनातन धर्म की सहजता को दिखाने के लिये ऐसा करना आवश्यक भी हो गया था। आयुर्वेद आदि जिन विद्याओं का उपन्यास पुराणों में किया गया है, उसमें भी यह नियम घटाया जा सकता है। यह ज्ञातव्य है कि प्रारम्भिक पुराणों का उपबृंहण पुराणकारों ने मुख्यतः साम्प्रदायिक दृष्टियों से ही किया है। असांप्रदायिक वंश-मन्वन्तरादि विषयों का उल्लेखयोग्य उपबृंहण पुराणों में नहीं मिलता। विभिन्न वैदिक शाखा और कल्पग्रन्थों की तरह पुराण सम्प्रदाय-नियत नहीं है, कुमारिल का यह मत (तन्त्रवार्त्तिक १।३।११) भी ज्ञापित करता है कि उस काल में भी पुराणों में विशुद्ध साम्प्रदायिक विषयों की प्रचुरता नहीं थी और पुराणों में जो भी धर्म या उपासनासम्बन्धी विचार थे, वे सार्वजनिक थे तथा सामान्यदृष्टि से ही कहे गए थे। यदि कुमारिल के काल में (६५०-७५० ई०) विशुद्ध साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रणीत पुराणांश वैदिक संप्रदाय में विद्यमान रहते, तो कुमारिल ऐसा नहीं कह सकते थे।

पुराणों के असाम्प्रदायिक विषय—व्यासीय परम्परा में संकलित पुराण (जिसमें सर्गादि पांच और आख्यानादि चार विषयों का सम्मिश्रण था) असाम्प्रदायिक था, क्योंकि इन नौ विषयों के लिये साम्प्रदायिक अभिनिवेश की आवश्यकता नहीं है। पुराणगत भुवनकोश तथा वर्णाश्रमधर्म आदि भी असाम्प्रदायिक हैं। हम देखते हैं कि ये असाम्प्रदायिक विषय प्रायः सभी पुराणों में मिलते हैं, यद्यपि कहीं कहीं इन विषयों पर भी साम्प्रदायिकता का आंशिक प्रभाव दृष्ट होता है। यथा—लिङ्ग-पुराणगत सृष्टिप्रकरण में शिव की सर्वोच्च सत्ता भाषित हुई है एवं विष्णु पुराण में वैष्णव दृष्टि का तथैव प्रबल अनुप्रवेश है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह अनुमान होता है कि असाम्प्रदायिक-प्रकरण-बहुल पुराण साम्प्रदायिक-तत्त्व-बहुल पुराणों से प्राचीनतर हैं। मार्कण्डेय-वायु-ब्रह्माण्ड पुराण अधिकांश में असाम्प्रदायिक हैं, अतः ये पुराण अधिकांशतः भागवत-नारदीय आदि से प्राचीन हैं।

असाम्प्रदायिक स्मार्तविषय का संयोजन यद्यपि किसी एक निश्चित समय से आरब्ध हुआ है, तथापि यह संयोजन-क्रिया भी सामान्य-विशेष-पद्धति से कई सौ वर्षों में पूर्ण हुई है, ऐसा अनुमान होता है। पृथक् शास्त्रों के संयोजन के लिये बहुत-सी शताब्दियों की आवश्यकता होती है। हाजरा महोदय ने Puranic Records ग्रन्थ में ऐतिहासिक दृष्टिकोण के आधार पर इस विषय का विवेचन किया है (पृ० १८८ विशेषतः द्रष्टव्य)।

प्रचलित पुराणों के रचनाकाल—रचनाकाल के विषय में पूर्णाङ्ग आलोचना करना इस प्रकरण का उद्देश्य नहीं है। रचनाकाल के निर्णायक कुछ तथ्यों पर ही

इस प्रकरण में विचार किया जा सकता है। सर्वप्रथम यह ज्ञातव्य है कि पुराण-रचना का अर्थ है—पुराणों के अंशविशेषों की रचना। वस्तुतः कुमारसंभव, कादम्बरी आदि की तरह पुराणों का रचनाकाल निर्णीत नहीं हो सकता, क्योंकि पुराणग्रन्थ विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न कालों में रचित हुए हैं तथा पुराणों का बहुधा उपबृंहण भी हुआ है। पुराणों के विभिन्न भागों की परस्पर असंबद्धता (कूर्म०, पद्म०, स्कन्द०, भविष्य० के भाग द्र०) भी पूर्वोक्त तथ्य की ज्ञापक है। प्रायः सभी पुराणों में अष्टादश पुराणों का उल्लेख भी इस तथ्य में एक विश्वसनीय प्रमाण है।

प्रचलित पुराणग्रन्थों की आधुनिकता—व्यासपरम्परा में जो पुराणसंहिता-ग्रन्थ क्रमशः विकसित हुए हैं, उनके स्वरूप, वैशिष्टय, कालक्रम आदि पर अब विचार किया जा रहा है। इस प्रकरण में सामान्य दृष्टि से आंशिक विचार ही किया जा सकेगा, पूर्णाङ्ग विचार करने की आवश्यकता नहीं है। प्रचलित पुराण-ग्रंथों के विषय में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भाषा, वर्ण्यविषय और साम्प्रदायिक अभिनिवेश पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने से यह निश्चित होता है कि प्रचलित पुराणग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन नहीं हैं। इन पुराणों के जो प्राचीनतम अंश हैं, वे भी बहुलतया ईसवी शती के आसपास ही रचित हुए हैं। यद्यपि प्रचलित पुराणों के कुछ अंश इससे भी कुछ प्राचीन काल के हो सकते हैं, तथापि इसके अधिकतर अंश ईसवी सन् के बाद ही रचित हुए हैं, इसमें संशय नहीं। वस्तुतः प्रचलित पुराणों के अधिकतर भाग छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक क्रमशः संयोजित हुए हैं,[१३] यह विभिन्न ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है। ब्रह्मवैवर्त आदि कुछ प्रचलित पुराण तो सर्वथा नवीन ही हैं। हमारी दृष्टि में पुराणेतर ग्रन्थों में अष्टादश पुराणों की गणना का प्राचीन निदर्शन 'काव्यमीमांसा' (पृ० ३) में ही मिलता है।[१४] स्मृतियों और धर्मसूत्रों के प्राचीन व्याख्याकारों ने अपने

---

१३. हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र भाग १, पृ० १६१।

१४. रामरहस्योपनिषद् के आरम्भ में "पुराणेषु अष्टादशसु" प्रयोग है। पर चूंकि यह उपनिषद् अत्यन्त अर्वाचीन है, इसलिये यह उल्लेख कोई महत्त्व नहीं रखता। महाभारत (स्वर्गारोहण ५।४७) में "अष्टादशपुराणानां" पद है। पर यह अंश बाद में जोड़ा गया है, यह 'चकार' (५।४८) आदि क्रियापदों के प्रयोग तथा ग्रन्थस्वारस्य से भी स्पष्ट हो जाता है। वैद्य महोदयकृत महाभारतमीमांसा का वाक्य इस प्रसंग में स्मर्तव्य है—"इस विषय में किसी को कुछ भी सन्देह नहीं कि वर्तमान पुराणग्रन्थ महाभारत के समय के इस पार के हैं" (पृ० ५९)।

काल में अनेक पुराणों की सत्ता को कण्ठतः कहा है और वे व्याख्याकार कुछ पुराणों के नाम और वचनों का उल्लेख भी कर चुके हैं। इतना होने पर भी प्रचलित अष्टादश पुराण अपने वर्तमान रूप में प्राचीन शंकरादि आचार्यों के समय विद्यमान थे यह नहीं कहा जा सकता।

पुराणरचनाकाल के निर्णायक हेतु—पुराणरचनाकाल निर्णय में साहित्यिक साक्ष्य पर कुछ कहना अनावश्यक है। शंकरादि आचार्यों द्वारा कहीं कहीं पुराण-श्लोक उद्धृत किए गए हैं (शारीरकभाष्य या उपनिषद्भाष्य में शायद ही किसी पुराण का नाम शंकर ने लिया हो)। उद्धृत श्लोकघटित पुराणांश शंकरादि से प्राचीन हैं, यह सुतरां सिद्ध होता है। धर्मसूत्र-स्मृति-व्याख्याकार मेधातिथि आदि ने तथा बल्लालसेन-हेमाद्रि आदि निबन्धकारों ने भी अनेक पुराणश्लोक उद्धृत किए हैं। वे श्लोक पुराणों के जिन अंशों में हैं, वे अंश मेधातिथि आदि से प्राचीन हैं, यह निश्चित है। कहीं कहीं यह नियम व्यभिचरित भी हो जाता है। याज्ञवल्क्य-टीकाकार विश्वरूप ने प्रायः पुराणवचन उद्धृत नहीं किया, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उस काल में पुराणग्रन्थ सुप्रचलित नहीं थे। धर्मविषय में वे पुराण का प्रामाण्य अत्यल्प समझते थे, अतः उन्होंने पुराण-वचनों का उद्धरण नहीं दिया—ऐसा समझना ही समीचीन है।

एक पुराण में अन्य पुराण का विशेष रूप से नामोल्लेख भी उनके पौर्वापर्य-निर्धारण में कथंचित् सहायक है। पर एक ही पुराण के बहुधा उपबृंहण होने के कारण यह निर्धारण प्रायः संशयास्पद होता है, यह ज्ञातव्य है। इतना होने पर भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 'पुराणों के क्रमिक-प्रणयन-सिद्धान्त' के प्रमाणीकरण के लिये पुराणगत पुराणान्तरनाम एक विश्वसनीय तथ्य है। कहीं-कहीं 'बृहत्-सूक्ष्मप्रभेदेन पुराणम्' (शिव-वायवीयसंहिता १।४२) इत्यादि वाक्य भी पुराणों के क्रमिक उपबृंहण को ज्ञापित करते हैं। किसी पुराण के पुराणत्व-विषय में पुराण में ही जो सांशयिक वाक्य मिलते हैं (वीरमित्रोदय १।३) वे भी सिद्ध करते हैं कि पुराणों का प्रणयन विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न उद्देश्यों से हुआ है। यदि ऐसा न माना जाए, तो इन मतभेदों की उपपत्ति संगत रूप से नहीं की जा सकेगी।

एक पुराण में अन्य पुराण के विषयों का नामतः उल्लेख भी पौर्वापर्यनिर्धारण में सहायक होता है। लिङ्ग० २।२०। में "वाह्नेयं वद साम्प्रतम्" कहा गया है जिसका लक्ष्य वह्निपुराणोक्त शिवपूजाप्रकरण है (द्र० शिवतोषिणी टीका)। लिङ्ग० का संबन्धित अंश वह्नि पुराण से अर्वाचीन है—यह, तर्कलाघवतः स्वीकार्य है। तथैव कूर्म० १।२५।४२-४३ में वायवीयोत्तरपुराण स्मृत हुआ है; ब्रह्म० ५।१२ में वायुपुराणगत विषय उल्लिखित हुआ है। पद्म० ५।५९।२ में "पुरा स्कन्दपुराणे.."

वाक्य है। इस सन्दर्भ में लक्षित स्कन्दपुराणांश अवश्य ही पद्म० के इस अंश से प्राचीन है।

पुराणरचनाकाल के विषय में विभिन्न विद्वानों के मतों में जो विपुल अनैक्य दृष्ट होता है, उसका कारण यही है कि वे पुराणों को एकव्यक्तिकृत और एक समय में रचित समझते हैं। वस्तुतः पुराणगत वर्ण्य विषयों के काल का ही निरूपण करना न्यायसंगत है। जब एक ही विषय (प्रायेण उसी आनुपूर्वी में) एकाधिक पुराणों में मिलता है, तब किसी भी पुराण के सामग्रिक काल (समग्रपुराण का रचनाकाल) का निर्णय करना न्यायाभास-युक्त ही होगा। पुराणों के सर्वान्तिम उपबृंहण संबंधी (या विभिन्न स्रोतों से सामग्री के अन्तिम आहरण सम्बन्धी) काल के निर्णय को पुराणरचनाकाल की अन्तिम सीमा के रूप में एक प्रकार से स्वीकार किया जा सकता है।

पुराणों का असाम्प्रदायिक अंश साम्प्रदायिक अंशों से प्राचीनतर है, ऐसा कहा जा सकता है। आज भी अनेक पुराणों में वंश-वंशानुचरित, सर्ग-प्रतिसर्ग, मन्वन्तर आदि विषय बहुत कुछ असाम्प्रदायिक रूप में मिलते हैं। ये विषय अन्य साम्प्रदायिक विषयों से प्राचीनतर हैं—यह सिद्ध है। इन विषयों का भी साम्प्रदायिक दृष्टि से कहीं कहीं परिवर्तन किया गया है। भागवत का सृष्टिप्रकरण भागवत-पाञ्चरात्रीय दृष्टि के अनुसार है, अतः यह अंश मार्क०-वायु० आदि में वर्णित सृष्टि-प्रकरण की अपेक्षा अर्वाचीन है, यह निश्चित है।

उद्देश्य को देखकर पुराणकाल का निर्णय किया जा सकता है। पुराणों में स्मार्त-विषयों के संकलन का एक निश्चित उद्देश्य है, उसी प्रकार तान्त्रिक पूजाविधि आदि के संकलन भी सहेतुक हैं। जिस समय जिस विद्या का प्राबल्य जनता में रहा होगा, उस काल में वह विषय पुराणों में पुराणवाचक व्यासों द्वारा या सांप्रदायिक विद्वानों द्वारा संकलित हुआ है, यह औत्सर्गिक नियम है।

पुराणों में एक ही विषय के नानाविध वर्गीकरण आदि भी रचनाकाल के निर्णायक के रूप में गणित हो सकते हैं। भारतवर्ष का नवभेदात्मक संस्थान (मार्क० ५८ अ०) तथा सप्तभेदात्मक जनपदविभाग (मत्स्य० ११४ अ०) विभिन्न स्रोतों से विभिन्न कालों में समाहृत हुए हैं (ये दो विषय भुवनकोशीय हैं), ऐसा कहना सर्वथा उचित ही है।

साम्प्रदायिक विचारों की वर्णन-परिपाटी को देखकर भी रचनाकाल का अनुमान किया जा सकता है। कृष्णचरित-वर्णन में राधा का उपन्यास करने वाले पुराणांश अपेक्षाकृत अर्वाचीन होंगे। सामान्य घटना का अतिरञ्जन भी अपेक्षाकृत

अर्वाचीनता का ज्ञापक है। इस दृष्टि से भागवतीय[१५] कृष्णचरित अर्वाचीन है, ऐसा अनुमान होता है। स्वेतरसम्प्रदाय के निन्दापरक पुराणांश स्वसम्प्रदायीय सामान्य विवरणपरक अंश की अपेक्षा अर्वाक्कालिक है—ऐसा कहना भी संगत ही है।

(३)

वेद और वैदिक धर्मसंबन्धी पौराणिक दृष्टियाँ

वेद और वैदिकधर्म को लक्ष्य कर पुराणों में जो मत कहे गए हैं, उनका एक संक्षिप्त विवरण यहां उपनिबद्ध किया जा रहा है। किस दृष्टि और परिस्थिति में प्रत्येक मत कहा गया है, इसकी उपपत्ति करना इस प्रकरण का लक्ष्य नहीं है। यत: पुराणों के विभिन्न अंश विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये विभिन्न काल में लिखे गए हैं,[१] अत: विभिन्न रूपों में प्रतीयमान पौरणिक मतों की पृथक्-पृथक् पृष्ठभूमियां हैं—यह जानना चाहिए। पुराणगत वैदिक सामग्री की पृष्ठभूमि के ज्ञान के लिये अपेक्षित अंश पर ही यहाँ **विचार** किया जाएगा, पूर्ण रूप से विचार करना यहाँ अभिप्रेत नहीं है।

वेद और पुराण की दो पृथक् धाराएँ—सर्वप्रथम यह ज्ञातव्य है कि मूल में पुराण वेद से पृथक् (और बहुत अंश में असंबद्ध) एक स्वतन्त्र धारा के रूप में था। क्रमश: विभिन्न कारणों से वैदिक सम्प्रदाय में इसका अनुप्रवेश हुआ। इस धारा के साथ बाद में शाक्ततन्त्र तथा शैवागम आदि अन्यान्य धाराओं का भी योग हुआ एवं स्मार्त धारा भी इसमें अनुप्रविष्ट हो गई।[२] यही कारण है कि जहाँ पुराणों में वैदिक वाक्यों की व्याख्या (और वैदिक कथाओं का उपबृंहण) प्रचुरता में मिलती है, वहाँ वेद की निन्दा तथा आगम धर्म की अपेक्षा वैदिक धर्म की अप्रशस्तता भी कही गई है। अर्वाचीन काल में आगम धारा की प्रबलता तथा सामाजिक परिवर्तन ही इसके कारण हैं—यह निश्चित है। अन्तिम अवस्था में पुराणधारा भी एक स्वतन्त्र धारा के रूप में स्वीकृत हुई है, जिसका नामान्तर 'निगमागम-धारा' है।

---

१५. हरिवंश और विष्णुपुराण में प्रतिपादित कृष्णचरित की अपेक्षा ही यह अर्वाचीनता है, यह ज्ञातव्य है।

१. भूमिका का द्वितीयांश द्रष्टव्य है।

२. यही कारण है कि पुराणों में एक ही स्थल में वेद-स्मृति-तन्त्र का पृथक् उल्लेख मिलता है (देवीभाग० ११।१२।९-१२)। कहीं कहीं वैदिक, तान्त्रिक, और मिश्रक पद भी प्रयुक्त हुए हैं (पद्म० ४।९०।१, ४।९०।३, भाग० ११। २७।७)। मिश्रक का तात्पर्य 'निगमागमात्मक धारा' से ही है, यह निश्चित है।

वेद-पुराण-संबन्ध के विषय में विभिन्न दृष्टियाँ—पुराण और वेद के संबन्ध के विषय में मुख्यतः चार दृष्टियाँ पुराणों में मिलती हैं। यथा—(क) पुराण वेद से प्राचीन और पृथक् शास्त्र है, (ख) पुराण वेदवत् है, (ग) पुराण वेद का उपबृंहक और वेदाधीन है, (घ) पुराण वेदाधिक है या पुराणधर्म श्रौतधर्म से प्रशस्यतर है। इन मतों के अन्तर्गत कुछ अवान्तर मत भी हो सकते हैं जिनका उल्लेख इन मतों की व्याख्या में किया जाएगा। ये चार दृष्टियां विभिन्न कालों में पृथक् पृथक् परिस्थितियों में उत्पन्न हुई हैं। अन्तिम स्तर में पुराण स्वयं ही एक प्रतिष्ठित शास्त्र के रूप में प्रसिद्ध हो गया है जैसा कि यथास्थान दिखाया गया है।

(क) पुराण वेद से प्राचीन है—पुराणस्वरूप के विचार के प्रसंग में इस मत पर विचार किया गया है। अथर्ववेद (११।७।२४ और १५।६।११) में जिस रूप में पुराण का उपन्यास किया गया है उससे पुराण की स्वतन्त्र सत्ता स्पष्टतः ज्ञात होती है। यह पुराण प्रचलित पुराणग्रन्थ नहीं है, यह पहले कहा गया है। वेद से पृथक् एक धारा चिरकाल से ही चली आ रही है। यह धारा वेदधारा की विरोधनी ही हो, यह आवश्यक नहीं, यद्यपि वेद में ही इसके संकेत हैं कि वैदिक तत्त्व के विरोधी सम्प्रदाय का ज्ञान भी वेदरचयिताओं को था।[३] यदि सभी शास्त्र तत्त्वतः सर्वथा वेदमूलक ही होते, तो कापालिक आदि विभिन्न मान्य शास्त्रों को पुराणकारों द्वारा वेदबाह्य नहीं कहा जाता। सांख्य आदि दर्शनों को वेदविरुद्ध कहने की प्रवृत्ति बतलाती है कि मूलतः इन शास्त्रों की उत्पत्ति वैदिक धारा में नहीं हुई थी।[४] किसी किसी शास्त्र को अंशतः वैदिक और अंशतः अवैदिक मानना भी सूचित करता है कि मूलतः वह शास्त्र वेदधारा से पृथक् है और क्रमशः वैदिकों द्वारा वह शास्त्र संमानित हुआ है। वेद और तन्त्र का एक ही वाक्य में पृथक् उल्लेख भी तन्त्र (=आगम) धारा की अवैदिकता (=वेद से पृथक्ता) का ज्ञापक है। प्राचीन तन्त्रदृष्टि वेदमूलिका है, ऐसा प्रतीत नहीं होता, यद्यपि दोनों शास्त्रों की दृष्टियाँ कहीं-कहीं समान प्रतीत होती है।

(ख) पुराणों की वेदसदृशता—पुराण को जब पञ्चम वेद माना जाता है (छान्दोग्य० ७।१।२) तब यह समझना चाहिए कि उस काल में पुराण पर वेदबुद्धि

---

३. भारतीय संस्कृति का विकास, वैदिक धारा, पृ० ८-१२।

४. बाद में सांख्य का संयोग भी वैदिक धारा से हो गया। कठ, श्वेताश्वतर आदि में सांख्यीय चिन्ता धारा स्पष्टतः दृष्ट होती है। शंकराचार्य ने कहा है कि अव्यक्त आदि सांख्यीय पारिभाषिक शब्दों के अर्थ वैदिक ग्रन्थों में अप्रयोज्य हैं (१।४।७ शारीरक भाष्य)।

उत्पन्न हो गई थी। वस्तुतः यह उल्लेख उस समय का है, जब पुराण का स्थान वैदिक समाज में सुप्रतिष्ठित हो गया था। ब्राह्मणग्रन्थों का अंश-विशेष ही पुराण है, इस प्रकार की व्याख्या करना यहाँ तर्कसंगत नहीं हो सकता—यह ज्ञातव्य है।[५] पञ्चम शब्द में जो पूरणप्रत्यय है, उससे यह ज्ञात होता है कि इस काल में पुराण की स्थिति वेदवत् ही थी। शतपथ० १३।४।३।१३ में जो 'पुराणं वेदः' कहा गया है, वह भी पुराण की वेदसदृश स्थिति का ज्ञापक है। पञ्चम वेद की ध्वनि यह है कि इस काल में भी पुराण वेदाधीन नहीं था, बल्कि वह एक स्वतःसिद्ध विद्या के रूप में था। जैसे वैदिक सम्प्रदाय स्वतन्त्र था, उसी प्रकार पुराणसम्प्रदाय भी स्वतन्त्र था, उनमें परस्पर जन्यजनक या व्याख्यानव्याख्येय भाव नहीं था, यह स्पष्ट है। इतना होने पर भी एक निश्चित काल में वैदिकों में पुराण की एक मान्य स्थिति उत्पन्न हो गई थी, यह इस वाक्य से स्पष्टतया सिद्ध होता है।

छान्दोग्योक्त यह पुराण प्रचलित पुराणग्रन्थ नहीं है, यह पहले ही कहा गया है। प्रचलित पुराणों का काल छान्दोग्य-सदृश प्राचीन नहीं हो सकता। यह पुराण इतिहास से पृथक् था—यह तथ्य इतिहास-पुराण, इस सामासिक निर्देश से तथा शतपथ० में पृथक् स्थानों में इतिहास-पुराण के उल्लेख होने से (एक ही प्रकरण में) सिद्ध होता है। शतपथ० १३।३।१।१२-१३ में इतिहास-पुराण के श्रोताओं के रूप में जिनका उल्लेख है (मत्स्यघातक, पक्षिविद्यावेत्ता), उससे यह भी ज्ञात होता है कि पुराण 'लौकिकविद्यात्मक' शास्त्र ही था। चूंकि पुराणोत्पत्ति के साथ अथर्व-वेद-परम्परा का घनिष्ठ संबन्ध है (छान्दोग्य उप० ३।४) अतः यह अनुमान सर्वथा समीचीन ही है। व्यासीय परम्परा में पुराण के साथ इतिहास-विद्या मिल गई है। आख्यानादि पहले पृथक् लौकिक या वैदिक परम्पराओं में विद्यमान थे, पर बाद में उनका भी अन्तर्भाव पुराणों में हो गया है।

(ग) पुराण वेद का उपबृंहक और अधीन है—वैदिकों द्वारा जब प्रचलित पुराण साहित्य का प्रणयन होने लगा, तब उन्होंने व्यासपरम्परा में प्रणीत (बहुलतया असाम्प्रदायिक भी) पुराण को वेद के उपबृंहक के रूप में स्वीकार किया था—ऐसा अनुमान होता है। वैदिकग्रंथों में उल्लिखित पुराण से वेदोपबृंहक अर्वाचीन पुराण पृथक् है। वेदोक्त पुराण वेदोपबृंहक है, ऐसा वैदिक ग्रन्थों से कदापि सिद्ध नहीं होता। वैदिक सम्प्रदाय में पुराण के अनुप्रवेश के बाद जब पुराणग्रन्थों की रचना होने लगी, उस काल में यह कहा जाने लगा कि पुराण वेदार्थ का उपबृंहक

---

५. द्र० पुराणपत्रिका (वर्ष १, अंक १) में प्रकाशित म० म० गिरिधर-शर्मकृत लेख—वेदेषु पुराणमहत्त्वम्।

है। व्यासकर्तृक पुराणसंहिता के संकलन के बाद ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई होगी। वेदबाह्य सूतपरम्परा और लोकपरायण अथर्वपरम्परा में जो पुराण विकसित हुआ था, वह धर्मब्रह्म का प्रतिपादक वेद का उपबृंहक था—ऐसा कहना समीचीन नहीं है।

सर्गप्रतिसर्गादि-विषययुक्त पुराणसंहिता के आरम्भिक उपबृंहण करने के समय वैदिक आख्यान-उपाख्यान आदि का उपबृंहण पहले किया गया था—ऐसा प्रतीत होता है। उस समय प्रचलित पुराणों में साम्प्रदायिक दृष्टि का प्रभाव नगण्य-सा था। वराहावतार आदि वैदिक आख्यानों का उपबृंहण पुराणों में किया गया है—यह प्रत्यक्षतः दृष्ट होता है। उसी प्रकार वैदिक पुरूरवाः आदि की कथाओं का सविस्तर उपबृंहण पुराणों में सर्वत्र मिलता है। इस उपबृंहण क्रिया के प्रारम्भिक स्तर में कथाओं को रोचक बनाने के लिये ही उपबृंहण किया जाता था, पर बाद में साम्प्रदायिक दृष्टियों से भी उपबृंहण किया गया है, यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है।

वेदोक्त आख्यानादि की तरह वैदिक मत, वेदमन्त्रव्याख्या आदि भी पुराणों में बहुधा मिलते हैं। यज्ञादिसम्बन्धी पुष्कल विवरण भी पुराणों में हैं। अनेक वेद-वाद, वैदिकशब्दार्थ आदि के उल्लेख भी पुराणों में मिलते हैं। वैदिक शब्दबहुल अनेक श्लोक भी पुराणों में प्राप्त होते हैं (द्र० चतुर्थ अध्याय)। पुराणों की इस स्थिति को देखकर ही पूर्वाचार्यों ने कहा है कि पुराण वेद का उपबृंहक है। महाभारत १।१।८६ में जो 'पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः' कहा गया है, उसकी ध्वनि भी यही है कि पुराण से वेदार्थ का विशदीकरण हो सकता है। इस श्लोक से पुराण-प्रामाण्य की प्रबलता भी ध्वनित होती है।

वेद के उपबृंहण करने के कारण ही पुराण को वेदाधीन या वेदानुगामी शास्त्र के रूप में माना गया है। इस अधीनता के कारण ही श्रुति और स्मृति से पुराण का प्रामाण्य अल्प स्वीकृत हुआ है। प्रचलित पुराणों की रचना के समय स्मृतियों का प्रामाण्य सर्वत्र समादृत हो गया था, और स्मृतियां वेदवत् मानी जाती थीं। यह तथ्य "श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे" (काशी० २।९६), "श्रुतिस्मृत्युदितमाचारम्" (पद्म० ६।२८०।३५), "श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं सदाचारम्" (काशी० ३५।२७) इत्यादि वचनों से ज्ञात होता है। श्रुति-स्मृति-पुराणों में विरोध होने पर पूर्व पूर्व को बल-वान् मानने की प्रथा है (व्यासस्मृति १।४)। इसी दृष्टि से कहा जाता है कि पुराण में प्रतिपादित धर्म अवर है (याज्ञवल्क्यस्मृति की अपरार्क टीका, पृ० ९)।

व्यास-परम्परा में प्रायेण वेदप्रामाण्यवादियों द्वारा अज्ञ जनों को लक्ष्यकर प्रच-लित पुराणों की रचना की गई है—ऐसा पुराणों के वाक्यों से ज्ञात होता है। यही

कारण है कि जो पुराण पहले धर्म के क्षेत्र से प्रायेण बहिष्कृत था, वह क्रमशः धार्मिक विषयों से पूर्ण होने लगा तथा परवर्ती काल में उसका प्रामाण्य भी दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत होता गया। प्राचीन सूत्रग्रन्थों में तथा मनुसंहिता में धर्मविषय में पुराण का साक्षात् प्रामाण्य कथित नहीं हुआ है; पर याज्ञवल्क्य द्वारा धर्म में प्रमाण के रूप में पुराण को मान्यता दी गई है (याज्ञ० १।३)। याज्ञवल्क्य के समय तक पुराण वैदिकसम्प्रदाय में प्रविष्ट होकर मर्यादित स्थान प्राप्त कर चुका था, यह इससे स्पष्ट है। शंकराचार्य द्वारा पुराणवाक्यों का स्वल्प उद्धरण देना यह सिद्ध करता है कि धर्मक्षेत्र में पुराण विद्या का प्रामाण्य स्वीकृत होने पर भी प्रचलित पुराणों के वचनों का अत्यधिक आदर नहीं था। कुमारिल ने भी पुराण का प्रामाण्य (धर्मक्षेत्र में) स्वीकार किया है, पर पुराणवचनों का उद्धरण क्वचित् ही दिया है। शंकर के बाद अन्यान्य आचार्यों के ग्रन्थों में पुराणवचनों के प्रचुर उद्धरण मिलते हैं, जो पुराण की तात्कालिक प्रतिष्ठा के ज्ञापक हैं।

पुराणगत उपबृंहण का स्वरूप—वेद का जो उपबृंहण पुराणों में किया गया है, उसके कई स्तर हैं—यह ज्ञातव्य है। प्रथम स्तर वह है जिसमें वेदोक्त कथाओं[६] में रोचकता लाने के लिये कुछ नई घटनाएँ या संवादादि जोड़ दिए गए हैं। इसमें कोई साम्प्रदायिक अभिनिवेश नहीं है, यद्यपि अतिरंजन का दर्शन प्रायेण मिलता है। वेदोक्त मत्स्यावतार की कथा का जो उपबृंहण मत्स्य० १।११-३४ में है, या पुरूरवा:-उर्वशीकथा का जो उपबृंहण विष्णु० ४।६ अ० और हरिवंश १।२६ अ० आदि में मिलता है, उसमें रोचकता के उत्पादन के लिये ही विस्तार किया गया है। इस उपबृंहण में अन्य कोई साम्प्रदायिक अभिनिवेश नहीं है, यह स्पष्ट है। ब्रह्म० १०४ अ० में उक्त वरुणहरिश्चन्द्र की कथा भी इस प्रसङ्ग में उदाहार्य है।[७]

उपबृंहण का द्वितीय स्तर वह है जिसमें अंशतः साम्प्रदायिक अभिनिवेश दृष्ट होता है, यद्यपि साम्प्रदायिक अभिनिवेश की अन्धता नहीं है। वेदों को शिव के विभिन्न अङ्गों के रूप में कल्पित करना (लिङ्ग० १।१।२०-२१), शैवदृष्टि में

---

६. कथां...वह् वर्थां श्रुतिविस्तराम् (ब्रह्म० १।३१) वाक्य से ज्ञात होता है कि पुराणों में वैदिक कथाओं का उपबृंहण किया गया है।

७. अति स्वल्प मात्रा में इसमें भी तीर्थमाहात्म्यज्ञापक दृष्टि मिलती है, यद्यपि तीर्थमहिमा दिखाने के लिये कथांश को तदनुकूल परिवर्तित नहीं किया गया है। अल्पमात्रा में अमौलिक परिवर्तन तो सार्वत्रिक है, जो पुराणों की प्रकृति के अनुसार स्वाभाविक ही है।

वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करना, वेद की उत्पत्ति के साथ विष्णु या शिव का संबन्ध जोड़ना —ये सब साम्प्रदायिक अभिनिवेश के प्रारम्भिक स्तर के ज्ञापक हैं। साम्प्रदायिक आचार्यों ने पुराण की सर्वप्रियता को देखकर जब प्रचारार्थ पुराणों को अपनाया था, उस समय वेदोपबृंहण का स्तर ऐसा ही था।

उपबृंहण का तृतीय स्तर वह है जिसमें वैदिक स्वारस्य के प्रति दृष्टि न रखकर स्वसम्प्रदाय की मान्यताओं को बलात् वेद से प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। वैदिक कथाओं को स्वदेवता-महिमाख्यापनार्थ परिवर्तित करना (उनके वेदोक्त गुणकर्म के प्रति लक्ष्य न रखकर) रूप उपबृंहण भी इस स्तर में गिना जा सकता है। श्री पर्जिटर ने इस विषय पर उदाहरणों के साथ पर्याप्त विचार किया है। (द्र० Ancient Indian Historical Tradition ग्रन्थ)

(घ) पुराण वेदाधिक है—यह मत सबसे अर्वाचीन है। विभिन्न कारणों से जब वैदिक धर्म का बहुलतया ह्रास हो गया और केवल पुराणोक्त (अर्थात् आगम प्रधान) धर्म ही सर्वत्र समादृत हो गया, यज्ञ-क्रिया की अपेक्षा कीर्तनादि ही समाज में प्रतिष्ठित हो गए, व्रतपूजातीर्थाभिगमनादि ही धर्म समझे जाने लगे, तब पुराणों की वेदाधिक अभ्यर्हितता (और महत्त्व) सर्वत्र प्रसिद्ध और स्वीकृत होने लगी। पुराणों के प्राचीनतम अंशों में पुराण की वेदापेक्षया श्रेष्ठता कहीं भी नहीं कही गई है,[८] पर स्कन्द आदि अत्यन्त आधुनिक पुराणों में यह दृष्टि भी मिलती है। नारदीय० १।९।९७ में जो "सर्ववेदार्थसाराणि पुराणानि' कहा गया है, वह इस दृष्टि के अनुसार ही है। 'आत्मा पुराणं वेदानाम्" (रेवा० १।२२) आदि वाक्य की ध्वनि भी यही है। पुराणकारों ने स्पष्ट शब्दों में पुराण को वेद से अधिक अभ्यर्हित स्थान दिया है—"वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे" (प्रभासक्षेत्र० २।९०) या 'वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थम्" (तत्त्वसन्दर्भ पृ० ३८६ धृत नारदपुराण वाक्य)। वेद और स्मृति में जो अर्थ अदृष्ट है, वह पुराण से ज्ञातव्य है तथा वेदज्ञ यदि पुराणज्ञानहीन हो तो वह विचक्षण नहीं होते हैं (प्रभासक्षेत्र० २।९२-९३)—इत्यादि मत भी इस दृष्टि के अनुसार ही हैं।

---

८. पुराणों की वेदापेक्षया प्राचीनता का जो उल्लेख मिलता है, वह उचित ही है, क्योंकि इस शास्त्र का विकास स्वतन्त्र रूप से अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ था। आदिम पुराणकारों को वेद और पुराण की तुलना करने की आवश्यकता नहीं थी। जब वैदिकों में वेदधर्म का ह्रास हो गया और आगमप्रधान पुराणों द्वारा प्रोक्त धर्म उनके द्वारा आचरित होने लगा, तब पुराण की श्रेष्ठता कीर्तित हुई होगी। तन्त्रधारा के पूर्ण मिश्रण के बाद यह मत दृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित हुआ है।

ध्यान देना चाहिए कि पुराण के विषय में ऐसा कहने पर भी पुराण में वैदिक-सामग्री की अपेक्षा आगमिक सामग्री और स्मार्तधर्म का विवरण ही अधिकतया विद्यमान है। चूंकि आगममूलक वैष्णवादि सम्प्रदायों के विद्वान् अपने अपने मत को वेदमूलक के रूप में प्रचार करते थे, (वेद की असाधारण प्रतिष्ठा के कारण) या स्वमत को वेदमूलक ही समझते थे (चाहे पाञ्चरात्रादि आगम के सब मत वेद-मूलक न हों) इसलिये वे पूर्वोक्त धारणा का पोषण करते थे—यह स्पष्ट है।

पुराण का सर्वबलिष्ठ रूप—अर्वाचीन काल में पुराणों की प्रतिष्ठा सर्वाधिक हो चुकी है।[१] जो पुराण किसी दिन धर्मशास्त्रीय क्षेत्र से बाहर था (द्र० न्यायभाष्य ४।१।६१), वह अर्वाचीन काल में धर्मशास्त्रीय क्षेत्र में बहुत ही बलवान् हो गया है। आजकल श्रुतिस्मृति की तरह पुराण को एक स्वतन्त्र शास्त्र माना जाता है—"श्रुति-स्मृति-पुराणानि विदुषां लोचनत्रयम्" (रेवा० १।१६)। पहले जो माना जाता था कि पुराण से स्मृति बलवान् है, वह दृष्टि अर्वाचीन काल में लुप्त हो गई है और यह कहा जाता है कि स्मृति-पुराण के विरोध होने पर न्याय से बलाबल का विवेक करना चाहिए (याज्ञवल्क्य २।२१ की वीरमित्रोदय टीका)। आधुनिक काल में तो स्मार्त दृष्टि में यहां तक कहा जाता है कि "यत्र स्मृतिपुराणयोर्विरोधस्तत्र विकल्पः"। किसी किसी धार्मिक क्रिया के लिये तो 'पुराणाद्युक्ता एवं इतिकर्तव्यता ग्राह्या' ऐसा भी कहा जाता है, जो पुराणप्रामाण्य की श्रेष्ठता का ज्ञापक है।

पुराण का यह रूप ही निगमागमात्मक है, जिसमें सभी धाराओं का समन्वयात्मक समावेश हो गया है। आज 'सनातनधर्म' नाम से जो धारा प्रचलित है, वह पुराणप्रधान है (व्यवहारतः), यह सत्य अनपलाप्य है।

पुराणोक्त वेदप्रशंसा—पहले यह कहा गया है कि मूलतः पुराणधारा वेद से पृथक् है और बाद में वैदिक संप्रदाय पुराण के उपबृंहण होने के कारण पुराणों में वेद की प्रशंसा और महत्ता अतिशयित रूप में मिलती है। साम्प्रदायिक दृष्टियों से वेद की जो प्रशंसा उपलब्ध होती है, उसका कारण भी यही प्रतीत होता है कि उन सम्प्रदायों में वेद का प्रामाण्य स्वदृष्टि के अनुसार स्वीकृत होता था। शैवादि-सम्प्रदाय स्वदृष्टि और स्वव्याख्या के अनुसार ही वेद का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं, विशुद्ध वैदिक दृष्टि के अनुसार नहीं। इतना होने पर भी पुराणों में असाम्प्र-

---

१. सर्वाधिक अर्वाचीन पुराण ब्रह्मवैवर्त अपने को वेदभ्रम-भञ्जक कहता है (१।४२।४३)। यह सांप्रदायिक दृष्टि की पराकाष्ठा है।

दायिक दृष्टि से वेदप्रशंसा या वेदमहत्ता के ज्ञापक मत मिलते हैं, जिनके कुछ निदर्शन यहाँ संकलित हो रहे हैं।

पुराणों में वेद को अभ्युदयनिःश्रेयसकारक, सर्वप्राणियों के लिये चक्षुःस्वरूप, धर्माधर्म में परम प्रमाण, वर्णाश्रमव्यवस्थापक, सर्वशास्त्रमूल, श्रेष्ठशास्त्र इत्यादि रूप में बहुधा चित्रित किया गया है।[१०] यह दृष्टि स्मृतिकारों द्वारा भी अनुमोदित है।[११] 'त्रयी में विश्व प्रतिष्ठित है', पुराणों का यह मत भी वेदमहत्ता का गमक है (मार्क० २९।६, धर्मारण्य० ६।५)

वेद को साक्षात् ब्रह्म के रूप में मानना भी इस मनोवृत्ति का ही एक भेद है। कूर्म० १।२।२७-२८ में चारों वेदों को लक्ष्यकर "ब्रह्मणः सहजं रूपं नित्यैषा शक्तिरव्यया" कहा गया है। उपनिषदों में वेद को जो 'प्रजापति के निःश्वास' के रूप में कहा गया है, यह मत उसके अनुसार ही है।

वेदशब्दपूर्वक सृष्टि भी पुराणों में कही गई है (वायु० ९। ६३, पद्म० ५।३। ११३-११४, विष्णु० १।५।६२-६३; भविष्य० २।४१।४२; लिङ्ग० १।७०। २५७-२५८; ब्रह्माड० १।८।६५; कूर्म० १।७।६७-६८)। यह दृष्टि दार्शनिकों और स्मृतिकारों को भी अनुमत है (मनुस्मृति १।२१, शारीरक भाष्य १।३।२८)।

वेद के नित्यतापरक जो अनेक विशेषण पुराणों में प्राप्त होते हैं, उनसे भी वेद का परम प्रामाण्य ज्ञात होता है।[१२] वेदसम्बन्धी यह दृष्टि स्मृतियों में तथा वैदिक ग्रंथों में भी मिलती है।

वेद की इस महत्ता के कारण ही वेदनिन्दा को 'पाप' कहा गया है (वाम० ४७।४२)। वेदनिन्दकों के लिये कठोर शब्दों का व्यवहार भी पुराणों में प्रायशः मिलता है पद्म० २।६७।४, ४।३३।४१)।

'वेद से नानाविधशास्त्रों की उत्पत्ति' रूप मत भी पुराणों में अनेक स्थलों पर

---

१०. रेवा० १।१६, गरुड० १।९४।२५, भाग० ११।२०।४, देवी० ९।३०। १२७, वैशाखमास० १।१०, ब्र० वै० ३।३।१३, १।१६।८, काशी० ९५। १३, पद्म० ६।२५८।२३-२४, कूर्म० १।१२।२६०, २।१४।४६, मत्स्य० ५२।७, भाग० ६।१।४०।

११. मनु० १२।२७, १२।९४, १२।१००, २।७

१२. मत्स्य० १४२।४८, ब्रह्म० २४२।७, १६१।१५; भाग० ११।२०।४-५, कुमारिका० ४०।८६।

कही गई है।[१३] इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि प्रचलित पुराणों के रचनाकाल में वेद का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण था और पुराणकार भी वेद की सर्वशीर्षता को मानते थे। साम्प्रदायिक दृष्टियों के अतिरेक के कारण इस दृष्टि का अपलाप भी साम्प्रदायिक धर्म के प्रसंग में किया गया है—यह ज्ञातव्य है।

श्रौतधर्म—वेद की तरह श्रौतधर्म की प्रशंसा और महत्ता भी पुराणों में मिलती है। पुराणों में श्रौत-स्मार्तधर्मों के पृथक् पृथक् लक्षण भी दिए गए हैं (वायु० ५७।४०-४१; ५९।४३, मत्स्य० १४५।३०-३३, ब्रह्माण्ड० १।३२।३३-३४)। इस लक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि श्रौतधर्म यज्ञप्रधान है तथा विवाह उस धर्म का एक प्रमुख अङ्ग है। श्रौतधर्म का यह लक्षण वैदिक दृष्टिकोण को सर्वथा स्पष्ट करता है। वैदिक धर्म में पत्नीवर्जित जीवन सामान्यतया अनुमोदित नहीं है। पत्नीवर्जनपूर्वक संन्यास-जीवन अवैदिक धारा से आया है, ऐसा कुछ आधुनिक विद्वान् मानते हैं (भारतीय संस्कृति का विकास, १० वां परिच्छेद एवं नवम परिच्छेद पृ० १२९-१३२)। जहाँ तक धर्माचरण का संबन्ध है, वहाँ सपत्नीक जीवन ही सर्वप्रमुख रूप से विहित हुआ है, यद्यपि विशुद्ध मोक्षधर्म की दृष्टि में गृहस्थजीवन की अनुपयोगिता ही सिद्ध होती है।

पुराणों में श्रौतधर्म को श्रेयस्करतम कहा गया है (कूर्म० २।२४।१५) और सप्तर्षि को इसके प्रवक्ता के रूप में माना गया है (पूर्वनिर्दिष्ट स्थलों में)। ये सप्तर्षि भी गृहस्थ हैं, ऐसा पुराणों से ज्ञात होता है। जहाँ तक विद्याप्रवक्ता ऋषियों का संबन्ध है, हम कह सकते हैं कि ऋषि सपत्नीक होते थे और पुत्रादि के माध्यम से विद्या को सुरक्षित रखते थे। यह ज्ञातव्य है कि प्रचलित पुराणों में केवल श्रौतधर्म का प्रतिपादन नहीं है, बल्कि सत्य तो यह है कि स्मार्तधर्म और आगम-धर्म का भी बहुलतया प्रतिपादन है। अन्तिम स्तर में यह पुराणधर्म श्रौतधर्म की तरह एक स्वप्रतिष्ठ धर्म के रूप में संमानित हो गया है; यह तथ्य एक ही वाक्य में पुराण और श्रौतधर्म शब्द के पृथक् प्रयोग से ज्ञात होता है (पद्म० २।४१।६।

वेदनिन्दा—पुराणों में वेदप्रशंसा की तरह वेदनिन्दा भी उपलब्ध होती है। यद्यपि वैदिक सम्प्रदायों में प्रचलित पुराणों के उपबृंहण होने के कारण वेदनिन्दा का कोई भी प्रसंग उपस्थित नहीं होता, तथापि दार्शनिक युक्ति, साम्प्रदायिक दृष्टि एव

---

१३. स्मृतिधर्मं वेदमूलम् (भविष्य ब्राह्म० १८१।६), स्मृतयश्च श्रुतेरर्थं गृहीत्वैव च निर्गताः (देवीभाग० ७।३९।१७)।

कर्मकाण्डीय दुःशीलता के कारण वेद की निन्दा की गई है---यह पुराणगत निन्दा-प्रकरणों के अवलोकन से स्पष्टतया प्रतीत होता है।

दार्शनिक दृष्टि के अनुसार[१४] त्रयीधर्म की निन्दा पुराणों में यत्र-तत्र मिलती है। मार्क० १०।३१ में त्रयीधर्म को 'अधर्माढ्य' और 'किम्पाकफलसन्निभ' कहा गया है (मुद्रित पाठ 'किं पाप' है, जो भ्रष्ट है; यह श्लोक सांख्यसूत्र के विज्ञानभिक्षु-कृतभाष्य १।६ में उद्धृत है)। वैदिक कर्ममार्ग सदोष है, उससे पुनर्जन्म का नाश नहीं होता, यज्ञप्राप्यफल चिरस्थायी नहीं है, (पद्म० ४।३५।३०) इत्यादि हेतुओं के कारण यज्ञप्रतिपादक वेद की थोड़ी बहुत निन्दा पुराणों में दीख पड़ती है। कर्ममार्ग की अविद्यायुक्तता को भी वैदिक धर्म की अपकृष्टता के हेतु के रूप में कहा गया है (मार्क० ९५।१८)। मीमांसा की दृष्टि के अनुसार यज्ञक्रिया में ईश्वर-वाद का प्राबल्य नहीं है, अतः ईश्वरवादी की दृष्टि में यज्ञ (सुतरां वेद भी) की अपकृष्टता भी मानी जाती थी।

हिंसादिहेतुक यज्ञनिन्दा के प्रकरण पुराणों में कहीं कहीं मिलते हैं।[१५] जैनधर्म आदि के प्रसंग में भी यज्ञीय पशुहिंसा की निन्दा (सुतरां वेदनिन्दा भी) की गई है (पद्म० २।३६ अ०, देवीभाग० १।१८।४९-५५, १।१४।४२, पद्म० ५।१३।३६६-३७४)।

याज्ञिकों के लोभ, दम्भ, अज्ञान आदि के कारण भी वेदनिन्दापरक वाक्य प्रयुक्त हुए हैं। याज्ञिकों की चरित्रहीनता, नृशंसता आदि के अत्यन्त स्पष्ट वर्णन पुराणों में मिलते हैं। वेदवाद और वेदवादी की जो निन्दा मिलती है, वह

---

१४. दार्शनिक दृष्टि में वेदनिन्दा का लक्ष्यभूत कर्मकाण्ड-प्रतिपादक वेद ही है। तत्त्वतः कर्मकाण्ड भी दूषित नहीं है, लोभादिपूर्वक होने पर ही कर्मकाण्ड दूषित माना जाता है। चित्तशुद्धि के लिये कर्माचरण अभीष्ट ही है, और इस मार्ग में भी क्रमशः नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है, यह दार्शनिक दृष्टि भाग० ११।३।४६ में द्रष्टव्य है। वेदाध्ययन-यज्ञ-जप-ज्ञानाभ्यास-ध्यान यह क्रम शाश्वत तत्त्व की प्राप्ति के लिये है (मार्क० ४१।२५)। इस दृष्टि से वैदिक यज्ञ कथमपि निन्द्य नहीं हैं। हिंसादिदोष, याज्ञिकों के लोभ आदि के कारण ही यज्ञ निन्द्य समझे गए हैं।

१५. ऋत्विजों की अनैतिकता यज्ञनिन्दा का एक प्रबल हेतु है। यह अनैतिक आचरण ब्राह्मण काल से भी प्राचीनतर काल से चला आ रहा है (ऐत० ब्रा० ३।३, ८।११)। भाग० ११।२१।३०, ३२-३४ में यह दृष्टि अत्यन्त सजीव रूप से प्रतिपादित हुई है।

अनेक स्थलों पर लोभी याज्ञिकों को लक्ष्य कर ही कही गई है—यह स्पष्टतः प्रतीत होता है (भाग० ६।३।२५; केदार० १।३६-३७, गीता २।४२-४३)।

यज्ञनिन्दा का मूल अत्यन्त प्राचीन है। मुण्डक० १।२।१० में याज्ञिकक्रिया की अपार्थकता कही गई है। वस्तुतः यह कर्मकाण्ड ज्ञानविरहित कर्ममात्र है, अतः पुराणों में इसकी निन्दा की गई है।

साम्प्रदायिक अन्धदृष्टियों से भी वैदिकधर्म और वेद की निन्दा की गई है। कहीं कहीं स्वाभीष्ट धर्म को वेदधर्म की तरह सम्मानित किया गया है। यह भी एक प्रकार से वेद के अपकर्ष का ख्यापन ही है। तुलसीपत्र से हरिपूजा को यदि बहुद्रव्यसाध्य अश्वमेधादि से तुल्य कहा जाए तो वह वेदधर्म का अपकर्षख्यापन ही है (स्वधर्म की तुलना में)। विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने स्वसम्प्रदायों की उत्कृष्टता को दिखाने के लिये इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया है—यह सहजतः समझ में आ सकता है।[१६] वेदधर्म की जटिलता और पुराण-धर्म की सफलता दिखाने के लिये भी वैदिकधर्म (सुतरां वेद) की अपकृष्टता का प्रतिपादन किया गया है, यह भी कहीं कहीं स्पष्टतः दृष्ट होता है।[१७] भक्ति आदि की तुलना में वेदधर्म को अपकृष्ट समझने का एक स्पष्ट निदर्शन भाग० ५।९।८ में है, जहाँ पर 'विद्या' को 'त्रयाविद्या' से पृथक् और उच्चतर माना गया है। भक्ति की दृष्टि में यज्ञ की अनावश्यकता भी स्पष्टतः स्वीकृत हुई है (पद्म० १।६१।९)। यहाँ वैष्णव दृष्टि का अतिरेक है और इसी दृष्टि से ही वेदवाद की अपकृष्टता भाग-

---

१६. इन स्थलों में इस प्रवृत्ति के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—'भक्तिहीन के लिये चतुर्वेदपाठ निरर्थक है' (पद्म० ६।१२८।१०२), 'जिसने हरिपूजा की है, समझना चाहिए कि उसने अग्निहोत्र भी किया है' (पद्म० ६।८६।२७)। 'श्रौतस्मार्तकर्मसिद्धि के लिये हरिचक्रधारण कर्त्तव्य है' (पद्म० ६।२५२।४८)। इस प्रकार के वचन निश्चयेन साम्प्रदायिक दृष्टियों की अन्धता के ज्ञापक हैं। श्रौतकर्म के लिये हरिचक्रधारण की आवश्यकता किसी भी श्रौतसूत्र में अनुशिष्ट नहीं हुई है।

१७. पद्म आदि० ११।१४-१७ में यज्ञतीर्थ की तुलना में तीर्थगमन को यज्ञ से श्रेयान् कहा गया है। यज्ञ की तुलना में सूर्यपूजा की श्रेष्ठता भविष्य ब्राह्म० १२०।५०-५१ में कही गई है। मत्स्य० ११२।१२-२५ में भी यज्ञ को अपेक्षा तीर्थ को प्रशस्ततर कहा गया है। बौद्धजैन आदि द्वारा प्रचारित धर्म से परम्परागत धर्म की रक्षा के लिये तीर्थव्रतादिमूलक सहज धर्म की प्रशंसा की गई है—ऐसा प्रतीत होता है। पुराणकारों को यह दिखाना अभीष्ट था कि उनके द्वारा प्रचारित धर्म सहज है तथा वैदिकधर्मसदृश फलदायक भी है।

वत में कही गई है। भाग० ११।५।५ का "मुह्यन्ति आम्नायवादिनः" वाक्य इस प्रसंग में आलोच्य है।

वेदनिन्दक सम्प्रदाय—पुराणों में वेदनिन्दक के रूप में कुछ सम्प्रदायों के उल्लेख मिलते हैं। यह निश्चित है कि शैवादिसंप्रदाय-प्रोक्त धर्म सर्वांशतः वेदानुयायी नहीं हैं। पूर्वाचार्यों ने भी शैवादिमतों के वैदिक-अवैदिक रूप अन्तर्विभाग स्वीकार किया हैं (ललितासहस्रनामभाष्य पृ० ८४)। इस प्रकार यद्यपि यह कहा जा सकता है कि वेदनिन्दकों के रूप में शैवादि के नाम भी लिए जा सकते हैं, तथापि ऐसे आंशिक वेदमान्यकारी सम्प्रदायों को हम सर्वथा वेदनिन्दक सम्प्रदायों के रूप में नहीं मान सकते। मूल में चाहे शैवादि सम्प्रदाय वेद से असम्पृक्त रहे हों, पर पुराण में वर्णित शैवमत अंशतः वेदानुयायी है, यह अवश्य स्वीकार्य है। शिव० ७।३२।११-१३ में इसी दृष्टि से शैवागम के श्रौत-अश्रौत रूप द्विविध भेद स्वीकृत हुए हैं। वस्तुतः वेद-बाह्य सभी शैवादि मत बाद में अंशतः वैदिक हो चुके हैं (चार्वाकादि को छोड़कर), क्योंकि इन मतों के नवीन आचार्यों ने स्वमतों को वेदमूलक प्रतिपन्न करने के लिये प्रयास किया है।

पुराणों में वेदनिन्दक मत या सम्प्रदायों के नाम भी मिलते हैं। 'हेतुवाद-विचक्षण', 'हैतुक' आदि विशेषणों से विशेषित मतवादी वेदनिन्दक हैं, यह मत पुराणों में मिलता है (पद्म० ४।२३।८० इत्यादि)। स्वभाववादी या लोकायतिक को भी वेदनिन्दक के रूप में इतिहास-पुराणों में बहुधा कहा गया है।

जैन-बौद्ध सम्प्रदायों के मत भी वेदबाह्य या वेदविरुद्ध के रूप में ही पुराणों में स्वीकृत हुए हैं (नारदीय० १।१५।५२, पद्म० ५।१२।१०१-१०२; २।३६ अ०)। विष्णुपुराण में मायामोह द्वारा उक्त मत भी जैन-बौद्धमत विशेष ही है (द्र० श्रीधरी टीका ३।१८।१४)। अन्यान्य स्थलों में भी एतादृश नास्तिक मत के प्रसंग मिलते हैं। सर्वत्र ये मत वेदविरुद्ध मत के रूप में ही अभिहित हुए हैं। तन्त्राधिकारिनिर्णय ग्रन्थ में बौद्धादि की वेदविरुद्धता के प्रतिपादन के लिये अनेक पुराण-स्मृति-वचनों के उदाहरण दिए गए हैं (पृ० १०-१५)। पाशुपतादि धर्म के अंशत वैदिकत्व-प्रतिपादक वचन कहीं-कहीं मिलते हैं, पर बौद्धादिधर्म के विषय में कहीं भी इस प्रकार की स्वीकारोक्ति नहीं मिलती। यह दूसरी बात है कि अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल में रचित पुराण में बुद्ध अवतार के रूप में स्वीकृत हुए हों।

पुराणोक्त वैदिक और वेदबाह्य सम्प्रदाय—कई पुराणों में तामस या वेदबाह्य सम्प्रदाय के मतों की चर्चा मिलती है।[१८] भारतीय धार्मिक इतिहास के ज्ञान के

---

१८. वस्त्रापथ० ९।१३७-१३८, पद्म० ५।१२।१०१-१०२, ५।२८२।३५.

लिये यह विषय अत्यन्त उपादेय है। जनता और विद्वानों की दृष्टि में शैव-शाक्त आदि सम्प्रदायों का स्थान कालानुसार कैसा था—इसका परिचय इन उल्लेखों से हो जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि शैवादि कुछ सम्प्रदाय मूलतः वेदपृथक् ही थे और क्रमशः वैदिक धारा में इन सम्प्रदायों का मिलन (सामान्य-विशेष रूप में) हुआ था। इस मिलन के दीर्घकालिक मार्ग में परिस्थिति के अनुसार नाना प्रकार के अवान्तर मतों का भी उद्भव हुआ था और अन्तिम स्तर में दोनों धाराएँ एक संयुक्त धारा (निगमागमधारा) के रूप में परिणत हो गई हैं। अन्तिम स्तर में वैदिक और वेद-बाह्य धाराएँ एक ही धारा के दो अवयवों के रूप में सम्मानित हुई हैं, यह ब्रह्मसूत्र के श्रीकण्ठभाष्य के इस वाक्य से भी ज्ञात होता है—"वयं तु वेदशिवागमयो र्भेद न पश्यामः" (२।२।३८)। इस स्थल की शिवार्कमणिदीपिकाटीका में जो विशिष्ट विचार किया गया है, वह आगमसम्बन्धी प्राचीन और अर्वाचीन दृष्टियों का एक समाहार प्रस्तुत करता है।

इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि एक ही मत (या सम्प्रदाय) विभिन्न पुराणों में वैदिक और वेदबाह्य के रूप में स्वीकृत हुआ है। जिस पुराणांश की रचना जिस साम्प्रदायिक दृष्टि के अनुसार की गयी है, तदनुसार ही विभिन्न मतों की वैदिकता और वेदबाह्यता का निर्देश किया गया है, यही सर्वथा समीचीन दृष्टि है।

पुराण और तन्त्र (आगम)—यह विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। तन्त्रधारा प्रचलित पुराणों में अपना प्रमुख स्थान रखती है। पुराणोक्त न्यासपूजाविधियाँ निश्चयेन तान्त्रिक हैं।[१९] पुराणों में तान्त्रिक विधि के अनेक उल्लेख मिलते हैं, यथा——

वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा (भाग० ११।११।३७), यजन्ति वेदतन्त्राभ्याम् (भाग० १५।५।२८), तन्त्रोक्तवर्त्मना (देवीभाग० ११।१२।९-१२), सन्ध्योपासनकर्माणि वेदतन्त्रोदितानि (पद्म० ४।९०।८), उभाम्यां वेदतन्त्राम्याम् (पद्म० ४। ९०।२१), वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रः श्रीविष्णोस्त्रिविधो मखः (पद्म० ४।९०।३), वेदोक्त-

---

देवी० १।८।४४, १२।८।३-४, ७।३९।२७-३२, कूर्म० १।१६।११८-११९। इस विषय के प्रतिपादक अनेक स्मृतिपुराण-वचन तन्त्राधिकारिनिर्णयग्रन्थ में संकलित हुए हैं। आगमप्रामाण्य ग्रन्थ भी इसके विपरीत मत के लिये द्रष्टव्य है।

१९. पूर्वाचार्यों को यह तथ्य भली भांति ज्ञात था। वैदिक सन्ध्याकर्म में न्यास क्रिया भी कई जगह प्रचलित है, पर यह क्रिया तान्त्रिक है, वैदिक नहीं है। इसे पूर्वाचार्यों ने ही कहा है।

विधिना आगमोक्तेन वा (वराह० २११।९२), वैदिक और तान्त्रिकी दीक्षा का क्षेत्र (देवीभाग० ७।३९।३-५, १२।७।१४९-१५१)।

उसी प्रकार पाञ्चरात्रसम्बन्धी उल्लेख भी पुराणों में प्राप्त होते हैं। पुराणोक्त वैष्णव धर्म का विपुल भाग पाञ्चरात्रमूलक है, यह कहा जा सकता है। पाञ्चरात्रसम्बन्धी उल्लेख पुराणों में अनेक स्थलों पर मिलते हैं (वराह० ६६।१९, तथा ६६।११,)। शैवागम संबन्धी उल्लेख भी स्कन्द-शिव-लिङ्ग-पुराणों में मिलते हैं। शाक्तागमसिद्धान्त भी देवीभागवत-देवीपुराण-कालिका पुराण में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि तान्त्रिक-धारा पहले वैदिकों में सम्मानित नहीं थी। यही कारण है कि पुराणों में तन्त्र का संबन्ध शूद्रों से दिखाया गया है (पद्म० ४। ९०।४)। वैदिक ब्राह्मणसम्प्रदाय में यह मत प्रचलित था कि अज्ञ और पतित ब्राह्मणों तथा शूद्रादि के लिये ही यह शास्त्र है। सात्वत शास्त्र के विषय में कूर्मपुराण में "कुण्डगोलादिभिः श्रितम्" (१।२४।३१) ऐसा निन्दापरक वाक्य भी मिलता है। इस विषय में अनेक पुराणवचनों के उद्धरण देकर भट्टोजिदीक्षित ने तन्त्राधिकारिनिर्णय ग्रन्थ में पुष्कल विचार किया है। वेदप्रधानवादी की दृष्टि में आगमधर्म की स्थिति कैसी है—यह इस ग्रन्थ से ज्ञात हो जाता है। विपरीत पक्ष में आगममुख्य वेदवादी की दृष्टि में पाञ्चरात्ररूप वैष्णवागम और वेद का संबन्ध कैसा है—यह विषय यामुनाचार्यकृत आगमप्रामाण्य ग्रन्थ में विशदीकृत हुआ है। वस्तुतः इन ग्रन्थों में कहे गए सभी प्रकार के मत भारतीय समाज में प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हैं। उन मतों का कालानुसार विभाग करना अत्यन्त दुरूह है, अतः यहां इसके निरूपण के लिये प्रयास करना अप्रासंगिक होगा।

वेद और तन्त्रधारा का योग—वेद-पृथक् आगम धारा के साथ वैदिक धारा का मिलन सहसा नहीं हुआ है, परिस्थितिवश क्रमशः ही हुआ है। यही कारण है कि आगम धारा और वैदिकधारा के संबन्ध के विषय में पुराणों में अनेक परस्पर पृथक् मत मिलते हैं। इस विषय में मुख्य मत ये हैं—

१. आगमधारा (या तन्त्रधारा) वेदधारा से प्राचीन है; ये दोनों परस्पर पृथक् हैं।[20]

२. पतित और अज्ञ वैदिकों के लिये आगमोक्त मार्ग है।[21]

---

२०. बृहद्धर्मपुराण मध्यखण्ड ५।१३८।

२१. देवी० ७।३९।२७-३२, तन्त्राधिकारिनिर्णय ग्रन्थ में यह मत पल्लवित हुआ है।

३. कलियुग में आगमधारा ही (कहीं कहीं 'पुराणधारा') सिद्धिकारक है। चारों युगों में वेद-स्मृति-पुराण-तन्त्र की यथाक्रम स्थिति है।[२२]

४. वैदिक या आगमोक्त—किसी भी धारा का अवलम्बन करना चाहिए, इसमें श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता का प्रश्न नहीं है।[२३]

५. तन्त्र का जो अंश वेदविरुद्ध है, वह अंश त्याज्य है, पर अन्य अंश ग्राह्य है।[२४]

६. वेद के अनधिकारियों (अन्त्यज, म्लेच्छ आदि) के लिये पञ्चरात्रादि हैं।[२५]

उपर्युक्त प्रत्येक मत सहेतुक है और विभिन्न कालों में, विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार इन मतों की उत्पत्ति हुई है। वैदिक धर्म के साथ तान्त्रिक धर्म के संयोग के विषय में डा० हाजरा ने जो अनुसन्धान किया है, उससे यह ज्ञात हो जाता है कि किन परिस्थितियों में कौन-सी दृष्टि उत्पन्न हुई थी।[२६] अप्रासंगिक होने के कारण इस विषय पर यहाँ विचार नहीं किया जा रहा है।

पुराण और स्मृति—तान्त्रिक धर्म की तरह स्मार्त धर्म भी पुराणों में क्रमशः अनुप्रविष्ट हुआ है। वर्णधर्म, आश्रमधर्म, श्राद्ध आदि विषय स्मृतिशास्त्रों से पुराणों में संकलित हुए हैं। पुराणों में इस स्मार्तधर्म का उच्च स्थान है।

पुराणों में सर्वसम्प्रदायों का समन्वय—आगम मुख्यतः त्रिविध है—वैष्णवागम, शैवागम और शाक्तागम। प्रत्येक आगम के कई अवान्तर सम्प्रदाय भी हैं, यथा—वैष्णवागम में पाञ्चरात्र और भागवतसम्प्रदाय। इन सभी सम्प्रदायों के उल्लेख और मत पुराणों में सामान्य-विशेष रूप से मिलते हैं तथा प्रत्येक मत का अंशतः स्वीकार और अस्वीकार (हेय और उपादेय कहकर या वैदिक और वेदबाह्य मानकर) भी पुराणों में मिलता है। वेद के विषय में (तथा श्रौतधर्म के विषय में) भी प्रत्येक सम्प्रदाय की दृष्टियाँ नाना प्रकार की हैं और उनमें स्तरभेद भी हैं।

---

२२. वराह ७०।२४-२५, पद्म० ६।५३।४-५, ६।५३।२६-२७।

२३. वराह० २११।९२, देवी० ७।३९।३-५, १२।७।५, भाग० ११।५।२८।

२४. देवी० ७।३९।१८।

२५. वराह० ६६।११, 'तन्त्राधिकारिनिर्णय' ग्रन्थ में यह मत विशदीकृत हुआ है।

२६. द्र० Puranic Records ग्रन्थ का पञ्चमाध्याय।

सर्वान्तिम स्तर में वैदिक और अवैदिक धारा एक अविच्छिन्न धारा के रूप में मिल गई हैं और वैदिकतान्त्रिक-विशिष्टता का परिहार कर एक समन्वित निगमागमधर्म के रूप में परिणत हो गई हैं। इस निगमागमधारा का नाम ही पुराणधारा है, जो आज पौराणिकधर्म के नाम से प्रचलित है।

प्रथम अध्याय

प्रथम परिच्छेद

वेद का सामान्य स्वरूप

भूमिका में युक्ति और उदाहरण के साथ यह दिखाया गया है कि प्रचलित पुराण मुख्यतः वेदप्रामाण्यवादी सनातनधर्मी आचार्यों द्वारा रचित और उपबृंहित हुए हैं। इस उपबृंहण में वैष्णव-शैव-शाक्त आदि सम्प्रदायों का मुख्य सहयोग रहा है—यह भी एक सुप्रमाणित तथ्य है। यही कारण है कि पुराणों में सर्वत्र वेद का प्रामाण्य और महत्त्व स्वीकृत हुआ है। फिर भी यदि कहीं वेद की निन्दा उपलब्ध होती है तो याज्ञिक कर्मकाण्ड की अनुपादेयता के कारण ही, अन्यथा नहीं। हाँ, कहीं कहीं स्वसम्प्रदाय के उत्कर्ष के प्रतिपादन के लिये भी वेद का अपकर्ष दिखाया गया है। इन्हीं दृष्टियों से साम्प्रदायिक पुराणकारों ने कहीं-कहीं श्रौतधर्म की हेयता भी कही है।

असाम्प्रदायिक दृष्टि के अनुसार वेद के विषय में जो विवरण पुराणों में मिलता है, उस पर इस परिच्छेद में विचार किया जाएगा। असाम्प्रदायिक कहने का तात्पर्य यह है कि ये विवरण या तो मूलतः वैदिक ग्रन्थों पर आधृत हैं, या दार्शनिक प्रस्थानों की दृष्टियों के अनुसार कहे गए हैं।[1] स्वसम्प्रदाय के प्रति अन्ध श्रद्धा से ये विवरण नहीं कहे गए—इतना ही असाम्प्रदायिक कहने का तात्पर्य है। इतना होने पर भी यह सम्भव है कि असाम्प्रदायिक विवरण में भी अत्यन्त स्वल्प रूप में साम्प्रदायिक दृष्टि का सामान्य अनुप्रवेश कहीं कहीं हो गया हो, जैसा कि यथास्थान दिखाया जाएगा।

---

१. इसके साथ धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ, त्रिविध सूत्रग्रन्थ, स्मृति और तत्सजातीय अन्यान्य ग्रन्थ (जो शैवादिसंप्रदायों में नियत नहीं हैं) भी ग्राह्य हैं। धर्मशास्त्रीय विषय बहुलतया पुराणों में मिलते हैं, पर धर्मशास्त्रीय विशदता और पूर्णता प्रायेण पुराणों में नहीं मिलती। पुराणगत श्राद्ध-विवरण इस तथ्य का एक प्रमुख उदाहरण है। वराहपुराण में कहा गया है—"इयं सर्वपुराणेषु सामान्या पैतृकी क्रिया" (१४।५१)। प्रायेण अन्यान्य विषय भी सामान्य रूप से ही पुराणों में अभिहित हुए हैं।

वेद विद्याविशेष है—पुराणों में वेद को एक विद्या के रूप में माना गया है। 'वेदविद्या' यह शब्द भी पुराणों में मिलता है (कूर्म० १।५२।२५, रेवा० १।१७)। "विद्यानां वेदविद्येव" (वैशाखमास० १।१०) इत्यादि वचनों में यह भाव और भी स्पष्टतया लक्षित होता है। इस विद्या में कई विद्याओं का अन्तर्भाव है, इस दृष्टि से ही "वेदविद्यासु" यह बहुवचनान्त पद पुराणों में प्रयुक्त हुआ है (पद्म० ६।८२।१८)। अग्नि० ३८२।२ में चारों वेदों के नाम के साथ विद्या शब्द का प्रयोग किया गया है (ऋग्यजु:सामाथर्वाख्या विद्या)।

विद्यागणना में चतुर्वेद का उल्लेख वायु० ६१।७९, अग्नि० १।१५, विष्णु० ३।६।२८ आदि में मिलता है।[२] प्राचीन स्मृतियों में भी ऐसी गणना मिलती है (याज्ञवल्क्यस्मृति १।३)।

वेद का अपराविद्यात्व—लिङ्ग० १।८६।५१-५२, विष्णु० ६।५।६५ और ब्रह्म० २३३।६२-६३ में ऋग्वेदादि स्पष्टत: "अपराविद्या" कहे गए हैं और यह भी कहा गया है कि यह 'आथर्वणी श्रुति' का मत है। यह 'आथर्वणी श्रुति' मुण्डक उपनिषत् १।१।४ है। यह मत नारदीय० १।४६।८ में भी है। अग्नि० १।१५ में भी वेदादि 'अपराविद्या' रूप से संमानित हुए हैं।

अपराविद्या की गणना में विष्णु० और ब्रह्म० में "ऋग्वेदादिमया अपरा" कहा गया है। पुराणलक्षित मुण्डक में चारों वेदों के साथ छह अंगों की भी गणना की गई है। अग्नि० में वेद के अंगों के साथ मीमांसा, धर्मशास्त्र, पुराण, न्याय, वैद्यक, गन्धर्वशास्त्र, धनुर्वेद और अर्थशास्त्र की भी गणना की गई है (१।१५-१७)।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि मुण्डक-वाक्य में अनुक्त मीमांसादि विद्याओं की जो गणना अग्नि० में की गई है, उसका कारण और मूल क्या है? सम्भवत: अष्टादश विद्यास्थानों की अत्यन्त प्रसिद्धि हो जाने के कारण, बाद में अग्नि० में इन विद्याओं को भी अपराविद्या में गिना गया है। विद्या की 'चतुर्दशविध गणना' ही प्राचीन याज्ञवल्क्यस्मृति, विष्णुपुराण आदि में मिलती है, 'अष्टादशविध गणना' नहीं। विष्णु० की अपेक्षा अग्नि० अर्वाचीन है—यह निश्चित है। यह भी देखा जाता है कि शंकराचार्य के बाद मुण्डक के इस वाक्य में मीमांसा आदि शास्त्रों

---

२. किसी मत के प्रमाणीकरण के लिये कुछ ही पुराण-वाक्यों के उद्धरण दिए गए हैं। एक उद्धरण के बाद जितने आकर स्थलों के संकेत दिए गए हैं, उन स्थलों में प्रदत्त आनुपूर्वी सर्वत्र अविकल रूप में ही विद्यमान हो, यह आवश्यक नहीं। अर्थैक्य और बहुलशब्दसाम्य के कारण आकरस्थलों का संकेत दिया गया है (यद्यपि प्रकृत पाठ कुछ भिन्न है)—यह ज्ञातव्य है।

के नाम प्रक्षिप्त हो गए थे, जैसा कि मुण्डक उप० के शांकरभाष्य की नारायण-कृत दीपिका टीका से जाना जाता है (इतिहासादीनि पञ्च आचार्येन व्याख्यातानि तेन प्रक्षिप्तानीति गम्यते)। मुण्डक० के किसी-किसी हस्तलेख में अपराविद्या के गणनापरक वाक्य में वेद-वेदाङ्गों के साथ मीमांसादि शास्त्रों के नाम भी लिखित मिलते हैं (पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदीकृत न्यायवार्त्तिकभूमिका, पृ० २०)। सम्भवतः अग्नि० के पाठ को देखकर बाद में मुण्डक० के पाठ में प्रक्षेप किया गया हो।[3]

त्रयीविद्यारूप वेद—वेद को त्रयीविद्या के रूप में मानने की परम्परा बहुत ही प्राचीन है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रयुक्त 'त्रयीविद्या' शब्द इसका साक्षात् ज्ञापक है। पुराणों में कहीं कहीं यह दृष्टि मिलती है। वेद के लिये 'त्रयीविद्या' शब्द भाग० ११।१७। १२ में प्रयुक्त हुआ है। स्मृतियों में त्रयीविद्या शब्द बहुधा व्यवहृत हुआ है (त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्याम्, मनु० ७।४३)।

यद्यपि वेद को विद्या माना गया है तथापि विद्या के अर्थ में वेद शब्द का प्रयोग पुराणों में नहीं मिलता। गोपथ ब्राह्मण में सर्पवेद आदि जो शब्द हैं (१।१।१०) वहाँ वेद का अर्थ स्पष्टतः 'विद्या' प्रतीत होता है। श्री सामश्रमी जी ने भी "पुरासीत् विद्याऽपरपर्याय एवायं वेदशब्दः" कहा है। (त्रयीपरिचय, पृ० ५), परन्तु यह अर्थ पुराणों में नहीं दीख पड़ता।

त्रयीविद्या का अर्थ—ऋक्-साम-यजुः-रूप त्रिविध मन्त्र त्रयी पदवाच्य है। मनन-हेतुक होने के कारण मन्त्र को विद्या कहा जाता है और इस दृष्टि से 'त्रयी विद्या' का पूर्वोक्त अर्थ उपपन्न होता है। "त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि"—यह शतपथ-वचन (४।६।७।१) इस प्रसंग में द्रष्टव्य है ('त्रयी' शब्द की विशद व्याख्या षष्ठ परिच्छेद में द्रष्टव्य है)।

यतः वेद में तीन प्रकार के मन्त्र हैं, अतः 'त्रिवृत्' शब्द का प्रयोग भागवतकार ने किया है (१२।११।१९)। मनु० में भी 'त्रिवृत् वेद' का प्रयोग है (११।२६४)। यद्यपि एक प्रकार का मन्त्र अन्य प्रकार के मन्त्र का अवयव नहीं है, तथापि त्रिविध मन्त्रों का एककार्यत्व देखकर ही त्र्यवयववाची 'त्रिवृत्' शब्द प्रयुक्त होता है (द्र० मेधातिथि भाष्य ११।२६४)।

---

३. अग्नि० का काल सप्तम शताब्दी के बाद का है (History of Sanskrit Poetics **पृ० ९)। शंकराचार्य अष्टम शताब्दी के माने जाते हैं, अतः यह अनुमान होता है कि अग्नि० के पाठ को देखकर शंकर के बाद किसी ने मुण्डक० के पाठ में प्रक्षेप कर दिया हो।**

वेद शब्द का तात्पर्य——पुराणों में वेद और वैदिकी श्रुति (या केवल श्रुति) शब्द का प्रयोग किन किन अर्थों में किया गया है, यह एक आवश्यक विचार्य विषय है। 'वेद' शब्द के विवक्षित तात्पर्य के निर्धारण में निम्नोक्त उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(१) संहिताभागीय मन्त्रों के लिये वेद शब्द का प्रयोग पुराणों में सर्वत्र मिलता है। पुरुषसूक्त के कुछ मन्त्र या मन्त्राभिप्राय को उद्धृत कर 'वे वेद हैं'—ऐसी उक्ति पुराणों में बहुधा पाई जाती है (देवी० ३।१।३८।३९, ४।१८।२५-२६)। शिव० २।५।५।४१ में "भस्मान्तं शरीरम्" को वेदवाक्य कहा गया है; यह वचन शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्दिन संहिता ४०।१५ और काण्वसंहिता ४०।२७ में (तथा ईशावास्योपनिषद् के अन्त में भी) मिलता है।[४]

(२) कर्मकाण्डप्रतिपादक वेदभाग के अर्थ में (ज्ञानकाण्ड से पृथक् कर) वेद शब्द का बहुलतया प्रयोग पुराणों में मिलता है। यह एक औत्सर्गिक नियम है कि पुराणों में जहाँ भी वेदवाक्य की निन्दा उपलब्ध होती है वहाँ सर्वत्र वेद का तात्पर्य कर्मकाण्डपरक वेदभाग से ही है (भाग० ११।१८।३० की श्रीधरी टीका द्र०)। अन्यान्य स्थलों में भी यह दृष्टि मिलती है (भाग० ४।२।२१)।

(३) कहीं-कहीं सिद्धार्थपरक वेदभाग के लिये 'वेद' या 'वेदवाद' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[५] विष्णु० १।२।२२ में जो 'वेदवाद' शब्द है, वह नासदीय सूक्तगत 'सिद्ध' विषय को लक्ष्य करता है (द्र० श्रीधरी टीका)। वेदवाद पर विस्तृत विचार यथास्थान द्रष्टव्य है।

(४) ब्राह्मण और आरण्यक के लिये 'वेद', 'वैदिकी श्रुति' या 'श्रुति' शब्द का व्यवहार प्रायेण मिलता है। ब्राह्मण-आरण्यक-परिच्छेद तथा वेदमतपरिच्छेद में इसके उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

---

४. ऐसे उदाहरण सर्वत्र मिलते हैं। काशी० ७।६३ में तद्विष्णोः.... मन्त्र को वेदपठित कहा गया है, यह ऋग्वेद १।२२।२० है। खिल मन्त्र भी 'श्रुति' के नाम से उद्धृत किया गया है। 'सितासिते सरिते....' मन्त्र को 'श्रुति' कहा गया है (काशी० ७।५४)। यह मन्त्र ऋक्परिशिष्ट में पठित हुआ है। आश्वलायन-शाखा में यह खिल रूप में पठित था, यह त्रिस्थली सेतु (पृ० ३) से ज्ञात होता है।

५. सिद्धार्थ का अर्थ है—प्रमाण से निश्चित, जो क्रिया के द्वारा उत्पाद्य नहीं है, इस अर्थ में 'भूतवस्तु' शब्द भी प्रयुक्त होता है, 'वस्तुवाद' शब्द भी (द्र० शारीरकभाष्य, पृ० १३१, १३५)।

(५) उपनिषद्[६] को लक्ष्यकर ऐसा शब्द-व्यवहार पुराणों में दृष्ट होता है। वायु० १०४।४३ में "इत्येवं श्रूयते वेदे" कहकर जो वाक्य (अक्षरान्न परं किञ्चित् इत्यादि) उद्धृत किया गया है, वह कठ उप० १।३।११ का है (ईषत् पाठभेद सहित)।

(६) कहीं कहीं 'उपनिषद् में उक्त मतों' को लक्ष्य कर भी 'वेद' पद प्रयुक्त हुआ है। भाग० २।२।३२ में 'वेदगीत' कहकर जिन दो 'सृतियों' का निर्देश किया गया है, वे छान्दोग्यादि-उपनिषद् में उक्त 'सद्योमुक्ति' और 'क्रममुक्ति' ही है (द्र० श्रीधरीटीका)। उसी प्रकार "विरक्तस्याधिकारोऽस्ति संन्यासे नान्यथा क्वचित्"—इस मत को 'वेदप्रोक्त' कहा गया है (देवी० १।१८।२०), जो जावा-लोपनिषत् का "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" (४) वाक्य को ही लक्ष्य करता है।

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि पुराणों में अनेक स्थानों पर वेद और उपनिषत् का एकत्र उल्लेख है (वायु० २०।२५, लिङ्ग० १।७१।६७) जिससे इन दोनों का पार्थक्य भी सिद्ध होता है। पुराणों में उपनिषद् को वेद का श्रेष्ठ भाग माना गया है (शिव० २।५।२।४१)। इस पर 'उपनिषत्-परिच्छेद' में विस्तृत विचार द्रष्टव्य है।

वेद शब्द का गौण तात्पर्य—पुराणों में कुछ ऐसे भी वेदमत मिलते हैं जो वस्तुतः वैदिक नहीं हैं। ऐसे स्थलों में वेदशब्द का तात्पर्य क्या है, यह विचारणीय है। निम्नोक्त उदाहरण इस प्रसंग में द्रष्टव्य है—

(१) शिव० १।१६।२९-३० में कहा गया है कि वेद में पूजा शब्द का अर्थ विवृत हुआ है, पर वेद के संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-ग्रन्थ और मूल उपनिषदों में पूजा-शब्द के अर्थ के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया। 'उपास्'-धातु के प्रयोग छान्दोग्य उपनिषदादि में मिलते हैं, परन्तु 'पूजा' शब्द या पूजनप्रक्रिया पर कुछ भी विचार वैदिक ग्रन्थों में नहीं मिलता।[७]

---

६. उपनिषद् ग्रन्थ दो प्रकार के हैं। प्रथम—वेदावयवभूत उपनिषद्, यथा ईश, प्रश्न, मुण्डक, कठ, श्वेताश्वतर आदि, जो किसी न किसी वेदशाखा से संबद्ध हैं। द्वितीय—अर्वाचीन काल में साम्प्रदायिक विद्वानों द्वारा लिखित उपनिषद्, जैसे—कलिसन्तरणोपनिषद्, भस्मजाबालोपनिषद् आदि।

७. 'पूजन' शब्द श्रौत है, यह भावनोपनिषद् की टीका (पृ० २७०) में भास्करराय ने कहा है। वस्तुतः संहिता-ब्राह्मण में पूजधातु प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। अर्वाचीन साम्प्रदायिक उपनिषदों में इसका उल्लेख रहने पर भी इसका

(२) ब्रह्म० ५।५५-५६ में चतुर्दश मनुओं को वैदिक माना गया है। चतुर्दश मनुओं का कोई भी प्रसंग वैदिक ग्रन्थों में नहीं मिलता, यद्यपि मनु का साधारण उल्लेख[८] और प्रामाण्य[९] संहिता और ब्राह्मणों में मिलते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिकों की परम्परा में जो मत प्रचलित था (चाहे वह प्रत्यक्षतः वेदोक्त हो या न हो), वह वेदमत है—ऐसा मानकर ये प्रयोग किए गए हैं।

(३) जिस प्रकार असाम्प्रदायिक विषयों के अवैदिक होने पर भी उनको वैदिक विषय के रूप में कहा गया है, उसी प्रकार साम्प्रदायिक विषयों को भी वैदिक विषयों की तरह प्रतिपादित किया गया है। यथा—

(क) देवी० १।८।१७-१८ में वेद में 'त्रियम्बक' का वर्णन है, कहकर 'त्रियम्बक' के ऐसे विशेषण दिए गए हैं ('गौरीदेहरूपी' आदि) जो वस्तुतः वैदिक ग्रन्थों में नहीं मिलते, यद्यपि 'त्रियम्बक' की सत्ता वेद में है (ऋग्वेद ७।५९।१२)। यहाँ स्पष्टतः अवैदिक मत को ईषत् सादृश्य के आधार पर 'वैदिक' कहा गया है। देवी०९।३६।९—१० में पञ्चदेवोपासना को भी 'चतुर्वेदगत' माना गया है। प्रतीत होता है कि वैदिक और पौराणिक विष्णु आदि देवों के नामसादृश्य से ऐसा कहा गया है। वस्तुतः वेद में तान्त्रिक पञ्चदेवोपासना का साक्षात् अनुशासन नहीं मिलता और न तान्त्रिक पूजनपद्धति वेद में दीख पड़ती है।

(ख) यह दृष्टि गीता १५।१७-१८ में भी मिलती है, यहाँ 'वेदोक्त' कहकर जिस पुरुषोत्तम-वाद का स्थापन किया गया है, वह वस्तुतः वेदोक्त नहीं है। ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त (१०।९० सूक्त) या आरण्यकगत 'चत्वारः पुरुषाः' मत (शाङ्खा० आ० ८।३) या उपनिषत् के "पुरुषान्न परं किञ्चित्" (कठ उप० १।३।११) वाक्य वस्तुतः गीतोक्त पुरुषोत्तम-वादानुसारी नहीं है।[१०] गीता के इस स्थल में भागवतों की दृष्टि को कथञ्चित् साम्य के आधार पर वैदिक दृष्टि के रूप में कह दी गई है। इसी प्रकार साम्प्रदायिक दृष्टि को कथञ्चित् साम्य के आधार पर

श्रौतत्व सिद्ध नहीं होता। 'शाण्डिल्योपनिषत्' नामक अर्वाचीन उपनिषत् में 'ईश्वर पूजन' शब्द प्रयुक्त हुआ है (ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषत् पृ० ३२४)।

८. ऋक्संहिता १।११४।२, २।३३।१४, १०।६३।७, १।८०।१६ इत्यादि।

९. तै० सं० २।२।१०।२, ताण्ड्य ब्रा० २३।१६।६-७,

१०. छान्दोग्य० में 'उत्तमः पुरुषः' शब्द है (८।१२।३), पर यह गीतोक्त पुरुषोत्तमतत्त्व को लक्ष्य करता है, ऐसा निश्चयेन नहीं कहा जा सकता।

वेद में अन्तर्भूत करने का प्रयास देवी० ७।३२।१० में भी मिलता है। यहाँ कहा गया है कि शैव जिसे 'विमर्श' कहते हैं, वेदतत्त्वचिन्तक उसे 'अविद्या' कहते हैं। यद्यपि अविद्या शब्द वेद में है (माध्यन्दिनसंहिता ४०।१४ ; काण्वसंहिता ४०।११ और ईशोपनिषत् ११ वाँ मन्त्र) पर यह अविद्या वह तत्त्व नहीं है, जिसे शैव अपनी दृष्टि के अनुसार विमर्श कहते हैं। पुराण में "अविद्या" शब्द के सादृश्य से ही ऐसा कहा गया है, जिसके मूल में साम्प्रदायिक दृष्टि ही है।

(४) वेद में जिस विषय का अणुमात्र भी संकेत नहीं है, वह विषय भी वेद के नाम से कहा गया है। देवी० २।६।८ में इसका एक विशिष्ट उदाहरण है। यहाँ कहा गया है कि "पाण्डु की कुन्ती और माद्री नामक दो पत्नियाँ थीं, ऐसा वेदवादी कहते हैं"। यहाँ 'वेदवादी' पद के प्रयोग से ध्वनित होता है कि वेद में इसका कुछ प्रसंग होना चाहिए, पर वैदिक ग्रन्थों में महाभारतकाल के अनेक व्यक्तियों के प्रसंग रहने पर भी पाण्डु सम्बन्धी यह बात कहीं नहीं मिलती।

वेद शब्द के कुछ विशिष्ट प्रयोगस्थल—जैसे पुराणों में कहीं कहीं वेद और उपनिषत् का एकत्र प्रयोग मिलता है, उसी प्रकार वेद और श्रुति शब्द का प्रयोग भी एकत्र मिलता है, जिससे इन शब्दों की एकार्थता पर संशय उत्पन्न होता है। वायु० १००।३३ में (चतुर्दश मनुओं को लक्ष्य कर) "वेदे श्रुतौ पुराणे च" कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ वेद का रूढ़ अर्थ ही लिया गया है और श्रुति का अर्थ "परम्परा में सुनी गई बात" माना गया है। 'परम्पराश्रुत कथा' इस अर्थ में 'श्रुति' शब्द प्रसिद्ध है (द्र०पर्जिटरकृतA. I. H. T. पृ० १९-२१)। वायु० का यह श्लोक ब्रह्माण्ड० ३।१।३० में भी हैं, जहाँ "वेदे स्मृतौ पुराणे च" पाठ है। इस पाठ में कोई अर्थसंबन्धी संशय उत्पन्न नहीं होता।

ब्रह्म० २१३।१६७ में भी इस प्रकार का एक वाक्य है--"पुराणं वर्त्तते यत्र वेदश्रुतिसमाहितम्"। यहाँ श्रुति=परम्परागत मत ही है। ब्रह्म० का यह सन्दर्भ हरिवंश० १।४१।२७ में भी है, जहाँ "पुराणे कथ्यते यत्र वेदः श्रुतिसमाहिताः" पाठ है। यहाँ वेद का विशेषण 'श्रुतिसमाहित' दिया गया है, नीलकण्ठ ने जिसका अर्थ "प्रत्यक्षेणैव निहितः" किया है, पर यह अर्थ अस्वारसिक है। यहाँ इसका अर्थ 'परम्परा में समाहित वेद' ऐसा किया जा सकता है। चूंकि यहाँ प्रकृत पाठ का निर्णय करना दुष्कर है, इसलिये अर्थ का निर्णय करना भी दुरूह है। परम्परागत सुनी हुई बात या मत के अर्थ में 'श्रुति' शब्द का एक विशिष्ट प्रयोग केदार० १३।३६ में मिलता है, यहाँ एक ही वाक्य में वेद, पुराण आगम, शास्त्र और नाना श्रुतियों का उल्लेख विद्यमान है। यहाँ श्रुति का उपर्युक्त अर्थ ही संगत होता है, अन्यथा 'शास्त्र' पद अनुपपन्न होगा।

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद—शब्दात्मक वेद के ये दो भाग मीमांसा, धर्मसूत्र आदि को अनुमत हैं।[११] पुराण में भी यह मत प्रतिपादित हुआ है, क्योंकि वैदिक ऋषियों के विवरण में मन्त्रकृत् और ब्राह्मणप्रवक्ताओं की सूची साथ-साथ दी गई है।

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के अवान्तर भेद के विषय में एक विशद सन्दर्भ पुरुषोत्तम० ४६।१०-१९ में मिलता है। इन श्लोकों के पाठ कुछ विकृत हो चुके हैं। स्कन्दपुराण के वेंकट० संस्क० में यह अंश नहीं है, अतः पाठों पर तुलनात्मक विचार भी नहीं किया जा सकता। यहाँ की विचारसरणि पूर्वमीमांसा के अनुसार है और यही कारण है कि जैमिनि-उद्दालकसंवाद में यह सन्दर्भ उल्लिखित हुआ है। इस विवरण का सार इस प्रकार है—

कृष्णद्वैपायन व्यास ने वेद की सहस्र शाखाओं का विस्तार किया, जिस विस्तार के कारण कर्मानुष्ठान की दृष्टि से वेद दुरूह प्रतीत होने लगा। कर्म का इस प्रकार ह्रास देख कर जैमिनि ने कृपा कर वेदविचारात्मक मीमांसा दर्शन का प्रणयन किया। उनकी दृष्टि से वेद के तीन भाग हैं। पहला भाग मन्त्रात्मक है, दूसरा भाग कर्मप्रचोदक (कर्म का प्रेरक) है। इस कर्म-प्रचोदक भाग का तात्पर्य ब्राह्मणभाग से ही है, क्योंकि 'कर्मचोदना ब्राह्मणानि' (आपस्तम्बपरिभाषासूत्र ३४) रूप सिद्धान्त मीमांसकों द्वारा अनुमोदित है (द्र० त्रयीपरिचय पृ० ५३-५४)।

वेद के एक अन्य भाग के लिये कहा गया है—केचित्तु स्तुतिनिन्दाभ्यां विहीनाः स्तावकाः स्थिताः" (४६।१४)। स्तुतिनिन्दाहीन अथ च स्तावक रूप वेदभाग उपनिषद् ही हो सकता है, क्योंकि उपनिषद् मुख्यतः 'भूतार्थख्यापक'

---

११. इस विषय में ये वाक्य द्रष्टव्य हैं—"मन्त्रब्राह्मणयोराहु र्वेदशब्दं महर्षयः" (षड्गुरुशिष्यकृत सर्वानुक्रमणीवृत्ति का आरम्भ), "वेदो हि मन्त्रब्राह्मणभेदेन द्विविधः" (तै० आ० ८।२ सायणभाष्य), याज्ञवल्क्यस्मृति १।३, १।२१९ की मिताक्षरा टीका; मनु० २।१४१ में 'एकदेशं तु वेदस्य' कहा गया है। कुल्लूकादि व्याख्याकार वेद का एकदेश मन्त्र या ब्राह्मण मानते हैं, जिससे वेद का मन्त्र-ब्राह्मणात्मकत्व सुतरां सिद्ध होता है। मन्त्र और तत्संबद्ध ब्राह्मण की एकार्थकता रहती है, इस विषय में शंकर का यह वाक्य द्रष्टव्य है—"मन्त्रब्राह्मणयोश्च एकार्थत्वं युक्तमविरोधाद्" (शारीरकभाष्य १।१।१५)। मन्त्र का स्वारसिक विषय और उसके ब्राह्मण में कहीं कहीं भेद रहने पर भी परस्पर-विरोध नहीं माना जाता (द्र० कठ० उप० २।२।२ का शाङ्करभाष्य)।

होने के कारण अर्थवाद के समान स्तुतिनिन्दायुक्त (स्तुतिनिन्दान्यतरपरवाक्यं चार्थवादः) नहीं है। किंच यह भाग वस्तुधर्मख्यापक है, अतः 'स्तावक' पद का प्रयोग उपनिषद् के लिये करना समीचीन है। यदि यह वाक्य अर्थवाद को लक्ष्य कर कहा गया है तो पाठ का ईषत् परिवर्तन करना होगा। ऐसी स्थिति में स्तावक पद से चतुर्थ उपनिषद्भाग ही लक्षित होगा। मुद्रित पाठ की वर्तमान स्थिति में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।[१२]

प्राचीन काल से ही वेद के नानाविध विभागों के उल्लेख मिलते हैं। विभिन्न आचार्यों ने वेद को दो,तीन, चार और पाँच भागों में अपनी अपनी दृष्टियों के अनुसार बाँटा है। वेद का मन्त्रब्राह्मण-रूप विभाग सर्वत्र प्रसिद्ध है। वेद के त्रिविध विभाग के लिये "वेदो विध्यर्थवादमन्त्रात्मा"(मनु० २।६ की कुल्लूक टीका)वचन द्रष्टव्य हैं। वस्तुतः ब्राह्मण को द्विविध (द्विविधं ब्राह्मणं, विधिरर्थवादश्चेति—सायणीय ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० २४) मानकर ही वेद का त्रैविध्य उपपन्न होता है। आपस्तम्ब (परिभाषा सूत्र ३५) के "ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः" वचन में भी यही दृष्टि है। वेद का एक पञ्चविध विभाग भी है, जिसमें 'विधि-मन्त्र-नामधेय-अर्थवाद-निषेध—इन पांचो की गणना की जाती है। 'विधि-अर्थवाद-मन्त्र-नामधेयात्मक' रूप एक अन्य विभाग भी मेधातिथिटीका में कहा गया है (२।६)। वहाँ इन विभागों पर विशद विचार भी किया गया है।

इसके बाद मन्त्रात्मक वेदभाग के विषय में (पुरुषोत्तम० ४६।१५—१६) जो कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि कुछ मन्त्र स्तोत्र (प्रगीतमन्त्रसाध्य स्तुति) हैं, जो उद्गाता का कार्य है और कुछ मन्त्र शास्त्र (अप्रगीत मन्त्रसाध्य स्तुति) हैं, जो होता का कार्य है[१३] (द्र० सायणीय सामवेदभाष्यभूमिका पृ० ८४)। ये मन्त्र 'सहाय' और 'निबन्धक' हैं। मन्त्र चूंकि द्रव्य-देवता-स्मारक और अभिधायक है, इसलिये ये दो विशेषण समीचीन हैं। मन्त्र को कर्मसाधनहेतु भी यहाँ कहा गया है।

---

१२. कोई कोई मीमांसक "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" (ऐत० उप०) आदि उपनिषद् वाक्यों को अज्ञातज्ञापक विधि मानते हैं (सायणीय ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० २४ चौखम्भा)।

१३. पूर्वमीमांसा ७।२।१७ शाबरभाष्य में स्तोत्र-शस्त्र पर विशद विचार किया गया है। स्तुतशस्त्रयोः....(२।१।१३) सूत्र से भी इन दोनों का भेद सिद्ध होता है (द्र० जैमिनीयन्यायमाला)। पूर्वमीमांसा १०।४।४९ भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

मीमांसा में 'मन्त्राश्च कर्मकरणाः' यह मत प्रसिद्ध है[१४] और इसी दृष्टि से मन्त्र को कर्मसाधनहेतु कहा गया है। यहां मन्त्रोपासना से सिद्धिप्राप्ति का उल्लेख भी किया गया है। "मननात् त्रायते यस्मात् तेन मन्त्रः" रूप मन्त्रनिर्वचन इसी दृष्टि के अनुसार कल्पित हुआ है।

मन्त्र-सम्बन्धी यह दृष्टि पूर्वाचार्यानुमोदित है। उवट ने स्पष्टतः कहा है—"मन्त्रस्तु कर्माङ्गभूतद्रव्यदेवतास्मारकः" (वाजसनेयि प्रातिशाख्य १।४ की टीका)। आधुनिक मीमांसक इस भाव को ही "अनुष्ठीयमानकर्मस्मारकत्वं मन्त्रत्वम्" इस वाक्य से कहते हैं, जैसा कि वासुदेव दीक्षित ने कहा है—"अनुष्ठेयार्थस्मारकवाक्यत्वं मन्त्रत्वमिति पर्यवस्यति" (अध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्ति २।१।३२)। मन्त्रस्वरूप के विषय में जैमिनि के २।१।३२ सूत्र की अन्यान्य व्याख्याएँ भी द्रष्टव्य हैं। 'मुख्यतः मन्त्र अभिधायक है' (और क्वचित् अनभिधायक भी)—यह यहाँ प्रतिपादित हुआ है। सर्वानुक्रमणीवृत्ति में मन्त्रब्राह्मण का भेद बहुत ही स्पष्ट शब्दों में दिखाया गया है—"विनियोक्तव्यरूपो यः स मन्त्र इति कथ्यते। विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि॥"

अर्थवादादि वेदभाग के विषय में पुरुषोत्तम० ४६।१७-१८ में विशद उल्लेख मिलता है। पहले कहा गया है कि स्वरूपतः स्तुतियां स्तुत्यर्थवादमूल हैं। इसका अर्थ अस्पष्ट है। अर्थवाद विधिस्तुतिपरक है, यह मत प्रसिद्ध है।[१५] पर स्तुति स्तुत्यर्थवादमूल है, इसका अर्थ अबोध्य है। पुनः कहा गया है कि वेदप्रवृत्ति-द्वार से स्तुतियां अनेक अभीष्ट फलों का साधन करती हैं। यह भी हो सकता है कि यहाँ स्तुति का अर्थ मन्त्र ही हो। ये मन्त्र या तो किसी देवता की स्तुति करते हैं या किसी अर्थवाद (आख्यायिका-कथन) को प्रकट करते हैं। मन्त्र के लिये स्तुति शब्द का प्रयोग निरुक्तादि में प्रसिद्ध है (निरुक्त ७।१ ख० द्र०)। 'यथावत् विनियुक्त होकर ही मन्त्र इष्टफलद है' यह भी पूर्वाचार्योनुमोदित मत है। पुरुषोत्तम० ४६।

---

१४. आश्व०, श्रौतसूत्र, १।१।२१ में भी यह न्याय है।

१५. अर्थवादप्रामाण्य के विषय में पूर्वमीमांसा १।२।१-१८ द्रष्टव्य है। जैमिनीय न्यायमाला १।२।१ में इस विषय का सार दिया गया है। विधिवाक्य की स्तुति के लिये इसकी उपयोगिता मानी गई है (१।२।७)। अर्थवाद के विभाग के विषय में भी कई मतभेद हैं। पूर्वमीमांसानुसार अर्थवाद तीन प्रकार का है (गुणवाद-अनुवाद-भूतार्थवाद), पर न्यायसूत्रकार गौतम के अनुसार इसके चार भाग हैं (स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः, २।१।६४,)। मीमांसोक्त वेदविभाग का सारांश याज्ञवल्क्यस्मृति १।३ की मिताक्षरा टीका में द्रष्टव्य है।

२७ में जो 'वेदप्रवृत्तिद्वारेण' कहा गया है, उसका अर्थ अस्पष्ट है। इस व्याख्या में मन्त्रभाग का ही प्रतिपादन यहां तक किया गया है—यह मानना पड़ता है।

पुरुषोत्तम० ४६।४८ में कहा गया है कि वेद का एक अन्य भाग है, जो विधि[१६]-अनुवाद-मूलक है एवं अग्निष्टोम द्वारा चोदित (प्रेरित) होता है। इस भाग में पूजाविधि, देव के प्रति द्रव्य का उपहार आदि साधनों का उपदेश मिलता है। इस स्थल में ब्राह्मणभाग का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि ब्राह्मणभाग का नामान्तर विधिभाग है। अनुवादरूप वेदभाग का उल्लेख न्यायसूत्र में मिलता है। (२।१।६५)। विधि और अर्थवाद के अतिरिक्त अनुवाद की आवश्यकता क्यों है, तथा अनुवाद के प्रकार आदि इस न्यायसूत्र की व्याख्याओं में द्रष्टव्य हैं।

अग्निष्टोम का ग्रहण याज्ञिकी क्रिया का उपलक्षण है। यहां अग्निष्टोम का ही ग्रहण क्यों किया गया, ऐसा प्रश्न हो सकता है। उत्तर में यह कहना संगत है कि इष्टि-पशु-सोम रूप त्रिविध यज्ञ में सोमयज्ञ ही सर्वविधक्रियाकलाप से संपन्न होता है। सोमयज्ञों में अग्निष्टोम सर्व प्रथम अनुष्ठेय है—"अग्निष्टोमः प्रथमयज्ञः" (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १०।२।३)।

इन श्लोकों में जो दृष्टि प्रतिपादित हुई है वह कर्ममार्गप्रधान पूर्वमीमांसा की युक्ति के अनुसार है, यह पुरुषोत्तम० ४६।१९ से स्पष्ट हो जाता है (कर्ममार्ग व्यवस्थाप्य)।

ब्राह्मण की अपेक्षा मन्त्र की महत्ता—चूंकि ब्रह्म (= मन्त्र) की व्याख्या[१७]

---

१६. विधिभागप्रामाण्य के लिये पूर्वमीमांसा १।१।२-५ द्रष्टव्य है। विधि का अर्थ विधायक वाक्य है (न्यायसूत्र २।१।६३)। मीमांसा के अनुसार इसके चार भेद हैं—उत्पत्ति, अधिकार, विनियोग और प्रयोग। नियमविधि और परिसंख्या-विधि का अन्तर्भाव इनमें किया जाता है। ब्राह्मण ही अवान्तर भेद से अनुब्राह्मणपदवाच्य होता है। तै० सं० १।८।१ के भाष्य में सायण ने ठीक ही कहा है कि मन्त्रकाण्डस्थ विधिसमूह 'ब्राह्मण' है और सार्थवाद ब्राह्मण 'अनुब्राह्मण' है। शाङ्खायन श्रौतभाष्यकार आनर्तीय ब्रह्मदत्त कहते हैं—"एवं तर्हि अनुब्राह्मणके तत् महाकौषीतकोदाहृतं कल्पकारेणाध्यायत्रयम्" (४।१०।१) इससे ज्ञात होता है कि कल्पसूत्रगत ब्राह्मणभाग अनुब्राह्मण है। अनुब्राह्मणस्वरूप पर विशेष विचार आवश्यक है।

१७. परंपरागत दृष्टि के अनुसार मन्त्र-ब्राह्मण एकार्थक माने जाते हैं। ब्राह्मणकृत मन्त्र व्याख्या मुख्यतः पदपदार्थ की अवयवशः आख्या नहीं है। तै०

(विनियोग, अर्थप्रवचन, मन्त्रोक्तपद-निर्वचन आदि) ब्राह्मणग्रन्थों में मिलती है, अतः 'ब्राह्मण की तुलना में मन्त्र अधिक अभ्यर्हित है'—यह कथन समीचीन है। मन्त्र ब्राह्मणापेक्षया प्राचीन है और परवर्ती काल में मन्त्रों की व्याख्या के लिये ही ऋषियों ने ब्राह्मणों की रचना की, ऐसा सामश्रमी आदि विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। ब्रह्माण्ड० १।३३।१२ में जो "अनुमन्त्रं तु ब्राह्मणम्" कहा गया है, उसका भी यही तात्पर्य है।

पुराणों में मन्त्रों की अभ्यर्हितता संबन्धी कोई विशिष्ट विचार नहीं मिलता। केवल एक स्थान पर "सर्वेभ्यो पि हि वेदेभ्यो वेदमन्त्रा महत्तराः" (ब्राह्मण्ड० ३।३८।४) वचन मिलता है। 'जपादि में मन्त्रों का ही प्रयोग होता है, ब्राह्मण वाक्यों का नहीं' इस दृष्टि से ही यह वाक्य कहा गया है, ऐसा प्रतीत होता है।

कर्मकाण्डीय मन्त्रविनियोग को दृष्टि में रख कर कहीं कहीं वेद को केवल मन्त्रमय कहा गया है (वेदो मन्त्रमयः साक्षात् तथा सूक्तमयो भृशम्-केदार० १।४१)। इस श्लोक से पहले 'कर्मकाण्डी ब्राह्मण वेदवादरत हैं', ऐसा कहा गया है और वेद का प्रसंगोचित अभिप्राय दिखाने के लिये उपर्युक्त वाक्य कहा गया है, वेद का स्वरूप कहना वहाँ इष्ट नहीं है। अतएव इस वाक्य के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि पुराण 'वेद मन्त्रात्मक है' ऐसा ही मानता है। वेद की 'मन्त्रब्राह्मणसमुदायवृत्तिता' पुराणादि में स्वीकृत है, अतः केवल मन्त्र के लिये वेद पद का प्रयोग करना संगत ही होता है,[१८] पर उससे मन्त्र ही वेद है, यह प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं होती।

वेद-संज्ञा का विस्तार—'वेद' पद का प्रयोग संहितादि ग्रन्थों के लिये होता है, यह दिखाया गया है। इस प्रसंग में यह भी जानना चाहिए कि पहले वेदसंज्ञा केवल मन्त्रों की ही थी, बाद में ब्राह्मणों के लिये भी यह संज्ञा प्रयुक्त हुई (त्रयीपरिचय, पृ० ६२)। वेदावयव से पृथक् नवीन उपनिषद् ग्रन्थ भी बाद में 'वेद' पद से अभिहित होने लगे। कल्पसूत्र भी वेदवत् सम्मानित हो चुके हैं।[१९]

उपनिषद् में "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म . . . ब्रह्मणा विपश्चिता" मन्त्र है। ब्रह्मवल्ली इस मन्त्र की व्याख्या मानी जाती है (हरिदीक्षितकृत ब्रह्मसूत्रवृत्ति १।१।१५)। यह ब्राह्मणरूप व्याख्या मन्त्र के पदों की शाब्दिक व्याख्या नहीं है।

१८. 'समुदाये वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि प्रवर्तन्ते' इस न्याय से।

१९. गौतमधर्मसूत्र सदृश प्रामाणिक ग्रन्थ में षडङ्ग को वेद का पद दिया गया है, अतएव कल्प का वेदत्व सिद्ध ही होता है। मन्त्र और ब्राह्मण के साथ कल्प का उल्लेख उसकी वेदवत् स्थिति का ज्ञापक है। यथास्थान इस विषय पर विशद विचार

कुछ नवीन आगमवित् आचार्यों ने शिवागम को वेदविशेष ही माना है (ब्रह्मसूत्र २।२।३८ का श्रीकण्ठभाष्य-"वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः—" इत्यादि सन्दर्भ)। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदसंज्ञा का क्षेत्र क्रमशः बढ़ता चला गया है।

पुराणों में भी यह दृष्टि मिलती है। मत्स्य० १४५।३२, ब्रह्माण्ड० १।३२।३५ और वायु० ५९।३१ में श्रौतधर्म के प्रसंग में 'श्रुति' का अभिप्राय इस प्रकार कहा गया है—"ऋचो यजूंषि सामानि ब्रह्मणोऽङ्गानि च श्रुतिः"। यह स्पष्ट है कि यहाँ श्रुति में ऋक् आदि त्रिविध मन्त्र (तदनुगत ब्राह्मण भी) के साथ वेदाङ्ग भी गिना गया है। धर्माचरण के लिये कर्मकाण्ड प्रतिपादक वाङ्मय अपरिहार्य है, अतः कल्पसूत्र के अन्तर्भाव के लिये तथा श्रुत्यर्थ-बोध के लिये अंगों का अन्तर्भाव भी श्रुति में किया गया है। यह स्पष्ट है कि यह दृष्टि अपेक्षाकृत अर्वाचीन है।

पुराण का यह मत धर्मसूत्र में भी मिलता है। गौतम स्मृति में स्पष्टतः कहा गया है "मन्त्रब्राह्मणयो वेदनामधेयं षडङ्गमेके"। यहाँ "एके" पद इस दृष्टि की अर्वाचीनता को ज्ञापित करता है। भाट्टदीपिका की प्रभावली टीका में इस वचन का उद्धरण देकर वेदाङ्गों का वेदत्व-प्रतिपादन किया गया है (पृ०५९ निर्णयसागर संस्क०)[२०]।

ऋक् और ऋग्वेद का तात्पर्य—पुराणों में ऋक् आदि शब्द प्रायेण दो अर्थों में व्यवहृत हुए हैं। 'ऋक्यजुः साम' शब्द का एक अर्थ है—'एक विशेष प्रकार का मन्त्र'। इस शब्द का दूसरा अर्थ 'वेद-विशेष' होता है, जहां वेद का अर्थ है 'मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दराशि'। ऋक्आदि शब्दों का प्रथम अर्थ पूर्वमीमांसा में स्पष्टतः दिखाया गया है (२।१।३५-३७)। इस दृष्टि से अथर्व-मन्त्र का अर्थ होगा 'अभिचारादि-विषयक मन्त्र' जो रचना-रीति के अनुसार बाहुल्येन ऋक् है और क्वचित् यजुः है। ऋक् आदि त्रिविध मन्त्रों से पृथक् कर अथर्वमन्त्र का उल्लेख कहीं कहीं मिलता है (वायु० ५७।४९, मत्स्य० १४२।४७)। इन स्थलों में अथर्व-

---

द्रष्टव्य है। अर्वाचीन काल में पुराण भी वेदवत् और वेदविशेष रूप में स्वीकृत हुआ है (द्र० तत्त्वसन्दर्भ पृ० १६-२९ अच्युतग्रन्थमाला संस्क०)। ग्रन्थकार जीवगोस्वामी का अन्तिम वाक्य यह है—तदेवमितिहासपुराणयोर्वेदत्वं सिद्धम् (पृ० २९)।

२०. 'मन्त्र' शब्द का प्रयोग लौकिक छन्दों के लिये भी किया गया है (आदिपर्व ७४।३० में आदित्यचन्द्रा....' श्लोक है। मिताक्षरा (पृ० ५४६) में इसको मन्त्र कहा गया है। व्यवहारनिर्णय (पृ० १५३) में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।

मन्त्र का उपर्युक्त अर्थ ही विवक्षित होता है। अथर्वमन्त्र को ऋक् आदि की तरह मन्त्रविशेष के रूप में वैदिक ग्रन्थों में भी माना गया है। काठक संहिता ४०।७ के ब्राह्मण में "यदेनमृग्भिः शंसन्ति....." वाक्य में ऋक्सामयजुः के साथ अथर्व-मन्त्र भी उल्लिखित हुआ है और इन चतुर्विध मन्त्रों के चतुर्विध कार्य (शंसन-यजन-स्तवन-जपन) भी कहे गए हैं (यजुर्वेदभाष्यविवरणभूमिका पृ०३०)। पुराणों में मन्त्रविशेष के अर्थ में ऋक् आदि पद प्रयुक्त मिलते हैं (जहां ब्राह्मण का प्रसंग नहीं है)।

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के लिये भी ऋक् आदि शब्द पुराणों में व्यवहृत हुए हैं, यथा—विष्णु० १।५।५२-५५ में 'ऋचः' 'यजूंषि' 'सामानि', 'अथर्वाणम्'—ये चार द्वितीयान्त पद हैं, जहाँ इन पदों से मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद विवक्षित है, केवल मन्त्र विशेष नहीं (द्र० श्रीधरी टीका)। यदि मन्त्रविशेष ही विवक्षित होता तो ऋक् आदि के साथ स्तोम, साम और सोमयज्ञविशेषों का उल्लेख न हो सकता था, क्योंकि ये विषय केवल मन्त्रसाध्य नहीं हैं। मुख्यतः ये (सामआदि) ब्राह्मणों के प्रतिपाद्य विषय हैं, अतः विष्णु० के इस स्थल में मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद ही ऋक् आदि शब्द का अभिधेय है, यह सिद्ध होता है। विष्णु० का यह स्थल पद्म० ५।३। १०२-१०५, लिङ्ग० १।७०। २४३-२४६, वायु० ९।४८-५२, ब्रह्माण्ड० १।८। ५०-५३ आदि में भी है (सर्वत्र मुद्रित पाठ ईषत् भ्रष्ट है, विष्णु० का पाठ ही समीचीन है—ऐसा स्पष्टतया प्रतीत होता है)।

पूर्वाचार्यों ने स्वीकार किया है कि 'वेद' शब्द से मन्त्रब्राह्मणसमुदाय का ग्रहण होता है—"वेद-शब्देन ऋग्यजुःसामानि ब्राह्मणसंहितानि उच्यन्ते" (मेधातिथि भाष्य २।६)। षड्गुरुशिष्य ने "मन्त्रब्राह्मणयोराहुः वेदशब्दम्" कहा है (सर्वानुक्रमणीवृत्ति)। सुरेश्वरकृत बृहदारण्यक वार्तिक २।४ का "ऋग्वेदादिगिरा तस्मात् मन्त्रब्राह्मणयोर्ग्रहः" वचन इस विषय में बहुत ही प्रसिद्ध है। विश्वरूप ने "ऋगादिशब्दाः ऋग्वेदादि-वचनाः" ऐसा स्पष्टतः कहा है (याज्ञ० स्मृति-टीका पृ० ५३)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऋक् आदि शब्दों का द्विविध अर्थ में व्यवहार परंपरासिद्ध ही है।

वेदशाखाविशेष—यद्यपि 'वेद' शब्द सम्पूर्ण मन्त्रब्राह्मणसमुदाय के लिये रूढ़ है, तथापि स्वकुलक्रमाधीत एक एक शाखा (संहिता और तदनुयायी ब्राह्मणादि) भी 'वेद' पदवाच्य होती है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (तै० आ० २।१५) आदि वाक्यों में 'स्वाध्याय' का अर्थ कुलक्रमागत एक शाखा ही है। मेधातिथि ने स्पष्टतः "वेदशब्दः शाखावचनो व्याख्यातः" (मनु० ३।२ भाष्य) या "वेदशब्दः मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मिकां शाखामाचष्टे" (मनु० २।१६५ भाष्य) कहकर स्पष्टतः इस मत को

प्रतिपादित किया है। ऋक्प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति में यह जो कहा गया है —"सर्वकालं सर्वदेशेषु प्रतिचरणम् एकैको मन्त्रराशिर्वेद इत्युच्यते" (पृ० ५) वह भी इस मत का ही ज्ञापक है। मन्त्रराशि शब्द से तदनुगत ब्राह्मणादि का भी ग्रहण होना चाहिए, यद्यपि प्राधान्य मन्त्र का ही है।

पुराणों में यह दृष्टि बहुत मिलती है। वेद के प्रथम मन्त्रों के निर्देश में पुराणकार की कुलगत शाखा का प्रथम मन्त्र ही उदाहृत हुआ है,[२१] यह आगे दिखाया जाएगा। वर्णाश्रमसंबद्ध सदाचार-प्रकरणों में जहाँ वेदाध्ययन का प्रसंग पुराणों में मिलता है वहाँ वेद का अर्थ कुलक्रमागत शाखा ही है, क्योंकि स्मृतियों के ऐसे प्रकरणों में वेद का 'शाखाविशेष' रूप अर्थ ही लिया जाता है।

---

२१. कुलक्रमागत सूत्र के अनुसार ही संस्कारादि करने का उपदेश पुराणों में बहुधा मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर में स्वसूत्रातिक्रमण की निन्दा की गई है (२।१२।१४८-१४९)।

द्वितीय परिच्छेद

मन्त्र

वेद मन्त्र-ब्राह्मणात्मक है, यह पहले कहा गया है। मन्त्र का स्वरूप और प्रकारों की पहचान न केवल वाङ्मय की दृष्टि से बल्कि याज्ञिक दृष्टि से भी आवश्यक है। पुराणों में मन्त्रों के जप, उनका होमादि में विनियोग आदि कहे गए हैं, जिनका आधार कल्पसूत्र एवं स्मृतियां हैं। इस प्रकरण में मन्त्रस्वरूप, मन्त्र के प्रकार और मन्त्रोत्पत्ति आदि पर विचार किया जा रहा है।

मन्त्र शब्द का अर्थ और निर्वचन—वायु० ५९।१४९ और ब्रह्माण्ड० १।३३।५८ में मन्त्रधातु से मन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति कही गई है (मन्त्रो मन्त्रयतेर्धातोः)। यहाँ मन्त्र का तात्पर्य वैदिक मन्त्र से है, यह प्रकरण से स्पष्ट है। निरुक्त में "मन्त्रा मननात्" कहा गया है (७।१२ ख०)। पुराण में मत्रि धातु (चुरादिगण १६८०) से मन्त्र की निष्पत्ति क्यों की गई है, ऐसा प्रश्न हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि "मन्त्रा मननात्" कहने से अव्याप्तिदोष होता है, जैसा कि "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" (मीमांसा सूत्र २।१।३२) सूत्र के शाबरभाष्य में दिखाया गया है, अतः यह नूतन व्युत्पत्ति दी गई है। परवर्ती काल में मन्त्र से मनन करने की अपेक्षा मन्त्रों की जपादिक्रिया ही अधिक प्रचलित हो गई थी, अतः अर्वाचीन पुराणों में मन धातु का परित्याग कर गुप्तभाषणार्थक मत्रिधातु से मन्त्र शब्द[1] की व्युत्पत्ति की गई है। मन्त्र शब्द का प्रयोग मन्त्रणा के अर्थ में भी मिलता है[2] और इस अर्थ में मत्रिधातु से मन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति अधिक संगत होती है।

मन्त्रपर्याय—मन्त्र के लिये पुराणों में कहीं-कहीं 'ब्रह्मन्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। भाग० ९।१।१७ में 'ब्रह्मविक्रिया' शब्द है, जहां ब्रह्म का अर्थ मन्त्र है, मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद नहीं। यहाँ 'मन्त्र-त्रैगुण्य' रूप अर्थ स्पष्ट है (द्र० श्रीधरी टीका)। एक ही सन्दर्भ में पुराणों में एक पुराण में जहाँ 'मन्त्रप्रवचन' शब्द है,

---

१. तान्त्रिक मत में यह दृष्टि अधिक संगत है। ह्रीं, ऐं आदि बीजमन्त्र इस दृष्टि के उदाहरण हैं।

२. अयोध्याकांड १००।१६; सभापर्व ५।२७।

वहाँ अन्य पुराण में 'ब्रह्मप्रवचन' शब्द है। उदाहरणार्थ द्वापरयुगीय संहिताप्रवचन में लिङ्ग० १।३९।५७-६० में 'मन्त्रप्रवचनानि' कहा गया है, पर कूर्म० १।२९।४३-४७ में 'ब्रह्मप्रवचनानि' पद है। यह भी देखा गया है कि ब्रह्माण्ड० १।३२ अ० में जिन काश्यप ऋषियों को लक्ष्य कर 'मन्त्रकृत्' पद प्रयुक्त हुआ है, उन्हीं काश्यप ऋषियों के लिये 'ब्रह्मवादिन्' शब्द वायु० ५९।१० में प्रयुक्त हुआ है। वनपर्व १३२।३ में 'ब्रह्मकृत्' शब्द है, यहाँ ब्रह्म का अर्थ मन्त्र है। मन्त्र के अर्थ में 'ब्रह्म' का प्रयोग इतिहासपुराण में प्रसिद्ध है, यह इन स्थलों से सिद्ध होता है।[3]

प्रसंगतः यह कहना आवश्यक है कि इतिहासपुराण में मन्त्र शब्द मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के लिये भी आता है। शान्तिपर्व १९।२ में जो मन्त्र शब्द है, वह पूर्ण वेद का वाचक है, केवल मन्त्र का नहीं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।६।१५।९ में 'मन्त्रवतः' पद है, जिसका अर्थ हरदत्त ने 'अधीतवेदान्' किया है। यहाँ मन्त्र का वेद-रूप अर्थ स्पष्ट है।

ऋक् आदि शब्दों का तात्पर्य——यह प्रश्न प्रायः किया जाता है कि ऋक्-यजुः-साम शब्द से तत्तत्प्रकार के मन्त्र ही लिए जाते हैं या इन पदों से मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद भी लिया जाता है। पूर्वमीमांसा के आचार्यों के अनुसार ऋक्-पद से पादबद्ध मन्त्रविशेष का मुख्यरूप से ग्रहण होता है। 'यजुः-साम' शब्द से भी ऐसा मन्त्रविशेष ही समझना चाहिए। क्वचित् लक्षणा के बल पर ऋक् पद से "मन्त्रब्राह्मण का समुदाय' भी लिया जाता है।

पुराणों में वेदसृष्टि के प्रकरण में 'ऋचः यजूंषि सामानि" पद आए हैं (विष्णु० १।५।५२-५५, वायु० ९।४८-५२, ब्रह्माण्ड० १।८।५०-५३, कूर्म० १।७।५७-६०, इन स्थलों में प्रायेण भ्रष्ट पाठ हैं), जहाँ उन शब्दों का अर्थ ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद है, केवल तत्तत्प्रकार का मन्त्र नहीं है (द्र० विष्णु० १।५।५२-५५ श्रीधरी टीका)। यह अर्थ न्याय्य है, क्योंकि यहाँ स्तोम और यज्ञ का भी उल्लेख है, जो केवल मन्त्रभाग के विषय नहीं हैं बल्कि मुख्यतः ब्राह्मण भाग के विषय हैं।

यह भी ज्ञातव्य है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि शब्दों का अर्थ कभी कभी केवल मन्त्रात्मक संहिता ही होता है, ब्राह्मणभाग नहीं। विष्णु आदि पुराणों में जो शाखाप्रकरण है, उसमें शाखा का अर्थ केवल मन्त्रसंहिता है, ब्राह्मणग्रन्थ नहीं (द्र०संहिता और शाखापरिच्छेद), यद्यपि वहाँ 'यजुर्वेदतरुः' 'ऋग्वेदपादप' आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं। शाखाविभाग केवल संहिता का है, अतः जहाँ जहाँ 'वेद'

---

३. शतपथ० ३।३।४।१७ में 'ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयति' वाक्य है। यहां सायण के अनुसार ब्रह्म का अर्थ मन्त्र है।

शब्द है वहां वहां मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद ही लिया जाएगा, ऐसा मत पौराणिक प्रयोगों से सिद्ध नहीं होता। वैदिक ग्रन्थ में भी कभी कभी 'ऋक्' पद से ऋग्वेद भी लिया जाता है, केवल ऋक् मन्त्र नहीं, यह "ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि....यजुर्वेदे तिष्ठति......"(तै० ब्रा० ३।१२।९।१) वाक्य से सिद्ध होता है। यहाँ 'ऋक्' का अर्थ ऋग्वेद है, यह उत्तरवर्त्ती 'यजुर्वेद' शब्द से स्पष्ट है।

मन्त्रोत्पत्ति—यहाँ पुराणोक्त मन्त्रोत्पत्ति सम्बन्धी विवरण पर सामान्य दृष्टि से विचार किया जा रहा है; मुख्यतः यह विवरण वायु-ब्रह्माण्ड-मत्स्य० में मिलता है। तीनों विवरणों में कुछ पाठान्तर भी हैं (मत्स्य० १४५।६२-६४, वायु० ५९।६०-६२, ब्रह्माण्ड० १।३२।६७-६९)।

पूर्वोक्त स्थलों में यह कहा गया है कि पूर्वमन्वन्तर के आदि में अत्यन्त कठोर तप[४] करनेवाले ऋषियों (के हृदय) में मन्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ था। इस प्रादुर्भाव में पांच प्रकार के मनोभाव कारण-रूप में विद्यमान थे—असन्तोष, भय, दुःख, मोह और शोक। ये ऋषि 'तारक'-नामक प्रज्ञा से युक्त थे।

यहां वायु०-ब्रह्माण्ड० में 'मोह' के स्थान में 'सुख' का पाठ है। असन्तोष भय आदि के साथ सुख का साहचर्य उपपन्न नहीं होता, अतः 'मोह' पाठ ही अधिक संगत है। यह प्रत्यक्ष सत्य है कि असन्तोष आदि के कारण ही चिन्तन-मनन-पूर्वक रचना करने की प्रवृत्ति होती है और सुख-हर्ष आदि की अपेक्षा दुःखादि से चित्त अधिक अनुरंजित होता है। 'असन्तोष' के स्थान में वायु० में 'परितोष' पाठ है, यह भी उपर्युक्त दृष्टि से अशुद्ध है। मन्त्रोत्पत्ति के प्रसंग में इन पांच भावों का प्रतिपादन प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता, अतः पाठों का प्रकृत निर्णय करना दुरूह है।

यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में प्रजाओं के दुःख से अभिभूत होकर कुछ मनस्वी लोगों ने मनुष्यों को सुखी करने के लिये मन्त्रात्मक वेद की जो रचना की थी, उसका प्रतिपादन यहां संक्षेपतः किया गया है। चूंकि पौराणिक काल में वेद का नित्यत्व प्रतिष्ठित हो गया था, इसलिये पुराणकारों ने 'प्रादुर्भाव' शब्द का प्रयोग किया है, यह स्पष्ट है। 'पूर्व-मन्वन्तर' शब्द का अभिप्राय इस मन्वन्तर से पहले का मन्वन्तर है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि पुराणकार यह जानते थे कि मन्त्र स्मरणातीत काल से चला आ रहा है।

---

४. शतपथ० ६।१।१।१ का "ते यत् पुनरस्मात्........श्रमेण तपसा-रिषंस्तस्मादृषयः" वाक्य इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

यहाँ जो 'अथर्वऋग्यजुः सामात्मक वेदों में पृथक् पृथक् तप[5] करते हुए ऋषि' वाक्य प्रयुक्त हुआ है, इसका तात्पर्य समझ लेना चाहिए। मन्त्र प्रादुर्भाव के पहले ही वेद का नाम कैसे लिया गया—यह प्रश्न हो सकता है। उत्तर में वक्तव्य है कि पुराणकार वेद को नित्य विद्यमान समझते थे, अतः वे समझते थे कि तपकारी ऋषियों को नित्य वेद की सत्ता का ज्ञान पहले से ही था और वे वेदानुसार तप भी करते थे (तप का ज्ञान भी वेदमूलक ही है)। चतुर्वेदप्रोक्त विधि (जो पूर्वकल्प से चली आ रही है) के अनुसार तप करते हुए ऋषियों के हृदय में मन्त्रों का पुनः आविर्भाव कहना पुराणकारों की दृष्टि में अनुचित नहीं है। 'पृथक् पृथक्' शब्द से चारों प्रकार के मन्त्रों का पार्थक्य और सभी प्रकार के मन्त्रों का एककाल में आविर्भाव भी सिद्ध होते हैं। सभी प्रकार के मन्त्र चाहे वस्तुतः समकालिक न हों, पर संहिता-निर्माण के बहुत पहले से त्रिविध मन्त्र चले आ रहे हैं, यह ऐतिहासिक सत्य है। यही कारण है कि ऋग्वेद की प्रचलित संहिता में अनेक प्रकार के सामगानों के नाम मिलते हैं[6] और इस संहिता में ही चतुर्विध ऋत्विजों के कर्मों का पृथक्-पृथक् विवरण मिलता है (१०।७१।११)। ('वेदसृष्टिप्रकरण' में मन्त्रसृष्टि संबन्धी अन्यान्य विवरण द्रष्टव्य हैं)।

पुराणों का यह मत ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मिलता है। तपस्यमान ऋषियों के हृदय में मन्त्रों का प्रकट होना निरुक्त में उद्धृत एक ब्राह्मण वाक्य में भी मिलता है (२।१२ ख०)। स्वल्प पाठान्तर के साथ यह वाक्य तैत्तिरीय आरण्यक (२।२९) में मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।८।५ में भी तपकारी मन्त्रकार ऋषियों का उल्लेख है।

पुराण में जिस तारक ज्ञान का उल्लेख है, उसका विवरण योगसूत्र (३।५४) में है। दुर्ग ने भी निरुक्त (२।११ ख०) के 'ऋषिर्दर्शनात्' वाक्य की व्याख्या में 'तारकज्ञान' शब्द का प्रयोग किया है। वैदिक ग्रन्थों में स्पष्टतः यह शब्द नहीं मिलता। हो सकता है कि अर्वाचीन काल में योगसंप्रदाय के प्रभाव के कारण पुराणकारों ने ऐसा कहा हो। पुराणों में अन्यत्र भी योगी के द्वारा स्वतः वेद का उच्चारण कहा गया है (उद्गिरेच्च क्वचिद् वेदान्-लिङ्ग०१।९।५८)।

---

५. तप करनेवाले ऋषियों के हृदय में वेद का प्रकटन होता है, इस विषय में गोपथ०का यह वाक्य द्रष्टव्य है—श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव (१।१।९)। ऋग्वेद का 'ऋषयो दीध्यानाः' (४।५०।१) वाक्य भी ऋषियों की तपोजन्यध्यानमग्नता का ज्ञापक है।

६. द्र० 'सामवेद और ऋग्वेद' शीर्षक निबन्ध (वेदवाणी ९।४)।

पुराणकार वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि को योगसिद्ध समझते थे, अतः उन्होंने ऐसा कहा है।

पुराणों में मन्त्रोत्पत्तिप्रकरण में एक तथ्य सुरक्षित मिलता है। इस वर्णन के पहले ही 'मन्वन्तर की विधि कहूँगा' यह प्रतिज्ञा है (मत्स्य० १४५।५७, वायु० ५९।५६, ब्रह्माण्ड० १।३२।६१)। इससे यह सिद्ध होता है कि मन्वन्तर के आरम्भ में मन्त्रों की उत्पत्ति पुराणकार मानते हैं। मन्त्रों की अत्यन्त प्राचीनता इससे सिद्ध होती है। दूसरी बात यह है कि पुराणकार कहते हैं कि 'प्रत्येक मन्वन्तर में श्रुति अन्य हो जाती है' (प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते, मत्स्य० १४५।५८, ब्रह्माण्ड० १।३२।६२)। इससे भी यह ध्वनित होता है कि पुराणकार समझते थे कि प्राचीन काल से ही श्रुति-पाठों में कुछ न कुछ परिवर्तन-परिवर्धन होते आ रहे हैं। वे श्रुति को नित्य मानते थे, अतः स्पष्टतः उनके लिये परिवर्तन आदि की बात करना कठिन था; यही कारण है कि 'मन्वन्तर-भेद से अन्य श्रुति का विधान होता है' ऐसे अस्पष्ट वाक्य का प्रयोग उन्होंने किया है।

पुराणों में अन्यत्र भी मन्त्राविर्भाव का प्रसंग मिलता है (मत्स्य० १४२।४३-४७, वायु० ५७।४२-४६, ब्रह्माण्ड० १।२९।४७-५१)। इन स्थलों में ईषत् पाठान्तर भी मिलते हैं, पर उनसे अर्थ में भेद नहीं होता। यहां आद्य त्रेता युग (स्वायम्भुव मन्वन्तरीय) के प्रसंग में मन्त्रों की अभिव्यक्ति कही गई है। पूर्वोक्त विवरण में स्पष्ट कालनिर्देश नहीं था, पर इस विवरण में मन्त्राविर्भाव का स्पष्ट कालनिर्देश मिलता है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से इस काल का यथावत् तात्पर्य अज्ञेय है, तथापि इससे मन्त्रों की अत्यन्त प्राचीनता सिद्ध होती है।

उपर्युक्त स्थलों में भी तारक ज्ञान का उल्लेख है, जिस पर पहले विचार किया जा चुका है। यहां सप्तर्षि में मन्त्रों का प्रादुर्भाव कहा गया है और इस उक्ति से पहले ही सप्तर्षि को श्रौतधर्म का प्रवक्ता माना गया है (मत्स्य० १४२।४१, वायु० ५७।४०, ब्रह्माण्ड० १।२९।४४-४५)। 'ऋषि-परम्परा में वेद का प्रणयन हुआ था'—यह तथ्य इस विवरण से सिद्ध होता है। सृष्टिकाल में सप्तर्षिकर्तृक वेद का ग्रहण मार्क० ४५।२३ में कहा गया है। यहां यह ज्ञातव्य है कि मन्त्र-रचना के साथ सप्तर्षि का सम्बन्ध है, ऐसा वैदिक ग्रन्थों में स्पष्टतः नहीं कहा गया है, वहां केवल 'ऋषि' पद है।

मन्त्रसंबद्ध ये सात ऋषि कौन कौन हैं, यह अज्ञात है। पुराणों के अनुसार भिन्न भिन्न मन्वन्तरों में विभिन्न सप्तर्षि होते हैं (मत्स्य० ९ अ०, वायु० ६२ अ०), अतः विशिष्ट निर्देश के विना नामों का निर्णय नहीं किया जा सकता। सम्भवतः

सप्तर्षियों की प्राचीनता और पूज्यता को लक्ष्य कर पुराणकार ने ऐसा सामान्य निर्देश किया हो।

पुराण के इस स्थल में सप्तर्षि के साथ मनु का भी नाम है, पर मन्त्राविर्भाव के साथ मनु का सम्बन्ध कहा नहीं गया है। मनु का सम्बन्ध स्मार्तधर्म के साथ ही है।[७] (मत्स्य० १४२।४२, १४२।४७; वायु० ५७।४१, ब्रह्माण्ड० १।२९।४५-४६, ५१)।

मन्त्राविर्भाव के प्रसंग में यह भी कहा गया है कि देवों के आदि कल्प में ये मन्त्र स्वयं प्रादुर्भूत हुए थे। यह कथन पुराणकार की दृष्टि में मन्त्रों की नित्यता का ज्ञापक है। ऐसे उल्लेखों के अभिप्रायों पर पहले विचार किया गया है।

इस विवरण के अन्त में सप्तर्षि-प्रोक्त ऋक्आदि चतुर्विध मन्त्रों का उल्लेख है। आथर्वण मन्त्र यद्यपि रचना-शैली के अनुसार ऋक् मन्त्र है, तथापि विषय-दृष्टि से अथर्वमन्त्र का विषय अन्य वेद के मन्त्रों से विजातीय है। इस दृष्टि के अनुसार ही अथर्व को स्वतन्त्र मन्त्रप्रकार के रूप में गिनने की पद्धति है। शंकर ने बृहदारण्यक भाष्य में 'चतुर्विध मन्त्रजात' के रूप में इन चार प्रकार के मन्त्रों के नाम कहे हैं (२।४।१०)। ('अथर्ववेद प्रकरण' में इस पर विशेष विचार द्रष्टव्य है)।

चतुर्विध मन्त्रगुण—मत्स्य० १४५।५९-६१, वायु० ५९।५८-५९, और ब्रह्माण्ड० १।३२।६४-६५ में चार प्रकार के स्तोत्र—द्रव्यस्तोत्र, आभिजनक या अभिजन स्तोत्र, गुणस्तोत्र तथा कर्मस्तोत्र या फलस्तोत्र (पुराणों के पाठों में सर्वत्र पाठान्तर-बाहुल्य है)—कह कर अन्त में कहा गया है कि इस प्रकार मन्त्रगुणों की चार प्रकार की समुत्पत्ति है। यह प्रकरण कुछ अस्पष्टार्थक है, तथापि इतना प्रतीत होता है कि यहां स्तोत्र का अभिप्राय मन्त्र से है। प्रकरण से भी ऐसा अभिप्राय सिद्ध होता है। वैदिक सूक्त के लिये स्तव या स्तुति का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। बृहद्देवता के प्रथम अध्याय में वैदिक सूक्त-मन्त्र के लिये 'स्तुति-स्तव' पद प्रायः व्यवहृत हुए हैं। रथन्तरादि साम स्तोत्र भी कहे जाते हैं (८।७८)। निरुक्तकार ने 'ऋषिः स्तुतिं प्रयुङ्क्ते' (७।१ ख०) कह कर इस मत को शब्दतः माना है। दुर्गाचार्य ने भी स्तुति के चातुर्विध्य को विशद रूप से दिखाया है (नाम्ना बन्धुभिः कर्मणा रूपेण—७।१ ख०)। यह विभाग बृहद्देवता १।७ में भी मिलता है।[८] इनमें 'कर्म' शब्द उभयत्र पठित है। 'रूप' और 'गुण' को समार्थक

---

७. श्रौतधर्म इज्यावेदात्मक और स्मार्तधर्म वर्णाश्रमात्मक है (वायु० ५८।३९)

८. "स्तुतिस्तु नाम्ना रूपेण कर्मणा बान्धवेन च"।

माना जा सकता है। 'नाम' (किसी पदार्थ का वाचक) को 'द्रव्य' (पदार्थ) कहा जा सकता है। 'बन्धु' और 'अभिजन' की एकरूपता विचारणीय है। 'अभिजन' के स्थान पर अन्य विशिष्ट पाठान्तर भी नहीं मिलता। अभिजन का अर्थ 'पूर्व बान्धव',[९] है, अतः उससे बन्धु का सम्बन्ध जोड़ना असंगत प्रतीत नहीं होता।

मन्त्र की त्रिविधता—ब्राह्मण-ग्रन्थ में ऋग्यजुष्साम-रूप त्रिविध मन्त्र कहे गए हैं(तै० ब्रा० १।२।१।२६)। जैमिनि ने मन्त्राधिकरण (२।१।३५-३७) में त्रिविध मन्त्रों के लक्षण कहे हैं। मंत्रों के इन तीन प्रकारों को लक्ष्य कर ही त्रयी पद[१०] परंपरा में प्रयुक्त होता है, यह तै० ब्रा० के इस स्थल से ज्ञात होता है ('वेदसंख्याप्रकरण' में इस विषय में विशद विचार द्रष्टव्य है)। शतपथ ४।६।७।१ में जो "त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि" कहा गया है, वह भी मन्त्रत्रैविध्य का ज्ञापक है। पुराणों में ऋग्-यजुष्-साम नामक त्रिविध मन्त्रों का उल्लेख मिलता है तथा इन मन्त्रों के लक्षण भी कहे गए हैं। यह त्रिविध भेद रचनाप्रकार के अनुसार है, जैसा कि वक्ष्यमाण प्रकरण में दिखाया जाएगा।

मन्त्रों की चतुर्विधता—पुराणों में आथर्वण मन्त्र का भी उल्लेख मिलता है[११] (ब्रह्माण्ड० १।२९।५१, वायु० ५७।४६, मत्स्य० १४२।४७)। आथर्वण मन्त्र का अर्थ है 'अथर्व-वेदोक्त मन्त्र।' ऋक् और अथर्व मन्त्र में रचनाशैली में भेद नहीं है। वस्तुतः रचना की दृष्टि में अथर्ववेदगत मन्त्र प्रायः ऋक् हैं और कहीं कहीं यजुः हैं। पर अथर्वमन्त्र से अन्य वेद के मन्त्रों का एक मौलिक वैशिष्ट्य है। इस वेद के मन्त्रों का प्रयोग अभिचार और शान्तिकर्म के लिये किया जाता है, पर अन्य वेदों के मन्त्र श्रौतयज्ञ में प्रयुक्त होते हैं। इस भेद के लिये आथर्वण मन्त्र की पृथक् गणना की जाती है। वेद से पृथक् कर अथर्व की गणना प्राचीन काल से ही की

---

९. द्र० महाभाष्य ४।३।९० का "निवासाभिजनयोः को विशेषः" इत्यादि वाक्य; प्रदीप टीका के अनुसार अभिजन का मुख्य अर्थ पूर्वबान्धव है, पूर्वपुरुषस्थान नहीं। पाणिनि के इस सूत्र में निवास शब्द के साहचर्य से अभिजन का अर्थ स्थानविशेष होता है।

१०. ब्रह्माण्ड० १।३३।४२, लिंग० १।४२।२०; विष्णु० २।११।७; ३।१७।५; ब्रह्म० ३२।१५-१६

११. अग्नि० १२४।५ में 'ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यवेदमन्त्राः" कहा गया है। शंकराचार्य ने बृहदारण्यक भाष्य में ऋग्, यजुः, साम और अथर्वाङ्गिरस रूप चतुर्विध मन्त्रों का स्पष्टतः निर्देश किया है (२।४।१०)। भाग० १२।६।५० में अथर्व 'एक प्रकार का मन्त्र' प्रतीत होता है।

जाती रही है (याज्ञवल्क्यस्मृति १।१०१)। श्रौतयज्ञक्रिया में अथर्व का वस्तुतः अच्छेद्यसंबंध भी नहीं है। ऐहिकफलप्रधान अथर्ववेद का वेद रूप में संमानित होना सहेतुक है, जिसपर यथास्थान विचार द्रष्टव्य है।

मन्त्रलक्षण—ऋक्-यजुः-साम रूप तीन प्रकार के मन्त्र कहे गए हैं। अब उन मन्त्रों के लक्षणों पर विचार किया जा रहा है—

ऋक्लक्षण—ब्रह्माण्ड० १।३३।३६ में ऋक् का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

"यः कश्चित् पादवान् मध्ये प्रयुक्तोऽक्षरसंपदा।
विनियुक्तावसानां तु तामृचं परिचक्षते॥"

यह पाठ स्पष्टतः अशुद्ध है। वायु० में यह अंश नहीं मिलता तथा अन्यान्य पुराणों में भी ऐसा विचार नहीं दीख पड़ता। यजुर्वेदीय ऋग्यजुःपरिशिष्ट में 'तदप्येते श्लोकाः' कह कर ऋक् आदि के लक्षणपरक कुछ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। वहां (पृ० ५००) यह श्लोक इस रूप में मिलता है—

"यः कश्चित् पादवान् मन्त्रो युक्तश्चाक्षरसंख्यया।
सुवियुक्तावसानं च तामृचं परिचक्षते"॥

ऋक्प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति (पृ० ६) में 'तथा चोक्तम्' कह कर यह श्लोक उद्धृत किया गया है—

"यः कश्चित् पादवान् मन्त्रो युक्तश्चाक्षरसंपदा।
स्वरयुक्तोऽवसाने च तामृचं परिजानते"॥

ऋक् का यह लक्षण पूर्वमीमांसा के 'तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (२।१।३५) सूत्र के अनुसार है। इस सूत्र में अक्षर शब्द नहीं है, तथापि अन्य आचार्यों ने अक्षर को भी माना है—'ऋच इति परिमिताक्षरपादार्धर्चविहिता मन्त्राः' (वर्गद्वयवृत्ति, पृ० ६)। वस्तुतः ऋक् मन्त्र के छन्दोनिर्णय में पाद की तरह अक्षरों की भी महत्ता है, अतः 'अक्षरसंपद्' का निवेश करना आवश्यक है।

इस विषय में यह भी विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि ऋक् मन्त्र में पाद की विशिष्ट महत्ता है। ऋक्प्रातिशाख्य १७।२५ में पादज्ञान के हेतु का विवरण दिया गया है (द्र० टीका)। वेंकट माधव की छन्दोनुक्रमणी (पृ० ४८) में पादज्ञान संबन्धी विचार किया गया है। 'अर्थवशेन पादव्यवस्था' होने के कारण अर्थानुसार पादभेद

भी कभी-कभी संभव हो जाता है, जिससे छन्द में भी भेद हो जाता है। पूर्वाचार्यों ने इसका उदाहरण दिया है।

ऋक् मन्त्र में पाद की महत्ता 'पादविधान' ग्रन्थ से ज्ञात होती है। यह ऋग्वेदीय ग्रन्थ है।

ऋक् मन्त्र में अक्षर-गणना की विशिष्ट महत्ता है, इसीलिये 'संपद्' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस विषय में ऋक्प्रातिशाख्य १७।२१ (अक्षराण्येव सर्वत्र निमित्तं बलवत्तरम्) विशेषतः द्रष्टव्य है। अक्षर-संख्या-महत्ता के उदाहरण के लिये ऋग्वेद १।१२० सूक्त का सायण भाष्यारंभ (यद्यपि पाद. . .उष्णिगिति), ऋक्प्रातिशाख्य १६।३२ आदि द्रष्टव्य हैं। छन्दोलक्षण (ऋक्सर्वानुक्रमणी २।६, अथर्वबृहत् सर्वानुक्रमणी १।१) से भी अक्षर की महत्ता सिद्ध होती है। एक ही मन्त्र में अक्षरगणना से एक छन्द होता है और पादविभाग से अन्य छन्द। इस प्रकार गणनाभेद से "नदं व ओदतीनां" (ऋक्० ८।६९।२) मन्त्र का पादानुसार अनुष्टुप् छन्द और अक्षरगणनानुसार उष्णिक्छन्द होता है (ऋक्प्रातिशाख्य १६।३२)।[१२]

ऋक्लक्षण में 'अवसान' का विशिष्ट तात्पर्य है। शिक्षाग्रन्थों में ऋक् मन्त्र के उच्चारण में अवसान की आवश्यकता कही गई है (याज्ञवल्क्य शिक्षा १।१४-१५)।

यजुर्लक्षण—ब्रह्माण्ड० १।३३।३७ में कहा गया है—

> **"यः कश्चित् करणैर्मन्त्रो न च पादाक्षरैर्मितः।**
> **अतियुक्तावसानां च तद् यजुर्वै प्रचक्षते"॥**

ऋग्यजुः परिशिष्ट में यह श्लोक इस प्रकार उद्धृत है—

> **"यः कश्चित् करणैर्मन्त्रो न च पादाक्षरैर्युतः।**
> **अतियुक्तोऽवसानश्च तं यजुः परिकल्पयेत्"॥ (पृ० ५००)**

यहां "करणैर्मन्त्रः" पाठ सन्दिग्ध है। क्या "यः कर्मकरणो मन्त्रः" पाठ हो सकता है? याजुष मन्त्र 'कर्मकरण' है, अतः ऐसा पाठ हो सकता है। निरुक्त (७।१ पा०) के "याज्ञेषु मन्त्रेषु" की व्याख्या में दुर्ग ने कर्मकरणशब्द का प्रयोग किया है।

यजुर्मन्त्र के विषय में वायु० ६०।२३ में कहा गया है—"पादानामुद्धृतत्वाच्च यजूंषि विषमाणि वै"। इसी स्थल पर ब्रह्माण्ड० १।३४।२३ का पाठ

---

१२. द्र० यजुर्वेदभाष्यविवरण (ब्रह्मदत्तजिज्ञासु-कृत) की भूमिका (पृ० १०७-११२)।

है 'उद्धतत्वात् च'। यजुर्मन्त्र में 'पाद' अनवस्थित होते हैं, इस दृष्टि से 'उद्धत' पाठ संगत जँचता है। ऋक्मन्त्र में पादाक्षरनियम के कारण जो समता रहती है, वह यजुर्मन्त्र में नहीं दीख पड़ती। किंच एक ही यजुर्मन्त्र में पाद सर्वथा नियत नहीं होते। एक यजु:-कण्डिका में कितने यजुर्मन्त्र हैं, इस पर कभी कभी मतभेद दीख पड़ता है। यजुर्वेदीय "वायुरनिलम......" मन्त्र (४०।१५ माध्यन्दिन) पर अनन्तदेव का विचार द्रष्टव्य है (शुक्लयजु: सर्वानुक्रम टीका पृ० ३०८)। भट्टभास्करकृत रुद्रभाष्य में (पृ० २६) प्रत्येक अनुवाक में कितने यजु: हैं, इस पर मतभेद का एक उदाहरण मिलता है, जहां शाकपूणि-यास्क-काशकृत्स्न के पृथक् मतों को दिखाया गया है। शुक्लयजु: के प्रथम मन्त्र (कण्डिका) में अनेक यजुर्मन्त्र हैं[१३]—ऐसा सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। इस वैचित्र्य के कारण यजु: को 'विषम' कहा गया है।

यजुर्मन्त्र में पाद नहीं माना जाता। जो यजुर्मन्त्र में छन्द की सत्ता मानते हैं, वे अक्षरगणना से ही छन्द का निर्णय करते हैं। यजुर्मन्त्रों में भी पाद की कल्पना करना संप्रदायविशेष में प्रचलित है, क्योंकि अथर्ववेदीय याजुषमन्त्रों के लिये अथर्व-बृहत् सर्वानुक्रमणी ७।९७।५ में 'द्विपदा' 'त्रिपदा' रूप विशेषण दिए गए हैं। सर्वानुक्रम सूत्र "याजुषामनियताक्षरत्वादेकेषां छन्दो न विद्यते" (पृ० ३) की अनन्तदेवकृत टीका में इस पर विशेष विचार किया गया है। अनन्तदेव कहते हैं कि जो यजु: अनियताक्षर ही है उसका छन्द नहीं होता, पर नियताक्षर यजु: का छन्द स्वीकार्य ही है (पृ० ७)। अनन्तदेव ने कई स्थानों पर इसी दृष्टि से कहा भी है—"अनियताक्षरत्वात् छन्दो नास्ति" (पृ० २५९; पृ० ३ भी द्र०)। छन्द:-पक्ष मान कर ही यजुर्मन्त्र के छन्द कहे गए हैं, जैसा कि "इषेत्वा......." वाक्य की टीका से ज्ञात होता है (शुक्ल यजु: सर्वानुक्रमसूत्र पृ० ११)।

यजुर्मन्त्र छन्दोहीन है (छन्दोहीनं यजुर्यत:—अग्नि० २१५।४५)। इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि यजुर्मन्त्रों में यजुश्छन्द की कल्पना करने का भी मत मिलता है। यजु:मन्त्र स्वरूपत: गद्यमय है—यह मीमांसकों का भी मत है। उवट ने "इषे त्वोर्जे त्वा:.." मन्त्र के विषय में कहा है—"इषे त्वा द्विपदो मन्त्र: त्र्यक्षरत्वा

---

१३. किसी किसी आचार्य के अनुसार "इषे...पाहि" पर्यन्त एक ही कण्डिका है, विनियोगानुसार उसमें अनेक मन्त्रों की कल्पना की जाती है। कोई कोई कहते हैं कि "इषे.....पाहि" पर्यन्त एक मन्त्र है, और वे महाभारत, शान्ति ३४४।२१ (कुम्भकोण संस्क०) का वचन (पशुहिंसा वारिता च यजुर्वेदादिमन्त्रत:) उद्धृत कर स्वपक्ष की पुष्टि करते हैं।

द् दैव्यनुष्टुप्......ऊर्जेत्वा द्विपदस्त्र्यक्षरो मन्त्रः यदि यजुषां छन्दोऽस्ति।" महीधर ने भी भाष्यारम्भ में कहा है—'यजुषां षडुत्तरशताक्षरावसानानाम् एकाक्षरादीनां पिङ्गलेन दैव्येकमित्यादिनोक्तं छन्दो द्रष्टव्यम्। तदधिकानां तु..... नास्ति छन्दःकल्पना......यजुषां पिङ्गलोक्तं छन्दो बोद्धव्यम्।"

सामलक्षण—ब्रह्माण्ड० १।३३।३८-३९ में सामलक्षण कहा गया है। यहां सामभक्तियों[१४] के निर्देश से सामलक्षण कहा गया है। इन श्लोकों का मुद्रित पाठ कुछ भ्रष्ट हो गया है। 'ह्लींकार' के स्थान में 'हिंकार' पाठ होगा, उसी प्रकार 'प्रणवोगीतः' के स्थान में 'प्रणवोद्गीथौ' होगा, 'प्रतिहोत्र' के स्थान में 'प्रतिहार' होगा। इस प्रकार हिंकार-प्रणव-उद्गीथ-प्रस्ताव-प्रतिहार-उपद्रव-निधन—ये सात 'साप्तभक्तिक' (सात भक्ति वाले) साम कहलाते हैं और हिंकार-प्रणव को छोड़कर बाकी पांच 'पाञ्च भक्तिक' (पांच भक्तिवाले) साम पदवाच्य होते हैं। पुराण-पाठ में 'सप्तविध्य'-'पञ्चविध्य' पाठ है, जो यथाक्रम 'सप्तविध'-'पञ्चविध'-शब्द से बना है। इन सामभक्तियों के विषय में छान्दोग्य-उपनिषद् (२।२, २।८,२।१०), सत्यव्रत सामश्रमिकृत सामभाष्यटिप्पणी (पृ० ५४ विशेषतः; विव्० इण्डिका संस्करण), लाट्यायन श्रौतसूत्र, ताण्ड्यब्राह्मण ४।९।९ तथा अन्यत्र, शाबरभाष्य ७।२।१ तथा अन्यत्र, एवं सामगान सम्बन्धी ग्रन्थ आलोचनीय हैं।

इस पुराणोक्त गणना में कुछ विचार्य विषय हैं। पुराण की पञ्चविधसाम-गणना (पाञ्चभक्तिक साम) में 'हिंकार' नहीं गिना गया (ब्रह्माण्ड० १।३३। ३९)। उसी प्रकार पुराण में 'उपद्रव' गिना गया है, पर इसे छान्दोग्य उपनिषत् में नहीं गिना गया। छान्दोग्य० २।२।१ में पञ्चविधसाम=हिंकार-प्रस्ताव-उद्गीथ-प्रतिहार-निधन है। यहां साप्तभक्तिक साम में हिंकार, प्रस्ताव, आदि अर्थात् प्रणव=ओंकार (पुराण में 'आदि' शब्द अप्रयुक्त है), उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधन गिने गए हैं (२।८।१-२), जो पुराणवत् ही हैं (पुराण पाठ की भ्रष्टता पहले कही गई है)।

साम के इस द्विविध रूप के विषय में पूर्वाचार्यों ने विशद विचार किया है। ये भक्तियाँ ऋक्मन्त्र की अवयव-विशेष हैं। परम्परा के अनुसार मन्त्र (गीयमान) का प्रथमभाग प्रस्ताव कहलाता है (इस भाग का ज्ञान संप्रदायगम्य है, स्वोत्प्रेक्षा से कल्पनीय नहीं)। द्वितीय भाग उद्गीथ है जो उद्गाता द्वारा ही गीयमान होता है। पञ्चमभाग निधन है, जो सब ऋत्विजों द्वारा एक साथ गाया जाता है। सामगान सम्बन्धी यह एक मत है। दूसरा मत यह भी है कि

---

१४. भक्ति=भाग=सामगानों के कल्पित अंश।

गानारम्भकाल में सब ऋत्विक् मिलकर जो 'हुम्' उच्चारण करते हैं, वह हिंकार है, उसके बाद 'निधन' पर्यन्त अंश यजमान का कृत्य है; 'हिंकार' के साथ 'प्रणव' भी गान के अंग के रूप में गण्य हैं। मन्त्रब्राह्मण के चतुर्थ प्रपाठक में यह विषय विवृत हुआ है (सामवेदभाष्यभूमिका की सामश्रमि-कृत टिप्पणी, पृ० ५४, टिप्पणी २)।

साम के ये विविध रूप नित्य ही स्तोभादियुक्त होते हैं, इसलिये साम का "स्तोभादिगीतविशिष्ट" यह विशेषण दिया जाता है (शंकरकृत मुण्डकभाष्य २।१।६)। सामवेद के परिशिष्ट (कलकत्ता-संस्करण) में स्तोभसम्बन्धी एक परिशिष्ट है। ऋग्विलक्षण वर्ण स्तोभ कहलाता है (सायणकृत सामभाष्य-भूमिका, पृ० ६९, चौखम्बा)। वर्णस्तोभ (छान्दोग्य उप० १।१३ द्र०) के अतिरिक्त नौ प्रकार के वाक्यस्तोभ (आशास्ति, स्तुति आदि) तथा हाउ आदि पञ्चदश पदस्तोभ (मन्त्रब्राह्मण तृतीय प्रपाठक, त्रयोदश खण्ड द्र०) प्रसिद्ध हैं। स्तोभ-सम्बन्धी ग्रन्थों में इन स्तोभों का विशद विवरण मिलता है। ग्रामेगेयगान की अपेक्षा आरण्यगान में स्तोभों का प्रयोगाधिक्य है, यह सामश्रमी महोदय ने कहा है (सामभाष्यभूमिका पृ० १३ टिप्पणी ३)।

मीमांसा के ग्रन्थों में भी स्तोभ और साम पर पर्याप्त विचार मिलता है मीमांसासूत्र ९।२।३९ में स्तोभलक्षण पर विचार किया गया है। यहां शबर का यह वाक्य मननीय है—"ऋक्स्तोभस्वरकालाभ्यासविशिष्टाया गीतेः सामशब्दो वाचकः।" यद्यपि स्तोभसामपदवाच्य नहीं है, तथापि सामगान की निष्पत्ति के लिये स्तोभों की उपयोगिता है और इस दृष्टि से ही सामलक्षण में स्तोभ का अन्त-र्भाव किया जाता है (टुप् टीका ९।२।३५)। शबर ने अन्यत्र स्पष्टतः कहा है कि जो ऋक् स्वरस्तोभ-विकार से युक्त है तथा जिसमें हिंकार, प्रणव आदि सात भक्तियां हैं, उसके लिये सामशब्द उपचरित होता है (७।२।१)। सामगान संपादनार्थ ऋक् के अक्षरों में कुछ परिवर्तन करना पड़ता है। ये सामविकार संख्या में छह हैं—विकार, विश्लेषण, विकर्षण, अभ्यास, विराम और स्तोभ। इस विषय में सामवेद-भाष्य-भूमिका में श्री सामश्रमी महोदय की टिप्पणी (पृ० १२) विशेषतः द्रष्टव्य है।[१५]

---

१५. सामगान के विषय में आधुनिक विद्वानों के निम्नोक्त ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं— सामविधान ब्राह्मण की बर्नेलकृत भूमिका (१८७३ ई० में प्रकाशित), जैमिनीय आर्षेय ब्राह्मण की भूमिका, ऋक्तन्त्र व्याकरण की भूमिका, केलेण्ड सम्पादित पञ्चविंश ब्राह्मण का अनुवाद (भूमिका के साथ Bib. Ind. Series), The

हिंकार के उच्चारण के विषय में यह ज्ञातव्य है कि प्रायेण सर्वत्र 'हुम्' रूप में इसका उच्चारण किया जाता है। कहीं कही 'हिं' उच्चारण की शैली भी मिलती है। स्वाध्यायमण्डल से प्रकाशित[१६] कौथुमशाखीय ग्रामेगेयगान के परिष्कर्ता श्री नारायण स्वामी दीक्षित ने इस ग्रन्थ की भूमिका में 'हिं' उच्चारण को ही बहुजनसमादृत कहा है (पृ० ६), पर लाटचायन श्रौतसूत्र ७।२१, छान्दोग्य उपनिषत् २।८ आदि में 'हुम्' उच्चारण की परम्परा ही मिलती है। नर्मदोत्तरवासी सामगों में 'हुम्' उच्चारण ही परम्पराप्राप्त है, यह काशी के प्रसिद्ध सामग विद्वान् श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी (अब दिवंगत) से मुझे ज्ञात हुआ था। वस्तुतः श्री नारायणस्वामिदर्शित मत का मूल अन्वेष्टव्य है।

साम के विषय में अन्यान्य बातें सामवेद प्रकरण में द्रष्टव्य हैं।

सर्वमन्त्र लक्षण—मन्त्रों में अनुस्यूत भावों के विषय में ब्रह्माण्ड० १।३३। ४०-४१ में कहा गया है—

> **"ब्रह्मणे धर्ममित्युक्तो यत्तदा ज्ञायतेऽर्थतः।**
> **आशास्तिस्तु प्रसंख्याता विलापः परिदेवना॥४०॥**
> **क्रोधाद् वा द्वेषणाच्चैव प्रश्नाख्यानं तथैव च।**
> **एतत्तु सर्वविद्यानां विहितं मन्त्रलक्षणम्"॥४१॥**

यहां पाठ ईषत् भ्रष्ट प्रतीत होता है, अतः अर्थ भी अस्पष्ट है। "ब्रह्मणे ····· अर्थतः" का अर्थ अस्पष्ट है। 'क्रोध' और 'द्वेषण' शब्द में पञ्चमी विभक्ति है, जो असंगत है। 'सर्वविद्यानां' के स्थान पर 'सर्ववेदानाम्' पाठ अधिक संगत है। हो सकता है कि वेद के अर्थ में यहां विद्या पद प्रयुक्त हुआ हो, पर पुराणों में वेद के लिये विद्यापद का प्रयोग नहीं दीख पड़ता—यह पहले कहा गया है।

श्लोक का तात्पर्य ऐसा जान पड़ता है कि मन्त्रों में आशास्ति (=आशीः), प्रसंख्यान, विलाप, परिदेवन, क्रोध, द्वेष, प्रश्न, आख्यान—ये भाव अनुस्यूत रहते हैं।

Ancient Mode of Singing Samagana (लक्ष्मणशंकर भट्ट द्राविडकृत)। इसके अतिरिक्त A. M. Fox Strangways कृत The Music of Hindustan ग्रन्थ भी द्रष्टव्य है (पृ० २४-२७९ विशेषतः; आक्सफोर्ड से प्रकाशित)।

१६. यह संस्करण विक्रम संवत् १९९९ का है, २०१५ संवत् में प्रकाशित संस्करण में यह भूमिका नहीं है।

निरुक्त में (७।३ ख०) यास्क ने निम्नोक्त मन्त्रधर्म कहे हैं—स्तुति, आशीर्वाद, शपथ, अभिशाप, आचिख्यासा, परिदेवना, निन्दा और प्रशंसा। पुराण और निरुक्त के विवरण में प्रचुर शब्दसाम्य है, कहीं कहीं आर्थिक साम्य भी है।

शाबरभाष्य २।१।३२ में भी मन्त्रलक्षण (=मन्त्रगतधर्म) का विचार है। वहां अस्यन्त, त्यान्त (ये दो शब्दस्वरूप की दृष्टि में हैं), आशीः, स्तुति, संख्या, प्रलपित, परिदेवना, प्रैष, अन्वेषण, पृष्ठ, आख्यान, अनुषङ्ग आदि गिने गए हैं। पुराण के श्लोक में 'तथैव' कहा गया है, जिससे अन्यान्य मन्त्रधर्मों का ग्रहण किया जा सकता है।[१७]

नवविध मन्त्र—ब्रह्माण्ड० १।३३।४२-४३ में मन्त्रों के नौ प्रकार कहे गए हैं, यथा—

> **"मन्त्रा नवविधा प्रोक्ता ऋग्यजुःसामलक्षणाः।**
> **मूर्त्तिर्निन्दा प्रशंसा चाक्रोशस्तोषस्तथैव च ॥४२॥**
> **प्रश्नानुज्ञास्तथाख्यानमाशास्तिविधयो मताः।"**

विष्णुधर्मोत्तर (३।४।१०-११) में इन श्लोकों का पाठ इस प्रकार है—

> **"मन्त्राः.................लक्षणाः।**
> **स्तुतिर्निन्दा प्रशंसा च आक्रोशः प्रैष्य एव च ॥१०॥**
> **प्रश्नोऽनुज्ञा तथाख्यानमाशास्तिविषया मताः।**
> **एवं ते सर्वविद्यानां विहितं सर्वलक्षणम्" ॥११॥**

यहां ब्रह्माण्ड० के 'मूर्ति' पाठ के स्थान पर 'स्तुति' पाठ है, जो अधिक संगत है। विष्णुध० के 'प्रैष्य' के स्थान पर ब्रह्माण्ड० का 'तोष' (=सन्तोष) पाठ ही संगत है। उसी प्रकार 'प्रश्नाऽनुज्ञा' के स्थान पर 'प्रश्नोऽनुज्ञा' पाठ न्याय्य है। यहां विष्णुधर्म० में "एवं ते....लक्षणम्" कहा गया है और यही वाक्य ब्रह्माण्ड० में पूर्वोक्त विचार में कहा गया है। यतः पुराणों के हस्तलेखों का उपयोग नहीं किया

---

१७. नवविध वाक्यस्तोभों के नामों के साथ इन नामों का कुछ साम्य है। इस विषय में यह कारिका है—

> **आशास्तिः स्तुतिसंख्यानं प्रलयः परिदेवनम्।**
> **प्रैषमन्वेषणं चापि सृष्टिराख्यानमेव च ॥**

सामवेदीय गानग्रन्थों में इन स्तोभों का विवरण मिलता है (सामवेदभाष्य-भूमिका की सामश्रमिकृत टिप्पणी, पृ० १३, टिप्पणी ३)।

गया, अतः पाठ का निर्णय (तथा अर्थ का निर्धारण) सन्दिग्ध ही है। यह स्पष्ट नहीं है कि पूर्वोक्त मन्त्रलक्षण से इस नवविध भेदरूप विवरण का कौन सा तात्त्विक भेद है। विष्णुधर्मोत्तर के साथ ब्रह्माण्ड० के पाठ का पूर्वापरविपर्यास भी है। बृहद्देवता में भी यह प्रकरण नहीं मिलता, यद्यपि ब्रह्माण्ड० का मन्त्रभेद सम्बन्धी आगामी प्रकरण बृहद्देवता में है, जैसा कि आगे दिखाया जाएगा। इस विषय में वर्गद्वयवृत्ति का वाक्य भी आलोच्य है।[१८] इस वृत्तिवाक्य का पुराण शब्दों के साथ कुछ साम्य है, पर पुराणवाक्य मन्त्रसंबद्ध है और वृत्तिस्थवाक्य विध्यर्थवाद से सम्बन्ध रखता है।

मन्त्र के २४ प्रकार या लक्षण :—ब्रह्माण्ड० १।३३।४३-४६ में 'चतुर्विंशति लक्षणयुक्त मन्त्रभेद' कहे गए हैं। इस विभाग के रहते हुए पूर्वोक्त नव भेदों का पृथक् वर्गीकरण क्यों किया गया एवं इन दोनों विभागों के विभाजकतत्त्व क्या है—यह अज्ञात है। इन भेदों में से कुछ नाम पहले भी आ चुके हैं, यथा—प्रशंसा, स्तुति, परिदेवना, निन्दा, प्रश्न, आशीः इत्यादि।

बृहद्देवता में मन्त्रभेद-सम्बन्धी ऐसा विचार मिलता है (१।३५-३९)। बृहद्देवता में इन मन्त्रधर्मों का गणनापूर्वक निर्देश नहीं किया गया; गिनती करने पर मन्त्रधर्मों की संख्या ३६ होती है। हो सकता है कि बृहद्देवता में उक्त ये धर्म निदर्शनार्थ हों, गणनार्थ नहीं, क्योंकि उसमें "एवं प्रकृतयो मन्त्रः सर्ववेदेषु सर्वशः" (१।४०) कहा गया है, जिससे इस निर्देश की उपलक्षणता स्पष्ट हो जाती है। बृहद्देवता में पठित नामों के साथ पुराण में पठित नामों का पर्याप्त साम्य लक्षित होता है। स्तुति, प्रशंसा, निन्दा, परिदेवना, आशीः, प्रश्न आदि शब्द दोनों में मिलते हैं। कुछ स्थानों में शब्दभेद होने पर भी अर्थैक्य है—जैसे बृहद्देवता में 'शाप' है, पर पुराण में 'अभिशाप' है। 'प्रतिवाक्यं' शब्द बृहद्देवता में है, पर पुराण में 'प्रतिवचः' है।

इस प्रकार की एक सूची वाररुच निरुक्तसमुच्चय में भी है। इस ग्रन्थ में ३१ प्रकार के मन्त्र कण्ठतः कहे गए हैं (एकत्रिंशद्विधं मन्त्र यो वेत्ति ऋक्षु स मन्त्रवित्-४।१)। ये प्रकार केवल ऋक्मन्त्र के हैं—ऐसा यहाँ कहा गया है। बृहद्देवता के साथ इस ग्रन्थ की गणना में पर्याप्त साम्य है। दोनों ग्रन्थों में १५ नाम तो शब्दतः अनुरूप हैं। अर्थतः साम्य भी कुछ स्थलों पर है।

---

१८. "तत्र विध्यर्थवादाः श्रूयन्ते—निन्दाप्रशंसापृष्टाख्याताासारभीक्ष्ण-संप्रशंसया इति। तदुक्तम्—"विधिर्निन्दाप्रशंसा च पृष्टमाख्यातमित्यपि। आसाराभीक्ष्णसंप्रश्ना ब्राह्मणे संशयश्च यः॥" (यहां कुछ पाठान्तर भी हैं—पृ० १२)।

वस्तुतः मन्त्रलक्षणों की ऐसी गणना कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती। मन्त्रों में अनुस्यूत गूढ धर्मों का पूर्ण ज्ञान करना सम्भव नहीं है, अतः उसकी पूर्ण गणना भी नहीं हो सकती---यह शबर-कुमारिल ने भी स्पष्टतः दिखाया है (पूर्वमीमांसा २।१।३२ की व्याख्या)। माधव ने सामवेदभाष्य की भूमिका में सामवेदीय मन्त्र-सम्बन्धी ३१ प्रकारों का विवरण दिया है (अडचार लायब्रेरी बुलेटिन १९३८ में मुद्रित), पर इन ३१ भेदों से पूर्वोक्त भेदों का कोई भी सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता (द्र० वाररुचनिरुक्तसमुच्चय की भूमिका, पृ० १२)।

तृतीय परिच्छेद

संहिता

वैदिक साहित्य में संहिता का स्थान मुख्य है।[1] वैदिक सम्प्रदाय में यह प्रसिद्धि है कि प्रत्येक वेद की संहिताएँ तत्संबद्ध ब्राह्मणग्रन्थ की अपेक्षा पूर्वभावी हैं। यत: संहिता और ब्राह्मण में व्याख्येयव्याख्यान-सम्बन्ध है, अत: यह मत सर्वथा समीचीन है (सायणकृत काण्वसंहिताभाष्य-भूमिका, पृ० ११०)। संहितागत मन्त्रों का विनियोग तथा तत्सम्बद्ध आख्यायिका एवं मन्त्रों की व्याख्या—ये तीन ब्राह्मण-ग्रन्थ के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं।

संहिता शब्द का अर्थ—पुराणों में इस शब्द के अर्थ के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है, पर कुछ प्रयोगों से इसका अर्थ 'सज्जीकरण, व्यवस्थित संकलन, किसी उद्देश्य से प्रकीर्ण विषयों का निबन्धन' प्रतीत होता है। हरिवंश० ३।२।९ में "वेदसंहिता: कथा:" वाक्य है, जहाँ संहिता का अर्थ 'निबद्ध' है (नीलकण्ठी टीका)। पुराणों में भी वेदपरक विवरणों में 'मन्त्रसंहनन' पद मिलता है, जहाँ संहिता और संहनन एकार्थक प्रतीत होते हैं। संहनन का अर्थ है—'एक आकार में सज्जित करना'। संहिता में मंत्रों का सम्यक् धारण (निश्चित रूप से स्थापन) होता है, अत: यह ग्रन्थ संहिता कहलाता है। ऐतरेय आरण्यक में "आत्मानं समधात् तस्मात् संहिता:" कहा गया है (३।२।६)। यहाँ समधात् (सम्+धा+लुङ) का व्याख्यान है—'धारितवान्'। यह व्याख्यान संहिता शब्द के इस प्राचीन अर्थ का ज्ञापक है।

संहिता और शाखा का पर्यायशब्द के रूप में व्यवहार सर्वत्र मिलता है। शाखा प्रसंग में पुराणों में सर्वत्र संहिता और शाखा शब्द का अभेद व्यवहार किया गया है। इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि वैदिक संप्रदाय में शाखा शब्द का अर्थ 'संहिताब्राह्मणसूत्रसाहित्य-युक्त परम्परा' भी होता है। कभी-कभी एक ही शाखा

---

१. ब्राह्मण की अपेक्षा संहिता का अभ्यर्हितत्त्व पुराणवाक्यों से सिद्ध होता है। वैदिकी भक्ति के प्रसंग में संहिताध्ययन का उल्लेख पुराणकारों ने किया है, ब्राह्मणों का नहीं (पद्म० ४।८५।९; अवन्ती क्षेत्र० ७।१४-१५)।

में सूत्रभेद भी होते हैं। इस परिच्छेद में संहिता का अर्थ इस प्रकार की शाखा से नहीं है, बल्कि 'मन्त्रसंग्रहात्मक ग्रन्थविशेष' से है, यह ज्ञातव्य है। कभी-कभी संहिता मन्त्रब्राह्मणात्मक भी होती है (मनु० ११।२६३ की मन्वर्थमुक्तावली टीका)। इस वैलक्षण्य के कारण पर यथास्थान विचार किया जाएगा।

'संहिता' शब्द पर्याप्त प्राचीन है। ऐतरेय आरण्यक (३।१) में संहिता के साथ पद और क्रम का ध्यान करना कहा गया है। धर्मसूत्रादि में संहिता-जप की पुण्यजनकता कही गई है (गौ० ध० सू० १९।१३)। इन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में ही संहिता को महनीय स्थान प्राप्त हो गया था।

संहितास्वरूप—पुराणों के कुछ उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि संहिता केवल मन्त्रात्मक होती है, क्योंकि स्थान स्थान पर "संहिताश्च ततो मन्त्राः" (वायु० ५७।६०, ब्रह्माण्ड० १।२९।६५-६६ में 'संभृताच्च' पाठ है, जो भ्रष्ट है, मत्स्य० १४२।५५) इत्यादि वाक्यों से प्रतीत होता है कि मन्त्रों से ही संहिता का निर्माण हुआ है। 'संहिता-नाम से यह भी सिद्ध होता है कि किसी उद्देश्य से मन्त्रों का सज्जीकरण किया गया है। यह उद्देश्य क्या है इसका यथास्थान प्रतिपादन किया जाएगा। किंच संहितानिर्माण के प्रसंग में (व्यास-शिष्य पैल आदि द्वारा) ऋक्मन्त्र (ऋचः), यजुर्मन्त्र (यजूंषि) साम[2] (गीति) और आथर्वण

---

२. सामसंहिता के प्रसंग में, (व्यास से सामों का ग्रहण कर) जैमिनि-कर्तृक सामसंहिता-निर्माण का जो उल्लेख मिलता है (विष्णु० ३।४।१३, वायु० ६०।२०, ब्रह्माण्ड० १।३४।२०), उसमें साम का मुख्य अर्थ 'गीतिविशेष' ही प्रतीत होता है, 'मन्त्रविशेष' नहीं, और इस दृष्टि से सभी सामसंहिताएँ मुख्यतः गानसंग्रहात्मक ही हैं। जैमिनि ने गान को ही साम कहा है (पूर्वमीमांसा २।१।३६)। यतः यह सामरूपी गान ऋक् का आश्रित होकर ही रहता है, अतः सामसंहिता के साथ साथ उसकी आश्रयभूत ऋङ्मन्त्रात्मक संहिता भी अवश्य संकलित होती थी। गीति चूंकि असंख्य प्रकार की हो सकती हैं, इसलिये साम की सहस्र (अपरिमित) शाखाएँ कही गई हैं; यहाँ 'सहस्र' शब्द यथार्थतः संख्यावाची प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यदि साम की सहस्र संहिताएँ कभी थीं, तो शताधिक सामसंहिताकारों के नाम परम्परा में अवश्य ही श्रुत होते तथा प्राचीन ग्रन्थों में अनेक साम-शाखाओं के नाम भी मिलते पर सामग आचार्यों की स्वल्प संख्या 'सहस्र' शब्द के पूर्वोक्त अर्थ को ही ज्ञापित करती है। 'शाखाप्रकरण' में इस पर विशद विचार द्रष्टव्य है।

मन्त्रों से[3] ही संहिता निर्माण का उल्लेख मिलता है। वायु० ६०।१९-२०, ब्रह्माण्ड० १।३४।१०-२० और विष्णु० ३।४।१३-१४ में "ऋच उद्धृत्य ऋग्वेदम्" आदि जो कहा गया है, उससे व्यासपरम्परा में निर्मित आदिम संहिताओं के मन्त्रात्मकत्व में संशय नहीं होता।

भाग० १२।६।५० में वैदिक चतुःसंहिता-निर्माण के प्रसंग में 'मन्त्र' शब्द का भी प्रयोग किया गया है (ऋगथर्वयजुः साम्नां.....मन्त्रैः), अतः संहिता का मन्त्रात्मकत्व सिद्ध ही है।

संहिताप्रणयनकाल—वेद-मन्त्रों की संग्रहात्मक संहिताओं का निर्माणकाल क्या है, यह एक बहुत ही जटिल प्रश्न है; वर्तमान सामग्री के आधार पर सामान्य रूप से ही इस विषय में कुछ अनुमान किया जा सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आदिम काल में मन्त्रों का पृथक् पृथक् ऋषियों द्वारा प्रणयन हुआ था और दीर्घकाल पर्यन्त मन्त्र असंहित रूप में ही विद्यमान थे। बाद में याज्ञिक कर्मकाण्ड के साथ-साथ कार्योपयोगी मन्त्रों का संग्रह करना आवश्यक हो गया था। वस्तुतः याज्ञिक काल में ही मन्त्रों का संहनन हुआ, यह तथ्य पुराणों में मिलता है। 'मन्त्र पहले विकीर्ण थे और बाद में संहिताओं का प्रणयन हुआ'—यह सत्यव्रत सामश्रमी ने भी कहा है (त्रयीपरिचय पृ० ५३)।

वायु० ५७।६०, ब्रह्माण्ड० १।२९।६६-६७, शान्तिपर्व० २३१।६ में 'त्रेता में मन्त्रों का संहनन कर संहिता की रचना तथा चातुर्वर्ण्य का प्रविभाग' किया गया था—ऐसा कहा गया है। त्रेता में संहिताप्रणयन का उल्लेख बहुत्र मिलता है (ब्रह्माण्ड० १।२९। ५२, मत्स्य० १४२।४८, वायु० ५७।४७)। 'त्रेता' शब्द से यह भी ध्वनित होता है कि पहले (अर्थात् पुराण के शब्द के अनुसार सत्ययुग में) मन्त्र पृथक् पृथक् प्रकटित हुए थे और बाद में याज्ञिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये संहिताओं का प्रणयन किया गया है।[4] निरुक्त (१।२० ख०) से भी

---

३. आथर्वण मन्त्र ऋगादि की तरह कोई विशिष्ट प्रकार का मन्त्र नहीं है, प्रत्युत 'एक विशिष्ट प्रकार के विषय से संबद्ध मन्त्र' ही है। रचना की दृष्टि में आथर्वण मन्त्र बाहुल्येन ऋङ्मन्त्र हैं। अथर्वमन्त्र को विषय की दृष्टि से पृथक् मन्त्रप्रकार मानने की पद्धति प्रचलित है (बृहदारण्यक २।४।१० शांकरभाष्य)।

४. वनपर्व में कृतयुग के वर्णन में 'न सामऋग्यजुर्वर्णाः' कहा गया है (१४९। १४)। यह कृतयुग संहिताप्रणयनकाल से पहले का है। उस समय मन्त्रसंकलनात्मक वेद सुसंहतरूप में विद्यमान नहीं थे, यह तथ्य इस वाक्य से ध्वनित होता है।

वैदिक प्रवचनधारा के मन्त्रकाल और मन्त्रोपदेश काल रूप द्विविध भेद ज्ञात होता है। यह द्वितीय काल ही पुराणों का त्रेतायुग है, ऐसा कहना असंगत नहीं है (भारतीय संस्कृति का विकास, सप्तम परिच्छेद)।

संहिताकार—इस विषय में पुराणों के निम्नोक्त वचन विचार्य हैं—"ऋषिभिः ब्राह्मणैर्मन्त्राः संहिताः" (वायु० ५७।६०, ब्रह्माण्ड० १।२९।६६ ईषत् भ्रष्ट पाठ के साथ), "ऋग्यजुः साम्नां संहिताः श्रुतर्षिभिः संहन्यन्ते" (वायु० ५८।१३, ब्रह्माण्ड० १।३१।१३, किन्तु मत्स्य० १४४।१२ में श्रुतर्षिभिः के स्थान पर "महर्षिभिः पाठ है, लिङ्ग० १।३९।५९ में "मनीषिभिः" और कूर्म० १।२९।४५ में "परमर्षिभिः पाठ है)। हस्तलेखों के अभाव में पाठ का सम्यक् निरूपण न होने के कारण इस विषय में कुछ भी निश्चित रूप से कहना असम्भव है। निरुक्त (१। २० ख०) की व्याख्या में दुर्ग ने कहा है कि साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने जिन अवरों को मन्त्र प्रदान किया था (ग्रन्थ रूप में तथा अर्थज्ञान सहित) वे 'श्रुतर्षि' थे। सम्भवतः इन श्रुतर्षियों ने ही बाद में कुछ संहिताओं का प्रणयन किया था। इस दृष्टि से वायु० का 'श्रुतर्षि' पाठ अधिक संगत है। ऋषिप्रकरण में इस विषय पर विशद विचार किया जाएगा।

संहिता संख्या—त्रेतायुग में जब संहिताओं का निर्माण होने लगा तब कितनी संहिताएँ आरम्भ में बनीं थीं, इसका कोई स्पष्ट निर्देश पुराणों में नहीं मिलता। वस्तुतः विभिन्न देश-काल में विभिन्न दृष्टियों के अनुसार कितनी संहिताएँ बनीं इसका निरूपण साहित्यिक साक्ष्य के बिना केवल अनुमान से नहीं हो सकता।

द्वापरयुगीन वेद-प्रवचन के प्रसंग में कई पुराणों में 'ऋग्युजुः साम की संहिताओं का संहनन' कहा गया है (वायु० ५८।१३, ब्रह्माण्ड० १।३१।१३, लिङ्ग० १। ३९।५९, कूर्म० १।२९।४५ तथा मत्स्य० १४४।१२)। 'द्वापरयुग' का अभिप्राय उस समय से है, जब शाखाओं का प्रवचन होने लगा था—ऐसा कहा जा सकता है। इन श्लोकों में यह विचार्य है कि क्यों यहां 'ऋग्यजुः साम की संहिताओं' का ही उल्लेख किया गया और अथर्व का नहीं। सम्भवतः "ऋग्यजुः साम्नाम्" पद से त्रिविध मन्त्र ही विवक्षित है, जिससे 'त्रिविध मन्त्रों की संहिताओं का संहनन' अर्थ होता है और इस अर्थ में कोई भी विप्रतिपत्ति उत्पन्न नहीं होती। यह अर्थ उचित प्रतीत होता है, क्योंकि इसके बाद ही अथर्व के 'विकल्पों' का उल्लेख है। ऐसे स्थलों में विकल्प का अर्थ शाखा होता है, जैसा कि शाखाप्रकरण में दिखाया जाएगा। अथवा यह भी हो सकता है कि ऋगादि तीन वेदों की संहिता का प्रवचन एक ही श्रौतधारा में हुआ था और अथर्वसंहिता का आरम्भ यज्ञमय श्रौतधारा से पृथक् किसी लौकिक धारा के प्रभाव में हुआ था, अतः ऋगादि तीन वेदों की संहि-

ताओं के प्रणयन के प्रसंग में अथर्व का उल्लेख नहीं किया गया है। श्रौतयाज्ञिक दृष्टि में अथर्ववेद का स्थान किसी समय बहुत ही सामान्य था, अतः प्राचीन काल से ही इसके वेदत्व पर विवाद चला आ रहा है। सम्भवतः इस दृष्टि से 'श्रुतर्षिकर्तृक संहिता-प्रणयन' के प्रसङ्ग में अथर्ववेद का उल्लेख पृथक् रूप से किया गया (अभी यह अनुमान सन्दिग्ध ही है)। उपर्युक्त स्थल में प्रथम अर्थ ही अधिक संगत है, क्योंकि इसी प्रकरण में अन्यान्य वेदों के साथ अथर्व का नाम भी लिया गया है। वैदिक सम्प्रदाय में अथर्ववेद का वेदरूप में अनुप्रवेश चिरकाल से है (त्रयीसंबन्धी विचार द्रष्टव्य), अतः द्वापरयुगीन संहिता प्रवचन में अथर्ववेद का प्रवचन भी समान रूप से किया गया था, यह अनस्वीकार्य है।

मन्त्रब्राह्मणयुक्त संहिता—ऊपर कहा गया है कि संहिता केवल मन्त्रात्मक होती है, पर कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं में मन्त्र-ब्राह्मण सम्मिलित हैं—यह प्रसिद्ध है।[५] पुराणों के अनुसार, वैशम्पायन द्वारा जो आद्य यजुःसंहिता का प्रणयन किया गया था, वह यजुर्मयी थी (विष्णु० ३।४।१३-१४, वायु० ६०।१९-२०)। अतः यजुर्वेद में ऋङ्मन्त्र के समावेश का कारण भी विचारणीय हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अध्वर्यु-कर्म की सुविधा के लिये बाद में यजुः संहिता की विभिन्न शाखाओं में आवश्यक ऋक्मन्त्रों का भी समावेश कर लिया गया। पुराणवाक्य के अनुसार यही उपपत्ति करनी होगी। वैशम्पायनकृत 'आद्य' यजुः संहिता (इस युग की अपेक्षा में हो यह 'आद्यत्व' है) आज अप्राप्य है तथा इसके विषय में कुछ परिचयात्मक वाक्य भी नहीं मिलते, अतः यह उपपत्ति परीक्षणीय है।

वैशम्पायनकृत यजुः संहिता में ब्राह्मणभाग सम्मिलित नहीं था—यह भी पूर्वोक्त पुराणवाक्यों से ज्ञात होता है, अतः कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं में ब्राह्मण भाग का सम्मिश्रण कैसे हुआ—यह प्रश्न हो सकता है। यजुः संहिता के याज्ञिक-क्रिया-बहुल होने के कारण प्रतिपद विधिप्रधान ब्राह्मण भाग की आवश्यकता पड़ती थी, जिसके कारण वैशम्पायन को ब्राह्मणसहित मन्त्रभाग का अध्यापन करना पड़ता था—यह अनुमित होता है। यही कारण है कि उनकी परम्परा में (कृष्णयजुः परम्परा में) बाद में ब्राह्मणभाग मन्त्रभाग के साथ मिल गया है। यतः मनन-

---

५. कभी कभी जपादि के लिये मन्त्रों के साथ तदनुगत ब्राह्मण का भी समावेश कर लिया जाता है। मनु० ११।२५९ में इसका एक उदाहरण है। यहां 'वेदसंहिता' पद है, जो मन्त्रब्राह्मणात्मक मानी गई है (मेधातिथि-कुल्लूकटीका, द्र०)।

पूर्वक पाठ की दृष्टि में ब्राह्मण भाग का मंत्र के साथ अच्छेद्य सम्बन्ध नहीं है, अतः याज्ञवल्क्य ने जब नूतन यजुर्वेद-प्रणयन किया, तब उन्हें ब्राह्मणांश को मन्त्रांश के साथ मिलाना नहीं पड़ा।[६]

यजुर्वेद के शुक्लकृष्ण-रूप दो भेद यद्यपि व्यवस्थित हैं, तथापि यह भी अनुमान होता है कि कभी दोनों का मूल एक ही था। हम देखते हैं कि शुक्ल और कृष्ण-यजुर्वेद का आरम्भ दर्शपौर्णमास से ही होता है। यह समान आरम्भ दोनों के समान मूल का ज्ञापक है। पुराणों में भी "एकमाध्वर्यवं पूर्वमासीद् द्वैधं पुनः स्मृतम्" कहा गया है (वायु० ५८।१५, ब्रह्माण्ड० १।३५।१५, मत्स्य० १४४। १४)। इससे भी यज्ञक्रियाप्रधान यजुर्वेद की सत्ता की सिद्धि होती है।

दोनों वेदों का यह एक मूल कब तक दृढ़ रहा और कब से द्विविध भेद का आरम्भ हुआ—यह एक गवेषणीय विषय है। पौराणिक वर्णनों के अनुसार वैशम्पायन-शिष्य याज्ञवल्क्य द्वारा सूर्य की कृपा से शुक्लयजुः सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ था। इस उल्लेख से कृष्णयजुर्वेद की प्राचीनता सूचित होती है। इस पर विशद विचार 'यजुर्वेद प्रकरण' में देखें।

नानाविधसंहिताप्रवचन—इस विषय में वायु० ५८।१०-१८, ब्रह्माण्ड० १।३१।१०-१८, कूर्म० १।२९।४३-४७, लिङ्ग० १।३९।५७-६० और मत्स्य० १४४।१०-१३ में एक सारवान् विवरण मिलता है। यहां पुराणों की आनुपूर्वी समान है, यद्यपि पाठान्तरों का बाहुल्य है। पुराणों में इसको द्वापरयुगीन विवरण कहा गया है, अर्थात् यह वेदप्रवचन की अन्तिम धारा है। इस विषय का सार यह है:—

"चतुष्पात् एक वेद त्रेता में विद्यमान रहता है। द्वापर में आयु का ह्रास देखकर वेदव्यास ने वेद का चतुर्विभाग किया है। ऋषिपुत्रों द्वारा पुनः दृष्टिविभ्रम के कारण इन चार वेदों के अनेक प्रकार से विभाग किए गए हैं। इस विभाजन-प्रक्रिया में मन्त्र-ब्राह्मण के अनेक प्रकार के विन्यास, स्वर और वर्णों के अनेक पाठान्तर और पाठभेद आदि उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार ऋक्, यजुः, साम की संहिताओं

---

६. याज्ञवल्क्य-प्रवर्तित शुक्लयजुः में केवल मन्त्र हैं, ब्राह्मण नहीं—यह सर्व-मान्य मत है। पर शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्र में 'माध्यन्दिन संहिता में भी क्वचित् ब्राह्मणभाग की सत्ता' मानी गई है (अ० १९, कण्डिका १२-३१; अ० २४ इत्यादि)। यह दृष्टि प्राचीन नहीं है। वासिष्ठी शिक्षा में इन सब स्थलों को मन्त्र ही माना गया है (पृ० ४१-४३)।

के संहनन ऋषियों द्वारा किए गए हैं। विभिन्न दृष्टियों से प्रोक्त[७] होने के कारण संहिताएं कुछ अंशों में समान और कुछ अंशों में विभिन्न हो जाती हैं। ऋषियों द्वारा ब्राह्मण, कल्पसूत्र और मन्त्रप्रवचन भी किए जाते हैं"।

इस विवरण की कई बातें विचारणीय हैं। सर्वप्रथम 'दृष्टिविभ्रम' और 'मतिभेद' पर विचार करना आवश्यक है। संहिता और ब्राह्मण के बहुधा प्रवचन करने में अनेक प्रकारों से वाक्यों का उपन्यास किया गया है, जिसके कारण उनमें परस्पर वैलक्षण्य, स्वर-वर्ण का विपर्यय, अनेक प्रकार के सादृश्य और वैसादृश्य उत्पन्न हो गए हैं। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक प्रकरण-साम्य (तथा शब्दसाम्य भी) विद्यमान हैं। ऋग्वेदीय ऐतरेयब्राह्मणारण्यक-कौषीतकि ब्राह्मणारण्यक में तथा यजुर्वेदीय काण्व-माध्यन्दिन शतपथ-द्वय में इस साम्य के उदाहरणस्वरूप अनेक स्थल हैं। कृष्णयजुर्वेद की काठक-मैत्रायणी-संहिता में अनेक सदृश्ययुक्त स्थल हैं। इस प्रकार अन्य संहिताओं में भी बहुधा सादृश्य देखा जा सकता है।

स्वरों में भी एकरूपता और अनेकरूपता मिलती है। वेद में एक ही शब्द विभिन्न स्वरों में मिलते हैं। एक ही 'जया' पद ऋग्० १।८०।३ में आद्युदात्त और अथर्व० ७।५२।८ में अन्तोदात्त है। एक ही पद के स्वरभेद से अर्थभेद के अनेक उदाहरण माधवकृत ऋग्वेदभाष्य में मिलते हैं (पृ० ४२६, ५०१, ५२७, ५८३, ७३५ इत्यादि)। एक ही अर्थ में 'वेद' शब्द आद्युदात्त और अन्तोदात्त के रूप में शाकलसंहिता १।७०।५, ३।५३।१४, ८।१९।५, माध्यन्दिनीसंहिता २।२१, तथा शौनकसंहिता ७।२९।१ में मिलता है। उसी प्रकार एक ही अर्थ में 'मेध्य' शब्द माध्यन्दिन १६।३८, काण्व १७।३८ और मैत्रायणीसंहिता २।९।७ में आद्युदात्त है तथा तैत्तिरीय ४।५।७ और काठक १७।१५ में अन्तः स्वरित है।

वर्णों के विषय में भी यही बात है। एक ही मन्त्र ईषत्पाठ भेद से एक ही वेद की विभिन्न संहिताओं में मिलता है। इसका एक स्पष्ट उदाहरण तै० प्रा० ५।३८-४० में मिलता है। यहाँ तीन शाखाओं के 'सरढ् ढवा' 'सरढ् हवा' 'सरढ् ढ्ह वा' पाठ कहे गए हैं। महाभाष्य (४।२।१०१) में जो वर्णानुपूर्वी को अनित्य मानकर काठक-कालापक-मौदक-पैप्पलादक शाखाओं के भेद कहे गए हैं, यह मत भी

---

७. प्रोक्त का अर्थ 'कहा हुआ' नहीं, बल्कि 'प्रवचनपद्धति के अनुसार रचित' है। पाणिनि के 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१) सूत्र में यह पद्धति लक्षित हुई है।

पुराणोक्त 'स्वरवर्णविपर्यय से युक्त संहिताप्रणयन' का ज्ञापक है।[८] अनुरूप विषय पर विभिन्न शाखाओं की शब्दानुपूर्वी के ईषत् वैलक्षण्य के उदाहरण में निरुक्त (१०।७ख०) गत 'रुद्र' शब्द निर्वचन भी द्रष्टव्य है। संहिताओं में परस्पर कितना साम्य-वैषम्य होता है, इसके लिए महाभाष्यकार का "अनुवदते कठः कलापस्य" (२।४।३) वाक्य द्रष्टव्य है। संहिताओं में एक ही वाक्य के पर्याय-शब्दभेद भी मिलते हैं। माध्यन्दिनीय संहिता में जहां "भ्रातृव्यस्य वधाय" पाठ है (१।१८), वहां काण्वसंहिता १।२८ में "द्विषतो वधाय" है। कभी कभी एक संहिता के सामान्यार्थक शब्द के स्थान पर उसी वेद की अन्य संहिता में विशेषार्थक शब्द प्रयुक्त हुआ है। माध्यन्दिनीय ९।४० में "एष वो अमी राजा" कहा गया है, परन्तु काण्व ११।३ में "एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला राजा" पाठ है[९]। कभी कभी संहितापाठ और आरण्यक पाठ में भी ईषत् भिन्नता होती है। ऋग्० १०।७१।६ के "सचिविदं सखायं" के स्थान पर तै० आ० १।३।१ में "सखिविदं सखायं" पाठ मिलता है। एक संहिता के अस्पष्टार्थक पाठों के स्थान में अन्य संहिता में विस्पष्टार्थक पाठ मिलता है, यह तथ्य वेङ्कटमाधवकृत ऋग्भाष्यानुक्रमणी (पृ० ७७) में स्पष्ट किया गया है।

संहिता प्रवचन में भ्रममूलक विपर्यय—पूर्वोक्त स्थलों में दृष्टिविभ्रमजनित संहिताप्रवचनों का जो उल्लेख किया गया है उस विषय में संहिताओं के कुछ आभ्यन्तर साक्ष्य उपस्थित किए जा रहे हैं। निम्नोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि संहिता के संहनन में किस प्रकार विपर्यास आदि हुए हैं।

१. सामवेद की कौथुम शाखा के आठ ब्राह्मणग्रन्थों में अन्यतम सामविधान ब्राह्मण के प्रथम प्रपाठक के तृतीय खण्ड में "बृहदिन्द्राय गायत" इस ऋचा पर चार सामों का उल्लेख है। इन में से प्रथम साम ग्रामेगेयगान (७।१।२२) में, द्वितीय-तृतीय आरण्यगान (१।१।१६, २।२।११) में मिलते हैं, चतुर्थसाम कहीं भी नहीं मिलता। चतुर्थसाम की अनुपस्थिति से सिद्ध होता है कि भ्रम से इसका संकलन

---

८. एक वर्ण का अन्यवर्णवत् उच्चारण भी विभिन्न-देशकालपात्रभेदजनित प्रवचन का ही फल है (दन्त्यस्य एव मूर्धन्यवत् पाठो वैदिकसंप्रदायात् (शब्देन्दु-शेखर ३।२।२७)।

९. एक ही विषय में शाखागत विभिन्न पाठों को देखकर शब्दार्थनिर्णय करने की पद्धति पूर्वाचार्यसंमत है। शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते— इस ब्रह्मसूत्र (१।२।२०) की व्याख्याओं में इस नियम के उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

नहीं हुआ होगा या किसी कारणवश संकलित होने पर भी बाद में संग्रह से च्युत हो गया है।

२. सामविधान ब्रा० १।७ में "यदितस्तन्वो मम" तथा ३।४ में "अयमग्निः श्रेष्ठतमः" प्रतीकवाले सामों का विधान किया गया है। पर ये दो ऋचाएँ सामवेदीय कौथुमी संहिता और गानग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होते। आश्चर्य की बात यह है कि जैमिनीय संहिता (आरण्य ४।७) में "यदितस्तन्वो" ऋचा मिलती है, तथा "अयमग्निः श्रेष्ठतमः" यह ऋचा भी जैमिनीय संहिता (पूर्वा० आग्नेय १२।९) में मिलती है (काठक संहिता ७।८२ तथा तै० संहिता १।५।१०।५ में भी यह ऋक् है)। जब उक्त मन्त्र कौथुमी शाखा में नहीं मिलते, तो उनका विधान कौथुमीशाखा में किस रूप से किया गया है? अवश्य ही संहिताप्रवचन-हेतुक नानाविध विपर्यास इस असत्ता का कारण है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

३. इस प्रकार के विपर्यस्त प्रवचन का ही फल है कि ऋक्-संहिता में मन्त्रों का संकलन यथार्थ ऋषिक्रमानुसार नहीं है। यथा—विश्वामित्रपुत्र मधुच्छन्दाः और जेता के मन्त्र (प्रथममण्डल) के बाद विश्वामित्रदृष्ट मन्त्र हैं (तृतीय मण्डल)। यही कारण है कि शतर्चिदृष्टमन्त्रयुक्त प्रथम मण्डल के कुछ ऋषि शतर्ची नहीं हैं। जेता के केवल आठ ही मन्त्र हैं (१।११ सूक्त)। यह भी देखा जाता है कि प्रस्कण्व काण्व के ८२ मन्त्र प्रथम मण्डल में हैं, १० मन्त्र अष्टम मण्डल में और ५ मन्त्र नवम मण्डल में हैं। क्षुद्रसूक्त और महासूक्त दशममण्डल से अतिरिक्त अन्य मण्डल में भी हैं। विश्वामित्र के सब मन्त्र एक ही मण्डल में नहीं हैं, अपितु तृतीय के अतिरिक्त नवम (६०।१३-१५) और दशम (१३७।५) में भी हैं।

इसी प्रकार एक ही देवता के मन्त्र विभिन्न मण्डलों में मिलते हैं। यदि वैदिक संहिताग्रन्थ एकव्यक्तिकृत और एक दृष्टि से रचित होता, तो उसमें इस प्रकार के विपर्यास नहीं हो सकते थे ।

चतुर्थ परिच्छेद

ब्राह्मण और आरण्यक

ब्राह्मण सम्बन्धी द्विविध दृष्टि—वेद को मन्त्रब्राह्मणात्मक मानने की प्रवृत्ति बहुत ही प्राचीन है। पूर्वमीमांसा के आचार्य तथा सूत्रकार इस मत के अनुयायी हैं। शबर ने कहा है—"मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः" (२।१।३३)। कौशिकसूत्र १।३, आपस्तम्ब यज्ञपरिभाषा सूत्र ३१, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २४।१।३१, सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र १।१।७, बौधायन गृह्यसूत्र १।६।३, कात्यायनकृत प्रतिज्ञासूत्र १।२, सर्वानुक्रमणी की षड्गुरुशिष्यकृतवृत्ति की भूमिका आदि में यह मत स्पष्टतः मिलता है। 'मन्त्रातिरिक्त वेदभाग ब्राह्मण है,' (२।१।३३)—यह जैमिनि-मत ब्राह्मण के वेदत्व को पूर्वमीमांसा की दृष्टि से सर्वथा सिद्ध करता है। मेधातिथि (मनु २।६, २।१६५ टीका) कुल्लूक (मनु २।६, ३।२) और विज्ञानेश्वर (याज्ञ० ३।२४९) सदृश स्मृतिटीकाकार भी इस मत के अनुयायी हैं।

पुराणों में सर्वत्र यह दृष्टि मिलती है। श्रुति, वैदिकी श्रुति और वेद के नाम से पुराणों में जो वाक्य या मत उद्धृत किए गए हैं, वे ब्राह्मणग्रन्थों में भी मिलते हैं, अतः पुराणकारों की दृष्टि में ब्राह्मण भी वेद हैं। ब्राह्मणकार और मन्त्रकार का पृथक् पृथक् गणना (वैदिक ऋषिगणना में) की गई है तथा ब्राह्मण को मन्त्रापेक्षया अर्वाक्कालिक भी कहा गया है,[1] ऐसी उक्तियों से मन्त्र-ब्राह्मण का इतिहाससिद्ध पौर्वापर्य पौराणिक दृष्टि से भी सिद्ध होता है।

ब्राह्मणग्रन्थ का वेदत्व अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल में प्रसिद्ध हुआ है—यह सिद्धान्त निरुक्तालोचन में युक्ति से सिद्ध किया गया है (कोऽसौ वेदः प्रकरण द्र०)। इस प्रकरण में सामश्रमी महोदय ने "वेदभाष्यरूपाणि ब्राह्मणानि" कहा है, जिससे ब्राह्मण की अर्वाक्कालिकता सिद्ध होती है। उनके समसामयिक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इस मत का प्रतिपादन किया है (द्र० ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का 'वेदसंज्ञा-

---

१. "अनुमन्त्रं तु ब्राह्मणम्"—ब्रह्माण्ड० १।३३।१२ का यह वाक्य ब्राह्मण को मन्त्र का पश्चाद्भावी ही सिद्ध करता है।

विचार' प्रकरण)। 'मन्त्र ही वेद है'—यह मत पुराणों में क्वचित् मिलता है[2]। त्रयीपरिचय (पृ० ५) में मन्त्रब्राह्मण की वेदता पर विभिन्न पक्ष उपस्थित किए गए हैं और विस्तार के साथ इन पक्षों पर विचार कर ब्राह्मण की अर्वाक्कालिकता सिद्ध की गई है (पृ० ५–८)।

'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ—वायु० ५९।१४१ और ब्रह्माण्ड० १।३३।५८ में "ब्राह्मणो ब्रह्मणोऽवनात्" कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहां "ब्राह्मणम्" पाठ था।[3] वैदिक ग्रन्थ-विशेष के अर्थ में यह शब्द कहीं भी पुलिङ्ग में प्रयुक्त नहीं होता। ब्रह्म अर्थात् मन्त्र के अवन (रक्षणविनियोगादिपूर्वक व्याख्या) के कारण यह वाङ्मय ब्राह्मण कहलाता है। 'ब्राह्मण मन्त्रव्याख्यान है'— यह पूर्वाचार्यों ने भी माना है[4] (सायणीय काण्व-संहिता-भाष्यभूमिका पृ० ११०)। 'ब्राह्मणों द्वारा 'प्रोक्त' होने के कारण यह वाङमय ब्राह्मण कहलाता है'—यह मत किसी किसी विद्वान् का है (वैदिक साहित्य पृ० १२३), जिसकी समीचीनता परीक्षणीय है।

ब्राह्मण का स्वरूप—वेद के विभिन्न भागों के वर्णन में पुरुषोत्तम०४६।१४ में जो "केचित् कर्मप्रचोदकाः" कहा गया है, यह ब्राह्मण को लक्ष्य कर कहा गया है, यह स्पष्ट है। "कर्मचोदना ब्राह्मणानि" (आपस्तम्ब श्रौत परिभाषा १।३४)—यह सिद्धान्त सर्वत्र माना जाता है। ब्राह्मण का यह स्वरूप 'विधि-अर्थवाद' के रूप में द्विधा विभक्त है (याज्ञ० स्मृति १।४ वीरमित्रोदय) या 'विधि-अर्थवाद-अनु-

---

२. आपस्तम्ब के 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सूत्र की धूर्तस्वामि-हरदत्त-व्याख्या में "केश्चिन् मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्" कहा गया है।

३. वेदभागविशेष का वाचक ब्राह्मण शब्द नपुंसकलिंग ही है (मेदिनी कोश णान्तवर्ग ६७ श्लोक)। तैत्तिरीयसंहिता ३।१।९।१०, शतपथ० ४।६।९।२०, जैमिनीय ब्राह्मण १।११६, अष्टाध्यायी ४।२।६६ आदि में यह शब्द नपुंसकलिंग में ही प्रयुक्त हुआ है।

४. नीलकण्ठ ने ऐसा ही कहा है—'ब्राह्मणे मन्त्रविवरणरूपे' (हरिवंश टीका ३।४८।९)। विष्णुधर्मोत्तर० का "मन्त्राः सब्राह्मणाः प्रोक्ताः तदर्थं ब्राह्मणं स्मृतम्" (३।१७।१) वाक्य इस मत का पोषक है। "ऋगादीन् मन्त्रान् अधीते, अधीत्य तदर्थं ब्राह्मणेभ्यो विधिं च श्रुत्वा कर्माणि कुरुते"—इस शंकराचार्य-वाक्य से (छान्दोग्यभाष्य ७।१४।१) भी ब्राह्मण का मन्त्र-व्याख्यान-रूप होना ज्ञात होता है। "सब्राह्मणो मन्त्रो ज्ञातव्य इति" वाक्य भी इस सिद्धान्त को पुष्ट करता है (तैत्तिरीयसंहिता-सायणभाष्यभूमिका, पृ० ८)।

वाद' के रूप में त्रिधा विभक्त है (न्यायसूत्र २।१।६२)। पुरुषोत्तम० ४६।४८ में जो 'विध्यनुवाद' पद है वह इस विचार का ही ज्ञापक है। प्रथम परिच्छेद में इस विषय पर विशद रूप से विचार किया जा चुका है।

ब्राह्मणग्रन्थ की भाषा—पुराणों में इस विषय पर कुछ भी निर्देश नहीं मिलता। महाभारत में "याजुषामृचां साम्नां च गद्यानाम्" वाक्य है (वन० २६।३)। यहां गद्य का अर्थ 'पादाक्षरादिनियमहीन ब्राह्मणवाक्य' है, (द्र० नीलकण्ठी टीका)।

ब्राह्मण और यज्ञ—ब्रह्माण्ड० १।३३।४७ में कहा गया है कि यज्ञतत्त्वज्ञ ऋषियों द्वारा ब्राह्मणों की रचना की गई है।[५] इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मणों का मुख्य विषय यज्ञ ही है। वस्तुतः मन्त्रों का तात्त्विक व्याख्यान ब्राह्मणों में क्वचित् ही मिलता है। यज्ञविधिसम्बन्धी विशद विचार ही ब्राह्मणों का मुख्य विषय है; यह पूर्वमीमांसा को भी अनुमत है।

ब्राह्मण के लक्षण—ब्रह्माण्ड० १।३३।४७-४८ में ब्राह्मण के 'दश विधि' कहे गए हैं, जिनके नाम ये हैं—हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, निधि, पुराकृति, पुराकल्प, व्यवधारणकल्पना, और उपमा। शाबर भाष्य २।१।३३ में भी ये लक्षण कहे गए हैं। भाष्यधृत श्लोक भी पुराणवत् ही है। पुराण के "लक्षणं ब्राह्मणस्यैतत् विहितं सर्वशाखिनाम्" श्लोक के स्थान पर शाबर भाष्य में "एतद् वै सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्" पाठ है। इस प्रसंग में निम्नोक्त विषय ज्ञातव्य हैं—

१. ब्रह्माण्ड० का यह अंश, यद्यपि वायु० में नहीं मिलता, पर वायु० में यह अंश था, यह निश्चित है। वायु० ५९ अ० का पाठ भ्रष्ट हो गया है, यह स्पष्टतः प्रतीत होता है। वायु० ५९।१३० में "उपमा चैव देवेशि विधेया ब्राह्मणस्य तु" यह वाक्य मिलता है, जो स्पष्टतः ब्राह्मणलक्षणपरक ब्रह्माण्डपुराणीय एक श्लोक ही है (१। ३३।४८)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्माण्ड पुराण का यह अंश अवश्य ही वायु० ५९ अ० में भी था, अन्यथा "उपमा चैव" श्लोक वायु० में अप्रासंगिक रूप से कभी भी न रहता। ब्रह्माण्ड पुराण के इस अध्याय के अन्यान्य विषय वायु० के इस स्थल पर मिलते हैं, यह भी इस निर्णय का एक प्रबल हेतु है।

२. पुराणों में जो "ब्राह्मणस्य विधयः" कहा गया है, यह उचित ही है, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थ विधिप्रधान हैं और ब्राह्मणगत अर्थवाद विधि के अनुगत ही माने जाते हैं। विध्यात्मक ब्राह्मण से विनियुक्त होने के कारण मन्त्र 'विधेय'

---

५. मन्त्र-व्याख्या के साथ-साथ कर्मों का विधान करना ब्राह्मण-ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य है, जैसा कि भट्टभास्कर ने कहा है—ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः (तै० सं० १।५।१ भाष्य)।

कहलाता है (पारस्करगृह्य २।६।५)। वस्तुतः 'विधि' ही दश प्रकार से प्रकाशित होता है।

३. शाबरभाष्य और पुराण के पाठ में कुछ पार्थक्य है। भाष्य में 'प्रशस्ति' के स्थान पर 'प्रशंसा', और 'निधि' के स्थान पर 'विधि' पाठ है, जो संगत है; पुराणस्थ 'पुराकृति' पाठ के स्थान पर भाष्य में 'परक्रिया' पाठ है। पुराण का पाठ 'परकृति' होना चाहिए। पुराण के 'उपमा च' के स्थान पर भाष्य में 'उपमानं' पाठ है। इन लक्षणों के विवरण देने के समय (वायु० ५९ अ०, ब्रह्माण्ड० १।३३ अ०) प्रशंसा, विधि, परकृति और उपमा शब्द यथास्थान प्रयुक्त हुए हैं, अतः उपर्युक्त पाठ-संशोधन उचित ही है।

४. शबर ने इन श्लोकों को उद्धृत करते हुए 'तथा चोक्तम्' आदि कुछ नहीं कहा है। हो सकता है कि ये श्लोक शबरकृत संग्रहश्लोक ही हों। प्राचीन ग्रन्थकार शीघ्र स्मरणार्थ संग्रह-श्लोकों की रचना करते थे—यह प्रसिद्ध है। यह भी हो सकता है कि ये श्लोक कहीं से संकलित हों और शबर ने 'तथा चोक्तं' नहीं कहा। उद्धृत अंशों के लिये पूर्वाचार्य सर्वत्र 'तथा चोक्तम्' नहीं कहते हैं, यह भी देखा जाता है। वाक्यपदीय में व्याडिकृत संग्रह के श्लोक मिलते हैं, पर भर्तृहरि ने उन स्थलों में उद्धरणज्ञापक कोई वाक्य नहीं कहा है।[६]

५. ब्राह्मण के ये दश लक्षण सर्वशाखाओं में विद्यमान हैं, अर्थात् सर्वशाखीय ब्राह्मणों में ये लक्षण मिलते हैं। शबर के अनुसार ये दश (सब वेदों में) विधि के नियत लक्षण हैं। पूर्वमीमांसा के सभी आचार्य इस मत को मानते हैं। पूर्वमीमांसा शास्त्र में उक्त उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि इत्यादि विधि-भेद पुराणों में कहीं भी नहीं कहे गए हैं—यह ज्ञातव्य है।

दश लक्षणों का विवरण—ब्रह्माण्ड० १।३३ अ० और वायु० ५९।१३३-१४० में इन दश लक्षणों के विवरण दिए गए हैं। यह विवरण पूर्णतया पूर्वमीमांसा के अनुसार है (शबरभाष्य २।१।३३)। शबर ने उपमा की व्याख्या और उदाहरण नहीं दिया है, पर पुराण में उपमा की व्याख्या मिलती है। ऋग्वेदभाष्य-भूमिका (पृ० ३४-३७) में ब्राह्मणसम्बन्धी पुष्कल विचार द्रष्टव्य है।

---

६. भर्तृहरि ने वाक्यपदीय २।२६७ श्लोक संग्रहग्रन्थ से लिया है, यह पुण्यराजकृत प्रकाशटीका में कहा गया है—'एतदेव संग्रहकारोक्त-श्लोक प्रदर्शनेन संवादयितुमाह'; पर भर्तृहरि ने यह संकेत नहीं किया है कि यह श्लोक ग्रन्थान्तर से संगृहीत है। अन्यान्य ग्रन्थों में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं।

ब्राह्मणों के प्रवक्ता—ऋषिपरिच्छेद में इस विषय में विशद विचार द्रष्टव्य है।

ब्राह्मण की व्याख्या—वायु० ५९।१४० और ब्रह्माण्ड० १।३३।५७ में ब्राह्मण की 'वृत्ति' रूप व्याख्या का उल्लेख है। 'विधि दृष्ट कर्म में मन्त्र की कल्पना' भी ब्राह्मण का विषय है, यह वायु० के १४१वें श्लोक में कहा गया है। यह लक्षण ब्राह्मणसाहित्य के विनियोगांश को लक्ष्य कर कहा गया है। मीमांसा में "विनि-योजकं ब्राह्मणम्" यह मत प्रसिद्ध है।

ब्राह्मण का प्रवचन—कई पुराणों में द्वापरयुगीय वेदप्रवचन के प्रसंग में कहा गया है:—

"ऋषिपुत्रैः पुनर्वेदा भिद्यन्ते दृष्टिविभ्रमैः।
मन्त्रब्राह्मणविन्यासैः स्वरवर्णविपर्ययैः ॥"[७]

(वायु० ५८।१२, ब्रह्माण्ड० १।३१।१२, लिंग० १।३९।५८, कूर्म० १।२९। ४४-४५, मत्स्य० १४४।११-१२, पाठान्तरों के साथ)।

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि द्वापरयुगीन शाखा प्रवचनों में मन्त्र-ब्राह्मणों के नाना प्रकार के विन्यास हुए हैं। एकाधिक ब्राह्मणों में सजातीय सन्दर्भों (शब्दा-नुपूर्वी के अल्पाधिक सादृश्य के साथ) की सत्ता इस तथ्य में निश्चित प्रमाण है। इस सन्दर्भ पर विशद विचार 'संहितापरिच्छेद में द्रष्टव्य है।

पुराणोद्धृत ब्राह्मणवचन—पुराणों में कुछ ऐसे श्रुति-वाक्य उद्धृत हैं जो ब्राह्मणग्रन्थों के हैं। ऐसे वचन पुराणों में बहुत ही अल्प हैं। ये वचन ब्राह्मण-ग्रन्थ के नाम के साथ उद्धृत नहीं किए गए हैं, अतः किस ग्रन्थ से ये वाक्य उद्धृत हुए हैं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर ये ब्राह्मणवाक्य हैं, यह स्पष्ट है। यथा—

१. ब्रह्म० १६१।१५ में "यज्ञो वै विष्णुः" यह श्रुति उद्धृत है। यह वाक्य अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। (शतपथ० १३।१।८।८, कौषीतकि० ४।२, गोपथ० २।४।६ इत्यादि)। यह ज्ञातव्य है कि पुराण में यज्ञ की कर्तव्यता के प्रसंग में यह वाक्य उद्धृत हुआ है।

---

७. मन्त्रब्राह्मणों में स्वरप्रयोग में वैलक्षण्य देखा जाता है। भाषिक परि-शिष्ट सूत्र ३।१० की अनन्तदेवकृत व्याख्या इस प्रसंग में आलोच्य है। 'मन्त्रस्वर और ब्राह्मणस्वर सर्वत्र एकरूप नहीं होते'—यह तथ्य ३।२५ सूत्र से भी ध्वनित होता है।

२. "ऋतवः पितरो देवाः" यह वैदिकी श्रुति वायु० ३०।४ तथा ब्रह्माण्ड० १।१३।४ में उद्धृत है। "ऋतवः पितरः" यह अंश शतपथ० २।२।२।२४, २।६।१।४, गोपथ० २।१।२४ आदि अनेक ब्राह्मणग्रन्थों में और "ऋतवो वै देवाः" यह अंश शतपथ० ७।२।४।२६ में मिलता है।[८]

ब्राह्मणवचन, जो उपलब्ध ब्राह्मणों में नहीं मिलते—कुमारिका० ४०। १६३ में "मन्त्रो दैवता......अमन्त्रवत् प्रतिपद्यते" रूप एक श्रुतिवाक्य उद्धृत है। यह स्पष्ट है कि यह किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का वाक्य है, पर प्रचलित ग्रन्थों में यह वाक्य नहीं मिलता।

इस ग्रन्थ में पुराणोद्धृत ब्राह्मण-वाक्यों पर विशद विचार चतुर्थ अध्याय में किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के मतों का प्रतिपादन भी पुराणों में मिलता है, यथास्थान इस पर भी विचार किया गया है।

पुराणस्थ ब्राह्मण-ग्रन्थ-नाम—पुराणों में ब्राह्मणग्रन्थों के नाम प्रायः नहीं मिलते हैं। नागर० २७८।११७-१२२ में याज्ञवल्क्य द्वारा सूर्यप्रोक्त वेद-रहस्य का कथन उल्लिखित हुआ है। सम्भवतः इसका संकेत शतपथब्राह्मण की ओर है। शान्तिपर्व ३१८ अ० में शतपथब्राह्मण के विषय में विशद विवरण मिलता है।[९]

---

८. ये दो उदाहरण निदर्शनार्थ हैं। पुराणगत वेदवाक्यों के उद्धरण के प्रसंग में इन उद्धरणवाक्यों पर विशद विचार द्रष्टव्य है।

९. ब्राह्मण ग्रन्थों के नामतः उल्लेख न रहने पर भी ब्राह्मणग्रन्थगत विभिन्न सामग्री का निर्देश पुराणों में है, यह प्रत्यक्षतः देखा जाता है। वैदिक मत और वेदवचनों के उद्धरण के प्रसंग में इस विषय के अनेक निदर्शन विए जाएंगे। नाम न लेकर ब्राह्मणोक्त मत या वाक्य पुराणों में प्रायेण लक्षित हुए हैं। यथा—ब्रह्म० १६१।३५ में कहा गया है—"अर्धो भार्या इति श्रुतेः"। यह मत शब्दतः वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थों (जो श्रुतिपदवाच्य हैं) में यों है—"अर्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी" (तै० सं० ६।८।५), "अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया" (शतपथ० ५।२।१।१०)।

पुराणगत त्रिणाचिकेत (श्राद्ध प्रकरण में; श्राद्धयोग्य ब्राह्मणों का विशेषण) आदि शब्द भी ब्राह्मणों को लक्ष्य करते हैं। तै० ब्रा० ३।२।७-८ में नाचिकेत अग्नि का विवरण है, अतः त्रिणाचिकेत पद से तै० ब्रा० लक्षित होता है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण यथास्थान द्रष्टव्य हैं।

आरण्यक

आरण्यक ब्राह्मणग्रन्थों का ही अंशविशेष है, अतः ब्राह्मणविचार के साथ आरण्यक पर भी विचार करना आवश्यक है।

आरण्यक की महत्ता—आदिपर्व में "आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा" (१।२६५) कहा गया है, जिससे वेदांशभूत आरण्यक की महत्ता ज्ञात होती है। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के जिस अंश में प्राणविद्या आदि उपासनाप्रधान विशिष्ट विषय वर्णित हुए हैं, वह अंश 'आरण्यक' कहलाता है। कभी-कभी वेद से पृथक् आरण्यक का उल्लेख भी मिलता है (गरुड० १।९६।४७)। ऐसे स्थलों पर वेद का अर्थ 'संहिता और यज्ञकर्मप्रतिपादक ब्राह्मणांश' ही है। आरण्यक एक लोक प्रसिद्ध ज्ञानप्रतिपादक श्रेष्ठ शास्त्र है, यह शान्ति० ३४९।१ में स्पष्टतः कहा गया है।

आरण्यक के नामान्तर—यतः आरण्यक ब्राह्मणविशेष ही है, अतः कभी कभी इसे ब्राह्मण भी कहा जाता है (बौ० ध० सू० ३।७।७।१६)। कभी कभी 'रहस्य-ब्राह्मण' पद भी प्रयुक्त हुआ है। निरुक्त टीका (१।४ ख०) में दुर्ग ने "ऐतरेयके रहस्यब्राह्मणे" कहकर ऐ० आ० २।२।१ का उद्धरण दिया है, जिससे रहस्य-ब्राह्मण और आरण्यक की एकता सिद्ध होती है।

आरण्यक का नामान्तर 'रहस्य' भी है (गोपथ० २।१०; बौ० ध० सू० भाष्य २।८।३)। रहस्यारण्यक पद पुराण में मिलता है (मत्स्य० १७६।४, पद्म० ५।३६।८० में ईषत् पाठान्तर है)। सम्भवतः यज्ञरहस्य के प्रतिपादन के कारण और कर्मकाण्ड की दार्शनिक व्याख्या करने के कारण आरण्यक का यह नाम हुआ हो। आरण्यक में कभी कभी ब्रह्मविद्या का भी प्रतिपादन (प्राणविद्या के अतिरिक्त) किया गया है; यह ब्रह्मविद्या भी मुख्यतः 'रहस्य' पदवाच्य होती है। इस दृष्टि से भी आरण्यक को रहस्य कहा जा सकता है। रहस्यपद का प्रायेण उपनिषद् के अर्थ में प्रयोग होता है। मेधातिथि और कुल्लूक ने रहस्य का अर्थ उपनिषद् ही किया है (मनु २।१४०); यह समीचीन भी है, क्योंकि उपनिषद्-प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान ही प्रकृत रहस्यपदवाच्य है।

'आरण्यक' नाम भी सहेतुक है। ब्राह्मण का जो अंश अरण्य में ही पठित होता है (वानप्रस्थावलम्बियों द्वारा)[10] वह आरण्यक कहलाता है (द्र० ऐतरेयारण्यक-सायण भाष्य, पृ० २)। कहीं कहीं 'आरण्य' पद भी प्रयुक्त हुआ है (हरिवंश० ३।७३।१४)।

---

१०. वानप्रस्थावलम्बिकर्तृक आरण्यकाध्ययन वानप्रस्थाश्रमवर्णन में बहुत्र भाषित हुआ है (शान्ति० ६१।५)।

आरण्यक और उपनिषद्—विषय की दृष्टि से आरण्यक और उपनिषद् में कुछ साम्य है, और इसीलिये बृहदारण्यक आदि आरण्यक ग्रन्थों को उपनिषद् ही माना जाता है। कुछ स्थलों में उपनिषद्-अर्थ में 'आरण्यक' शब्द का व्यवहार पूर्वाचार्यों को अनुमत है (द्र० आदिपर्व ४।६ स्थ आरण्यक शब्द, नीलकण्ठ जिसका अर्थ ज्ञानकाण्डात्मक उपनिषद् करते हैं)। हरिवंश० ३।७३।१४ गत 'आरण्य' पद का अर्थ भी 'उपनिषद्' ही किया गया है। इसी प्रकार उपनिषद् पद भी आरण्यक के लिये क्वचित् मिलता है (द्र० वनपर्व २५१।२४ की नीलकण्ठी टीका)। मत्स्य० १६७।४ और पद्म० ५।३६।८० में जो "रहस्यारण्यकोद्दिष्टं यच्चौपनिषदं स्मृतम्" कहा गया है, वह भी आरण्यक और उपनिषद् की इस एकात्मकता का ज्ञापक है।

मुख्यतः प्राणविद्या और प्रतीक-उपासना आरण्यक का विषय है और निर्गुण ब्रह्मज्ञान उपनिषद् अंश का; अतः विषयभेदानुसार दोनों में भेद है। इस भेद को मानकर एक ही श्लोक में उपनिषद् और आरण्यक का पृथक उल्लेख पुराणों में किया गया है (प्रभासक्षेत्र० ३।२९-३०)। इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि 'उपनिषद्' किसी ग्रन्थ-विशेष का नाम नहीं है, बल्कि ब्रह्मविद्या ही 'उपनिषद्' कहलाती है; ग्रन्थ में 'उपनिषद्' पद का गौण प्रयोग होता है।[११] पक्षान्तर में 'आरण्यक' शब्द अरण्य में पठ्यमान ग्रन्थांशविशेष का नाम है। ग्रन्थ की दृष्टि से ब्रह्मविद्या-निरूपण-परायण अंश आरण्यकग्रन्थ में ही गिना जाएगा (द्र० उपनिषत्-प्रकरण)।

आरण्यक शाखाओं से संबद्ध होते हैं, यह तथ्य वैदिक परम्परा में प्रसिद्ध है। शंकराचार्य का "वाजसनेयिशाखायां बृहदारण्यके" वाक्य (शारीरकभाष्य ३।३।१९) इस मत का स्पष्टतः ज्ञापक है।

आरण्यकों के नाम—ऐतरेयादि आरण्यकों के नाम पुराणों में नहीं मिलते। शतपथ का नाम शान्तिपर्व (३१८ अध्याय) में मिलता है, सुतरां बृहदारण्यक नाम भी पुराण में स्मृत हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है। शिवाराधन में बृहदारण्यकजप का निर्देश है। (रेवा० १७।३०)।

---

११. उपनिषद् शब्द ब्रह्मविद्या का ही वाचक है, यह मुण्डक उपनिषद् के शांकरभाष्य (भूमिकांश) से ज्ञात होता है। कठभाष्य के आरम्भ में शंकर ने स्पष्टतः कहा है—उपनिषच्छब्देन....विद्या उच्यते। उन्होंने इस स्थल में यह भी कहा है—विद्यायाम् मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते, ग्रन्थे तु भक्त्येति। सायण भी ऐसा ही कहते हैं (ऐ० आ० भाष्य, पृ० ८१)।

आरण्यक के आचार्य—पुराणों में शौनक को आरण्यकज्ञ कहा गया है— "शौनको नाम मेधावी विज्ञानारण्यके गुरुः (पद्म० ५।१।१८)। पद्म० का यह वाक्य समीचीन ही है, क्योंकि आचार्य शौनक ब्रह्मज्ञाननिधि थे। अस्यवामीयभाष्य में आत्मानन्द ने कहा है कि शौनक ने आध्यात्मिक दृष्टि से वेदव्याख्या की थी (अध्यात्मविषयां शौनकादिरीतिम्—पृ० ३)। यह वाक्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वेद के किन्हीं अंशों पर शौनक आदि आचार्यों की अध्यात्मप्रक्रियापरक व्याख्याएँ थीं। उपर्युक्त श्लोक में 'विज्ञानारण्यक' का अर्थ है—विज्ञानप्रतिपादक आरण्यक। यहाँ विज्ञान का अर्थ विशिष्ट ज्ञान अर्थात् अध्यात्मज्ञान ही है।

आरण्यक वाक्योद्धरण—पुराणों में कुछ ऐसे स्थल हैं, जहां आरण्यकों के वाक्य उद्धृत किए गए हैं, ऐसा प्रतीत होता है। उद्धरणों के साथ आरण्यकों के नाम नहीं लिए गए हैं, अतः वहां कौन आरण्यक ग्रन्थ लक्षित है—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अनुमान के आधार पर यहाँ कुछ वाक्यों के आकरस्थल दिए जा रहे हैं[१२]—

"ओमितीदं सर्वम्"—यह श्रुतिवाक्य है, ऐसा शिव० ६।११।४९ में कहा गया है। यह तै० आ० ७।८ में मिलता है। उसी प्रकार त्याग सम्बन्धी एक श्रौत मत लिंग० १।८६।२० में मिलता है, जो तै० आर० १०।१० में मिलता है (यद्यपि यह मत कैवल्य उपनिषत् में भी है)। लिंग० में पंचब्रह्ममन्त्र का निर्देश है (१।२५।२४; १।२७।४५), ये मन्त्र भी तै० आरण्यक में मिलते हैं (१०।४३-४७)। पुराणों में त्रिसुपर्ण मन्त्र का उल्लेख अनेक स्थानों में मिलता है,[१३] यह मन्त्र भी तै० आ० में है (१०।४८-५०)।

आरण्यक जप और अध्ययनादि—वाचिकी भक्ति के विवरण में आरण्यक जप का उल्लेख कई पुराणों में मिलता है (पद्म० ४।८४।६)। शिवादि पूजा के प्रसंग में भी आरण्यकजप कथित हुआ है। शान्ति० ३३९।८ में "आरण्यकं जगौ" वाक्य है, जिससे आरण्यक पाठ की पद्धति ज्ञात होती है। (इस विषय में अन्य विशिष्ट विवरण पुराणों में नहीं मिलता)।

---

१२. यह भी सम्भव है कि उद्धियमाण वाक्य आरण्यकातिरिक्त अन्य ग्रन्थों के हों।

१३. ब्रह्म० २१९।६९, कूर्म० २।२१।४; त्रिसुपर्ण का परिचय मन्त्रसूक्तादि परिचय के प्रसंग में यथास्थान दिया गया है।

पञ्चम् परिच्छेद

उपनिषद्

यह निश्चित है कि प्रचलित अनेक उपनिषद् (शब्दशास्त्रानुसार यह शब्द दकारान्त है ; अवसान में तकारान्त का वैकल्पिक प्रयोग होता है) साम्प्रदायिक हैं और अर्वाचीन काल में रचित हैं, परन्तु मूल कठादि उपनिषद् पुराणों से अवश्यमेव प्राचीन हैं। पुराणों में उपनिषत्सम्बन्धी विवरण साधारण-सा मिलता है, पर औपनिषद् भावों पर आधृत अनेक श्लोक यत्रतत्र मिलते हैं। कहीं-कहीं उपनिषद् के श्लोक अविकलरूप से उद्धृत भी किए गए हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है उपनिषद् के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि इस शब्द का प्रकृत अर्थ ब्रह्मविद्या है, ग्रन्थविशेष नहीं। 'उपनिषद्' पद वस्तुतः गोपनीय रहस्यविद्या के लिये ही मुख्यतः प्रयुक्त होता है, इसी दृष्टि से छान्दोग्य० ३।११।३। में प्रयुक्त 'ब्रह्मोपनिषद्' का अर्थ 'वेदगुह्य' करना संगत ही होता है (शांकर भाष्य)।

उपनिषद् शब्द—पुराणों में कहीं कहीं अकारान्त 'उपनिषद्' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है—यथा 'वेदान् सांगोपनिषदान्" (अरुणाचल० ६।२८) "उपनिषदैः" (केदार० ५।१०९-११०) इत्यादि। 'उपनिषद्' शब्द किसी भी प्राचीन वैदिक ग्रन्थ में अकारान्त के रूप में पठित नहीं हुआ है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यहां छन्द मिलाने के लिये ऐसा कहा गया है।[1] यहाँ अकार-मत्वर्थीय है, ऐसा भी एक पक्ष है। महानारायणीय उपनिषद्गत "एतदव महोपनिषदम्" वाक्य की व्याख्या में भट्ट भास्कर कहते हैं—"महोपनिषद्वद् ज्ञानम्"

कूर्म० १।१२।२२१ में "सर्वोपनिषदां गुह्योपनिषत्" वाक्य मिलता है (पाठान्तर-ब्रह्मोपनिषत्)। गुह्योपनिषद् का अर्थ है—गूढ़ार्थ-प्रकाशक उपनिषत्।

---

१. हलन्त शब्दों के अकारान्त प्रयोग का एक विशिष्ट उदाहरण उष्णिह शब्द भी है (द्र० महाभाष्य ४।१।१—उष्णिहककुभौ)। हकारान्त रूप में यह सर्वत्र प्रसिद्ध है।

उपनिषदों में जहां अतिगूढ़ ब्रह्मविद्या[2] का वर्णन है, वह अंश गुह्योपनिषद् कहलाता है। कूर्म० १।१६।२०१ में "वेदान्तगुह्योपनिषत्सु गीतः" वाक्य आया है। यहाँ 'वेदान्तरूप जो गुह्योपनिषत्' ऐसा अर्थ करना होगा ; वेदान्त का अर्थ है—वेद का अन्तिम भाग। वेदगुह्योपनिषत्' शब्द श्वेताश्वतर उप० ५।५।६ में है। शंकराचार्य ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"वेदानां गुह्योपनिषदः"। (यह भाष्य आद्य शंकराचार्य कृत नहीं है, ऐसा किसी-किसी का मत है।)

उपनिषत्-पर्याय—उपनिषत् के लिये 'श्रुति' शब्द पुराणों में प्रायशः मिलता है। शिव०, लिंग० आदि में श्रुतिवाक्यों के रूप में अनेक उपनिषद् वाक्य उद्धृत किए गए हैं।[3] यह भी ज्ञातव्य है कि "इति श्रुतिः" कहने पर ही सर्वत्र वह वाक्य या मत श्रौत नहीं हो जाता, जैसा कि यथास्थान उदाहरणों के साथ दिखाया गया है।

श्रुति शब्द की तरह 'वेद' शब्द भी उपनिषत् के लिये आया है। भाग० २।२।३७ में 'वेदगीत' कहकर जिस मत को लक्ष्य किया गया है, वह (सद्योमुक्ति और क्रम-मुक्ति) उपनिषदों में मिलता है (द्र० श्रीधरी टीका)। वायु० १०४।४३ में 'इत्येवं श्रूयते वेदे" कहकर जो "अक्षरान् न परं किंचित......" वाक्य उद्धृत किया गया है, वह कठोपनिषत् १।३।११ का है। (स्वल्पपाठ-भेद-सहित)। कुमा-रिका० ४०।१५ में "वेदेषु प्रोक्तौ" कहकर जिन अर्चिरादि दो मार्गों की बात कही गई है, वह छान्दोग्य उपनिषत् का मत है (५।१० खण्ड)।

इतिहासपुराणों में 'औपनिषद धर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है (शान्ति० १४४।१४-१५)। यह भाव मनु० (६।२९) में भी मिलता है। मेधातिथि ने "औपनिषदी श्रुतिः" का अर्थ किया है "रहस्याधिकारपठितानि वेदवाक्यानि"; तथा कुल्लूक ने "उपनिषत्पठित-ब्रह्मप्रतिपादकवाक्यानि" कहा है। इस व्याख्या से उपनिषत् का अर्थ रहस्य या ब्रह्मज्ञानप्रतिपादक वेदभाग है—यह इस व्याख्या से ज्ञात होता है।

उपनिषत् के लिये 'वेदान्त' शब्द भी पुराणों में प्रायशः मिलता है। शंकर ने वेदान्त का अर्थ उपनिषत् माना है—"वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते"

---

२. मार्क० ८१।५८ गत देवीस्तुति में 'महाविद्या' पद है। नागेशभट्ट टीका में कहते हैं—"महाविद्या उपनिषत्"। महाविद्या का यह अर्थ सर्वथा अप्रचलित है। 'रहस्यविद्या' शब्द इस अर्थ में सुप्रचलित है।

३. शिव० ६।१६।५२ में 'श्रुति' कहकर जो वाक्य उद्धृत है, वह माण्डूक्य उपनिषत् का है। काशी० ५८।११४ में "आनन्दं ब्राह्मणो रूपं श्रुत्यैव यन्निगद्यते" कहा गया है ; यह "आनन्दं ब्रह्म" वाक्य तैत्तिरीय उपनिषत् (भृगुवल्ली प्रकरण) का है।

(शारीरकभाष्य, १।१।२)। श्वेताश्वतर उप० ६।२२ के शांकरभाष्य में भी वेदान्त का अर्थ उपनिषत् किया गया है। वेदान्त का प्रसंग पुराणों में बहुत्र मिलता है।[४] यद्यपि वेदान्तमत कहकर सांप्रदायिक पौराणिकों ने स्वाभिमत सिद्धान्त का ही उल्लेख किया है, तथापि कहीं कहीं पुराणों में कथित 'श्रुत्युक्त मत' से प्रकृत वेदान्तमत का भाव मिल जाता है।[५] प्रत्येक सम्प्रदाय स्वेष्टदेव को वेदान्त-प्रतिपाद्य मानता है, जैसे—शैवों की दृष्टि में शिव को वेदान्तसार कहा गया है (कूर्म० १।१०।४९); उसी प्रकार नारायण की वेदान्त प्रतिपाद्यता भी वैष्णव पुराणों में स्वीकृत है (पुरुषोत्तम० २७।४९)। पुराणों में इस प्रकार की सांप्रदायिक दृष्टियाँ सर्वत्र उपलब्ध होती हैं।

"निगम" शब्द भी उपनिषत् के लिये प्रयुक्त हुआ है। भाग० ३।७।३८ में "ज्ञानं च नैगमम्" कहा गया है। श्रीधर ने "नैगम" का अर्थ "औपनिषद" किया है।

उपनिषद् वेद का अन्त या उत्तर भाग है—ऐसी प्रसिद्धि दार्शनिक सम्प्रदायों में है। इस दृष्टि से ही वेद का जब "सोत्तर" विशेषण दिया जाता है, तब उत्तर का अर्थ उपनिषत् होता है (शान्ति० ३१८।१० की नीलकण्ठी टीका)।

वेद और उपनिषत्—उपनिषत्-स्वरूप पर विचार करने के लिये यह जानना आवश्यक है कि पुराणों में अनेक स्थलों पर एक ही वाक्य में वेद और उपनिषत् पठित हुए हैं,[६] जिससे यह ज्ञात होता है कि इन दोनों के अर्थ में भेद था। पूर्वमीमांसा

---

४. उपनिषत् के अर्थ में वेदान्त के प्रयोगस्थलों के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं—कूर्म० १।१।११८, ब्रह्म० १७७।२३, गरुड़० १।२१९।१२, केदार० १३।३९, लिंग० १।२७।५०, पुरुषोत्तम० ५२।२३।

५. प्राचीन शास्त्र में उपनिषत् और वेदान्त का एक वाक्य में पृथक् प्रयोग भी मिलता है (गौ० ध० सू० १९।१३)। हरदत्त कहते हैं—'उपनिषदो रहस्यब्राह्मणानि, वेदान्ता आरण्यकानि।" यह भेद कुछ अस्पष्ट है।

६. वेदोपनिषदः (वायु० २०।२५), वेदैः उपनिषदैः (केदार० ४।१०९-११०), वेदोपनिषदैः (केदार० ९।१०५), वेदैश्च तथोपनिषदैः (केदार० ३१।६-७), वेदान् साङ्गोपनिषदान् (अरुणाचल० ६।२८), वेदान् साङ्गोपनिषदः (भाग० १०।४५।२३, प्रभास० २।९३), वेदोपनिषदादिभिः (वराह० १७७।३४), इत्यादि। महाभारत में भी इस प्रकार भेदपूर्वक निर्देश मिलते हैं—वेदोपनिषदां वेत्ता (सभा० ५।२), साङ्गोपनिषदान् वेदान् (आदि० ६४।१९), वेदाश्च सोपनिषदः (वन० ९९।५९), साङ्गोपनिषदान् वेदान् (वन० ४५।८) इत्यादि। यह दृष्टि स्मृतियों में भी मिलती है (याज्ञ० यतिधर्म १८९)।

के आचार्यों के अनुसार अक्रियार्थक होने से उपनिषत् वेद नहीं है; क्योंकि जैमिनि (मीमांसा सूत्र १।२।१) की दृष्टि में आम्नाय क्रियार्थक ही है। इस दृष्टि के अनुसार कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि ऋगादि वेद 'अपराविद्या' हैं और उपनिषत् 'पराविद्या' है। मनु ने जो 'सरहस्य' वेद कहा है (वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यः, २।१६५) वहाँ रहस्य का अर्थ उपनिषत् है, जो वेद से पृथक् है। केवल वस्तुवादी कोई वेदभाग नहीं है—यह मीमांसाचार्य प्रभाकर का मत है। इनके अनुसार संहिता में श्रूयमाण आत्मज्ञानपरक मन्त्र भी क्रियार्थक ही हैं। उत्तरमीमांसा के अनुसार उपनिषत् वेद का अन्तिम भाग है और वह क्रियाप्रतिपादक वेदांश से श्रेष्ठतर है। शंकर ने शारीरकभाष्य १।१।४ में विस्तृत रूप से इस मत का प्रतिपादन किया है (भामतीकल्पतरु० भी द्र०)।

उपनिषत् केवल ज्ञानकाण्ड है और संहिता-ब्राह्मण ग्रन्थ कर्मकाण्ड प्रतिपादक है—ऐसा द्विकाण्ड विभाग सायणादि को अनुमत है (सामवेदभाष्यभूमिका, पृ० ६३)। कुछ आचार्यों ने उपनिषत् को ब्राह्मणगत विधि-भाग के रूप में माना है।[७] ऋग्वेद-भाष्यभूमिका (पृ० २४) में सायण ने "आत्मा वा इदम् एक एवाग्र आसीत्" इत्यादि उपनिषत्वाक्यों को अज्ञातज्ञापकविधि के रूप में माना है। पर सायण का यह मत प्रौढिवाद है। कोई भी याज्ञिक आचार्य इस मत को नहीं मानता (त्रयीपरिचय पृ० ५५)। वस्तुतः उपनिषत् को वेद से पृथक मानने की प्रवृत्ति पुराणों में सर्वत्र दीख पड़ती है (यद्यपि इस पार्थक्य का यह अर्थ नहीं है कि उपनिषत् वेद नहीं है)।

पुराणों में विषयभेद को मानकर 'त्रयी' और 'उपनिषत्' का पृथक् उल्लेख किया गया है। भागवत में 'त्रय्या चोपनिषद्भिश्च' (१०।८।४५) कहा गया है। इस स्थल की व्याख्या में श्रीधर ने कहा है कि कर्मकाण्ड-रूप त्रयी में इन्द्रादि देवता की पूजा की जाती है और उपनिषत् का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। यह दृष्टि पूर्वाचार्यों को भी मान्य है।

उपनिषत् का स्वरूप—यद्यपि पुराणों में उपनिषत् शब्द के अर्थनिर्वचन आदि नहीं मिलते, तथापि कुछ ऐसे वाक्य पुराणों में मिलते हैं, जिनसे उपनिषदों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यथा :—

'सार' के अर्थ में उपनिषत् का प्रयोग भागवत में है। "इति मन्त्रोपनिषदम् व्याहरन्तम्" (८।१।१७) में उपनिषत् का यही अर्थ है। "वेदस्योपनिषत् सत्यम्"

---

७. वस्तुतः उपनिषद् ब्राह्मणग्रन्थान्तर्गत है। प्रश्नोपनिषद्भाष्य के आरम्भ में शंकर कहते हैं—"मन्त्रोक्तस्यार्थस्य विस्तरानुवादीदं ब्राह्मणमारभ्यते।"

(शान्ति० २९९।१३) इत्यादि प्रयोगों से यही अर्थ सिद्ध होता है। तै० उप० ७।११ भाष्य में सायण ने 'उपनिषत् का अर्थ रहस्य-सारभागः" किया है।

पुराणों में "गुह्योपनिषत्" शब्द प्रयुक्त हुआ है (मत्स्य० २४८।७३, पुरुषोत्तम० क्षेत्र १६।३८)। हरिवंश (भविष्य० ३४।४०) में भी यह शब्द है (यज्ञवराह वर्णन में—"गुह्योपनिपदासनः")। गुह्य (=गोप्य) रहस्य का प्रतिपादक उपनिषत् = गुह्योपनिषत्—ऐसा अर्थ उचित प्रतीत होता है। सभापर्व० ५।२ में जो 'वेदोपनिषत्' शब्द है, उसकी व्याख्या में नीलकण्ठ ने भी उपनिषत् को रहस्यविद्या कहा है। मेधातिथि और कुल्लूकभट्ट भी रहस्य का अर्थ उपनिषत् ही करते हैं (मनु० २।१६५)।

यह रहस्यविद्या वस्तुतः ब्रह्मविद्या है (ऐ० आ० सायणभाष्य, पृ० ८१)। इसी को 'आध्यात्मिक विद्या' भी कहा जाता है (याज्ञवल्क्यस्मृति १।१०१ की वीरमित्रोदय टीका)। आचार्य दुर्ग ने भी अध्यात्मविद्यारूपी उपनिषत् का स्वरूप बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखाया है (निरुक्त टीका ३।१ ख०)।[८] दुर्ग ने 'रहस्यब्राह्मण' कहकर (निरुक्तटीका १।२ पा०) छान्दोग्य उपनिषत् का उद्धरण दिया है, जिससे उपनिषत् का एक अन्य नाम भी ज्ञात होता है।[९]

पुराणोक्त उपनिषत्-नाम:—पुराणों में निम्नोक्त उपनिषदों के नाम मिलते हैं—

केन—समुद्रमन्थनोत्थ लक्ष्मी के प्रसंग में कहा गया है—"वदन्ति सर्वे केनसिद्धान्तयुक्तां यां योगमायाम्" (केदार० ११।६१)। यहां 'केन' का अर्थ केनोपनिषत् है।

मुण्डक—विष्णु० ६।५।६५ और ब्रह्म० २३३।६२-६३ में कहा गया है कि दो विद्याएँ—परा और अपरा—वेदितव्य हैं—यह 'आथर्वणी श्रुति' का मत है। यह मत मुण्डक-उपनिषत् (१।१।४) में मिलता है।

जाबाल—त्रिपुण्ड्रोद्धूलन (त्रिपुण्ड लगाना) के लिए जाबालोपनिषद्-मन्त्र का उल्लेख सेतु० ३५।४५ में मिलता है, जहां त्रिपुण्डधारण के लिये पांच जाबालोक्त मन्त्र कहे गए हैं (जाबालोक्तैश्च पञ्चभिः)। इस विवरण का

---

८. "यद्विज्ञानमुपागतस्य सतो गर्भजन्मजरामृत्यवो विनिश्चयेन सीदन्ति सा रहस्या विद्या उपनिषदित्युच्यते।"

९. उपनिषद् की ब्रह्मविद्यापरायणता को लक्ष्य कर ही आत्म-ज्ञान के लिये वानप्रस्थों द्वारा उपनिषद्-जप का विधान किया गया है (पद्म० १।५८।३५; यहां विधिलिङ् का प्रयोग है)। यह मत स्मृतियों में अनुमोदित है।

संबंध जाबाल उपनिषत् से नहीं है, प्रत्युत बृहज्जाबाल उपनिषत् से है। काशी से प्रकाशित ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषत् में इस उपनिषत् का स्थान २७वाँ है।

अथर्वशिरस्--शिवमहिमा के प्रसंग में इस उपनिषत् का कण्ठतः उल्लेख मिलता है (कूर्म० २।३९।२०)। श्राद्धयोग्य ब्राह्मणों को "अथर्वशिरस् का अध्येता" होना चाहिए—ऐसा पुराणों में कहा गया है (कूर्म० २।२१।५)। वानप्रस्थाश्रम के कर्त्तव्यों में रुद्राध्याय और अथर्वशिरस् का अध्ययन भी पुराणों में बहुधा कहा गया है। 'अथर्वशिरस् के अध्येता धार्मिक होते हैं,' यह कूर्म० ज्ञात होता है। लिंग० २।१७।१९ में अथर्वशिरस् उपनिषत् के आदिम अंश १।२।१९ से मिलता-जुलता एक विवरण दिया हुआ है। यहां उपनिषदुक्त घटना का स्पष्ट निर्देश है।[१०] गरुड़० १।४८।५३-५६ और अग्नि० ९६।४०-४३ में इसका जप विहित हुआ है।

बृहदारण्यक—ब्रह्म० २१९।६१ में इसके जप का उल्लेख है (श्राद्ध में)।

मण्डलब्राह्मण—शिवपूजा में यजुर्वेदी द्वारा इसके जप का उल्लेख रेवा० ५१।४५ में मिलता है। सम्भवतः यह मण्डलब्राह्मण उपनिषत् है या यह भी हो सकता है कि यह शतपथ का दशम मण्डल हो।[११]

पुराणों में अनुक्त उपनिषद्—पुराणों में कुछ ऐसे भी श्लोक हैं, जहां यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तत्-तत्-स्थलों में किसी उपनिषत् के वचन ही उनके लक्ष्य हैं, यद्यपि कण्ठतः उपनिषत् का नाम नहीं लिया गया है। यथा :—

(१) 'त्यागेनैवामृतत्वं हि. . .कर्मणा प्रजया नास्ति" इत्यादि वाक्य लिङ्ग० २।८।२७ में मिलता है। स्पष्टतः ही यह कैवल्योपनिषत् के एक वचन (त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः, ३ श्लोक) के आधार पर कहा गया है। पुराणवाक्य में जो "श्रुति" शब्द है, वह भी इस अनुमान का बोधक है।

(२) उसी प्रकार गरुड० १।४४ में कठोपनिषत् के अनेक वाक्य मिलते हैं, यद्यपि कठश्रुति का नाम नहीं लिया गया है।

(३) शिवपुराण में कहा गया है—"ओमिदीदं सर्वमिति श्रुतिराह सना-

---

१०. 'अथर्वशिरस्' की महत्ता गौतमधर्मसूत्र १९।१३; वसिष्ठधर्मसूत्र २८।१४, विष्णुधर्मसूत्र ५६।२२ आदि में कही गई है। वनपर्व ३०५।२० में 'अथर्वशिरसस्थ मन्त्रग्राम' का निर्देश है।

११. "यदेतन्मण्डलं तपतीत्यादि मण्डलब्राह्मणम्" (हेमाद्रिकृत श्राद्धप्रकरण, चतुर्वर्गचिन्तामणि के अन्तर्गत पृ० १०७५; द्र० H. Dh. S. भाग ४, पृ० ४४९)। मण्डलाध्याय का उल्लेख मत्स्य० २६५।२६ में है।

तनी" (६।१६।५२)। "ओमित्येकाक्षरमिदं सर्वम्"—यह वाक्य माण्डूक्य-उपनिषत् का है (प्रथम वाक्य)। ऐसा प्रतीत होता है कि यही श्रुति पुराण का लक्ष्य है। यहां तै० आ० ७।८ गत 'ओमितीदं सर्वं' वाक्य ही लक्षित है, ऐसा कहना अधिक संगत है।

(४) वायु० के योग-प्रकरण (११-३३ अ०) में तथा लिंग० (१।८-९) में बहुधा श्वेताश्वतर के श्लोक मिलते हैं।[१२] शिवपुराण में भी इसके अनेक श्लोक अविकल रूप से या पाठभेद के साथ मिलते हैं (७।३।६, ७।३।१४, ६।१३।२९-३०)।

(५) शिव० में "तस्माद् वेत्युपक्रम्य जगत् सृष्टिः प्रजायते" (६।१६।५२) श्लोक मिलता है। यह तैत्तिरीय उपनिषत् का वाक्य है—"तस्माद्[१३] वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः (२।१)।

(६) कूर्म० १।३।९ में "प्रव्रजेत् तु गृही विद्वान् वनाद्वा श्रुतिचोदनात्" कहा गया है। यहां श्रुति का लक्ष्य जाबाल उपनिषत्[१३] का वाक्य है (४)।

अन्य उपनिषदों के ऐसे वचन भी मिलते हैं, पर संक्षेपार्थ कुछ ही उदाहरणों का संकलन किया गया है।

उपनिषदों की संख्या—पुराणों के उल्लेखों से अनेक उपनिषदों की सत्ता का ज्ञान होता है। वायु० ३०।२३१ का "उपनिषदां गणैः" और कूर्म० २।२७।३७ का "विविधा उपनिषदः" आदि प्रयोग इस विषय में साक्षात् प्रमाण हैं। कहीं कहीं तो उपनिषत्-संख्या का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अग्नि० २७१।८-९ में अथर्ववेद के उपनिषदों की संख्या एक सौ कही गई है। यद्यपि तत्त्वतः अथर्ववेद के उपनिषदों की संख्या इतनी नहीं हो सकती (क्योंकि इस वेद की शाखासंख्या नौ है), तथापि अर्वाचीन काल में साम्प्रदायिक विद्वानों द्वारा निर्मित अनेक उपनिषद् अथर्ववेदीय कहे गए हैं। सम्भवतः अग्निपुराण के काल तक एक सौ आथर्वण उपनिषत् प्रसिद्ध

---

१२. कूर्म० २।३९।६८-७० में जिस घटना का वर्णन है, वह श्वेताश्वतर उप० के आरम्भिक अंश के आश्रय से लिखा गया है, ऐसा प्रतीत होता है।

१३. जाबाल उपनिषत् अत्यन्त अर्वाचीन नहीं है, क्योंकि शंकर ने इस उपनिषत् का स्मरण किया है (ब्रह्मसूत्रभाष्य ३।४।२०)। बौधायनधर्मसूत्र २।१०।२, और १८ में जाबालोक्त प्रव्रज्यापरक मत का स्मरण किया गया है। यद्यपि धर्मसूत्र में जाबाल नाम नहीं है, तथापि वाक्य की भाषा से तथा 'एकेषाम्' और 'विज्ञायते' पद के प्रयोग से पूर्वोक्त अनुमान दृढ़ होता है :

हो गए थे, जिसके कारण वैसा उल्लेख किया गया है। यह संख्या आनुमानिक भी हो सकती है।[१४]

पुराणोद्धृत उपनिषद्वाक्य—पुराणों में उपनिषदों के अनेक वाक्य उद्धृत मिलते हैं। कहीं कहीं तो उपनिषत् का नाम भी उल्लिखित रहता है, पर कुछ स्थलों में "वेद" या "श्रुति" शब्द ही रहता है, उपनिषत् का प्रकृत नाम नहीं रहता। ऐसे भी स्थल हैं जहां उपनिषद्वाक्य पुराणों के श्लोकों के साथ पठित हुए हैं, पर वह वाक्य किसी उपनिषत् से उद्धृत किया गया है, इसका कोई संकेत पुराणकारों ने नहीं किया है। जैसा कि वायु० के योग प्रकरण (११-३३ अ०) में श्वेताश्वतर उपनिषत् के कई श्लोक हैं, पर ये श्लोक कहीं से उद्धृत किए गए हैं, इसका कोई संकेत वहाँ नहीं मिलता। "यतो वाचो निवर्तन्ते....कुतश्चन" श्लोक लिंग० १।२८।१८-१९, कूर्म० २।९।१२ आदि पुराणों में मिलता है, पर उद्धरण के रूप में नहीं। यह निश्चित है कि ये श्लोक उपनिषदों से लिए गए हैं।

पुराणोद्धृत उपनिषद्-वाक्यों के अध्ययन में हमें यह देखना है कि किस भाव के प्रतिपादन के लिये उन उपनिषद्-वाक्यों का संकलन पुराणों में किया गया है। इस दृष्टि से देखने पर हम देखते हैं कि उपनिषद्-वाक्यों के उद्धरण में साम्प्रदायिक दृष्टि का भी न्यूनाधिक प्रभाव रहा है तथा कुछ स्थानों में औपनिषदभाव को अविकृत भी रखा गया है। यहां उपनिषद्-वाक्योद्धरण के कुछ पौराणिक स्थल उपस्थित किए जा रहे हैं (पौराणिक प्रकरण के साथ)।[१५]

(१) "प्रणवो धनुः.....भवेत्" वाक्य अग्नि० ३७२।२७ में है। यह मुण्डक-उपनिषद् का वचन है (२।२।४)। मार्क० ४२।७-८ में भी ईषत् पाठभेद से यह श्लोक मिलता है। (प्रकरण सर्वत्र समान है)।

(२) "एतदेवाक्षरं ब्रह्म..... तत्" वाक्य अग्नि० ३७२।२९ में है। यह कठ उप० १।३।१६ का वाक्य है (प्रकरण उभयत्र समान है)।

(३) "आत्मानं रथिनं विद्धि......" वाक्य गरुड १।४।६-८ में है। यह कठ उप० १।३।३-४ का वाक्य है (प्रकरण उभयत्र समान है)।

---

१४. हिन्दुत्व ग्रन्थ में १७ आथर्वण उपनिषदों की गणना है (पृ० ७७-७८)।

१५. उपनिषद् वचनों के उद्धरण में पुराणों में कहीं-कहीं भ्रष्ट पाठ भी मिलते हैं। एक उदाहरण दिया जाता है। कठ० उप० १।३।९ में "सोऽध्वनः पारमाप्नोति ......' इत्यादि वाक्य है। गरुड० १।४४।८ में यह प्रकरण उद्धृत है, पर यहाँ मुद्रित पाठ 'स्वर्धून्याः पारमाप्नोति' है।

(४) "अजामेकाम्......" वाक्य वायु० २०।२८ में है। यह श्वेताश्वतर उपनिषत् ४।५ का वाक्य है (प्रकरण उभयत्र समान है)।

(५) "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः......" वाक्य ब्रह्म० २३६।२३-२४ में है। यह कठ० १।३।१०-११ का वाक्य है। पुराण में पुरुष के स्थान पर 'अमृत' पाठ है (उभयत्र प्रकरण-साम्य है)।

(६) "यतो वाचो निवर्तन्ते......" वाक्य कूर्म० २।९।१२, लिंग० १।२८।१८-१९, २।१८।२७, ब्रह्माण्ड० ३।२७।८७ में मिलता है। यह तैत्तिरीय उप० का वाक्य है (२।९)। पुराणों में यह शिवादि परक है। कहीं कहीं ईषत् पाठान्तर भी है।

(७) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" वाक्य लिंग० १।२८।२१ में है। यह छान्दोग्य उप० (३।१४।१) का वाक्य है। पुराण में यह वाक्य शिव-रुद्र-परक है।

(८) "भिद्यते हृदयग्रन्थिः ......" वाक्य पद्म० ६।१९३।६६-६७ में है (पाठान्तर के साथ)। यहां भागवतसप्ताह श्रावण में इसका उल्लेख किया गया है। यह मुण्डक उपनिषद् का वाक्य है (२।२।८)।

(९) "तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति......" वाक्य लिंग० २।१८।३४ में है (शिवप्रसंग में)। यह श्वेताश्वतर उप० का वचन है (६।१२)।

(१०) "आलोल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वम्......" वाक्य मार्क० ३९।६२ में है। स्वल्प पाठान्तर से यह वाक्य श्वेताश्वतर उप० (२।१३) में मिलता है। प्रकरण उभयत्र समान (=योग) है।

(११) "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः......नेतरेषाम्" वाक्य कूर्म० २।९।१८ में है। यह शिवपरक है। यह श्वेताश्वतर उप० (६।११) में मिलता है।

(१२) "सर्वाननशिरोग्रीवः......" वाक्य कूर्म० २।९।१९ में है। यह शिवपरक है। श्वेताश्वतर उप० (३।११) में यह वाक्य है।

(१३) पाशुपत योग को सर्ववेदान्तमार्ग और अत्याश्रम कहकर 'यह श्रुति है', ऐसा कूर्म में कहा गया है (२।११।६७-६८)। 'अत्याश्रम' पद श्वेताश्वतर उप० (६।२१) में मिलता है।[१६] यह उपनिषत् योगविद्या का प्राचीनतम ग्रन्थ है।

---

१६. पुराणों में कुछ ऐसे वचन उद्धृत हैं जिनके विषय में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उन वचनों का आकर स्थल कौन उपनिषद् है। उदाहरणार्थ—भस्मधारण के लिए 'अग्निरित्यादिकं पुण्यम्' (कूर्म० १।१४।४८) कहा गया है। यह 'अग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म...' मन्त्र है, जो कालाग्निरुद्रोपनिषद् आदि कई उपनिषदों में मिलता है। सम्भव है कि मूलतः यह मन्त्र उपनिषद् का न होकर किसी तान्त्रिक ग्रन्थ का हो।

षष्ठ परिच्छेद

वेद की संख्या, क्रम और तुलना

वेदसंख्याक्रमादिविचार की आवश्यकता—वेदों की संख्या, उनका क्रम और उनकी पारस्परिक तुलना के विषय में चिरकाल से अनेक मत प्रचलित हैं। वैदिक संहिता आदि के अतिरिक्त विभिन्न अनुक्रमणियों, परिशिष्टों एवं व्याख्यान ग्रन्थों में भी इन विषयों का पर्याप्त विवेचन मिलता है। इन विषयों से संबद्ध मत-भेदों की उपपत्ति के लिये शास्त्रीय दृष्टि के साथ साथ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और साम्प्रदायिक मान्यताओं का परिज्ञान करना भी आवश्यक है, जैसा कि इस परिच्छेद में पुराणोक्त मतों के प्रतिपादन करने के समय दिखाया जाएगा।

वेदों की संख्या— यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इस विषय में चार मत मिलते हैं—(१) वेद एक है, (२) वेद तीन हैं, (३) वेद चार हैं, और (४) वेद अनन्त हैं। प्रत्येक मत की पृष्ठभूमि क्या है, इस पर मुख्यतः पौराणिक दृष्टि से विचार किया जा रहा है।

'वेद एक है', इस मत की उपपत्ति—पुराणों में इस मत का प्रतिपादन कई दृष्टियों से किया गया है। यथा—

वेदव्यास को जो वेद प्राप्त हुआ था, उसके विशेषण में 'एक' और 'चतुष्पाद' ये दो शब्द प्रायः व्यवहृत हुए हैं (वायु० ३२।६७, विष्णु० २।४।२, कूर्म० १।५२। २१, अग्नि० १५०।२४)। यह दृष्टि वेद के भाष्यकारों के द्वारा भी समादृत हुई है।[१]

ऐसा प्रतीत होता है कि वेदव्यास को जो वेद परम्परा से प्राप्त हुआ था, वह 'अन्योन्यमिश्रित' था। यतः इतस्ततः विकीर्ण विभिन्न वेदांशों का समाहार कर उन्होंने (याज्ञिक क्रिया की दृष्टि से) उपलब्ध वेद को चार भागों में विभक्त किया था, अतः व्याससंगृहीत वेद का विशेषण 'एक' देना ठीक ही था। एक का

---

१. "व्यासेन एकीभूय स्थिता वेदा व्यस्ताः" (भट्टभास्करकृत तैत्तिरीय-संहिताभाष्यारम्भ)। "वेदं तावदेकं सन्तम्......" (निरुक्त १।२० ख० की दुर्ग-टीका)।

तात्पर्य है—'अनेक अवयवों का अवयवी'। यहाँ वस्तुतः संख्या में तात्पर्य नहीं है। एक वेद का चतुष्पाद[२] विशेषण भी सर्वथा सार्थक है, क्योंकि चारों प्रकार के मन्त्र (ऋक् आदि तीन तथा अभिचारबहुल अथर्वमन्त्र) उस संगृहीत वेद में विद्यमान थे। चतुष्पाद की व्याख्या में श्रीधर ने भी "ऋगादिचतुर्भेदसमूहरूपः" ही कहा है।

'अन्योऽन्यमिश्रित' वेदावयवों के व्यासकर्तृक पुनः विभाजन का स्पष्ट निर्देश पद्म० ६।२५८।२९-३० में मिलता है। वेद की परम्परा चिरकाल से ही युगभेदानुसार परिवर्तित होती हुई चली आ रही है, और कभी कभी वेदपरम्परा की स्थिति नष्टप्राय होती रही है (द्र० वेदनाशपरिच्छेद)। ऐसी स्थिति प्राचीन युगों में भी रही और जिन महापुरुषों द्वारा नष्टप्राय विशीर्ण वेदधारा का कालोपयोगी परिवर्तन कर पुनः व्यवस्थित रीति से प्रवर्तन किया गया, वे व्यासपदवाच्य होते थे। यही कारण है कि पुराणों में वेदविभाजक अनेक व्यासों के उल्लेख मिलते हैं (विष्णु० ३।३ अ०, ब्रह्माण्ड० १।३५ अ०, लिंग० १।२४ अ०, १।७ अ०, कूर्म० १।५२ अ०)।

वेद का यह एकत्व औपचारिक है, जैसा कि पुरुषोत्तम० २८।४४ में कहा गया है—"भेदे चतुर्धा भेदोऽयमेकराशिरभेदतः"। वेदों की एकात्मकता याज्ञिक क्रिया[३] में मन्त्रों की परस्परापेक्षता को लक्ष्य कर कल्पित ही की जाती है, वस्तुतः नहीं,[३] क्योंकि पुराणों में सृष्टिकाल के प्रसंग में ही वेद के चातुर्विध्य का उल्लेख मिलता है, जैसा कि वेदसृष्टिपरिच्छेद में दिखाया जाएगा। याज्ञिकों की वास्तविक दृष्टि में चार वेद वस्तुतः पृथक्-पृथक् हैं, क्योंकि वेद-भेद से क्रियाभेद स्वीकृत होते हैं। वेदानुसार ऋत्विजों की पृथक्-पृथक् स्थितियाँ भी मान्य हैं।

चतुष्पाद वेद का एक विशेषण 'आद्य' मिलता है (विष्णु० ३।४।१)। उच्छिन्न वेदपरम्परा के पुनः प्रवर्तन को लक्ष्य कर संगृहीत वेद का विशेषण 'आद्य' दिया जा सकता है; अथवा यह भी हो सकता है कि आरम्भकाल से ही वेद में चार प्रकार के मन्त्र (या चतुःप्रकार ऋत्विक्-कर्मोपयोगी मन्त्र) थे, अतएव 'आद्य वेद चतुष्पाद है'—ऐसा कहा जा सकता है।

वेद का यह चतुष्पादत्व पुराणकाल में बहुत ही प्रसिद्ध था। यही कारण है कि वायु० ३२।६७ के "यथा वेदश्चतुष्पादः चतुष्पादं यथा युगम्" वाक्य में उपमान

---

२. "आद्यो वेदश्चतुष्पादः" (अग्नि० १५०।२४, विष्णु० ३।४।१); "एकं वेदं चतुष्पादम्" (वायु० १।१७९; पद्म० ५।२।४३; ब्रह्माण्ड० १।१।१५३)।

३. द्र० मनुस्मृति ११।२६४ का मेधातिथि-भाष्य—'वेदे त्रिवृति' पद की व्याख्या के प्रसंग में।

के रूप में चतुष्पाद वेद का उल्लेख किया गया है। 'पाद' कहने का तात्पर्य है कि वेद के ये चार भाग मिलकर एक पूर्ण कर्मनिष्पादक शास्त्र बनते हैं, ये चार परस्पर असम्बद्ध नहीं हैं। याज्ञिक दृष्टि से चारों वेद परस्पर सहायक हैं, यह मनु० ११।२६४ की व्याख्या में मेधातिथि ने स्पष्टतः दिखाया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से वेद की एकात्मकता—आध्यात्मिक दृष्टि से भी वेद पर एकत्वबुद्धि हो सकती है, जैसा कि भाग० ११।१४।४८ में (एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः) कहा गया है। अखण्डध्वनिमय प्रणव ही वेद है, इस अध्यात्मदृष्टि से ही यहाँ वेद की एकात्मकता की कल्पना की गई है।[४]

एक वेद का परिमाण—पुराणों में इस एक वेद का परिमाण 'शतसाहस्र' कहा गया है (अग्नि० १५०।२३, विष्णु० ३।४।१)। यह परिमाण काल्पनिक है। इस विषय में विशेष विचार वेदपरिमाण परिच्छेद में द्रष्टव्य है।

वेद शब्द का एकवचनान्त प्रयोग—पुराणों में एकवचन में वेद शब्द का प्रयोग मिलता है। कहीं कहीं तो जाति की विवक्षा में ऐसे प्रयोग किए गए हैं। ऐसे स्थलों में वेद का एकत्व प्रतिपाद्य नहीं है। कहीं कहीं एकवचनान्त वेद का अर्थ 'वेद की एक निश्चित शाखा' होता है; यह दृष्टि मनु के "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः" (२।१६५) वाक्य में मिलती है। यहाँ वेद का अर्थ स्वशाखा है, जिसको 'स्वाध्याय' भी कहा जाता है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (शतपथ० ११।५।६।७) वाक्य में 'स्वाध्याय' शब्द का यही अर्थ वैदिक परम्परा में स्वीकृत है।

'एक' वेद का काल—पुराणादि के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि कभी एकसंख्यक वेद विद्यमान था। वस्तुतः त्रेतायुगीय संहिताप्रणयन से पहले मन्त्र इतस्ततः बिखरे हुए थे, उनका 'संहनन' (सज्जीकरण) नहीं हुआ था। वेद नामक एक व्यवस्थित शास्त्र के रूप में मन्त्रों का अध्ययन-अध्यापन नहीं होता था।

इस अवस्था को लक्ष्य कर वनपर्व १४९।१४ में "न सामर्ग्यजुर्वर्णः" कहा गया है (सत्ययुगवर्णन में)। उस समय वेदों का संहनन (एकत्र सज्जीकरण) नहीं हुआ था, अतः यह अवस्था 'एकवेदात्मक' थी, ऐसा गौण दृष्टि से कहा जा सकता है। वस्तुतः प्रचलित वेदसंहिताओं के निर्माण से पहले भी वेदसंहिताएँ थीं; प्रचलित ऋग्वेद से पहले भी सामादि की प्रसिद्धि हो चुकी थी, यह

---

४. आध्यात्मिक दृष्टि से ऐसी एकता का एक विशिष्ट उदाहरण ऐ० आ० २।२।२ में मिलता है—"ता वा एता सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्।"

निश्चित है। वैदिक ग्रन्थों में भी "वेदाः" यह बहुवचनान्त पद मिलता है,[५] अतएव अनेक वेद अत्यन्त प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं—यह सुप्रमाणित है।

'त्रयी' और 'त्रयो वेदाः'—वेद की संख्या के विषय में 'त्रयो वेदाः' या 'त्रयी' पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। क्या कभी ऐसी अवस्था थी जब ऋगादि तीन ही वेद थे, अथर्ववेद नहीं था? यह प्रश्न तब और भी जटिल हो जाता है जब हम देखते हैं कि "चत्वारि शृङ्गाः......" (ऋक् ४।५८।३) मन्त्र की व्याख्या में वैदिक ग्रन्थों में ही चार वेदों का उपन्यास किया गया है।[६]

यह प्रश्न बहुत ही जटिल है, अतएव यथामति इसका उत्तर दिया जा रहा है।

'त्रयी' शब्द के विषय में एक मत यह है कि ऋग्-यजुः-साम रूप त्रिविध (रचना की दृष्टि से) मन्त्रों को दृष्टि में रखकर वेद को त्रयी (तीन अवयव हैं जिसके) कहा जाता है। 'त्रयी' पद विद्या का विशेषण है, अतः स्त्रीलिंग है। "त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि"—यह शतपथ० ४।६।७।१ की उक्ति इसमें साक्षात् प्रमाण है। वेदचतुष्टय में तीन प्रकार के ही मन्त्र हैं, यह मत ऋक्सर्वानुक्रमणी की टीका (वेदार्थदीपिका) में स्पष्टतः मिलता है। 'त्रयी' का यह तात्पर्य अन्यान्य आचार्यों को भी मान्य है। (त्रयी परिचय, पृ० ४)।

इस दृष्टि से त्रयी में अथर्ववेद का अन्तर्भाव अवश्य होता है।. वस्तुतः अथर्ववेद में ऋगादि के अतिरिक्त अन्य मन्त्र नहीं हैं, यह जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी (पृ० २३७) में कहा है।[७] यतः अथर्ववेद को वेद से पृथक् करने का कोई भी संकेत वैदिक ग्रन्थों में नहीं मिलता, अपितु वेदनामों की गणना में अथर्ववेद का नाम वैदिक ग्रन्थों में सर्वत्र मिलता है (छान्दोग्य० ७।१।२, बृहदारण्यक० २।४।१०), अतः अथर्व का वेदत्व संशयातीत है। अथर्ववेदभाष्यभूमिका (पृ० ११९-१२३) में सायण ने इस विषय में पुष्कल विचार किया है।

'त्रयी' में अथर्व वेद का अन्तर्भाव अर्वाचीन आचार्य भी मानते हैं। मार्क० ८४।९ में प्रयुक्त 'त्रयी' शब्द की व्याख्या में सप्तशती की चतुर्धरी टीका में कहा गया है—"अथर्वणस्तु शान्तिकपौष्टिक-आभिचारिकात्मकतया एतेषु अन्तर्भावात् पृथङ्-

---

५. "यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः।" (अथर्व० ४।३५।६), "लोका वेदाः सप्त ऋषयः" (अथर्व० १९।९।१२), "वेदेभ्यः" (तै० सं० ७।५।११।२), "सर्वांश्च वेदान्" (गोपथ० १।१।१६)।

६. गोपथ० १।२।१६ (चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः)।

७. "अन्ये पुनः ऋक्प्रचुरत्वात् प्रविरलयजुर्वाक्यत्वाद् अगीयमानसाममन्त्रतावशाच्च ऋग्वेदमेवाथर्ववेदमाचक्षते। अयमपि पक्षोऽस्तु, न कश्चिद् विरोधः"।

नाभिधानम्"। अथर्ववेद ऋक्प्रचुर और प्रविरल यजुः है, अतएव वेद में इसका अंतर्भाव सर्वथा समीचीन ही है। कुमारिलसदृश वेदवादी भी अथर्वा को वेद मानते हैं। इस विषय में उनका "शान्तिपुष्ट्यभिचारार्थाः....." श्लोक प्रसिद्ध है (पृ० अथर्ववेदभाष्य-भूमिका, पृ० १२३)।

जब 'त्रयी' का अर्थ 'त्रिविध मन्त्रविशिष्ट विद्या' होता है, तब पूर्वोक्त दृष्टि समीचीन है, पर त्रयी का अर्थ जब 'श्रौतकर्मकाण्डपरक वेद' होता है, तब अथर्व वेद का स्थान वेद से बहुत कुछ दूर हो जाता है। श्रौतकर्मकांड में अथर्व वेद का वास्तव योग नहीं है, इसलिए अथर्वा को 'यज्ञानुपयुक्त' कहा गया है (प्रस्थानभेद पृ० १४)। यज्ञक्रिया में साक्षात् अनुपयुक्त होने पर भी अथर्व० का वेदत्व नष्ट नहीं होता, यह ज्ञातव्य है।

इस विषय में यह प्रश्न हो सकता है कि जब अथर्व वेद भी एक वेद है, तब वह यज्ञ में अनुपयुक्त क्यों है? त्रिविध मन्त्र तो यज्ञसिद्ध्यर्थ ही हैं, जैसा कि मनु ने कहा है—"दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्" (१।२३)। किंच अथर्व० के वेदत्व पर संशय ही पूर्वाचार्यों ने क्यों किया? 'त्रयी' में भले ही अथर्व० का अनुप्रवेश हो जाय "त्रयो वेदाः" में तो अथर्व० का अनुप्रवेश नहीं ही हो सकता। ब्राह्मणग्रन्थों में भी अथर्ववेदीय ब्रह्मत्व को कभी-कभी अन्य वेदसिद्ध माना गया है, क्या यह समीचीन है? धर्मसंशय के निराकरण में अथर्ववेदी का स्थान क्यों नहीं है?[८] गृह्यकर्मों में अथर्व की प्रधानता क्यों है?—इत्यादि प्रश्न भी इस प्रसंग में उठ सकते हैं।

ये प्रश्न बहुत जटिल हैं। वस्तुतः इन प्रश्नों के समाधान के बिना वेदसम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण विषयों का रहस्य जाना नहीं जा सकता, अतः इस पर विशद विचार किया जा रहा है।

'त्रयी' में पूर्वोक्त मत्र-दृष्टि के अनुसार ऋक् आदि मन्त्रात्मक अथर्ववेद का अनुप्रवेश है।[९] 'त्रयी' पदलक्ष्य मन्त्र श्रौतयज्ञार्थ ही हैं—यह भी न्यायतः सिद्ध होता है। हमारा अनुमान है कि अथर्ववेद का प्राचीनतम रूप श्रौतयज्ञानुष्ठान के ही किसी अंश को पूर्ण करता था (ऋगादिवेद की तरह)। सम्भवतः उस समय अथर्ववेद यज्ञीय शान्तिकर्म में ही प्रयुक्त होता था ('ब्रह्मा' ऋत्विक् द्वारा)। उस

---

८. मनु० ११।२६३ में ऋगादि तीन वेदों के अभ्यास से पाप से मुक्ति होती है, ऐसा कहा गया है, अथर्वा का नाम नहीं लिया गया।

९. "ननु यज्ञं व्याख्यास्यामः। स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते (सत्याषाढसूत्र १।१) इति स्मरणाद् ऋग्यजुःसाम्नामेव फलवत्कर्मशेषत्वम् अवसीयते" (अथर्ववेद-भाष्यभूमिका, पृ० ११९)।

समय अथर्ववेद के साथ अश्रौत राजपुरोहितों का सम्बन्ध नहीं था, यह सम्बन्ध अर्वाचीनकाल में हुआ है। हमारा यह भी अनुमान है कि इस प्राचीनतम अथर्ववेद में शान्ति के साथ ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक अंश भी था और इसीलिये उस ऋत्विक्-का नाम 'ब्रह्मा' था। ब्रह्मवित् के द्वारा शान्तिकर्म का उपदेश समीचीन ही है

बाद में किसी कारण-विशेष से अथर्ववेद का प्रचार शूद्रादि यज्ञानधिकारियों में अधिक हो गया था। अथर्व वेद के ब्रह्म-ज्ञान-प्रतिपादक अंश के कारण यह वेद दार्शनिक मुनिसम्प्रदाय में समादृत हुआ था और सम्भवतः अथर्व वेद का शान्तिकर अंश जनसमाज में अत्यधिक प्रचलित हो गया था। यह भी हो सकता है कि मुनि-सम्प्रदाय के माध्यम से अथर्ववेद जनसमाज में प्रचलित हो गया हो। चाहे जो भी हो, जनसमाज में प्रचलित हो जाने के कारण जनसमाज में प्रचलित नानाविध विश्वास और आदिमसमाज में प्रचलित कुछ अभिचार आदि भी इस वेद की धारा में अनुप्रविष्ट हो गए थे। जहाँ अन्य वेद 'पारत्रिक' (पारलौकिक फल देनेवाले) हैं, वहाँ अथर्ववेद इहलौकिक है, अथर्वा का यह वैशिष्ट्य विशेषतः ज्ञातव्य है (नागर० २०२।१३-१८)।

इस अभिचारादियुक्त नवीन संयोजित धारा का नाम 'अङ्गिरस्धारा' है, जिसने पूर्वप्रचलित अथर्वधारा से मिलकर 'अथर्वाङ्गिरोवेद' को जन्म दिया। हमारा अनुमान है कि इस काल के बाद अथर्ववेद का स्थान श्रौतयज्ञ से हटने लग गया था। अथर्वाङ्गिरसधारा[१०] का सम्बन्ध पुराणों से भी है (छान्दोग्य० ३।४। १-३) जिससे यह सिद्ध होता है कि यह धारा लौकिक थी। (छान्दोग्य० ७।१।२ में अथर्वाङ्गिरस् को लक्ष्य कर ही आथर्वण कहा गया है, क्योंकि इस काल में दोनों भाग मिलकर एक हो गए थे)। अभिचार आदि का सम्बन्ध अङ्गिरस् धारा से ही है, यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है। अथर्ववेद को सर्वथा लौकिक रूप देने वाली धारा अङ्गिरस् धारा ही है। अङ्गिरसों से भृगुओं का भी सम्बन्ध था, जिसके कारण अथर्ववेद को कभी कभी 'भृग्वङ्गिरोवेद' भी कहा जाता है। इसी दृष्टि से भृगु को "अथर्वणां विधिः" भी ब्रह्माण्ड० २।३०।५१-५२ में कहा गया है। सम्भवतः अथर्वकुल से भृगुकुल का भी सम्बन्ध है।

अथर्व वेद में इस प्रकार की एकाधिक धाराएँ हैं—इसके कई प्रमाण हैं। अथर्वमन्त्रगणना में अथर्वा से पृथक् कर भृगुविस्तार और अङ्गिरस्अंश की गणना

---

१०. अथर्वाङ्गिरस् का शब्दार्थ है—अथर्व–अङ्गिरोदृष्ट मन्त्र; ये मन्त्र जिस वेद में हैं, उस वेद का नाम अथर्वांगिरस है। अकारान्त-सकारान्त भेद से यह अर्थ-भेद है। कहीं-कहीं औपचारिक प्रयोग भी किए गए हैं।

की गई है[११] (द्र० वेदमन्त्रभागपरिमाणपरिच्छेद के अन्तर्गत अथर्वमन्त्र-परिमाण-प्रकरण)। मुख्यतः अथर्ववेद की दो धाराएँ हैं—अथर्वधारा[१२] और अङ्गिरस्धारा। पुराणों में भी द्विविध अथर्ववेद का उल्लेख मिलता है (वायु० ६५।२७ और ब्रह्माण्ड० २।१।२६ में अथर्ववेद को 'द्विशरीरशिराः' कहा गया है)। सम्भवतः इसकी दो धाराएँ दो शिर हैं और अभिचार-शान्तिपुष्टि ही दो शरीर हैं। इसके अतिरिक्त इस विशेषण की और कोई भी संगत व्याख्या नहीं हो सकती।

नागर० ४८।२३-२४ में जो कहा गया है कि अथर्वा वेद पहले 'शतकल्प-शतभेद' था और बाद में 'नवधा पञ्चकल्प' हो गया है—यह कथन भी अथर्वा के द्विविध संस्करण को ही लक्षित करता है। अथर्व और अङ्गिराः नामक महर्षि द्वारा उक्त मन्त्र इस वेद में हैं (बृहदारण्यक भाष्य २।४।१०, सायण अथर्ववेदभाष्य-भूमिका, पृ० १२१-१२२)—यह मत भी इस वेद की दो पृथक् परम्पराओं को लक्षित करता है। ऋगादि किसी वेद के विषय में ऐसी बात नहीं कही जाती।

अथर्ववेद के इस लौकिकस्वभाव के कारण ही यह वेद शूद्रों से भी सम्बद्ध हो गया था, जैसा कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।११।२९।११-१२ से ज्ञात होता है। यही कारण है कि याज्ञिक सम्प्रदाय में अथर्व वेद का स्थान गौण हो गया था, क्योंकि शूद्र यज्ञ में सर्वथा अनधिकृत थे। शूद्र चूँकि वेदाध्ययन-उपनयन का अधिकारी नहीं है, अतः वह यज्ञाधिकारी नहीं हो सकता।

अथर्ववेद की इस निन्द्य स्थिति के कारण 'अथर्ववेदीय ब्रह्मा' का कर्तव्य अन्य तीन वेदों से ही किया जाने लगा (द्र० ऐ० ब्रा० ५।३३) और क्रमशः यज्ञ में अथर्ववेद अनावश्यक हो गया। हमारा अनुमान है कि इसी समय से धर्मकार्य-निर्णय में भी अथर्ववेदी का बहिष्कार हो गया, और ऋगादि तीन वेदों के ज्ञाता ही 'धर्मसंशयनिर्णायिक' रूप में निश्चित किए गए। मनु० १२।११२ में स्पष्टतः इसका निर्देश है। धर्मारण्य० २।२६-२७ में धर्मवित् त्रैविद्य के विवरण में ऋग्-यजुःसामवेदनिष्णातों का ही उल्लेख है।

यज्ञ से पृथक्भूत अथर्ववेद का विकास क्रमशः अयज्ञवादी सम्प्रदायों में होता

---

११. अथर्व और अङ्गिराः का पृथक् उल्लेख (एक वाक्य में) अनेकत्र मिलता है—लिंग० १।२६।२६, २।१७।१६।

१२. अथर्वधारा शान्तिकर है, यह भाग० ३।२४।२३ से ज्ञात होता है (द्र० अथर्ववेदपरिच्छेद)।

गया और गृह्यसूत्रीय कर्मों में अथर्ववेद की परम्परा सुप्रतिष्ठित हो गई।[१३] अधिकांश गृह्यसंस्कार अथर्ववेद से संबद्ध हैं—यह प्रत्यक्षतः भी देखा जा सकता है।

अथर्व की इस अमर्यादित स्थिति के कारण ही ब्रह्मा की मर्यादा घट गई थी और बाद में ब्रह्मा (ऋत्विक्-विशेष) एक प्रकार से अनावश्यक हो गए थे।[१४]

इस प्रकार अर्थववेद याज्ञिक-सम्प्रदाय में न रहते हुए भी साधारण जनसमाज में प्रमुख रूप से प्रतिष्ठित हो गया। शान्तिपुष्टि के साथ साथ अभिचार की अत्यन्त वृद्धि होने लगी। ये अभिचारकर्म ऋत्विजों द्वारा न होकर क्रमशः लौकिक पुरोहितों द्वारा अनुष्ठित होने लगे। उस काल में राजाओं के लिए अभिचार-क्रिया आवश्यक हो गई थी, जिसके कारण अथर्ववित् पुरोहित का आदर (राजाओं द्वारा) होने लगा। अथर्वाङ्गिरस्-कुशल पुरोहित की सत्ता (राजधर्म के प्रसङ्ग में) याज्ञवल्क्यस्मृति १।३१३ में कही गई है। स्मृतिव्याख्या में अथर्वाङ्गिरस्= अभिचारशान्तिप्रधान अथर्वभागविशेष (वीरमित्रोदय) और शांत्यादिकर्म (मिताक्षरा) कहा गया है। राजसम्मानयुक्त यह अथर्ववेद क्रमशः श्रोत्रियसमाज में भी अनुप्रविष्ट होने लगा—यह भी अनुमान होता है।

चूँकि पहले एक बार अथर्ववेद याज्ञिक परम्परा से च्युत हो गया था, इसलिये पुनः उसके अनुप्रवेश के समय अथर्ववेद के वेदत्व पर संशय उत्पन्न होना स्वाभाविक था और यही कारण है कि अथर्ववेद के वेदत्व को लेकर अपेक्षाकृत अप्राचीन ग्रन्थों में विचारविमर्श किया गया है, यद्यपि प्राचीनतर वैदिक ग्रन्थों में अथर्ववेद के वेदत्व पर कुछ भी सांशयिक वाक्य दिखाई नहीं पड़ता।

यही कारण है कि इस काल में कहीं कहीं "त्रयो वेदाः" पद मिलता है।[१५] याज्ञिक दृष्टि से किसी समय वस्तुतः तीन ही वेद माने जाते थे, क्योंकि अथर्व वेद का कोई भी उपयोग यज्ञ में नहीं था।

"त्रयो वेदाः" के विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि कहीं कहीं 'त्रिवेद' का अर्थ 'तीन प्रकार का मन्त्र' (लक्षणा के बल पर) संगत हो सकता है (वेद का अर्थ

---

१३. "अत्र पाकयज्ञशब्देन सर्वमाथर्वणं कर्म उच्यते"—यह सायणवाक्य इस प्रसंग में द्रष्टव्य है (अथर्ववेदभाष्य भूमिका, पृ० १४२)।

१४. याज्ञिक परम्परा में ब्रह्मा का स्थान 'कृताकृत' माना जाता है।

१५. मार्क० ४२।८, वराह० ३।१७, चतुरशीति० ५८।१७। कुछ स्थलों में तो ऋग्यजु० साम ही कण्ठतः कहे गए हैं, अथर्व का उल्लेख भी नहीं किया गया (वायु० ५४।७८, ५४।६)। 'वेदत्रय-प्रतिपाद्य' के अर्थ में 'त्रैवैद्य' पद भाग० ६।२।२४ में है।

'मन्त्र' मानकर)। ऐ० ब्रा० २५।७ में जो "त्रयो वेदा अजायन्त" वाक्य है, वहाँ वेद का अर्थ मन्त्र है, और त्रिविध मन्त्र रूप अर्थ ही लक्षित हुआ है। "अग्नेर्ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः" (शतपथ० ११।५।८, ऐ० ब्रा० २५।७, गोपथ० १।१।६) आदि स्थलों में ऋगादि तीन प्रकार के मन्त्र ही लक्षित हुए हैं, क्योंकि इन वाक्यों पर आवृत मनु० के "अग्निवायुरविभ्यस्तु.....ऋगयजुः सामलक्षणम्" (१।२३) वाक्य में यही अर्थ संगत होता है। छान्दोग्योपनिषद् ४।१७।२-३ के "अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्या दित्यात्" तथा "स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्" वाक्य से भी यही अर्थ उपपन्न होता है। ऐसे स्थलों में 'त्रिविध मन्त्रों में अथर्ववेद का अन्तर्भाव' मानना आवश्यक है, अन्यथा अथर्व० का वेदत्व ही उपपन्न न होगा।

अथर्ववेद को वेद से पृथक् गिनने की प्रवृत्ति भी इसी कारण हुई थी। नागर० ३७।३७ में इस प्रकार की पृथक् गणना का उदाहरण मिलता है। याज्ञवल्क्यस्मृति के "वेदाथर्वपुराणानि...."श्लोक में वेद से पृथक् कर अथर्व वेद की जो गणना की गई है, वह भी इस मनोवृत्ति का ही फल है।[१६]

वेद का चतुर्धा विभाग—वेदसंख्या के विषय में यह मत सर्वत्र प्रसिद्ध है। वैदिक ग्रन्थों में यह मत स्पष्टतः मिलता है।[१७] पुराणों में भी यह मत समादृत हुआ है।[१८]

---

१६. प्रसंगतः एक संभावना की ओर निर्देश किया जा रहा है। ऐसा हो सकता है कि कभी अथर्ववेद का समावेश ऋग्वेद में ही किया गया हो। ऋङ्मय अथर्ववेद का अन्तर्भाव ऋग्वेद में हो ही सकता है। यदि कभी वेदसंहिता का मन्त्र प्रकार के अनुसार ही संकलन हुआ था तो तीन वेद ही प्रणीत हुए थे, यह निश्चित है। अथर्ववेद का कर्तृनामघटित नाम भी ज्ञापित करता है कि ऋग्वेदादि की तरह इसका संकलन स्वाभाविक रूप से न हो कर व्यक्तिविशेषों के पृथक् प्रयत्न से हुआ है। इस पृथक्-निर्माण से पहले इस वेद का अन्तर्भाव ऋग्वेद में था ऐसा अनुमान हो सकता है। न्यायमञ्जरी (पृ० २३७) में इस तथ्य का संकेत है। 'ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है'—इस मत के लिये यह मानना पड़ता है कि कभी अथर्ववेदीय सामग्री ऋग्वेद में अन्तर्भूत थी। अथर्ववेद का पृथक्करण किस समय हुआ था, इसका निरूपण प्रचलित सामग्री के आधार पर करना दुरूह है।

१७. गोपथ० १।१।१६, १।३।१ में चारों वेदों के नाम हैं। मुण्डक० १।१।५ में भी यह स्वीकृत है। निरुक्त १३।७ ख० में चत्वारि शृङ्गाः... (ऋग्० ४।५८।३) की व्याख्या में 'चतुर्वेद की सत्ता इससे संकेतित है' ऐसा स्वीकार किया गया है।

१८. ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वारः (पद्म० ५।१८।५६), ऋग्यजुःसा-

मन्त्रों का पृथक् पृथक् प्रणयन होने के बाद उन मन्त्रों का संकलन कर चार वेदों के रूप में यह विभाग कब किया गया था, इसका निरूपण करना अत्यन्त दुरूह है। चार ऋत्विजों के विभिन्न कर्मों का उल्लेख ऋग्वेद १०।७१।११ में मिलता है, अतः यह कहा जा सकता है कि प्रचलित ऋग्वेद के प्रणयन से भी बहुत पहले से यह चतुर्धा विभाग चला आ रहा है। 'मन्त्रसंहनन' के समय में तत्काल में प्रचलित याज्ञिक क्रिया की सुविधा की दृष्टि से मन्त्रों का चतुर्धा वर्गीकरण किया गया था—इतना ही इस विषय में कहा जा सकता है।

पुराणों में यह जो कहा गया है कि 'प्रत्येक द्वापर में व्यास द्वारा वेद का चतुर्विभाग किया जाता है' यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वेद का चतुर्धा विभाग चिरकाल से कुछ न कुछ बदलता हुआ आ रहा है। वस्तुतः वर्तमान व्यास से पहले जो व्यास थे उनके द्वारा किस रूप से वेद का चतुर्धा विभाग किया गया था, यह अज्ञात है; परन्तु इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि विभिन्न व्यासों द्वारा विभिन्न कालों में जो विभाग किए गए थे, वे समान नहीं थे, क्योंकि ये विभाग यज्ञक्रियानुसारी हैं और यज्ञक्रिया कुछ न कुछ परिवर्तित होती हुई आई है। पुराणों में स्पष्टतः इस तथ्य का संकेत है (वायु० ५७।१२५, ब्रह्माण्ड० १।३०।४८)। कृष्णद्वैपायन से पहले अन्य व्यास थे और उनके द्वारा भी वेद-विभाग किया गया था, इस विषय में साक्षात् प्रमाण भी है। पुराणोक्त व्यासीय शाखानामों में ऐतरेय, शाङ्खायन आदि नाम नहीं मिलते हैं, पर इन नामों की शाखाएँ आज भी प्रचलित हैं; यह तथ्य सिद्ध करता है कि वेदविभाग भी अनेक प्रकार से किए गए हैं (विभिन्न कालों में)।

वस्तुतः व्यास द्वारा कृत चतुर्विभाग एक व्यवस्थापन-मात्र है। चार प्रकार के मन्त्र (द्र० बृहदारण्यक २।५।१०) नियत हैं और याज्ञिकदृष्टि से उनका सज्जीकरण आदि ही व्यास द्वारा किए जाते हैं। पुराणों में यह जो कहा गया है कि ब्रह्मा के मुख से चारों वेद आविर्भूत हुए हैं, यह कथन भी सिद्ध करता है कि चतुर्विभाग-धारा अत्यन्त प्राचीन है या वैदिक परम्परा के आरम्भ से ही चली आ रही है। विभिन्न कालों में विभिन्न व्यासों द्वारा चतुर्विभाग करने का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि यथाकाल वेदधारा के उच्छेद होने की अवस्था आने पर श्रौतपरम्परा के शक्तिशाली महापुरुषों द्वारा वेदों का पुनः सज्जीकरण

माथर्वाख्या विद्या (अग्नि० ३८२।२)। 'चत्वारः वेदाः' का उल्लेख मत्स्य० १३३।३३, लिंग० १।८६।५१-५२, विष्णु० ५।१।३६, प्रभासक्षेत्र० १०५।६२, भाग० १।४।२० में है।

किया जाता है, जिसमें पूर्वधारा को अक्षुण्ण रखने की चेष्टा की जाती है। परन्तु इस प्रकार के सज्जीकरण और विभाजन करने के कारण नवीकृत वेद प्राक्तन वेद से कुछ विलक्षण हो जाया करता है—यह तथ्य "प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते" (मत्स्य० १४५।५८, वायु० ५९।५६)—इस वाक्य से ज्ञात होता है। वस्तुतः सभी शास्त्रों की यही दशा होती है, विशेषकर कर्मकाण्ड-सम्बद्ध शास्त्रों में तो यह नियम बहुलतया चरितार्थ होता है।

चतुर्धा विभाग का हेतु—मन्त्रों के इस चतुर्धा विभाग का आधार याज्ञिक क्रिया ही है, जैसा कि भाग० १।४।१९ में कहा गया है—"व्यदधात् यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्।" वेद यज्ञ का ही प्रतिपादक है, अतः याज्ञिक क्रिया के अनुसार वेद-विभाग करना समीचीन ही है। इस चतुर्धा विभाग का संकेत ऋग्वेद १०।७१।११ में भी मिलता है। चातुर्होत्र (चार ऋत्विक् के कर्म) की सिद्धि ही चतुर्धा विभाग का उद्देश्य है, यह वायु० ६०।१७, कूर्म० १।५२।१६ आदि से ज्ञात होता है।

ब्रह्माण्ड० १।१।१५३-१५४ और पद्म० ५।२।४३-४४ में कहा गया है कि व्यास ने शिव के अनुग्रह से चतुर्धा विभाग किया था। यह 'शार्व अनुग्रह' पद परम्परागत दृष्टि के अनुसार ही है, जिसमें शैवदृष्टि का प्राबल्य स्पष्ट झलकता है। वायु० १।१७९ में इसी स्थल पर 'स्वबुद्धि' पाठ है, जिसका अर्थ होगा अपनी बुद्धि के अनुसार व्यास ने वेद का विभाग किया था। यह पाठ अधिक युक्त है। यह वाक्य यह भी सिद्ध करता है कि वेदविभाग में कुछ न कुछ परिवर्तन भी (युगोपयोगी) व्यासों द्वारा किया गया था, क्योंकि बुद्धि के अनुसार विभाग करना प्रयोजनानुसारी ही होगा और प्रयोजन अवश्य ही युगानुसार होंगे।[१९]

व्यासकृत यह विभाग 'संक्षिप्त' है—"संक्षिप्य स पुनर्वेदान् चतुर्धा कृतवान्" (शिव० ७।१।३७)। यहां संक्षेप का अर्थ अल्पीकरण नहीं है, बल्कि 'सम्यक् सज्जीकरण' ही है। सम् पूर्वक क्षिप् धातु का यह अर्थ संक्षिप्तसार व्याकरण की टीका में 'संक्षिप्त' शब्द की व्याख्या के प्रसङ्ग में व्याख्याकारों ने दिखाया है। ऋगादि मन्त्र ऋत्विक्-कर्मार्थ (व्यास द्वारा) सुसज्जीकृत हुए थे—यह इस पद का निर्गलितार्थ है।

---

१९. याज्ञिक क्रिया के अनुसार मन्त्रों के सज्जीकरण करने के कारण कहीं कहीं मन्त्रों का क्रम तार्किक दृष्टि से असमीचीन प्रतीत होता है। श्री विनायक महादेव आप्टे ने इस मत को सोदाहरण प्रमाणित किया है (Rgveda Mantras in Their Ritnal Setting in the Grhya Sutras **पृ० ४६ तथा अन्यत्र)। अन्यान्य दृष्टियों से भी ऋग्वेद का सज्जीकरण किया जा सकता है।**

वेदों का क्रम—वेद-संख्या के विचार के साथ यह प्रश्न भी उठता है कि क्या वेदों की उत्पत्ति या रचना में कोई निश्चित क्रम है ? क्या वेदों के निर्देश में पुराणों में कोई निश्चित क्रम माना गया है ?

यह प्रश्न इसलिये उठता है कि वेदनाम के निर्देशों में क्रम को लेकर पूर्वाचार्यों ने कहीं कहीं विचार कर कुछ न कुछ निष्कर्ष निकाला है।[२०] एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट होगी। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने चारों वेदों के वाक्यों के उदाहरण देने के समय पहले ही अथर्ववेदीय वाक्य का उल्लेख किया है और उसके बाद क्रमशः ऋक्-यजुः-सामवेदों का उल्लेख किया है।[२१] यद्यपि सामान्यतः वेदक्रम के विषय में यह उत्तर देना पर्याप्त समझा जा सकता है कि 'ऋग्-यजुः-साम-अथर्व' रूप कोई निर्णीत क्रम नहीं है, तथापि छाया-टीकाकार वैद्यनाथ पायगुण्डे ने यह सूचना दी है कि भाष्यकार अथर्वण थे,[२२] इसलिये उन्होंने पहले अथर्ववेद-मन्त्र का उल्लेख किया है। अन्य व्याख्याकारों ने भाष्यकार द्वारा उपस्थापित 'अथर्व-ऋक्-यजुः सामरूप क्रम' का रहस्य (याज्ञिक क्रिया की दृष्टि से) स्पष्टतः प्रतिपादित किया है।

वेदनाम-निर्देश में वेदों का क्रम सर्वथा अविचार्य विषय है, ऐसी बात नहीं है। छान्दोग्य उपनिषत् ७।१।२ में अथर्ववेद को लक्ष्य कर 'चतुर्थ' पद का प्रयोग किया गया है। अथर्ववेदभाष्यभूमिका (पृ० १३८) में सायण ने कहा है कि

---

२०. पदार्थ-गणना में नामों का क्रम भी एक विचार्य विषय माना जाता है। प्रायः व्याख्याकार सूत्रोपात्त नामक्रम की सार्थकता पर भी विचार करते हैं। न्याय-सूत्र १।१।२ में पठित दुःख-जन्म आदि की क्रमिक स्थापना का रहस्य न्यायभाष्य में दिखाया गया है। योगसूत्र १।२० में श्रद्धा-वीर्य-स्मृति आदि का क्रम भी साभि-प्राय है।

२१. भाष्य का सन्दर्भ पस्पशाह्निक में है, यथा—'वैदिकाः खल्वपि। शन्नो देवीरभिष्टये, अग्निमीले पुरोहितम्, इषे त्वोर्जे त्वा, अग्न आयाहि वीतये।" (पृ० १० निर्णयसागर संस्करण)।

२२. भाष्यकार आथर्वण थे—इस विषय में कोई प्राचीन प्रमाण हमें ज्ञात नहीं है। वैदिक वाक्य के उद्धरण में पतञ्जलि अधिकतर काठक संहिता के पाठों को उद्धृत करते हैं—यह ज्ञातव्य है (सं० व्या० इ० पृ० २५३-२५४)। पतञ्जलि आङ्गिरस है, ऐसा मत्स्य० १९६।२५ में कहा गया है। अङ्गिराः अथर्वसंबद्ध है—यह इस प्रसंग में ज्ञातव्य है।

वैदिक व्यवहार के अनुसार ही अथर्व वेद को चतुर्थ कहा जाता है। इस उदाहरण से स्पष्टतः प्रतिभात होता है कि ऋक् आदि क्रम अवश्य वैदिक है।

वैदिक ग्रन्थों में कुछ ऐसे वाक्य हैं, जिनसे ऋगादिक्रम की वैदिकता ज्ञापित होती हैं, अर्थात् इन स्थलों में वेदसम्बन्धी निर्देश ऋगादिक्रमानुसार ही किया गया है,[२३] जहाँ किसी भी क्रम से निर्देश किया जा सकता था। बहुत्र ऋगादिक्रम का इस प्रकार आश्रय करना यह सूचित करता है कि यह क्रम प्राचीन काल में प्रतिष्ठित था।

पुराणगत वेदक्रम—पुराणों में वेदनामों के निर्देश में नाना प्रकार के क्रम दृष्ट होते हैं। यथा—ऋक्सामयजुः (ब्रह्माण्ड० १।१३।१२, मत्स्य० १३३।१३) ऋगथर्वयजुः साम (भाग० १२।६।५०), अथर्व-ऋग्-यजुः-साम (ब्रह्माण्ड० १।३२।६७), ऋक्सामाथर्वयजुः (वामन० ५१।१५), ऋगथर्वसामयजुः (अग्नि० २७१।१) ऋक्सामयजुरथर्व (अग्नि० ९६।३९-४३ ऋत्विक्कर्मोदाहरण), बहुवृच-आथर्वण छन्दोग अध्वर्यु (भविष्य ब्राह्म० १८।१२, तत्तद्वेद के ऋत्विजों के नाम)।

वैदिकग्रन्थों में भी वेद या मन्त्रनाम के निर्देश में सर्वत्र ऋगादि क्रम नहीं माना गया है। प्रसिद्ध पुरुषसूक्त में 'ऋक्-साम-छन्दः-यजुः'—यह क्रम मिलता है (माध्यन्दिनसंहिता ३१।७)। महाभाष्य में शाखासंख्यानिर्देश में 'अध्वर्यु-साम-बह्वृच-अथर्व-रूप' क्रम हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋगादिक्रम सर्वत्र आदृत नहीं है।

ऋग्यजुःसामाथर्वक्रम पुराण स्वीकृत है—यद्यपि सामान्यतया वेदनामनिर्देश में कोई एक निश्चित क्रम पुराणों में नहीं मिलता तथापि हम समझते हैं कि पुराणों में भी ऋगादिक्रम एक मान्य पद्धति है। कुछ विशिष्ट स्थलों में पुराणों में ऋगादिक्रम ही मिलता है, यद्यपि वहाँ अन्य प्रकार का क्रम भी स्वीकृत हो सकता था। यथा—

---

२३. ऋग्यजुःसामाथर्वक्रम के अनुसार वेदादि-मन्त्र का निर्देश गोपथ० १।१।२९ में किया गया है। अथर्व० १०।७।२० में 'ऋग्यजुः-साम-अथर्वाङ्गिरस्' क्रम है। काठकसंहिता ४०।७ ब्रा० में 'ऋग्भिःयजुर्भिः, सामभिः, अथर्वभिः'—कहा गया है। निरुक्त (१३।७ ख०) में यही क्रम है (अथर्व नाम को छोड़ कर)। मुण्डक० १।१।४ में अपराविद्या की गणना में भी यही क्रम अपनाया गया है। चरणव्यूह में ऋगादिक्रम के अनुसार शाखानिर्देश किया गया है। शतपथ० १४।५।४।१०, ११।५।८।३ आदि में भी यही क्रम है। मनु० १।२३ आदि ग्रन्थों में भी यह शैली दृष्ट होती है (मन्त्रों की विवक्षा होने के कारण अथर्व नाम सार्वत्रिक नहीं है)।

पुराणों में ब्रह्मा के मुख से वेदाविर्भाव के उल्लेख में सर्वत्र 'ऋग्यजुः सामाथर्वक्रम' ही रखा गया है (विष्णु० १।५।५२-५५, पद्मसृष्टि० ३।१०२-१०६, लिङ्ग० १।७०।२४३-२४६ वायु० ९।४८-५२, ब्रह्माण्ड० १।८।५०-५३ इत्यादि)। यह विषय ईषत् भिन्न रूप से भाग० ३।१२।२२ और भविष्य० २।५२-५५ में आया है, पर वहाँ भी ऋगादिक्रम ही है।

इन स्थलों में यद्यपि यह नहीं कहा गया है कि वेदाविर्भाव का यही क्रम है ('ततः' या इस प्रकार के किसी पद के प्रयोग न होने के कारण) तथापि इस क्रम के सार्वत्रिक निर्देश के कारण यह निर्देश स्वेच्छाकल्पित है—यह कहा जा सकता है।

उसी प्रकार वेदशाखावर्णन (द्र० ऋगादि-शाखापरिच्छेद) में भी सर्वत्र ऋगादिक्रम के अनुसार ही शाखावर्णन किया गया है।

इन दोनों विशिष्ट स्थलों के अतिरिक्त निम्नोक्त स्थलों में भी ऋगादिक्रम ही स्वीकृत हुआ है—

१—ओंकार से वेदोत्पत्तिवर्णन (वायु० २६ वाँ अध्याय)। यहाँ अथर्ववेद का नाम नहीं लिया गया।

२—श्रीसूक्त का प्रतिवेदीय विवरण (अग्नि० २६३।१-३, विष्णुधर्म० २।१२८।२-६)।

३—अपरा-विद्यागत वेदों का नामनिर्देश (लिङ्ग० १।८६।१-५२, अग्नि० १।१५ इत्यादि)।

४—यहाँ तक देखा गया है कि वेदनामघटित स्तुतियों में भी ऋगादि-क्रम अपनाया गया है (ब्रह्म० ५९।४९-५४)।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि ऋगादि-क्रम पूर्णतः स्वीकृत और व्यवस्थित है। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ वस्तुतः वेद के विषय में प्रतिज्ञापूर्वक कुछ कहना अभीष्ट होता है (द्र० वेदोत्पत्ति, वेदशाखागणना आदि) वहाँ ऋगादिक्रम से ही वे विषय उपस्थापित किए गए हैं और जहाँ सामान्यतः वेद-विषय में कुछ कथन-मात्र अभीष्ट है, वहाँ यथेच्छ कोई भी क्रम अपनाया गया है। छन्द मिलाने के लिये भी कहीं कहीं सामान्य स्थलों में वेदनामक्रम में परिवर्तन किया गया है, ऐसा कहना असंगत नहीं है।

ऋग्वेद नाम की प्राथमिकता सायण को भी अनुमत है (ऋग्वेदभाष्य-भूमिका, पृ० १२)।

पुराणों में वेदों के लिये प्रथमादिशब्द—पुराणों में कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ वेदनिर्देश में प्रथम, द्वितीय आदि पदों का प्रयोग किया गया है जिससे यह सिद्ध होता है कि वेदों का 'ऋगादिक्रम' पूर्णतः व्यवस्थित हो चुका था; **यथा**—

१. गरुड० १।४८।११-१२ में चारों वेदों के आदिम मन्त्रों के निर्देशपूर्वक विनियोगप्रदर्शन में ऋगादि-वेद-मन्त्रों के साथ प्रथम, द्वितीय तृतीय और चतुर्थ शब्द का व्यवहार किया गया है। भविष्य ब्राह्म० ३।७१-७४ में "प्रथमम् यत् पिबेदापः यद् द्वितीयम्......." इत्यादि वर्णन में ऋग्यजुःसामाथर्व-क्रम ही रखा गया है।

२. वायु० २६।१७ का "ऋग्वेदं प्रथमं तस्य" वचन, मार्क० १०२।१ का "ऋचो बभूवुः प्रथमं" वचन तथा "यजुर्वेदो द्वितीयकः, सामवेदः तृतीयस्तु" वचन (चतुरशीति० ५८।१७) भी इस क्रम के ज्ञापक हैं।

३. इस विषय में एक प्रमाण नागर० २७८ अ० में मिलता है, जहाँ साम-वेद के लिये तृतीय और अथर्व वेद के लिये चतुर्थ शब्द का प्रयोग है। इससे पहले ऋग्यजुः का क्रमिक उल्लेख है, अतः ये दोनों वेद भी 'प्रथम-द्वितीय' माने गए हैं, ऐसा अर्थतः सिद्ध होता है।

यह भी ज्ञातव्य है कि बहुधा दर्शनादि ग्रन्थों में वेदों के निर्देश करने के समय ऋग्वेद का नाम ही पहले लिया जाता है (ब्रह्मसूत्र १।१।३ का शारीरकभाष्य) ऐसे व्यवहारों से भी ऋग्वेद का प्राथम्य (और प्राधान्य भी) सिद्ध होता है।

ऋगादिक्रम के विषय में एक विशिष्ट बात ज्ञातव्य है। जयन्तभट्ट ने न्याय-मञ्जरी पृ० २ में अथर्व वेद को 'प्रथम वेद' माना है—"तत्र वेदाश्चत्वारः, प्रथमोऽथर्ववेदः"। यह मत नागर० २०२।१३-१८ में भी मिलता है, क्योंकि यहां अथर्ववेद को 'आद्य' कहा गया है। न्यायमञ्जरीकार ने यद्यपि स्वपक्ष की सिद्धि के लिये कोई शब्द-प्रमाण या तर्क प्रस्तुत नहीं किया है, पर नागरखण्ड में अथर्ववेद के आद्यत्व के लिये युक्ति दी गई है कि सार्वलौकिक कार्यसिद्धि में चूंकि अथर्व ही प्रमुख रूप में द्रष्टव्य होता है, इसलिये वह 'आद्य' है। सम्भवतः अथर्ववेद की इहलोकात्मकता को लक्ष्य कर जयन्त ने अथर्व को 'प्रथम' वेद कहा है (न्यायमञ्जरी, पृ० २३५)। जयन्त ने अथर्ववेद के प्राथम्य पर पुष्कल विचार भी किया है (पृ० २३७-२३८)। यहाँ अथर्ववेद का प्राधान्य (अन्य की अपेक्षा) भी प्रतिपादित हुआ है।[२४]

वेदों की पारस्परिक तुलना—वेदक्रम के बाद वेदों की पारस्परिक तुलना तथा प्राधान्य पर विचार करना आवश्यक है। प्रत्येक वेद की उपयोगिता के प्रसङ्ग

---

२४. 'आदि' का अर्थ प्रधान भी होता है; प्रथम का भी यह अर्थ हो सकता है। इस दृष्टि से आद्य-प्रथम-शब्दों के व्यवहार से 'प्राधान्य' ही विवक्षित है, ऐसा कहा जा सकता है। ऐसा होने पर भी वेदों के क्रम का अपलाप नहीं किया जा सकता।

में तत्तत् वेद की महिमा का वर्णन यथास्थान किया जाएगा। यहाँ प्रत्येक वेद के प्राधान्य पर सामान्यतः विचार किया जा रहा है।

ऋग्वेद का आपेक्षिक प्राधान्य—वायु० ७९।९५ और ब्रह्माण्ड० २।१५।६८ में ऋग्वेद को लक्ष्य कर "ऋचश्च यो वेद स वेद वेदान्" कहा गया है। मूलतः यह श्लोक बृहद्देवता ८।१३० का है। इस वाक्य से यह ध्वनित होता है कि सब वेदों में ऋग्वेद प्रधान है अन्यथा ऋग्वेद-ज्ञान से सर्ववेदज्ञान का होना उपपन्न नहीं होता। इस दृष्टि से ही हरिवंश० ३।२४।११ में "ऋचश्च संचयाः सर्वाः सामगानां च" कहा गया है। इसकी टीका में नीलकण्ठ ने कहा है कि साम और यजुर्वेद का भी संचय ऋक् है। ऋग्वेद में इन दोनों वेदों का अन्तर्भाव होता है, यह इस वाक्य का तात्पर्य है। अन्य वेद वस्तुतः ऋग्वेद के अधीन या 'परिचरण' रूप हैं जैसा कौ० ब्रा० ६।११ में कहा गया है—"बह्वृचमितित्वेव स्थितम्, एतत्परिचरणा वितरौ वेदौ"। ऐ० आ० २।१० में अत्यन्त स्पष्ट रूप में सब वेदों को ऋक्रूप ही माना गया है—"सर्वे वेदा.....ऋच इत्येव विद्यात्"।

इस विषय में पुराणीय सामग्री बहुत ही स्वल्प है। काशी० ३५।५१ में "वेदान् ऋक्प्रमुखान्" कहा गया है। शान्ति० की नीलकण्ठी टीका (२४६।१४) में "सर्ववेदश्रेष्ठादृग्वेदात्" वाक्य मिलता है। ऋग्भाष्यभूमिका में सायण ने ऋग्वेद को सब वेदों से अभ्यर्हित माना है—"अतः अन्यैर्वेदैरादृतत्वाद् अभ्यर्हितत्वम्" (पृ० १२)।

वैदिकग्रन्थों में भी ऋग्वेद का प्राधान्य कीर्तित हुआ है। तै० सं० ६।५।१०।३ में कहा गया है—"'यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद् यद् ऋचा तद् दृढम्"। याज्ञिक दृष्टि के अनुसार ही ऐसा कहा गया है, पर इसकी उपपत्ति चिन्तनीय है।

यजुर्वेद का प्राधान्य—याज्ञिक दृष्टि से यजुर्वेद की प्रधानता स्वीकार्य है। सायण ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में 'यजुर्वेद की ही व्याख्या पहले करनी चाहिए', इस मत के प्रतिपादन करने के समय यजुर्वेद को इतर वेदों का उपजीव्य ही कहा है—"अध्वर्युसंबन्धिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररूपौ अवयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्येते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम् (पृ० १४)। वस्तुतः याज्ञिक दृष्टि से ही यजुः का प्राधान्य है, यह सायण के "आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्यात्" वाक्य (ऋग्वेदभाष्यभूमिका पृ० ११) से सिद्ध होता है।

पुराणों में भी क्वचित् यह दृष्टि मिलती है। यजुर्वेदनाम की व्याख्या के प्रसङ्ग में इस पर विचार किया जाएगा। लिङ्ग० १। १७।७० में "एवमोमोमिति प्रोक्त-

मित्याहुर्यजुषां वराः" कहा गया है। प्रकरण से यहाँ यजुर्वेद की श्रेष्ठता ध्वनित होती है। शिवतोषिणी टीका में कहा गया है—"अनेन यज्ञेषु यजुर्वेदस्यैव प्राधान्य-मुक्तम्"। टीकाकार ने इस प्रसङ्ग में "तस्य यजुरेष शिरः" (तैत्तिरीय उप० २।३) वाक्य उद्धृत किया है।[२५]

सामवेद का प्राधान्य—सामवेद की श्रेष्ठता पुराणों में प्रायः कही गई है। सामवेद-परिच्छेद में इस पर विशद विचार द्रष्टव्य है।

अथर्ववेद का प्राधान्य—पुराणों में इस विषय में एक विशिष्ट बात मिलती है कि इस वेद की लौकिकार्थपरायणता के कारण सर्वकार्यसिद्धि के लिये यह "प्रथमं द्रष्टव्यः" है और इसीलिये यद्यपि यह क्रमानुसार चतुर्थ है तथापि इसको आद्य माना गया है (नागर २०२।१३-१८)। सम्भवतः इसी दृष्टि से अथर्व-वेद को 'प्रथम वेद' भी कहीं कहीं माना गया है, जैसा वेदक्रम के विचार में दिखाया गया है।

अथर्ववेद के प्राधान्य का एक अन्य कारण भी हो सकता है। छान्दोग्य० ४।१६। १-२ में कहा गया है कि यज्ञ के दो अंश हैं—एक अंश वाणी से परिचालित होता है और दूसरा मन से; ब्रह्मा नामक ऋत्विक् मन से यज्ञ का संस्कार करता है और होता आदि वाणी द्वारा। इस दृष्टि से यज्ञ में ब्रह्मा का प्राधान्य—अतएव अथर्व-वेद का प्राधान्य भी—सूचित होता है।[२६] इस विषय में शंकराचार्य का यह वाक्य अवलोकनीय है—"स यजमान एवं मौनविज्ञानवद् ब्रह्मोपेतं यज्ञमिष्ट्वा श्रेयान् भवति" (छान्दोग्य० ४।१६।५)। अथर्वमंत्र-जप में तिथि आदि का विचार अनपेक्षित है, ऐसा माना जाता है, (अथर्वपरिशिष्ट२।५); यह मत भी अन्य वेदों से अथर्व वेद का प्राधान्य सूचित करता है।

विषय की दृष्टि से वेदों की तुलना—प्रत्येक वेद के प्रतिपाद्य स्वकीय विषय के सम्बन्ध में पुराणों में स्पष्ट वचन मिलते हैं। भाग० ३।१२।३७ में एक ही श्लोक में चारों वेदों के विषय यथाक्रम "शस्त्र, इज्या, स्तुति-स्तोत्र और प्रायश्चित्त" कहे गए हैं। जो मन्त्र होता से उच्चारित होता है, जिसका गान नहीं किया जाता, वह 'शस्त्र' कहलाता है। इज्या=यज्ञकर्म। यजुर्वेद से यज्ञशरीर की निष्पत्ति होती है—यह प्रसिद्ध है (द्र० यजुर्वेदपरिच्छेद)।

---

२५. इस वाक्य की व्याख्या में शंकर कहते हैं—"यजुः-शब्दस्य शिरस्त्वं प्राधान्यात्। प्राधान्यं च यागादौ संनिपत्योपकारात्"।

२६. इस विषय की विशद व्याख्या के लिये ऋग्वेदभाष्य भूमिका पृ० १३ द्र०।

'स्तोत्र' वह है जो उद्गाता के द्वारा गाया जाता है। इन दोनों के विषय में पूर्वमीमांसा ७।२।१७ का शाबरभाष्य द्रष्टव्य है। स्तोत्रगायकों की स्थिति के विषय में लाटचायन श्रौतसूत्र १।११।१८-२३ द्रष्टव्य है। विभिन्न स्तोत्रों के विभिन्न नाम होते हैं, जैसे, प्रातः स्तवन में गीत स्तोत्र बहिष्पवमान कहलाता है इत्यादि। स्तोत्रगत साम की ही पांच या सात भक्तियाँ होती हैं। (लाटचायनश्रौतसूत्र टीका ६।१०।२)।

स्तुति के साथ स्तोम का उल्लेख सकारण है। 'स्तुत्यर्थ ऋक्समुदाय' को स्तोम कहा जाता है, जो उद्गातृप्रयोज्य है। यह स्तोम त्रिवृत, पञ्चदश, सप्तदश आदि अनेक प्रकार के होते हैं। यतः स्तुतिमय मन्त्रों के विशिष्ट समुदाय स्तोम कहलाते हैं, अतः भागवत में 'स्तुतिस्तोम' रूप समास किया गया है।

प्रायश्चित्त का लक्ष्य ब्राह्म कर्म (ब्रह्मा नामक ऋत्विक् का कर्म) है, यह श्रीधर ने कहा है। अन्य ऋत्विक् के कर्म में त्रुटि को दिखाना और प्रायश्चित्त का उपदेश करना—ये दो ब्रह्मा नामक ऋत्विक् के कर्म हैं, इस दृष्टि से ही श्रीधर ने 'प्रायश्चित्तं ब्राह्मम्' कहा है। ब्रह्मा वस्तुतः सर्ववेदवित् होते हैं,[२७] और इसीलिये उनको ब्रह्मिष्ठ[२८] कहा जाता है (आ० श्रौ० सू० ३।१८।१)

विभिन्न वेदों के प्रतिपाद्य विषयों से संबद्ध पुराणगत वाक्यों का विशदीकरण तत्तद्-वेद-संबन्धी परिच्छेदों में द्रष्टव्य है।

---

२७. ब्रह्मा के विषय में कुछ ज्ञातव्य है। ब्रह्मा द्वारा यज्ञ का निरीक्षण किया जाता है। इस कार्य के लिये ब्रह्मा का सर्ववेदवित् होना अनिवार्य है तथा उनको मानसबलवान् भी होना चाहिए। गोपथ० १।३।२ में ब्रह्मा के मनोबल का उल्लेख है—"मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति"। त्रयीविद्यागम्य ब्रह्मत्व (ऐ० ब्रा० ५।३३) का सम्पादन जब ब्रह्मा करते हैं तब वे सर्ववेदवित् ही हैं, इसमें संशय नहीं हो सकता। ब्रह्मकर्म के प्रतिपादक होने के कारण अथर्ववेद 'ब्रह्मवेद' कहलाता है। मुख्यतः ब्रह्मवेद नाम का यही कारण है। होतृवेद-अध्वर्युवेद आदि नाम की तुलना से यही कारण संगत प्रतीत होता है। अंशतः ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन भी अथर्ववेद में है, इसके कारण भी अथर्व वेद को 'ब्रह्मवेद' कहा जाता है—ऐसा कोई कहते हैं। पर अत्यल्प ब्रह्मप्रतिपादक मन्त्रों के रहने के कारण ब्रह्मवेद रूप नामकरण की युक्तता सन्दिग्ध है।

२८. तै० ब्रा० ३।७।६ के सन्दर्भ से ब्रह्मा की विशिष्ट ज्ञानवत्ता सिद्ध होती है। आ० श्रौ० सू० ३।१८।१ में प्रयुक्त ब्रह्मिष्ठ विशेषण ब्रह्मा की ज्ञानवत्ता का गमक है।

वेदोत्पत्तिकाल में वेदसंबद्ध छन्द आदि—वेदों की पारस्परिक तुलना के प्रसङ्ग में वेदसम्बद्ध छन्द आदि का अन्योन्य-सम्बन्ध भी एक आलोच्य विषय है। हम देखते हैं कि पुराणों में वेद-सृष्टि के प्रसङ्ग में चारों वेदों के साथ छन्द, साम, स्तोम और यज्ञों का भी उल्लेख किया गया है। तत्तद्-वेदों के साथ संबन्धित छन्द आदि का क्या सम्बन्ध है, यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है,[२९] जिस पर यहाँ आलोचना की जा रही है। पुराणों का निर्देश इस प्रकार है—

वेदनाम	छन्द	साम	स्तोम	यज्ञ
ऋक्	गायत्री	रथन्तर	त्रिवृत्	अग्निष्टोम
यजुः	त्रिष्टुप्	बृहत्	पञ्चदश	उक्थ
साम	जगती	वैरूप	सप्तदश	अतिरात्र
अथर्व	अनुष्टुप्	वैराज	एकविंश	आप्तोर्याम

वेदों के साथ छन्द, स्तोम, साम आदि का एतादृश सम्बन्धनिर्देश अनेक ग्रन्थों में मिलता है। निरुक्त ७।३ पा०, गोपथ० १।१७।२०, तैत्तिरीय संहिता ७।१।१ आदि में इस विचार का मूल द्रष्टव्य है।[३०]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वेदों के साथ छन्दः, साम आदि का सम्बन्ध किसी न किसी सादृश्य को लेकर (ब्राह्मण ग्रन्थों के वचनों के आधार पर) कल्पित किया जा सकता है। यह सम्बन्ध वास्तव नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों का यह सम्बन्ध-प्रदर्शन कोई वास्तव प्रमाणसंगत मत नहीं है। यहाँ वस्तुतः "बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि" (निरुक्त ७।२४ ख०) मत के अनुसार ही परस्पर के प्रति सम्बन्धों का प्रदर्शन किया गया है।

ऋग्वेद और गायत्री आदि का सम्बन्ध—ऋग्वेद में गायत्री छन्द सर्वाधिक नहीं है (गायत्री छन्द २४५१ हैं और त्रिष्टुप् ४२५३)[३१] तथापि ऋग्वेद के साथ

---

२९. विष्णु० १।५।५२-५५, वायु० ९।४८-५२; ब्रह्माण्ड० १।८।५०—५३, कूर्म० १।७।५७-६०, लिंग० १।७०।२४३-२४६; शिव० ७।१२।५८-६२; विष्णु० के अतिरिक्त अन्य सभी के पाठ ईषत् भ्रष्ट हैं।

३०. यह साम्य जिस दृष्टि से कल्पित किया गया है, उस पर श्री सामश्रमी महोदय ने भी कुछ विचार किया है (ऐत० आलो० पृ० ७७—७८)

३१. यह गणना छन्दसंख्यापरिशिष्ट के अनुसार है। यह ग्रन्थ किस शाखा से सम्बद्ध है, यह निश्चित नहीं है। इस गणना में बालखिल्य सूक्तों का समावेश नहीं है, अतः यह शैशिरिशाखा का हो सकता है, क्योंकि ये सूक्त इस शाखा में सम्मिलित नहीं हैं।

गायत्री का सम्बन्ध दिखाया गया गया है, जो यह सकारण है। ऋग्वेद का सम्बन्ध अग्निदेवता से माना जाता है (शतपथ० ११।५।८।३) और अग्नि पृथिवी-स्थानीय देवता है। इसी प्रकार भूर्लोक के साथ ऋग्वेद का सम्बन्ध भी षड्विंश ब्रा. १।५ आदि में स्वीकृत है। शतपथ० ४।६।७।२ भी इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है।

अग्नि के साथ गायत्री का सम्बन्ध माना जाता है (शतपथ० ३।४।१।१९, १।८।२।१३)। ताण्डच ब्रा० १६।५।१९ में "गायत्रछन्दा अग्नि" कहकर इस मत को पुष्ट किया गया है। इस परम्परा-सम्बन्ध से ही संभवतः ऋग्वेद का छन्द गायत्री माना जाता है।[३२] पिङ्गलछन्दःसूत्रोक्त गायत्री का देवता अग्नि है, यह भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है (३।६३)।

इसी प्रकार ऋग्वेद के साथ रथन्तर का भी सम्बन्ध है। ब्राह्मणग्रन्थों में "ऋग्रथन्तरम्" कहा गया है। (ताण्डच० ७।६।१७)। ऋग्वेदसम्बद्ध गायत्री को रथन्तर की योनि कहा गया है (ताण्डच० १५।१०।५)। पृथिवीलोक, जो ऋग्वेद संबद्ध है, को रथन्तर के रूप में कल्पित किया गया है—"अयं वै पृथिवीलोको रथन्तरं छन्दः" (शतपथ० ८।५।२।५, द्र० ऐ० ब्रा० ८।१)। ऋग्वेदोत्पत्तिस्थान-भूत अग्नि को भी रथन्तर का रूप माना गया है (ऐ० ब्रा० ५।३०)।

ऋग्वेद के साथ त्रिवृत्स्तोम[३३] का सम्बन्ध विचार्य है। अग्नि को त्रिवृत् कहा गया है (तै० ब्रा १।५।१०।४)। सम्भवतः इस सादृश्य से ही अग्निमूलक ऋग्वेद के साथ त्रिवृत् की उत्पत्ति कही गई हो। सोमयज्ञों में अग्निष्टोम का प्राधान्य और प्रमुखता है, जिस प्रकार वेदों में ऋग्वेद का। त्रिवृत् के साथ अग्निष्टोम का निकट-तम सम्बन्ध भी है (सायणीय ऋग्भाष्यभूमिका, पृ० ९७)। सम्भवतः इसीलिये इन सबों को एकत्र सम्बद्ध किया गया है।

आवृत्ति-भेद से स्तोम विविध प्रकार के होते हैं, जिनमें केवल त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश और एकोनविंश का उल्लेख ऋगादि चारों वेदों के साथ

---

३२. तान्त्रिक दृष्टि में भी छन्द आदि से संबन्धित ऐसे व्यवहार स्वीकृत हैं। सप्तशती के अन्तर्गत त्रिदेवीचरितवर्णनात्मक अंशों के लिये यथाक्रम गायत्री-उष्णिक्-अनुष्टुप् छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जब कि सप्तशती का एक भी श्लोक गायत्री-उष्णिक् छन्द में रचित नहीं है। वैदिक विषयों को तन्त्र में अन्तर्भूत करने का यह प्रकृष्ट उदाहरण है। सप्तशती-पाठ का बहुल प्रयोग तान्त्रिक सम्प्रदाय में ही है।

३३. स्तोत्र पाठ काल में संपादित तृच की एक विशेष प्रकार की आवृत्ति स्तोम कही जाती है। आवृत्ति के भेद से स्तोम के नाम होते हैं (ऐ० आ० १।२।२ सायणभाष्य)।

यथाक्रम किया गया है। अन्य स्तोमों का उल्लेख क्यों नहीं किया गया, जबकि अन्य स्तोमों का भी सम्बन्ध वेदों से प्रतीत होता है—ऐसा प्रश्न हो सकता है। यतः ये चार स्तोम ही स्तोमों में वीर्यवत्तम माने गए हैं (ताण्ड्य० ६।३।१५), अतः स्तोम के उल्लेख में इन चारों का ही उल्लेख किया गया है। जिस सादृश्य से जिस स्तोम को जिस वेद के साथ जोड़ा गया है, वह यथास्थान उल्लिखित हुआ है।

अग्निष्टोम (सोमयज्ञ) को ऋग्वेद के साथ संयुक्त करने का हेतु है। अग्निष्टोम को अग्नि माना जाता है (ऐ० ब्रा० ३।४१; शतपथ० ३।९।३।३२) और "त्रिवृत् अग्निष्टोमः" भी कहा जाता है (षड्विंश ब्रा० ३।९)। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार ऋग्वेद वेदों में मुख्य है, उसी प्रकार सोमसंस्थाओं में अग्निष्टोम की श्रेष्ठता स्वीकृत है (कौ० ब्रा० १९।८)। प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि तै० ब्रा० १।८।७।१ में अग्निष्टोम को यज्ञमुख माना गया है और सायण भी इसको मुख्य यज्ञ के रूप में प्रतिपादित करते हैं (ताण्ड्य० ब्रा० ६।३।१-२ भाष्य)।

यजुर्वेद और त्रिष्टुप् आदि का सम्बन्ध—यद्यपि यजुर्वेद यजुर्बहुल है और यजुः में मुख्यतः त्रिष्टुप् आदि छन्द नहीं हो सकते, तथापि यजुर्वेद के साथ त्रिष्टुप् की उत्पत्ति दिखाना सहेतुक है। यजुर्वेद के साथ राजन्य या क्षत्रिय का सम्बन्ध माना जाता है ("यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्", तै० ब्रा० ३।१२।९।२) और ब्राह्मणकारों ने "त्रिष्टुप्छन्दा वै राजन्यः" कहा है (तै० ब्रा० १।१।९।६)। यह भी ज्ञातव्य है कि यजुर्वेद के साथ अन्तरिक्षस्थान इन्द्र का सम्बन्ध माना जाता है और त्रिष्टुप् का देवता भी इन्द्र है (द्र० पिङ्गलछन्दः सूत्र ३।६३)।

यजुर्वेद के साथ बृहत्साम का सम्बन्ध है। त्रिष्टुप् का यजुः से सम्बन्ध है और त्रिष्टुप् के साथ बृहत् का सम्बन्ध ताण्ड्य ब्रा० ४।४।१०, ५।१।१४ में प्रतिपादित हुआ है। बृहत्साम को क्षत्र कहा गया है (ऐ० ब्रा० ८।१) और क्षत्रिय का सम्बन्ध यजुर्वेद से है; यह सादृश्य भी इस मत का हेतु हो सकता है।

यजुः के साथ पञ्चदश स्तोम का सम्बन्ध विचारार्ह है। यजुः के साथ क्षत्रिय या राजन्य का सम्बन्ध माना गया है—"यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्" (तै० ब्रा० ३। १२।९।२)। और राजन्य या क्षत्र के साथ पञ्चदश स्तोम का सम्बन्ध बहुधा कथित हुआ है (ऐ० ब्रा० ८।४, ताण्ड्य ब्रा० १९।१७।३, ६।१।८)। ताण्ड्य० ५।१।१४ में उक्त "त्रैष्टुभः पञ्चदशस्तोमः" वाक्य इस सम्बन्ध को और भी स्पष्ट करता है।

उक्थरूप सोम संस्था को यजुर्वेद के साथ जोड़ा गया है। यजुर्वेद से अन्तरिक्ष-स्थान का सम्बन्ध है और उक्थ अन्तरिक्षसंबद्ध है, क्योंकि उक्थ से अन्तरिक्ष-जय करने का उल्लेख ब्राह्मणों में मिलता है (ताण्ड्य० ९।२।९, २०।१।३)।

सामवेद के साथ जगती आदि छन्दों का सम्बन्ध—सामवेद के साथ जगती-

छन्द का सम्बन्ध विचार्य है। वैश्य के साथ सामवेद को संयुक्त किया गया है और वैश्य के विषय में "जागतो वै वैश्यः (ऐं० ब्रा० १।२८) या 'जगतीछन्दा वै वैश्यः" (तै० ब्रा० १।१।९।७) कहा जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि सामवेद का एक नाम 'छन्दः' है (क्योंकि सामग=छन्दोग है), और जगती को 'सर्वछन्दोरूप' माना जाता है—"जगती सर्वाणि छन्दांसि" (शतपथ० ६।२।१।३०)। किंच सामवेद आदित्य-मूलक है और ब्राह्मणों में आदित्य के साथ जगती का संबन्ध दिखाया गया है (तै० ब्रा० २।७।१५।५, जै० उप० ब्रा० १।१८।६)। कहीं कहीं तो जगती को आदित्य की पत्नी भी कहा गया है (गोपथ० २।२।९)।

सामवेद के साथ वैरूप साम का सम्बन्ध स्पष्टतः प्रतीत नहीं होता। ऐ० ब्रा० ८।१२ में "आदित्यास्त्वा जागतेन छन्दसा सप्तदशेन स्तोमेन वैरूपेण साम्नाऽरोहन्तु" कहा गया है। सम्भवतः इस प्रकार का दृष्टिकोण ही जगती छन्द के साथ वैरूप को संयुक्त करता है और परम्परा-सम्बन्ध से सामवेद के साथ वैरूप को संबद्ध करता है।

सप्तदश-स्तोम के साथ सामवेद का सम्बन्ध भी पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण के वाक्य से ज्ञात होता है। जगती छन्द का सम्बन्ध वैश्य के साथ माना गया है (तै० ब्रा० १।१।९।७) और विट् (वैश्य) को सप्तदशस्तोम के रूप में कल्पित किया गया है (ताण्ड्य० १८।१०।९, २।७।५, २।१०।४)। इस दृष्टि से सामवेद के साथ सप्तदश स्तोम का सम्बन्ध समीचीन माना जा सकता है।

अतिरात्ररूप सोमसंस्था से सामवेद का सम्बन्ध चिन्तनीय है। अतिरात्र से द्युलोकजय करने का उल्लेख ताण्ड्य ब्रा० ९।२।९ में है। द्युस्थान से सामवेद का सम्बन्ध माना जाता है। द्युस्थान आदित्य से सामकी उत्पत्ति भी कही गई है। संभवतः इस सादृश्य के कारण सामवेद के साथ अतिरात्र का उल्लेख किया गया है।

अथर्ववेद और अनुष्टुप् छन्द आदि का सम्बन्ध—अथर्व वेद के साथ अनुष्टुप् का सम्बन्ध स्पष्टतः प्रतीत नहीं होता। अनुष्टुप् को 'छन्दों का अन्त' कहा गया है (ताण्ड्य० १९।१२।८)। अथर्व वेद भी वेद का अन्तिम (चतुर्थ) है, पर केवल इस सादृश्य के कारण अथर्व वेद के साथ अनुष्टुप् का उल्लेख किया गया है, ऐसा कहना संगत नहीं जँचता। यह कहना अधिक संगत है कि अनुष्टुप् को सोम का छन्द कहा गया है (अनुष्टुप् सोमस्य छन्दः—कौ० ब्रा० १५।२, १६।३) और चन्द्र अथर्ववेद का देवता माना गया है (अथर्वणां चन्द्रमा देवतम्—गोपथ० १।१।२९), अत एव सोम=चन्द्र के साथ अनुष्टुप् का सम्बन्ध होने के कारण चन्द्रदेवतावाले अथर्व वेद के साथ भी उसका सम्बन्ध जोड़ा गया है। सोम अनुष्टुप् का देवता है, यह मत पिंगलछन्दसूत्र ३।६३ में मिलता है।

अथर्ववेद के साथ वैराज साम का सम्बन्ध भी अन्वेष्य है। अथर्व वेद तथा एक-विंश स्तोम और आप्तोर्याम का सम्बन्ध भी स्पष्ट नहीं है।

वेद और दिक्——प्रायः पुराणों में ऋग्वेदी होता, यजुर्वेदी अध्वर्यु, सामवेदी उद्गाता और अथर्ववित् ब्रह्मा का स्थान क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर-दिक् दिखाया गया है। इसका मूल तै० ब्रा० ३।१२।९।१ में है।

वेदसम्बन्धी काल्पनिक तुलना——अर्वाचीनकाल में जब केवल कर्मकाण्डीय दृष्टि ही सर्वत्र प्ररूढ़ हो गई थी, तब नाना प्रकार के काल्पनिक मतों के आधार पर वेदों की तुलना की जाती थी। ऋगादि चार वेदों को यथाक्रम सात्त्विक, राजस, तामस और तमस्सत्त्व के रूप में मानना (मार्क० १०२।७) ऐसी ही एक काल्पनिक दृष्टि है। ऋगादि वेद शब्दात्मक हैं, अतः सात्त्विकादि विभाग सर्वथा अनुपपन्न है। ऋगादिवेदों के प्रतिपाद्यविषय के आधार पर (शंसन, यजन आदि) भी ऐसा विभाग नहीं किया जा सकता। प्रतीत होता है कि गुणत्रय की सर्वव्यापिता को दिखाने के लिये ऐसा आरोप किया गया है। निरुक्त या बृहद्देवता आदि में इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं मिलता। विष्णु, ब्रह्मा और शिव को यथाक्रम ऋग्, यजुः, साम का अधिपति मानना (वराह० २।७६-८०) भी एक ऐसी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति है। पौराणिक काल में त्रिदेव की प्रमुखता के कारण समन्वयात्मक दृष्टि से ऐसा कहा जाता था, जो मौलिक वैदिक दृष्टि नहीं है।[३४]

इस दृष्टि का अतिरेक भी देखा जाता है। भविष्य० ४।१८६।५-६ में ऋगादि चारों वेदों के रूप के विषय में यथाक्रम साक्षसूत्र, सपंकज, वीणाधारी, स्रुक्स्रुचान्वित——ये विशेषण दिए गए हैं। यहां कर्मकाण्डीय दृष्टि प्रबल है, और यत्किंचित् सादृश्य (यथा, गानप्रधान सामवेद के लिये 'वीणाधारी') को लेकर ही ये विशेषण दिए गए हैं, जो वस्तुतः अनावश्यक और असार्थक हैं। इसी प्रकार मार्क० १०२। १-५ में ऋक् को जवापुष्पनिभ, यजुः को काञ्चनवर्णनिभ और अथर्व को भृङ्गाञ्जनचयप्रभ कहा गया है (पाठभ्रष्टता के कारण साम का विशेषण त्रुटित हो गया

---

३४. यह निश्चित है कि ऋग्यजुष् आदि शब्दों से नाना प्रकार के तत्त्व अभिहित हुए हैं, जैसा कि तैत्तिरीय ब्रा० ३।१२।९।१ में कहा गया है——"ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः" इत्यादि। इस ग्रन्थ में इस विषय पर विचार करना अप्रासंगिक होगा। प्रमाणरूपेण उपन्यस्त ऋगादिवेद शब्दात्मक ही हैं, किसी तत्त्वादि के वाचक नहीं, यह ज्ञातव्य है। उपासना-सिद्धि के लिये वेदों पर आध्यात्मिक दृष्टि का उपदेश उपनिषदादि में मिलता है। मुख्यतः वेद शब्दराशि ही है——"वेदशब्देन शब्दराशिर्विवक्षितः" (मुण्डक० १।१।५ का शांकरभाष्य)।

है)। प्रभास क्षेत्र० ३।२४-२८ में ऋग्वेद को मूर्तिमान् शक्रनीलसमद्युति, यजुर्वेद को शुद्ध-स्फटिकसंनिभ, सामवेद को रक्ताम्बरधर और अथर्ववेद को नवश्याम कहा गया है।

पुराणों के इस विवरण का वैदिक मूल नहीं मिलता। चरणव्यूह में ऋग्वेद को पद्मपत्राक्ष, सुविभक्तग्रीव, श्वेतपर्ण आदि कहा गया है। उसी प्रकार यजुर्वेद को पिंगलाक्ष, कृष्णवर्ण इत्यादि, सामवेद को स्रग्वी, आदित्यवर्ण इत्यादि और अथर्व वेद को तीक्ष्ण, प्रचण्ड, महानीलोत्पलवर्ण इत्यादि कहा गया है (पृ० ४७)। यहाँ कर्म-काण्डीय दृष्टि है और यत्किंचित् सादृश्य (यथा अभिचार-बहुल अथर्व वेद के लिये तीक्ष्ण आदि) को लेकर यह वर्णन किया गया है।[35] इसी स्थान पर चारों वेदों के गोत्र (आत्रेय, काश्यप, भारद्वाज, वैतान) भी कहे गए हैं, जो पुराणों में अनुल्लिखित हैं।[36]

प्रत्येक वेद का प्रथम मन्त्र—ऋगादि चार वेदों के प्रथम मन्त्र के विषय में पुराणों में कुछ निर्देश मिलते हैं। इस प्रकार के निर्देश प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। गोपथ० १।१।२९ में चारों वेदों के प्रथम मन्त्र के प्रतीक दिए गए हैं। वेदों की अनुक्रमणिकाओं में भी आदिम मन्त्र का निर्देश प्रायेण मिलता है (शुक्लयजुः सर्वानुक्रमसूत्र, पृ० १२)। सायणादि भाष्यकारों ने भी कहीं कहीं व्याख्येय शाखा के प्रथम मन्त्र का निर्देश किया है (अग्निमीले इत्यारभ्य यथा वः सुसहासति इत्यन्ता दाशतयीनां सीमा—ऐ० ब्रा० सायण भाष्य)।

वेदादिम-मन्त्र का तात्पर्य—पुराण और वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार के जो निर्देश मिलते हैं उनमें कई विचार्य विषय हैं। जहाँ 'ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र अमुक है' ऐसा उल्लेख मिलता है, वहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि क्या यह मन्त्र ऋग्वेद की सभी शाखाओं का आदिम मन्त्र है। वेद शब्द से वेद की किसी एक शाखा का ग्रहण किया जाता है—ऐसा वैदिकों का प्रसिद्ध व्यवहार है। पुराणों में भी जहाँ ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र उल्लिखित है, वहाँ पुराणकार द्वारा स्वीकृत किसी ऋग्वेदीय

---

३५. श्री तत्त्वनिधि पृ० ९६ में ऋक्आदि वेदों के वर्ण आदि कहे गए हैं।

३६. किसी एक मर्यादा को प्रसिद्धि सर्वत्र स्वीकृत हो जाने पर वह मर्यादा अन्यत्र भी प्रयुक्त होने लगती है, यह न्याय सार्वत्रिक है। यही कारण है कि ग्रहों में (ताजिकनीलकण्ठी, २।१-८), युगों में (बृहत्पराशरस्मृति १।३६-३७) और स्वरों में भी (याज्ञवल्क्य शिक्षा, १।३-४) वर्णव्यवस्था मानी जाती है। इसी प्रकार वेद पर भी ये दृष्टियाँ अवास्तव रूप से प्रचलित हो गई हैं।

शाखा का प्रथम मन्त्र ही निर्दिष्ट हुआ है—ऐसा समझना चाहिए। अन्यान्य वेद के विषय में भी यही नियम है।

वस्तुतः ऋग्वेद किसी एक ग्रन्थ का नाम नहीं है। प्रत्येक आर्च शाखा ऋग्वेद है। इसलिये स्वशाखाध्ययन करने पर उसे सम्पूर्ण वेद का अध्येता माना जाता है। प्राचीन वैदिक परम्परा में स्वशाखाध्ययन की ही कर्तव्यता प्रतिपादित की गई है (काण्व-संहिता-भाष्यभूमिका, पृ०[३७] १०५, चौखम्भा संस्क०। इस दृष्टि से कहीं कहीं परशाखाध्ययन की निन्दा भी की गई है (गृह्य संग्रह २।९३)। परशाखाध्ययन की अप्रशस्तता सम्बन्धी विचार शतपथ ब्रा० १।४।१।३५ में मिलता है। स्वेतरशाखापाठ का प्रत्याख्यान भी शतपथ ब्राह्मण में किया गया है (१।७।१।३; यहां तैत्तिरीय संहिता १।१।१ में पठित 'उपायवः स्थ' इस अंश का निराकरण किया गया है)।

आदिम मन्त्रों की असमानता—वेद के आदिम मन्त्र के विचार में यह ज्ञातव्य है कि किसी एक शाखा का आदिम मन्त्र अन्य सब शाखाओं का भी आदिम मन्त्र होगा, यह सर्वथा निश्चित नहीं है। सामवेद की कौथुम-राणायनीय-जैमिनि-शाखाओं के आदिम मन्त्र समान हैं, पर अथर्व वेद के पिप्पलाद-शौनकशाखा के आदिम मन्त्र पूर्णतः पृथक् हैं। कृष्णयजुर्वेद की उपलब्ध संहिताओं के आदिम मन्त्र पाठ-भेदों से पूर्ण हैं। शुक्ल यजुर्वेद के काण्व-माध्यन्दिन शाखाद्वय के प्रथम मन्त्रों में भी पाठ-वैलक्षण्य हैं। ऋग्वेद की शाङखायन-वाष्कलादि शाखा यद्यपि अनुपलब्ध हैं, तथापि व्याख्यान-ग्रन्थ से जाना जाता है कि इनके प्रथम मन्त्र शाकलशाखावत् ही थे। ऋग्वेद की अन्यान्य शाखाओं के आदिम मन्त्र के विषय में निश्चय कर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अतः यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष दर्शन से या प्राचीन व्याख्यान की सहायता से ही संहिताओं के आदिम मन्त्रों का निर्णय करना चाहिए।

आदिम मन्त्र के पौराणिक निर्देश—यद्यपि संहिताओं के आदिम मन्त्रों में पार्थक्य है, तथापि स्वाभिमत शाखा को वेद[३८] मानकर उसके प्रथम मन्त्र को वेद

---

३७. **"हित्वा स्वस्य द्विजो वेदं यस्त्वधीते परस्य तु। शाखारण्डः स विज्ञेयः सर्वकर्मबहिष्कृतः"—इस लघ्वाश्वलायन वचन (२४।१९) में वेद का अर्थ एक निश्चित शाखाविशेष है। यहाँ वेद=शाखा=स्वशाखा है। पितृपरम्परा में अनुवर्तमान स्वशाखा का त्याग अवैध है (मनु० ३।२ पर मेधातिथि भाष्य)। 'वेद' शब्द का एकवचनान्त प्रयोग कभी कभी शाखान्तराध्ययनव्यावृत्ति के लिये भी किया जाता है (याज्ञवल्क्यस्मृति १।५७ की विश्वरूप कृत टीका)।**

३८. **विभिन्न पुराणों (या पुराणगत अंशविशेषों) के रचयिता विभिन्न**

के आदिम मन्त्र के रूप में निर्दिष्ट किया जा सकता है। इसी दृष्टि से पुराणों में कहीं कहीं वेद के आदिम मन्त्र का उल्लेख किया गया है, यथा–

(क) वायु० (२६ अ०, यह प्रकरण ब्रह्माण्ड० में नहीं है) में ओंकार की त्रिमात्रा के साथ वेदाविर्भाव का उल्लेख मिलता है। यहाँ ऋग्यजुः सामवेद के निर्देश के साथ "अग्निमीले पुरोहितम्" "ईषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता", "अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये" मन्त्रांश भी कथित हुए हैं। "अग्निमीले" ऋग्वेदीयशाकलबाष्कलादि ज्ञात शाखा का आदिम मन्त्र है। यहां मन्त्र का एक पाद ही उद्धृत है। "ईषे त्वा" इत्यादि जो मंत्रांश है वह शुक्लयजुर्वेदीय काण्व-माध्यन्दिन में ही मिलता है। कृष्ण-यजुर्वेद की शाखाओं में यह अंश अविकल रूप से नहीं मिलता। यहां शुक्लयजुर्वेद का ही ग्रहण क्यों किया गया, ऐसा प्रश्न हो सकता है। इस प्रकरण के आरम्भ में इसका उत्तर दिया जा चुका है। इस प्रश्न का दूसरा समाधान यह भी हो सकता है कि कृष्णयजुः की अपेक्षा शुक्लयजुः का प्राधान्य है—ऐसा एक मत है। अतः यहाँ शुक्लयजुः का ही पाठ उद्धृत किया गया है—ऐसा भी कहा जा सकता है। माध्यन्दिनशाखा को यजुर्वेद का मूल और 'सर्वसाधारणी' माना जाता है जिस पर विशद विचार यथास्थान द्रष्टव्य है। सामवेद के आदिम मन्त्र का प्रतीक उसकी तीन संहिताओं में मिलता है, अतः यहाँ कौन संहिता इष्ट है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

वायु० के इस स्थल पर अथर्ववेद का उल्लेख नहीं है। चूंकि यहां ओंकार की तीन मात्राओं का ही प्रसंग है, अतः चतुर्थ अथर्ववेद का उपन्यास नहीं किया गया। अथर्व वेद के 'चतुर्थवेदत्व' पर पहले विचार किया गया है।

(ख) कर्मकाण्डीय मन्त्रविनियोग के प्रसंग में कुछ ऐसे स्थल हैं जिनमें चारों वेदों के प्रथम मन्त्रों का निर्देश किया गया है। यद्यपि इन स्थलों में स्पष्ट रूप से 'यह आदिम मन्त्र हैं' ऐसा उल्लेख नहीं मिलता, तथापि साहचर्य-सम्बन्ध से यह ज्ञात हो जाता है कि यहाँ आदिम मन्त्र ही निर्दिष्ट हुए हैं। इन स्थलों में, "अग्निमीले", "इषे त्वा", "अग्न आयाहि", 'शन्नो देवीः"—ये चार प्रतीक एकत्र मिलते

व्यक्ति हैं। वे अपनी परम्परा के अनुसार वेदशाखासूत्रादि का अनुवर्तन करते हैं। इसका एक प्रमाण पुराणगत श्राद्ध प्रकरण है। हम प्रत्यक्षतः देखते हैं कि पद्मपुराणीय श्राद्ध विवरण (सृष्टि० ९।१४०-१८६) याज्ञवल्क्य स्मृति पर बहुलतया आधृत है, पर विष्णुधर्मोत्तर (१।१४० अ०) का श्राद्ध प्रकरण आपस्तम्ब गृह्य और मन्त्रपाठ का ही बाहुल्येन आश्रय करता है। स्कन्द० ६।२२४।३-५१ गत श्राद्ध प्रकरण आश्वलायन गृह्य पर आधृत है।

हैं और यह प्रतीत होता है कि यहाँ वेदों के आदिम मन्त्र ही विवक्षित हैं। यथा, रेवा० में कहा गया है:—

अग्निमीले इषे त्वो वा अग्न आयाहि नित्यदा॥
शंनो देवीति कूलस्थो जपेन्मुच्येत किल्बिषैः।

११।६८-६९॥

महिदास ने चरणव्यूहटीका पृ० ४१ में पुराणवाक्य कहकर एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें उपर्युक्त चार आदिम मन्त्रप्रतीक विद्यमान हैं। इस प्रकार के निर्देश अन्यत्र भी मिलते हैं, यथा:—रेवा० ६८।६९, गरुड० १।४८।११-१२, भविष्य० १३४।१२-१३, मत्स्य० ९७।१२ (यहाँ अथर्व० का प्रथम मन्त्र नहीं है)।

(ग) कहीं कहीं वेद का आदिम मन्त्र स्पष्टतः निर्दिष्ट भी हुआ है। रेवा० ५१।४४-४६ में "अग्निमित्यादि" का जप ऋग्वेदी करें और "इषे त्वादि" मन्त्र समुदाय का जप यजुर्वेदी करें, ऐसा कहा गया है। यहाँ ऋग्यजुर्वेद के आदिम मन्त्र का निर्देश है। शान्ति० ३४४।२१ (कुम्भकोण संस्क०) के "पशुहिंसा वारिता च यजुर्वेदादि-मन्त्रतः" श्लोक से भी यजुर्वेद के आदिम मन्त्र का ज्ञान होता है। मन्त्रगत "यजमानस्य पशून् पाहि" अंश ही श्लोक में लक्षित हुआ है।

अथर्ववेदीय प्रथम मन्त्र—पुराणों के पूर्वोक्त स्थलों में अथर्व वेद के प्रथम मन्त्र के रूप में "शन्नो देवीः" मन्त्र ही माना गया है। महाभाष्य-पस्पशाह्निक के आरम्भ में भी यह अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र के रूप में उद्धृत है (द्र० "वैदिकाः" खल्वपि शन्नो देवीरभिष्टये" इत्यादि अंश का व्याख्यान ग्रन्थ)। यह पिप्पलादशाखा का प्रथम मन्त्र है, यह गुणविष्णुकृत छान्दोग्य-मन्त्र-भाष्य से जाना जाता है (अथर्व-वेदादि-मन्त्रोऽयं पिप्पलाददृष्टः, ५।६।४८)। यह मन्त्र पुराणों में (विनियोग की दृष्टि से) बहुत्र उद्धृत है (अग्नि० ५८।१३, मत्स्य० १७।१५, कूर्म० २।२२।-३९, नारदीय० १।५१।८२, गरुड़० १।४८।१२)। यह पिप्पलादशाखा भाष्य-कार पतञ्जलि के काल में बहुत प्रसिद्ध थी; क्योंकि 'पैप्पलादकम्' का स्मरण उदाहरण के रूप में भाष्यकार[३९] ने बहुधा किया है। वेंकट माधव ने भी अथर्व-वेदीय पिप्पलाद ब्राह्मणाध्यायी को 'वृद्ध' के रूप में सम्मानित किया है (ऋग्वेदानु-क्रमणी ८।१।१२)। पिप्पलाद शाखा के विषय में अन्यान्य बातें शाखाप्रकरण में विवृत होंगी)।

यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि अथर्ववेदीय शौनक शाखा का प्रथम मन्त्र "ये त्रिषप्ताः" है, जिसका उल्लेख पुराणों में कहीं भी नहीं मिलता। पुराणों में

---

३९. ४।१।८६, ४।२।१०४, ४।३।१०१, पैप्पलादाः पद ४।२।६६ में है।

२००-३०० मन्त्रों के विनियोग कहे गए हैं, परन्तु कहीं भी यह मन्त्र उल्लिखित नहीं हुआ। इससे यह कहा जा सकता है कि पौराणिक सम्प्रदाय में शौनकशाखा कुछ अप्रसिद्ध थी। अथर्ववेदप्रकरण तथा शाखाप्रकरण में शौनक शाखा पर विशद विचार द्रष्टव्य है।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि पुराणों में वेदों के अन्तिम मन्त्र के विषय में कुछ भी संकेत नहीं मिलता।

द्वितीय अध्याय

प्रथम परिच्छेद

ऋग्वेद

वैदिक-वाङमय-सम्बन्धी सामान्य विवरणों के अतिरिक्त प्रत्येक वेद के विशिष्ट विवरण भी पुराणों में यत्र-तत्र मिलते हैं। कहीं कहीं विशेषण के प्रयोग भी साभिप्राय देखे जाते हैं। इस अध्याय में ऐसे स्थलों पर विचार किया जा रहा है।

ऋग्वेद के पर्याय—ऋक् के लिये 'ऋचा' शब्द पुराणों में क्वचित् मिलता है (भविष्य० ब्राह्म ३८।३० में ऋचा शब्द प्रयुक्त हुआ है)। 'ऋक्संहिता' के लिये ऋग्वेद शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है (द्र० विष्णु० वायु० ब्रह्माण्ड० के शाखा-प्रकरण)। शाखाप्रकरण के अतिरिक्त अन्य स्थलों में 'ऋक्संहिता' की अपेक्षा 'ऋग्वेद' शब्द का अधिक व्यवहार मिलता है। ऋग्वेदीय श्रीसूक्त के निर्देश में 'ऋक्संहिता' शब्द आया है (पद्म० ६।२५५।३०), पर संहिता-पदघटित ऐसे निर्देश बहुत ही कम मिलते हैं। 'वेद' और 'संहिता' शब्द का सामासिक प्रयोग पुराणों में विरल है। ('ऋग्वेदसंहिता' शब्द धर्मारण्य० ३९।६ में मिलता है)। प्रायेण 'ऋग्वेद' और क्वचित् 'ऋक्संहिता' प्रयोग ही प्रचलित हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'चतुःषष्टि' शब्द भी ऋग्वेद के लिये पुराण में प्रयुक्त हुआ है। नागर० १६५।३३ में कहा गया है:—"अश्वो वोढेति यत् सूक्तं चतुःषष्टि-समुद्भवम्।" यह ("अश्वो वोढा") मन्त्र ऋग्वेद में मिलता है (९।११२।४)। निरुक्त (९।२ ख०) से ज्ञात होता है कि यह मन्त्र अश्वविषयक है। पुराण का यह स्थल भी अश्वतीर्थ-विषयक है, अतः ऐसा जान पड़ता है कि 'चतुःषष्टि' का अभिप्राय चतुःषष्टि-अध्याय-विभक्त ऋग्वेद से है। ऋग्वेद की ६४ अध्यायात्मकता अनुवाकानुक्रमणी (३८) आदि ग्रंथों में कही गई है। अध्याय के लिये 'प्रपाठक' शब्द का व्यवहार भी होता है।[1] ऋग्वेद के प्रसंग में 'प्रपाठकचतुःषष्टि' शब्द का प्रयोग कुमारिल ने किया है (तन्त्रवार्त्तिक-चौखम्बा संस्करण पृ० १७२)। वात्स्यायन के कामसूत्र (२।२।३) में भी ऋग्वेदीय ६४ अध्यायों का प्रसंग है।

---

१. शब्दों का एतादृश अन्योन्य-विनिमय तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी दृष्ट होता है। सम्प्रदायभेद या देशकालभेद से ऐसा परिवर्तन हो सकता है।

ग्रन्थान्तर्गत अध्यायादिसंख्या के अनुसार ग्रन्थनामकरण की शैली संस्कृत साहित्य में सुप्रचलित है (पञ्चदशी, शतपथ, दाशतयी, अष्टक आदि नाम द्रष्टव्य हैं), अतः 'चतुःषष्टि' शब्द से ऋग्वेद का ग्रहण सर्वथा समीचीन है।

ऋग्वेद को 'प्रथम वेद' कहा जाता है, यह 'वेदों का क्रम' प्रकरण में दिखाया गया है।

बह्वृचः—ऋग्वेदीय (व्यक्ति) के लिये यह शब्द पुराणों में बहुधा प्रयुक्त हुआ है (वामन० २४।२१, भविष्य ब्राह्म० १९।१२, पुरुषोत्तम० ११।४५)। कुलपति शौनक को बह्वृच कहा गया है (भाग० १।४।१)। श्रीधर के मत में यहाँ 'बह्वृच' का अर्थ ऋग्वेदीय है। पुराणों में 'बह्वृचैर्गीतम्'[२] (भाग ८।१९। ३८) वाक्य मिलता है, जहाँ बह्वृच का ऋग्वेदपाठी या ऋक्शाखी रूप अर्थ उचित प्रतीत होता है। नीलकण्ठ भी बह्वृच का अर्थ ऋग्वेदी करते हैं (हरिवंश० १।१३।२१ टीका)। क्वचित् हलन्त 'बह्वृच्' शब्द 'ऋग्वेदी' के लिये भी प्रयुक्त हुआ है (वराह० ३९।५२)। यह प्रामादिक प्रयोग है, ऐसा शाब्दिक दृष्टि से कहा जा सकता है। बह्वृच एक चरण का भी नाम है, परन्तु पुराणों में इसका प्रत्यक्ष निर्देश नहीं है।

'बह्वृच' का प्रयोग 'ऋग्वेदीय' (ऋग्वेद संबद्ध) के अर्थ में भी होता है।[३] भाग० १२।६।६० में ऋक्शाखाओं के लिये "बह्वृचाः संहिताः" कहा गया है। भाग० १२।६।६२ में कहा गया है कि व्यास ने पैल को 'बह्वृचाख्य संहिता' का प्रवचन किया। यतः यह संहिता 'ऋक्समुदाय रूप' ही है, अतः यह 'बह्वृच' कहलाता है, यह श्रीधर ने कहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि 'बह्वृच' शब्द ऋग्वेद के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है। श्रीधरीय व्याख्या के अनुसार यह भी सिद्ध होता है कि ऋग्वेद में केवल ऋक् (=पादबद्ध मन्त्र) हैं, यजुःआदि का संनिवेश नहीं है। उपलब्ध ऋक्संहिता के दर्शन से तथा ऋग्वेद-सम्बन्धी पूर्वाचार्यों के अन्यान्य विवरणों से भी यह मत सत्य प्रतीत होता है।

---

२. शाबरभाष्य (पृ० १९४, ६५३, बिब्. इण्डिका संस्क०) में बह्वृच ब्राह्मण स्मृत हुआ है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २२।४।२२ में भी इसका उल्लेख मिलता है।

३. अकारान्त बह्वृच का अर्थ ऋक्शाखी या ऋग्वेदाध्येता है (सिद्धान्त कौमुदी ५।४।७४)। अध्येता से पृथक् अन्य अर्थ में 'बह्वृक्' शब्द निष्पन्न होता है।

पुराणों में दशतयी और दाशतयी शब्द नहीं मिलते।[४] ये शब्द निरुक्त १२।४० ख० अनुवाकानुक्रमणी (३१) आदि वेदसम्बन्धी ग्रन्थों में मिलते हैं। शंकर ने भी 'दाशतय्यो दृष्टाः' वाक्य का प्रयोग किया है (शारीरक भाष्य १।३।३०)। यद्यपि 'होतृवेद' शब्द ऋग्वेद के लिये पुराणों में नहीं मिलता, परन्तु ऋग्वेद के प्रसंग में 'होतृकर्म' का उल्लेख ब्रह्माण्ड० १।३४।१९, वायु० ६०।१९ में मिलता है। "ऋग्भिर्होत्रम्" (विष्णु० ३।४।१२) वाक्य भी इसमें स्पष्ट प्रमाण है।

ऋग्वेदस्वरूप—पुराणों में ऋग्वेद के विषय में कुछ ऐसे विशेषण या वर्णन मिलते हैं, जिनसे इस वेद के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, यथा—

ऋग्वेदसंहिता केवल ऋक्मय है, यह 'बह्वृच' शब्द से जाना जाता है। यह दृष्टि श्रीधरीय व्याख्या में विद्यमान है (भाग० १२।६।५२)। धर्मारण्य० ३९।६ में "ऋचाम् ऋग्वेदसंहिताम्" कहा गया है; यह वाक्य भी उपर्युक्त सिद्धान्त को ध्वनित करता है। वराह० १४५।११-१२ में "ऋग्वेदस्यैव ऋग्गतैः स्तोत्रैः' कहा गया है। इससे भी ऋग्वेदीय स्तोत्र ऋक्मय है, यह सूचित होता है (यजुर्मन्त्र ऋग्वेद में नहीं हैं)। पूर्वाचार्य भी ऋग्वेद को 'ऋक्समूह' मानते थे। आर्यविद्यासुधाकर में "ऋचां समूह ऋग्वेदः" वाक्य को शौनकीय प्रातिशाख्य का कहा गया है (पृ० २८), पर मुद्रित प्रातिशाख्य में यह वाक्य नहीं मिलता।

वायु० २६।२० में "ऋग्वेद एकमात्रस्तु" कहा गया है, इसका तात्पर्य चिन्त्य है। ओंकार की प्रथम मात्रा का प्रतीक ऋग्वेद है, यह धारणा वैदिक ग्रन्थों में है (गोपथ १।१।१७), पर यह अर्थ यहाँ घट नहीं सकता, क्योंकि 'प्रथम' के अर्थ में 'एक' का प्रयोग नहीं होता। एकमात्र='एकमात्रा है जिसकी'। क्या इसका यह अर्थ हो सकता है कि ऋग्वेद में केवल ऋङ्मन्त्र है, अतः वह 'एकमात्र' है?

ऋग्वेद का एक विशिष्ट विशेषण वायु० ६५।२४ में दिया गया है—'पदक्रम-विभूषित'। इसी सन्दर्भ में ब्रह्माण्ड० २।१।२३ में 'यश्चक्रमविभूषितः' पाठ है, जो स्पष्टतः अशुद्ध है।

ऋग्वेद का यह विशेषण विचार्य है। ऋग्वेद के साथ प्रायः पदक्रमपाठ का उल्लेख मिलता है, यथा—"ऋक्स्वरूपाय पदक्रमस्वरूपिणे" (ब्रह्म० ५९।४९), "जप्तव्यं शतरुद्रीयमृग्वेदोक्तं पदक्रमैः" (वामन० ६२।१४), "ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च

---

४. स्मृतियों में क्वचित् ऋग्वेद की दशमण्डलवत्ता कही गई है। इसका एक उदाहरण बृहत्हारीतस्मृति १०।६३ में प्रोक्त "ऋग्वेदसंहितायां तु मण्डलानि दश क्रमात्" वचन है। यह स्मृति अप्राचीन है।

प्रोक्ताः क्रमपदाक्षरैः" (वामन० २४।२१) इत्यादि। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के पद-क्रम-पाठ प्राचीनतम हैं, अतः ऋग्वेद के साथ इन दोनों पाठों का उल्लेख प्राचीन काल से ही चला आ रहा है और पुराणकार इसी दृष्टि से ऋग्वेद के साथ इन पाठों का उल्लेख करते हैं। वेद के विभिन्न पाठसम्बन्धी प्रकरण में इस पर विचार द्रष्टव्य है।

ऋक्समुदाय को 'स्तोम'[५] कहते हैं। भाग० ३।२१।३२ में "स्तोममुदीर्णसाम" कहा गया है। स्तोम का अर्थ 'स्तोत्र-साधनभूत[६] ऋचाओं का समुदाय' है, (विष्णु० १।५।५२ टीका)।

ऋग्वेदीय सूक्त 'शस्त्र' कहलाते हैं (यदि वह गीत न हो)। भागवत में ऋग्वेद के प्रसंग में शस्त्र का उल्लेख भी है (३।१२।३७)। शस्त्र का अर्थ है 'अप्रगीतमन्त्र स्तोत्र', जो होता का कर्म है (श्रीधरीटीका)। शंकराचार्य ने भी 'शस्त्रादि अङ्गभावोपगत ऋङ्मन्त्र' का उल्लेख किया है (छान्दोग्य भाष्य ३।१।३)।

ऋग्वेद के प्रसंग में 'सूक्त' शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है (नागर० ३७८।१०८ आदि)। सम्पूर्ण ऋषिवाक्य 'सूक्त' कहलाता है, यह बृहद्देवता १।१३ में कहा गया है। सूक्त ऋक्सन्दर्भरूप है, यह श्रीधर ने कहा है (विष्णु० १।४।३३ टीका)। सूक्त के ऋषिसूक्त आदि भेद हैं (आर्यविद्यासुधाकर पृ० २९); पुराणों में इन भेदों का उल्लेख नहीं मिलता।

वेदोत्पत्ति के प्रसंग में ऋग्वेद के साथ गायत्री छन्द, त्रिवृत् स्तोम, रथन्तर साम और अग्निष्टोम यज्ञ का उल्लेख अनेक पुराणों में मिलता है (विष्णु० १।५।५२; कूर्म० १।७।५७; ब्रह्माण्ड० १।८।५०; लिंग० १।७०।२४३ ईषत् पाठान्तर के साथ)। (द्र० चतुर्वेद-तुलना-सम्बन्धी प्रकरण)।

ऋग्वेद-प्रणयन—ऋग्वेद का संकलन या प्रणयन किस काल में हुआ था, इसका कोई संकेत पुराणों में नहीं मिलता। इस मन्वन्तर के द्वापरान्त में कृष्णद्वैपायन व्यास ने पूर्वप्रचलित ऋङ्मन्त्रों का संकलन कर होतृकर्मोपयोगी ऋक्संहिता का प्रणयन किया था—यह प्रायः सभी पुराणों में (शाखाप्रकरण के प्रारम्भ में) कहा गया है। महीधरादि भाष्यकारों को भी यह अनुमत है। इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि वैदिक वाङ्मय में उपर्युक्त तथ्य का अणुमात्र संकेत नहीं मिलता, जिस कारण इस

---

५. ताण्ड्यब्राह्मणभूमिका (पृ० २-६) में स्तोमसम्बन्धी विशद विवरण द्रष्टव्य है।

६. ऋक्मन्त्र, तदाश्रित गान, तृच का आवृत्तिजन्य स्तोत्र—ये तीन विषय उपर्युक्त भूमिका में विवृत हुए हैं (पृ० ३१-३२)।

महत्त्वपूर्ण विषय पर संशय के लिये पर्याप्त अवकाश रहता है। सम्भवतः व्यास ने बहुधा उच्छिन्न वैदिक वाङ्मय को सुसज्जित कर वैदिक कर्मकाण्ड को पुनः व्यवस्थापित किया था, जिससे बाद में व्यास के विषय में उपर्युक्त प्रसिद्धि हो गई थी।

इतिहासपुराणों में व्यासपूर्वभव वैदिक संहिताओं का बहुधा विभाजन कहा गया है; प्रत्यक्षतः यह देखा जाता है कि ऐतरेय ब्राह्मण से संबद्ध ऐतरेयशाखा का उल्लेख पुराणगत व्यासीय वेद-परम्परा में नहीं मिलता; उसी प्रकार पाणिनि-स्मृत ऋग्वेदीय कठशाखा (द्र० ७।४।३८ पदमञ्जरी) भी व्यासीय परम्परा में दृष्ट नहीं होती; अतः यह मानना पड़ता है कि व्यास से पहले भी वेद की संहिताएँ प्रचलित थीं। कालान्तर में पूर्वप्रचलित संहिताएँ प्रायः उच्छिन्न हो गईं, और व्यास ने वैदिक सम्प्रदाय का पुनः प्रवर्तन[७] किया। पुराणकारों ने भी अपनी शैली से इस तथ्य को कहा है कि विभिन्न मन्वन्तरों में व्यास होते हैं और उनके द्वारा वेद-विभाग किया जाता है। पुराणों का यह मत वेदों की प्राचीनता, विभिन्न काल में वेदभागों का लोप होना तथा ऋषियों द्वारा पुनः वेदों का प्रवर्तन—इन तीन तथ्यों का ज्ञापक है।

पुराणों में यह भी कहा गया है कि संहिताओं का प्रणयन त्रेता में हुआ और वेदविभाग द्वापरान्त में। इससे भी सिद्ध होता है कि पूर्व प्रचलित संहिताओं के पठन-पाठन में तथा याज्ञिक कर्मों में परवर्ती काल में भ्रंश एवं ह्रास हो गया था और व्यास को विपर्यस्त वैदिक-परम्परा प्राप्त हुई थी। प्रचलित याज्ञिककर्म के अनुसार व्यास ने पुनः नूतन रूप से संहिताओं का संस्कार किया था—यह भी अनुमित होता है।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि व्यास-प्राचीन ऋक्संहिताओं का स्वरूप कैसा था, इसका स्पष्ट अनुमान नहीं किया जा सकता, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यतः याज्ञिक प्रक्रिया की दृष्टि से संहिता का प्रणयन किया गया है, अतः तत्तत् काल में प्रचलित याज्ञिक क्रियाओं के स्वरूप के अनुसार ही संहिता का निर्माण किया गया था। याज्ञिकप्रक्रिया भी युगानुसार कुछ न कुछ बदलती हुई आई है। पुराणों के "ततः प्रभृति यज्ञोऽयं युगैः सह विवर्तितः" (वायु० ५७।१२५, मत्स्य०

---

७. कृष्णद्वैपायन ने जिस वेद को चतुर्धा विभक्त किया था, उस वेद के विशेषण में 'उत्सन्न' पद प्रयुक्त हुआ है (वैदिकी पृ० ४ में उद्धृत स्कन्दपुराणवचन)। व्यास से पहले वेद बहुधा विकीर्ण तथा अंशतः भ्रष्ट हो गया था—ऐसा इस विशेषण से स्पष्टतः ज्ञात होता है।

१४३।४२; ब्रह्माण्ड० १।३०।४८) वाक्य से 'याज्ञिक क्रिया में कालानुसारी परिवर्तन' की सूचना मिलती है।[८] अनेक प्रकार के यज्ञ क्रमशः उद्भावित हुए हैं, यह भी महाभारतादि से जाना जाता है,[९] अतः संहिताओं का प्राचीनतम स्वरूप और वर्तमान स्वरूप एक-सा ही होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आदिम ऋक्संहिता का स्वरूप आज अज्ञात ही है और वर्तमान काल में प्रचलित ऋक्संहिता ही अगत्या ऋग्वेद के रूप में गृहीत होती है।

पुराणोक्त ऋग्वेदवित्—शाखा-प्रकरण के अतिरिक्त अन्य स्थलों में ऋग्वेदज्ञ विद्वानों का उल्लेख मिलता है। भाग० १।४।१ में शौनक को 'बह्वृच' कहा गया है। भाग० ९।६।४५ में सौभरि को भी 'बह्वृच' कहा गया है, जो विष्णुपुराण को भी अनुमत है (४।२।१९)।

इस विषय में भविष्य० ब्राह्म० २।५३ का एक वाक्य द्रष्टव्य है। वहाँ कहा गया है कि ब्रह्मा के पूर्वमुख से वसिष्ठ द्वारा ऋग्वेद का आविर्भाव हुआ है। ऐसा उल्लेख अन्य पुराणों में नहीं मिलता। ऋग्वेद से वसिष्ठ का घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। ऋग्वेद का वसिष्ठ-चरण प्रसिद्ध है, तथा पराशर को ऋक्शाखाकार माना गया है। कुमारिल ने "वासिष्ठं बह्वृचैरेव" कहा है (तन्त्रवार्त्तिक १।३।११)। इससे ऋग्वेद के साथ वसिष्ठ का घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है। कहीं कहीं 'कश्चित् ऋग्वेदपारगः' इत्यादि वाक्य मिलते हैं (पुरुषोत्तम० २१।१), परन्तु साक्षात् नाम न लेने के कारण इन वाक्यों पर विचार करना व्यर्थ है।

ऋग्वेद की उपयोगिता और विषय—पुराणों में 'ऋग्भिर्होत्रम्' कहा गया है (अग्नि० १५०।२४, कूर्म० १।५२।२७; यहां 'अग्निहोत्रं' के स्थान पर 'ऋग्भिर्होत्रम्' पाठ होगा ; क्योंकि इस सन्दर्भ में अन्य पुराणों में ऐसा ही पाठ है; वायु०

---

८. ब्रह्माण्ड० में 'विवर्तितः,' वायु० में 'व्यवर्तत' और मत्स्य० में 'प्रवर्तितः' पाठ है। 'युगैः सह' (मत्स्य० में 'युगैः सार्धम्' है) पाठ के साथ 'प्रवर्तितः' पद की कोई सार्थकता नहीं है। तात्पर्य है कि जो यज्ञ स्वायम्भुव मन्वन्तर के कालविशेष में प्रवर्तित हुआ था, वह युगानुसार विवर्तित (परिणत और वृद्धिप्राप्त) होता हुआ विद्यमान है। एक अग्नि के त्रिधाकरणरूप परिवर्तन का साक्षात् निर्देश मिलता ही है (हरि० १।१२६४७, विष्णु० ४।६।४६)।

९. शान्ति० २६९।२० में कहा गया है कि किसी समय केवल दर्शादि चार यज्ञ ही थे। सूत्रग्रन्थों एवं पूर्वमीमांसा के व्याख्यानग्रन्थों से भी यह ज्ञात होता है कि याज्ञिक क्रिया में कालानुसारी परिवर्तन हुआ है।

६०।१८, ब्रह्माण्ड० १।३४।१८)। होतृकर्म का नाम 'होत्र' है।[10] होतृकर्म के साथ सामिधेनी, प्रयाज, याज्या, पुरोनुवाक्या, सूक्तवाक, शंयुवाक आदि का सम्बन्ध है। पुराणों में अनेकत्र होतृकर्मों का उल्लेख (याज्ञिक विवरण के साथ) मिलता है।

ऋग्वेद और पूर्वदिक्—ब्रह्मा के पूर्वमुख से ऋग्वेद की उत्पत्ति पुराणों में अनेकत्र कही गई है (भाग० ३।१२।३७, विष्णु० १।५।५२ द्र० टीका, कूर्म० १।७।५७ आदि)। तै० ब्रा० में "ऋचां प्राची महती दिगुच्यते" कहा गया है (३।१२।९।१) जो पुराण-मत का मूल प्रतीत होता है।

ऋग्वेद का उपवेद—आयुर्वेद ऋग्वेद का उपवेद है, यह भाग० ३।१२।२३ में कहा गया है। यह आश्चर्य का विषय है कि यद्यपि सुश्रुतसंहिता (सूत्रस्थान १।६) में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा गया है, तथापि चरणव्यूह में आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद माना गया है (पृ० ४७)। चरणव्यूह का यह मत चिन्त्य है, क्योंकि प्रतिज्ञा-परिशिष्ट-सदृश वेदसंबद्ध ग्रन्थ में आयुर्वेद को अथर्ववेद का ही उपवेद माना गया है (३५ कण्डिका)। चिकित्सा और भेषज का सम्बन्ध अथर्ववेद से प्रत्यक्षतः दीख पड़ता है, अतः भागवत और चरणव्यूह के मत का मूल अन्वेष्टव्य है।[11]

---

१०. शतपथ० ११।४।२।७ में "ऋचा होत्रं क्रियते" कहा गया है (द्रष्टव्य गोपथ० १।३।२, ऐ० ब्रा० ५।३)। यह मत श्रौतसूत्रकारों को भी अनुमत है। 'होत्र' के स्थान पर 'हौत्र' पाठ भी मिलता है।

११. आयुर्वेद (कामशास्त्र के साथ) ऋग्वेद का ही उपवेद है—यह प्रस्थान-भेद में विवृत हुआ है (पृ० ८-९)। देवीपुराण १०७।४५ में यह मत मिलता है। इस विषय में यह विचारणीय है कि आयुर्वेदीय ग्रंथों में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है। सुश्रुत की तरह चरक भी (सूत्रस्थान ३० अ०) यह मत मानते हैं। शौनकादि ने जो ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है, ऐसा कहा है, उसकी उपपत्ति चिन्त्य है। क्या ऐसा हो सकता है कि व्यासकृत विभाग के पहले अपान्तर-तमा आदि व्यासों द्वारा जो ऋग्वेद संकलित हुआ था, उसमें आयुर्वेद के विषय ऋग्वेद में संकलित हुए थे और तदनुसार ही आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद कहा जाता था? (वैद्यकवृत्तान्त पृ० २)। यह बात असम्भव नहीं है, क्योंकि जयन्त भट्ट ने कहा है कि अथर्ववेद ऋग्वेदान्तर्गत है, ऐसा भी कोई कोई मानते हैं (न्याय-मञ्जरी पृ० २३७)। निश्चित ही अथर्ववेद की परम्परा में एकाधिक पृथक् स्रोतों का योग है (द्र० अथर्ववेदपरिच्छेद), जिससे ऐसे मतविरोध उत्पन्न होते हैं।

ऋक्संहिता के मन्त्रों का उद्धरण—ऋक्संहिता के कुछ मन्त्र पुराणों में अविकल रूप से उद्धृत हैं। ये मन्त्र किसी की स्तुति, पूजा, ध्यान, प्रामाण्य या महिमा से सम्बन्धित हैं। यहाँ केवल मन्त्रों का प्रसंग-सहित उद्धरण और वैदिक आकरस्थल का निर्देश किया जाएगा। उद्धरणों पर समीक्षात्मक विचार यथास्थान द्रष्टव्य है। पुराणों में मन्त्रों के उद्धरण के साथ सर्वत्र वेद का नाम नहीं लिया गया—यह ज्ञातव्य है। जो मन्त्र ऋग्वेद में मिलता है, उसे ऋग्वेदीय मानकर ऋग्वेद प्रकरण में उसका संकलन किया गया है। कर्मकाण्ड में विनियुक्त मन्त्र यहाँ संकलित नहीं हुए हैं।

(१) "माता रुद्राणां दुहिता वसूनां.... (ऋग्० ८।१०१।१५) मन्त्र भविष्य० ४।६९।८३-८४ में उद्धृत है। यहाँ गोविषय में ही इस मन्त्र का उल्लेख किया गया है। यह दृष्टि सर्वथा वेदानुसारी है।

(२) "अङ्गादङ्गात् सम्भवसि....." मन्त्र[१२] भविष्य० ४।१२८।३९-४० में उद्धृत है। यहाँ वृक्षोद्यापन विधि के प्रसंग में वृक्ष पर पुत्र-बुद्धि के आरोप का उल्लेख कर (३८-३९ श्लोक) यह मन्त्र उद्धृत किया गया है।

(३) "अतो देवा अवन्तु नो.....विष्णोर्यत् परमं पदम्" ये छह मन्त्र "ऋग्वेदोक्तऋचा विष्णुं ध्यात्वा" कहकर उद्धृत हैं (भविष्य० ४।५८।६४)। ये मन्त्र ऋग्वेद १।२२।१६-२१ में हैं। इन मन्त्रों का देवता विष्णु है।

(४) "ते ह नाकं महिमानं सचन्त"—इसको 'श्रुति' कहकर पद्म० ६।२५६। ६६ में उद्धृत किया गया है। नित्य दिवौकसों (द्युलोकवासी) के अस्तित्व के विषय में यह श्रुति उद्धृत की गई है। यह ऋग्वेद १।१६४।५० है। इस मन्त्र का देवता साध्य (देवविशेष) है।

(५) "सोमेन सह राज्ञा" इसको 'गाथा' कहकर धान्यतीर्थ-महिमा के प्रसंग में ब्रह्म० १२०।१५ में उद्धृत किया गया है। यह ऋग्० १०।९७।२२ है और इसका देवता 'ओषधि' है।

(६) "अपाम सोमम्.....मर्त्यस्य" मन्त्र को शिवस्वरूप के ज्ञापक के रूप में लिंग० २।१८।७ में उद्धृत किया गया है। यह ऋग्० ८।४८।३ है और इसका

---

१२. यह श्लोक निरुक्त (३।४ ख०) में ऋक् के रूप में उद्धृत किया गया है (यह कौषीतकि आरण्यक ४।११ में है)। जातकर्म में इसका विनियोग आपस्तम्ब मन्त्रपाठ में विहित हुआ है (२।११।२३)। इस विषय में आश्वलायनगृह्य १।१५।११ और मानवगृह्य १।१८।६ भी द्रष्टव्य हैं। बौधायन धर्मसूत्र २।२।१५-१६ में भी यह उद्धृत हुआ है।

देवता 'सोम' है। पुराण में पूर्णतः सांप्रदायिक दृष्टि से ही यह मन्त्र उल्लिखित हुआ है।

(७) "अदो यद् दारु प्लवते....." (ऋग्० १०।१५५।३) मन्त्र पुरुषोत्तम क्षेत्रस्य दारुब्रह्म के उपादानभूत काष्ठ को लक्ष्यकर उद्धृत किया गया है (पुरुषोत्तम० २१।२-३)। पुराण में मन्त्र का पाठ भ्रष्ट हो चुका है।[13] वेद में इसका देवता 'ब्रह्मणस्पति' है।

(८) "यो जात एव प्रथमो मनस्वान्.....इन्द्रः" मन्त्र ब्रह्म० १४०।२२ में इन्द्रस्तुति के प्रसंग में उद्धृत है। यह ऋग्वेदीय इन्द्रस्तुति का प्रथम मन्त्र है (२।१२।१)।

(९) "तद्विष्णोः परमं पदम्" (ऋग्० १।२२।२०)—मन्त्र सूर्यपूजा में उद्धृत है (भविष्य० ४।१३०।१८-१९)। पद्म० ६।२५५।६७ में विष्णुप्रसंग में यह मन्त्र है, यद्यपि मन्त्र के साथ "अक्षरं शाश्वतं दिव्यम्" यह नवीन अंश जोड़ा गया है (सम्भवतः अनुष्टुप् छन्द बनाने के लिये)। काशी० ७।६३ में "तद्विष्णोः...." मन्त्र कहकर कहा गया है "एतद् यत्पठ्यते वेदे तत् प्रयागं पुनः पुनः"। (यह मन्त्र यहाँ प्रयागपरक माना गया है)।

(१०) श्री सूक्त के दो मन्त्र ("हिरण्यवर्णा..." और "गन्धद्वाराम्...")[14] पद्म० ६।२५५।२८-३० में उद्धृत है। यहाँ श्री (लक्ष्मी) का प्रसंग भी है। इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि वेद में "जातवेदो ममावह" पाठ है, पर पुराण में "विष्णोरनपगामिनीम्" पाठ है। क्या यह किसी अन्य शाखा का पाठ है?

इस श्लोक के बाद ही पुराण में 'गन्धद्वारां' श्लोक उद्धृत है, पर वेद में यह नवम श्लोक है।

(११) "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्....समासते" (ऋग्० १।१६४।३९) मन्त्र पद्म० ६।२५५।६६ में उद्धृत है, पर प्रथम चरण का पाठ है "यदक्षरं

---

१३. रघुनन्दनकृत पुरुषोत्तमतत्त्व में (जीवा० संस्क० भाग २, पृ० ५६३) यह मन्त्र उद्धृत तथा व्याख्यात है ('अस्य व्याख्या साङ्खायन भाष्ये' कहकर)। यहाँ पुरुषोत्तममूर्तिपरक व्याख्या की गई है। यह मन्त्र अथर्ववेद में भी है, ऐसा रघुनन्दन कहते हैं, पर अथर्व० की प्रचलित शाखाओं में यह मन्त्र नहीं मिलता। सायण ने भी ऐसी ही व्याख्या की है, उन्होंने इसकी अलक्ष्मीपरक पूर्वव्याख्या का भी निर्देश किया है। यह अलक्ष्मीपरक व्याख्यान अधिक संगत है।

१४. 'श्रीसूक्त' ऋक् परिशिष्ट में है (द्र० ११वां परिशिष्ट, स्वाध्यायमण्डल प्रकाशित मूल ऋग्वेद पृ० ७७२)।

वेदगुह्यम्"। वेद में 'विश्वेदेवाः' इस मन्त्र के देवता हैं, पर पुराण में वैष्णवसंप्रदायसिद्ध विष्णु ही इसका देवता कहा गया है।

(१२) "सितासिते सरिते....." मन्त्र का संकेत का।शी० ७।४४ में है। यहाँ यह मन्त्र प्रयागपरक है। यह मन्त्र ऋक्परिशिष्ट में है।[१५] पुनः पद्म० ६। २४६।३५ में यह मन्त्र उद्धृत है। यहाँ भी यह प्रयागपरक है। त्रिस्थलीसेतु में कहा गया है कि यह आश्वलयनशाखा का खिल मन्त्र है (पृ० ३)। किसी किसी ने इसको ऋग्वेदीय मन्त्र ही माना है (द्र० तीर्थचिन्तामणि, पृ० ४७)।

---

१५. ऋक्परिशिष्ट का २२वां सूक्त (स्वाध्यायमण्डलप्रकाशित ऋग्वेद-संहिता पृ० ७७९)।

द्वितीय परिच्छेद

यजुर्वेद

'यजुः' शब्द का अर्थ और निर्वचन—वायु० में "युञ्जानः स यजुर्वेद इति शास्त्रविनिश्चयः" (६०।२२) कहा गया है, जिससे 'यजुः' शब्द के अर्थ पर प्रकाश पड़ता है। युज्धातुनिष्पन्न 'युञ्जानः' पद का स्वारस्य स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकरण में ब्रह्माण्ड० में "यजनात् स यजुर्वेदः" पाठ है (१।३४।२२)। श्रीधरस्वामी ने विष्णु-पुराण-टीका में इस श्लोक को वायुपुराण के नाम से इस प्रकार उद्धृत किया है—"याजनाद्धि यजुर्वेद इति शास्त्रस्य निश्चयः" (३।४।११ श्लोक टीका)। यहाँ याजन से यजुः का सम्बन्ध दिखाया गया है जो यास्क के "यजुर्यजतेः" (निरुक्त ७।१२ ख०) वचन के अनुसार सङ्गत ही है। "यजो ह वै नामैतद् यद्यजुरिति" यह शतपथवाक्य (४।६।७।१३) भी इस मत का बोधक है।

'यजुः' शब्द यज्ञ-वाचक के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। भाग० ३।४।८ के "यजुषां पतिम्" की व्याख्या में श्रीधर ने यजुष् का अर्थ 'यज्ञ' किया है। भाग० ४।१।६ में भी "यजुषां" पद है, जहाँ श्रीधरस्वामी ने "यज्ञानां मन्त्राणां वा" कहकर यजुष् के दोनों अर्थों को दिखाया है।[1] अन्य वेदों की अपेक्षा यजुर्वेद के साथ याज्ञिक क्रिया का अधिक निकट सम्बन्ध है, यह वैदिक सम्प्रदायों में प्रसिद्ध है, जैसा कि सायण कहते हैं—"आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्यात्" (ऋग्वेद-भाष्यभूमिका, पृ० ११)। यज्ञार्थ वेद की प्रवृत्ति होने के कारण ही वेद के लिये भी 'यजुः' शब्द पुराणों में (अन्यत्र भी) प्रयुक्त हुआ है। वायु० ६०।१७, कूर्म० १।५२।१६, विष्णु० ३।४।११ में "एक आसीद् यजुर्वेदः तं चतुर्धा व्यकल्पयत्" कहा गया है। यहां 'यजु-र्वेद' शब्द पूर्णवेद के लिये है।[2] श्रीधर ने टीका में इसकी उपपत्ति पूर्वोक्त दृष्टि

---

१. मन्त्रमात्र के लिये 'यजुः' पद प्रयुक्त होता है। तै० ब्रा० १।८।५ में एक ऋङ्मन्त्र को लक्ष्य कर 'यजुः' कहा गया है (पुनातु ते परिस्रुतमिति यजुषा पुनाति व्यावृत्त्यै)।

२. निरुक्त ११।४ ख० में 'यजुः' पद मन्त्रसामान्य के लिये प्रयुक्त हुआ है; क्योंकि "सोमं मन्यते पपिवान्......" मन्त्र ऋक् है। यजुः की वेदवाचकता

से ही की है। यज्ञ में यजुर्वेद की प्रधानता के कारण यजुर्वेद को शीर्षभूत माना जाता है। श्रुति के "तस्य यजुरेव शिरः" (तै० उप० ८।२) वाक्य में यह तत्त्व स्पष्टतः प्रतिपादित हुआ है (द्र० लिङ्ग० १।१७।७० की शिवतोषिणी टीका; शिव० २।१।८।२५-२६ भी लिङ्गपुराणवत है)।

यजुः को 'द्वितीय वेद' कहा गया है, यह 'वेदक्रम' प्रकरण में दिखाया गया है।[3]

यजुर्वेद का स्वरूप—पुराणों में यजुर्वेद के कुछ ऐसे विशेषण तथा विवरण मिलते हैं, जिनसे यजुर्वेद का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यथा—

वायु० ६५।२५ और ब्रह्माण्ड० ३।१।२४ में यजुर्वेद का विशेषण दिया गया है—"वृत्ताढ्य", "ओंकारवदनोज्ज्वल", "यज्ञार्थ-संपृक्त" और "सूक्त-ब्राह्मण मन्त्रवान्"। उपर्युक्त प्रत्येक विशेषण से यजुर्वेद का स्वरूप विशद रूप से ज्ञात होता है।

यजुर्वेद को 'वृत्ताढ्य' कहने का कारण यह प्रतीत होता है कि यह वेद अनेक प्रकार के कर्मकाण्डीय आचरणों से युक्त है। वृत्त का अर्थ सदाचार है। अतः यह अर्थ संगत हो सकता है।

यहाँ 'वृत्ताढ्य' का अर्थ 'बहुविध छन्दोमय' नहीं हो सकता, क्योंकि पादज्ञान का हेतु वृत्त होता है, यह ऋक्प्रातिशाख्य में कहा गया है (१७।२५) और यजुर्मन्त्र पादहीन होता है। यजुर्मन्त्र वस्तुतः गद्य है (द्र० मीमांसासूत्र २।१।३७ की टीकाएँ)। इसी दृष्टि से देवीभाग० ८।१।१० में ऋक्सामाथर्वसम्भव स्तोत्रों का विशेषण 'छन्दोमय' दिया गया है। यतः यजुर्मन्त्र छन्दोहीन है, अतः इस श्लोक में यजुः पद का संनिवेश नहीं किया गया—यह स्पष्ट है। यदि 'वृत्ताढ्य' का अर्थ छन्दोमय न हो तो वृत्त का सदाचार अर्थ ही सङ्गत होगा।

यदि छन्द अक्षरगणनानुसारी माने जाएँ तो यजुर्मन्त्र बहुछन्दमय हो सकता है। यह भी ज्ञातव्य है कि केवल अक्षरगणनानुसारी छन्दों के दैव-आसुर-प्राजापत्य-आर्ष आदि अनेक भेद हैं। इस विषय का विस्तृत विवेचन श्री युधिष्ठिर मीमांसककृत वैदिक छन्दोमीमांसा ग्रन्थ (अध्याय ८) में मिलता है। इस दृष्टि

प्रसिद्ध है, जो "सर्वे वेदा यजुः प्रोक्ताः" "यजुः सर्वत्र गीयते" इत्यादि आभाणकों से जानी जाती है।

३. याज्ञिकसमाख्या-बल से इस वेद का नामान्तर अध्वर्युवेद भी है (सायणकृत तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका, पृ० ७)। अतः अध्वर्युवेद पद भी यजुर्वेद के लिये प्रयुक्त हो सकता है।

से यजुर्वेद को 'वृत्ताढ्य' कहा जा सकता है। यतः यजुर्मन्त्र में छन्द मानने की प्रथा है, अतः यह मत भी समीचीन ही है (स्वाध्यायमण्डल प्रकाशित तै० सं० भूमिका, पृ० ४८)।

"ओंकारवदनोज्ज्वल" कहने का तात्पर्य यह है कि प्रणवोच्चारणपूर्वक याज्ञिक क्रिया का आरम्भ किया जाता है।[४] शुक्लयजुः सर्वानुक्रम (पृ० ३०९) में ओंकारपूर्वक वैदिक याग-होम करने का उल्लेख है। यहाँ अनन्तदेव ने शाट्यायन और दाल्भ्य परिशिष्ट के वचन भी उद्धृत किए हैं। गीता (१७।२४) में भी यह मत स्वीकृत है। गीतभाष्य की व्याख्या में आनन्द गिरि ने 'ओं शब्द का विनियोग' ऐसा कहा है (१७।२५)। 'शुक्लयजुःकर्ता याज्ञवल्क्य के सम्मुख सरस्वती का ओंकारपूर्वक आगमन' महाभारत में (शान्ति० ३१८।१४) कहा गया है, इससे भी ओंकार से यजुः का सम्बन्ध प्रतीत होता है। किं च "ओमिति प्रतिपद्यते एतद् वै यजुः" (तै० आ० २।११) इस वाक्य से 'ओम्' एक यजुर्मन्त्र है—यह जाना जाता है। तैत्तिरीय संहिता-भूमिका (पृ० २३) में सायण कहते हैं—"सब वेद यजुः हैं क्योंकि ओम् यजुः है"। यह दृष्टि भी इस विशेषण की सार्थकता को प्रतिपादित करती है।

'यज्ञार्थसंपृक्त' शब्द स्पष्टार्थक है। यजुर्वित् अध्वर्यु से ही यज्ञ का विशेषतः संपादन होता है। यास्क ने "यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युः" (निरुक्त १।९ ख०) कहकर इस मत की पुष्टि की है।

'सूक्त-ब्राह्मण-मन्त्रवान्' पद विचार्य है। सम्भवतः अन्य वेदों में ब्राह्मण[५] पृथक् है और यजुः के अंश विशेष (=कृष्णयजुः) में मन्त्र-ब्राह्मण सम्मिलित हैं, अतः यह विशेषण दिया गया है। याज्ञिक क्रिया[६] में शुक्ल-यजुः की अपेक्षा कृष्ण-

---

४. यजुर्विधानशिक्षा (पृ० ३२८-३२९, शिक्षासंग्रह में मुद्रित) में ओंकारपूर्वक कर्म करने का उल्लेख है (ओंकारपूर्विकया.....)। इस प्रसंग में पृ० ३६० भी द्रष्टव्य है।

५. 'विनियोजकं च ब्राह्मणम्' (तै० सं० भट्टभास्करभाष्य, भाग १, पृ० ३) आदि वाक्य इस मत में साक्षात् प्रमाण हैं। पूर्वमीमांसा के आचार्य 'अनुष्ठेयार्थस्मारकवाक्यत्वं मन्त्रत्वम्' कहते हैं (अध्वर-मीमांसा-कुतूहलवृत्ति २।१।३२)। इससे याज्ञिककर्म में मन्त्र का ब्राह्मणापेक्षया अप्राधान्य सूचित होता है।

६. ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि यजुर्मन्त्र में याज्ञिक भाव ऋङ्मन्त्र की अपेक्षा अधिक है। वेंकटमाधवकृत ऋग्वेदभाष्य में इस तथ्य को लक्ष्य कर ही

यजुः का प्राधान्य भी स्वीकृत है—"यज्ञकर्मसु कृष्णयजुः सम्प्रदायस्यैव प्राधान्यात्" (मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्, पृ० ४[७]); यह कृष्णयजुः ब्राह्मण-मिश्रित है अतः यहाँ ब्राह्मण पद का प्रयोग किया गया है। याज्ञिक क्रिया के ज्ञान के लिये ब्राह्मणों का ज्ञान करना मन्त्र से अधिक अपेक्षित है, अतः ब्राह्मण का उल्लेख करना आवश्यक समझा गया होगा। ब्राह्मणों की यह मन्त्रापेक्षण प्रधानता पूर्वमीमांसकों की दृष्टि के अनुसार ही है। शुक्ल-यजुर्वेद की संहिताओं में भी ब्राह्मणांश हैं, ऐसा भी एक मत है (मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् पृ० २), अतः यजुर्वेद के लिये विशेषण के रूप में 'ब्राह्मण' पद का प्रयोग समीचीन ही है।

यजुर्वेद में अनुवाक, कण्डिका आदि का पुष्कल व्यवहार है।[८] 'सूक्त' पद का व्यवहार बहुत ही कम है, तथापि 'सूक्त' शब्द का व्यवहार क्यों किया गया—यह चिन्त्य है। सम्भवतः 'सूक्त' शब्द यहाँ सामान्यार्थक है।

वायु० २६।२० में यजुर्वेद को 'द्विमात्र' कहा गया है। (जिस प्रकार ऋग्वेद को एकमात्र कहा गया है—द्र० ऋग्वेद परिच्छेद)। ऋग्वेद परिच्छेद में जो युक्ति कही गई है—उस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रचलित यजुर्वेद में ऋग्यजुर्मन्त्र हैं, अतः यजुर्वेद को द्विमात्र कहा गया है। यह व्याख्या सांशयिक है और समीचीन व्याख्या अपेक्षित है।

भाग० १२।६।५२ में 'निगदाख्य यजुर्गण' का उल्लेख है। श्रीधर ने 'निगद' का निर्वचन किया है "नितरां प्रश्लेषेण गद्यमानत्वाद् निगदाख्यम्"। वस्तुतः यजु मन्त्र मात्र 'निगद' नहीं है, बल्कि जो यजुर्मन्त्र उच्च स्वर से उच्चारित हो, वह 'निगद' है जैसा कि शबर ने कहा है—"यानि च यजूंषि उच्चैरुच्चार्यन्ते ते निगदाः" (पूर्वमीमांसा २।१।४२)। पूर्वमीमांसासूत्र २।१।३८-४९ में निगद के यजुर्मयत्व पर विचार किया गया है। मधुसूदनसरस्वती का यह वाक्य इस प्रसंग में द्रष्टव्य है—"अग्नीदग्नीन् विहर इत्यादिसंबोधनरूपा निगदसंज्ञा मन्त्रा अपि यजुरन्तर्भूता एव" (प्रस्थानभेद पृ० १३)। निगद=प्रैष=कर्मार्थ आह्वान, जैसे 'प्रोक्षणीमासादय।" इस विषय में कात्यायन श्रौतसूत्र २।६।३४ द्रष्टव्य है। यह मत विचार्य है कि इस वेद-विभाग-प्रकरण में भाग० १२।६।५२ में ही "निगद यजुः"

कहा गया है—"विनियोगपरिज्ञानाद् यजुषामर्थनिश्चयः। इतिहासैर्ऋगर्थानां बहुब्राह्मणदर्शितैः" (पृ० ५)।

७. वेदवाणी वर्ष ४. अंक ८ में प्रकाशित।

८. यजुर्वेदगत अनुवाक की सत्ता के विषय में अनुवाक-सूत्राध्याय ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

का उल्लेख क्यों है,—जबकि अन्य पुराणों में इस स्थल पर केवल "यजुंषि" ही कहा गया है।

यजुःसंहिता—यजुः संहिता का निर्माण व्यासशिष्य वैशम्पायन द्वारा द्वापरान्त में किया गया था, यह पुराणों में कहा गया है। निर्माण के प्रसंग में पुराणों में केवल यजुर्मन्त्रों का ही उल्लेख है (कूर्म० १।५२।१८, विष्णु० ३।४।१३, ब्रह्माण्ड० १।३४।२२-२४, वायु० ६०।२२-२३) परन्तु वर्तमान शुक्लयजुः तथा कृष्णयजुषों में ऋङमन्त्र भी यजुर्वेद के साथ संकलित मिलते हैं। सम्भवतः याज्ञिक क्रिया की सुविधा के लिये बाद में अन्यान्य आचार्यों द्वारा ऋङमन्त्रों का भी अनुप्रवेश यजुः संहिता में कर दिया गया है।[१] वैशम्पायन ने केवल यजुर्मन्त्रों से ही यजुर्वेद बनाया था, यह पुराणों में स्पष्टतः कथित है। यदि यह मान लिया जाए तो यजुः संहिताओं में विद्यमान ऋङमन्त्रों के लिये कुछ कारण अवश्य ही होगा। सम्भवतः ऋग्मन्त्रों के समावेश के कारण ही यजुर्वेद को 'द्विमात्र' कहा गया है (वायु० २६।२०)।

यजुर्वेद विषय—वेदोत्पत्तिप्रसंग में भाग० ३।१२।२२ में यजुः के साथ 'इज्या' का सम्बन्ध दिखाया गया है। अन्यान्य पुराणों में "आध्वर्यवं यजुर्भिः" वाक्य से भी यही विषय कहा गया है (अग्नि० १५०।२४, विष्णु० ३।४।१२, कूर्म० १।५२।१७ वायु० ६०।१८८, ब्रह्माण्ड १।३४।१८। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यह मत मिलता है (ऐ० ब्रा० ५।३३)।

भाग ४।७।४१ में "तं यज्ञियं पञ्चविधं च पञ्चभिः स्विष्टं यजुर्भिः प्रणतोऽस्मि यज्ञम्" कहा गया है। यहाँ पञ्चविध यजुर्वाक्यों से यज्ञ के 'स्विष्ट' (सुपूजित) होने का उल्लेख है। ये 'आश्रावय' आदि वाक्य हैं। (द्र० भाग० ४।७।४१ की श्रीधरी टीका)।

पुराणों के कई स्थलों में इन ५ वाक्यों और १७ अक्षरों के निर्देश मिलते हैं। वामन पुराण में कहा गया है—

> **"चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च।**
> **हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै होमात्मने नमः"॥ (२६।१)।**

नारदीय० १।१९।३५ में भी यह श्लोक है। मूलतः यह श्लोक भीष्मस्तवराज

---

१. याजुष संहिताओं में एक ही मन्त्र की द्विरुक्ति, मन्त्रों के प्रतीकों का निर्देश इत्यादि से प्रमाणित होता है कि ये संहिताएँ क्रमशः एकाधिक व्यक्तियों द्वारा प्रणीत हुई हैं। संहिताप्रकरण में इस पर विशद विचार किया गया है।

(शान्तिपर्व ४७।४३) का है (शान्ति० ४७।२, के बाद का श्लोक जो पूना संस्करण में प्रक्षिप्त माना गया है)।

धर्मारण्य खण्ड ३९।८-९ में कहा गया है—

चतुरक्षरं परं चैव चतुरक्षरमेव च।
द्व्यक्षरं च तथा पञ्चाक्षरं द्व्यक्षरमेव च॥

एतद् यज्ञस्वरूपं च।

ये ५ वाक्य इस प्रकार हैं—

(१)	आश्रावयेति चतुरक्षरम्	४ अक्षर
(२)	अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्	४ अक्षर
(३)	यजेति द्व्यक्षरम्	२ अक्षर
(४)	ये यजामह इति पञ्चाक्षरम्	५ अक्षर
(५)	द्व्यक्षरो वषट्कार:	२ अक्षर
		१७ अक्षर[१०]

वायु० में जो "यच् छिष्टं तु यजुर्वेदे तेन यज्ञमयुञ्जत" (६०।२२) कहा गया है, उससे भी यजुर्वेद की यज्ञानुष्ठानपरायणता सिद्ध होती है (विष्णु० ३।४।११ की टीका में यह श्लोक वायु० के नाम से उद्धृत है, जहाँ 'तु' के स्थान में 'च' है)।

पुराणों में स्थान स्थान पर कुछ ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं, जिनसे यजुर्वेद का विषय स्पष्ट हो जाता है यथा—

"यजूंषि यो वेद वेद स वेद यज्ञान्" यह वाक्य वायु० ७९।९५ और ब्रह्माण्ड० २।१५।६८ में मिलता है। यह वाक्य मूलतः बृहद्देवता में है (८।१३०)। यज्ञ यजु: प्रतिपाद्य है, यह इससे स्पष्ट हो जाता है। वायु० ६५।२५ में यजुर्वेद का विशेषण 'यज्ञार्थ-संपृक्त' दिया गया है, जिससे यह मत सर्वथा प्रमाणित होता है। इस कर्म-प्राधान्य के कारण ही यजुर्वेद को 'मानुष' कहा जाता है (मनु० ४।१२८)। यहाँ भाष्यकार मेधातिथि का वाक्य (मनुष्याणां कर्मप्रधानत्वात्...) महत्त्वपूर्ण है।

यजुर्वेद और आध्वर्यव क्रिया—यजुर्वेद के साथ आध्वर्यव क्रिया का अच्छेद्य

---

१०. द्र० तै० सं० १।६।११।१ (आश्रावयेति चतुरक्षरमस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरं यजेति द्व्यक्षरं ये यजामह इति पञ्चाक्षरं द्व्यक्षरो वषट्कार एष वै सप्तदश प्रजापतिः..........)।

सम्बन्ध है, यह पुराणों से ज्ञात होता है। आध्वर्यव-कर्म-सम्बन्धी अनेक उल्लेख पुराणों में मिलते हैं।[११] अध्वर्यु के लक्षण में पूर्वाचार्य कहते थे—

"मन्त्रब्राह्मण-कल्पानामङ्गानां यजुषामृचाम्।
षण्णां यः प्रविभागज्ञः सोऽध्वर्युः कृत्स्नमुच्यते ॥"

पुराणोक्त याज्ञिकक्रिया—पुराणों में अध्वर्यु-आदि ऋत्विक्, यज्ञानुष्ठान, यज्ञीयसामग्री, याज्ञीय पशु आदि विषयों पर विशद विवरण स्थान स्थान पर मिलता है। इस ग्रन्थ में यह विषय विवृत नहीं होगा, अतः उदाहरणार्थ कुछ स्थलों का निर्देश ही किया जा रहा है—मत्स्य० १६७।६-१३ (ऋत्विग्विवरण), वराह० २१।१३-२० (ऋत्विग्विवरण), भाग० ९।७।२२-२३ (चतुर्ऋत्विक्), ब्रह्म० २१३।१४-१९ (यज्ञोपकरणादि), ब्रह्माण्ड० २।७२।२४-३० (यज्ञीय सामग्री)। भागवत में यज्ञानुष्ठान सम्बन्धी सुन्दर विवरण स्थान स्थान पर मिलते हैं (१०।७५।८, १०।७५।१९, ४।५।१४-१५, ९।६।३५-३६, ९।१।१५-१७, ११।१८।७-८)। अन्यान्य पुराणों में भी एतादृश विवरण हैं।

यजुर्वेद और त्रिष्टुप् आदि छन्द—कई पुराणों में सृष्टिप्रसंग में यजुर्वेद के आविर्भाव के साथ त्रिष्टुप् छन्द, पञ्चदश स्तोम, बृहत्साम और उक्थ का आविर्भाव कहा गया है (शिव० ७।१२५।९।६०, विष्णु० १।५।५३, कूर्म० १।७।५८, ब्रह्माण्ड० १।८।५१)। विभिन्न वैदिक ग्रन्थ तथा निरुक्त में इस मत का मूल मिलता है, जैसा कि 'चतुर्वेदों की तुलना' प्रकरण में दिखाया गया है।

यजुर्वेदवित्—शाखाप्रकरण के अतिरिक्त अन्य प्रकरणों में यजुर्वित् विद्वानों का उल्लेख क्वचित् ही मिलता है। भविष्यपुराण में 'याज्ञवल्क्य द्वारा यजुर्वेद का आविर्भाव' होना कहा गया है (ब्राह्म० २।५२-५५)। सम्भवतः यहाँ यजुर्वेद का लक्ष्य शुक्ल यजुर्वेद है। पुराण और महाभारत (शान्ति० ३१८ अ०) में शुक्ल यजुर्वेद के प्रणयनकर्ता के रूप में याज्ञवल्क्य को ही माना गया है। यजुर्वेद की १०१ शाखाओं में १५ शुक्ल-याजुष शाखाओं की प्रधानता है—यह भी एक प्राचीन दृष्टि है। (द्र० शाखा प्रकरण)। सम्भवतः इस प्राधान्यदृष्टि से ही यजुर्वेद के आविर्भाव में याज्ञवल्क्य का नाम लिया गया है।

यजुर्वेद का उपवेद—भाग० ३।१२।२३ में धनुर्वेद को यजुर्वेद का उपवेद कहा गया है। चरणव्यूह (चतुर्थ कण्डिका) में यह मत मिलता है। महिदास ने धनुर्वेद का अर्थ युद्धशास्त्र किया है (पृ० ४८।)[१२]

---

११. "अध्वर्युणा समादिष्टान् प्रैषान् प्राहुर्यथाक्रमम्" (नागर० १८८।३)।

१२. 'कोदण्डमण्डन' नामक धनुर्वेदीय ग्रन्थ (१।३) में धनुर्वेद को यजुर्वेद

यजुर्वेदीय कुछ विशिष्ट मन्त्रों का उद्धरण—पुराणों में याजुष संहिताओं के अनेक वचन उद्धृत मिलते हैं। कर्मकाण्डीय विनियोगों से पृथक् कुछ मन्त्र भी विभिन्न उद्देश्यों से पुराणों में संकलित हुए हैं। यहाँ मन्त्रों को परिचय के साथ उद्धरण-मात्र दिया जा रहा है, उद्धरणसम्बन्धी विचार यथास्थान द्रष्टव्य है।

(१) **इन्द्रशत्रुर्विवर्धस्व**—भाग० ६।९।११-१२ में यह मन्त्र है। लिंग० २।५१।१२, मत्स्य० ७।३५ तथा अन्यान्य पुराणों में भी यह मन्त्र है। 'इन्द्रशत्रु' शब्द के स्वर के विषय में शब्दशास्त्रीय ग्रन्थों में भी आलोचना की गई है (द्र० महाभाष्य-दीपिका पृ० २३)।

यह मन्त्र तै० सं० २।५।२।३, शतपथ० १।५।२।१ आदि में मिलता है।

(२) **भस्मान्तं शरीरम्**—शिव० २।५।५।४१ में "भस्मान्तं तच्छरीरं में वेदे सत्यं प्रपद्यते" कहा गया है। यह वाजसनेयिसंहिता ४०।१५ का अंश विशेष है। यहाँ ब्रह्मोपासक योगी का शरीरपात वर्णित है। पुराण का 'शरीर की भस्मान्तगति' कहना ही लक्ष्य प्रतीत होता है।

(३) **'आश्रावय' आदि पांच मन्त्रः**—भाग० ४।७।३१ में पञ्चयजुर्मन्त्र का निर्देश है, जिसकी व्याख्या में श्रीधर ने इन मन्त्रों का उल्लेख किया है। तै० सं० १।६।११।१ में ये मन्त्र हैं।

(४) **"योऽसावादित्यपुरुषः सोऽसावहम्"**—इस मन्त्र से ध्यान कर मुक्त होने का उल्लेख है (गरुड० १।४९।३९)। यह वाजसनेयिसंहिता ४०।१७ है। प्रकृत पाठ है 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्'। पुराण का भाव वेदवत् ही है।

(५) **"वेदाहमेतं पुरुष . . ."**—यह वाक्य प्रभासक्षेत्र० ६।३९ में मिलता है (यह सूर्य सम्बन्धी है)। इस श्लोक का पूर्वार्द्ध वाजसनेयिसंहिता ३१।१८ के समान है और उत्तरार्द्ध में आंशिक परिवर्तन है। महीधर ने भी पुरुष को सूर्यमण्डस्लस्थ ही कहा है। वायु० ७।६७ में हिरण्यगर्भ को लक्ष्य कर "स पठयते वै तमसः परस्तात्"

का उपवेद कहा गया है। यह ग्रन्थ किसके द्वारा विरचित है, इसका निर्णय दुरूह है, क्योंकि ग्रन्थकार का परिचय ग्रन्थ में कहीं भी नहीं दिया गया है। ग्रन्थ में भोजराज का नाम है (१।५-६)। यह ग्रन्थ वसुमती साहित्य मन्दिर से बंगला लिपि में प्रकाशित हुआ है। भूमिका में ग्रन्थसम्पादक श्री श्यामाकान्त तर्कपञ्चानन महोदय ने कहा है कि मुसलमानों के आगमन से पहले यह ग्रन्थ रचित हुआ है (पृ० ३६)। अग्नि० (२४९-२५२ अध्याय) में धनुर्वेद का एक संक्षिप्त विवरण है। इस ग्रन्थ के परिचय के लिये द्रष्टव्य मेरा लेख— "कोदण्डमण्डन का परिचय" (त्रिपथगा १।३)।

कहा गया है। यह 'तमसः परस्तात्' वाक्य इस मन्त्र का एकदेश ही है, (आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्—द्वितीय चरण)।

(६) **"एष हि देवः. . .सर्वतोमुखः"**—इस मन्त्र को महेश्वरपरक माना गया है (लिंग० २।१८।३६)। यह वाजसनेयिसंहिता ३२।४ है। काशी० ९।६०-६१ में इस मन्त्र को सूर्यपरक माना गया है। यजुः सर्वानुक्रमसूत्र के अनुसार यह सर्वमेध अध्याय आत्मदैवत है, अतः यह जान पड़ता है कि सूर्यभक्तों एवं शिवभक्तों द्वारा यह मन्त्र तत्-तत्-परक माना गया है।

(७) **पूजापद्धति**—ब्रह्मवैवर्त में सरस्वती-पूजा-सम्बन्धी काण्वशाखोक्त पद्धति (२।४। ३३), पृथ्वीपूजासम्बन्धी काण्वशाखोक्त पद्धति (२।८।४४) तथा काण्वशाखोक्त पृथ्वीस्तुति २।८।५३-६८) कही गई है। जो कुछ यहाँ कहा गया है, वह काण्व संहिता (यजुर्वेदीय) में नहीं मिलता। वस्तुतः ब्रह्मवैवर्तकार की अन्ध-सांप्रदायिक दृष्टि ही ऐसे निर्देशों का कारण है।

(८) **सावित्री ध्यान**—ब्रह्मवै० २।४०।४६-५० में माध्यन्दिनशाखीय सावित्रीध्यान कहा गया है। मुद्रित माध्यन्दिन संहिता में यह ध्यान नहीं है।

(९) **पैतामह व्रत**—यह यजुःशाखा में है, इस विषय में पद्मपुराण का एक वचन वेदान्तकल्पतरु ३।४।२० में उद्धृत है (मुद्रित पद्मपुराण में यह वाक्य नहीं है ; प्रचलित यजुःशाखीय ग्रन्थों में भी यह विषय अनुपलब्ध है)।

द्वितीय परिच्छेद

सामवेद

साम के पर्याय—सामवेदी या सामग (गरुड़० ३०।४३) के लिये पुराणों में 'छन्दोग' शब्द का प्रचुर व्यवहार है (भविष्य ब्राह्म० १८।१२, वराह० ३९।५२, ब्रह्माण्ड० २।१९।२४)। 'छन्दोग' शब्द सामवेदी के लिये क्यों व्यवहृत होता है—यह विचार्य है। सामवेदीय पूर्वार्चिक को छन्दः, छन्दसी, और छन्दसिका कहा जाता है, अतः सामवेद के साथ 'छन्दस्' पद का घनिष्ठ सम्बन्ध है—यह स्पष्ट है। पुराणों में एक स्थान पर साम के लिये छन्दस् शब्द आया है। यथा—वायु० ३१।४१ में 'सोम ऋग्यजुःछन्दसात्मकः' कहा गया है, जहाँ छन्दस्=साम है; क्योंकि अन्यत्र चन्द्र को वेदधामरस (मत्स्य० २३।१४) कहा गया है।[1] गान छन्दः का ही हो सकता है, इस दृष्टि से भी साम को 'छन्दः' कहा जा सकता है। ('छन्दसात्मकः' के स्थान पर 'छन्द आत्मकः' पाठ व्याकरण की दृष्टि से संगत है; पुराणों में एतादृश प्रयोग प्रायः मिलते हैं, यह ज्ञातव्य है)। मार्क० १०२।४ में "आविर्भूतानि सामानि ततः छन्दांसि" कहा गया है। प्रकरण के अनुसार यहाँ साम का ही उपजीव्यविशेष छन्द है, ऐसा प्रतीत होता है,[2] अतः सामवेदी के लिये छन्दोग शब्द समीचीन ही है।

सामवेदसंहिता के अर्थ में 'छन्दोगसंहिता' पद भाग० १२।६।५३ में है। श्रीधर कहते हैं—"छन्दःसु गीयमानत्वात् छन्दोगाख्यां संहिताम्"। इससे सामवेद का 'छन्दोग' नाम भी जाना जाता है। श्री सामश्रमी ने भी कहा है कि 'छन्दोग' सामगों का यौगिक नाम है (सामवेदभाष्यभूमिका, टिप्पणी १, पृ० ९०)।

---

१. वेद=ऋग्यजुःसाम है, अतः वायु० ३१।४१ वाक्य में परिशेषन्याय से छन्दः=साम ही होगा।

२. साम=ऋक्मन्त्राश्रित गीत। यजुर्मन्त्र पर गान नहीं हो सकता, अतः साम के साथ छन्दः का अच्छेद्य सम्बन्ध है, यही कारण है कि 'सामानि' के बाद 'छन्दांसि' पद प्रयुक्त हुआ है।

सामवेद के अर्थ में छन्दोग शब्द का प्रयोग पूर्वाचार्यों ने बहुत्र किया है (हरिवंश १।४१।१४१ की नीलकण्ठ-टीका)।[3]

सामवेद का स्वरूप—वायु० ६५।२६ और ब्रह्माण्ड० २।१।२५ में सामवेद के विशेषण में 'वृत्ताढ्य, सर्वगेयपुरःसर और विश्वावसु आदि गन्धर्वों से संभृत' पद प्रयुक्त हुए हैं। यहां सामवेद को 'वृत्ताढ्य' क्यों कहा गया, यह विचार्य है। यदि वृत्त छन्दः हो तो यह विशेषण संगत हो सकता है, क्योंकि सामवेद के लिये 'छन्दोग' पद प्रचलित है, जैसा कि पहले दिखाया गया है। यजुर्वेद के विशेषण में भी यह शब्द आया है (द्र० यजुर्वेदपरिच्छेद), अतः इस शब्द का विवक्षित अर्थ विचार्य है, वृत्त का 'सदाचार' अर्थ यहां समन्वित नहीं होता।

सामवेद को 'सर्वगेयपुरः सर' कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें गेय (=गाने योग्य=गानक्रिया का विषय=जो गाया जाता है) प्रचुर मात्रा में है। सामवेद में ग्रामेगेयगान और अरण्येगेयगान हैं तथा ऊह–ऊह्यादि गान भी गेय ही हैं। सामवेद के लिये पुराणों में 'गीतभूषणभूषित' (प्रभासक्षेत्र० २।२६-२७) आदि विशेषण दिए गए हैं, जिनसे सामवेद का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। सामगान प्रकरण में इस पर विशेष विचार द्रष्टव्य है।

'गेय' शब्द पर श्री सामश्रमी का विचार महत्त्वपूर्ण है। सामवेद-सायणभाष्यभूमिका में उन्होंने कहा है—"सामों की योनिभूत ऋचाएँ छन्द-आर्चिक में पठित हैं। साम नामक उनके गान 'योनिगान' कहलाते हैं, जिनको वेदसाम, वेद्यसाम, गेयगान भी कहा जाता है...प्रचलित 'वेयगान' शब्द गेयगान शब्द का अपभ्रंश प्रतीत होता है। कुछ हस्तलिखित पुस्तकों में 'गेयगान' शब्द लिखित भी मिलता है, और कुछ में वेयगान शब्द। आजकल 'वेय' शब्द अधिक प्रचलित है" (पृ० १४ टिप्. ४ हिन्दी अनुवाद)।

विश्वावसु आदि गन्धर्वों द्वारा सामवेद संभृत है—इस कथन का तात्पर्य है कि गानविद्या के साथ गन्धर्वों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। गन्धर्वों के विशेषण में 'गायनोत्तम' शब्द ब्रह्माण्ड० २।६।३८-३९ में है।[4] वेदविद्या के साथ विश्वावसुगन्धर्व का

---

३. छन्दोग एक ऋषिविशेष का नाम है, जिनके द्वारा प्रोक्त संहिता के अध्येता को 'छान्दोग्य' कहा जाता है, यह मत भी प्रसिद्ध है (वेदान्त कल्पतरु ३।३।२; यहाँ कल्पतरुपरिमल में 'छान्दोग्य' शब्द पर विशिष्ट विचार मिलता है)। छन्दोग एक चरण का नाम है (अष्टा० ४।३।१२९) और 'छन्दोगों का आम्नाय' इस अर्थ में 'छान्दोग्य' शब्द बनता है।

४. गन्धर्व के साथ गानविद्या का सम्बन्ध पुराणादि में बहुत्र कहा गया है।

विशिष्ट सम्बन्ध था, क्योंकि शान्तिपर्व (३१८ अ०) में उन्होंने वेदविषयक २४ प्रश्न याज्ञवल्क्य से पूछे थे।

ब्रह्मा के पश्चिममुख से सामवेद का आविर्भाव माना गया है (द्र० वेदोत्पत्ति प्रकरण)। भविष्य ब्राह्म० २।५४ में सामवेद के साथ गौतम का सम्बन्ध दिखाया गया है। इसका तात्पर्य विचार्य है। सामवेद का प्रथम साम गौतम-दृष्ट है, यह आर्षेय ब्राह्मण में कहा गया है (१।२), चूंकि गौतम का नाम पहले पढ़ा गया है इसलिए सामवेद के साथ गौतम का सम्बन्ध माना गया है—ऐसा प्रतीत होता है। इस पर अधिक विचार अपेक्षित है।[5]

सामवेद का निर्माण (व्यासकर्तृक)—सामों से सामवेद का निर्माण विष्णु० ३।४।१३, वायु० ६०।२०, ब्रह्माण्ड० १।३४।२०, कूर्म० १।५२।१८ आदि में कहा गया है। विष्णुपुराण टीका में श्रीधर ने "सामभिः गीतात्मकैः" कहा है। वस्तुतः "गीतिषु सामाख्या" सूत्र (मीमांसा २।१।३६) की दृष्टि से ऋक् मन्त्र पर गीत को ही साम कहा जाता है, अतः प्रकृत सामवेद साममन्त्रों की गान-संहिताएँ ही हैं। जिसको सामवेद कहा जाता है, यह सामयोनि-मन्त्रों का संग्रह है, प्रकृत-सामवेद नहीं। वस्तुतः "प्रगीतं मन्त्रवाक्यं साम" यह मत सर्वत्र समादृत है (शाबर भाष्य पृ० १८९ बिब्० इन्डिका संस्क०)।

सामवेद की महत्ता—पुराणों में सामवेद को श्रेष्ठ वेद या सब वेदों में श्रेष्ठ कहा गया है (नागर० १६८।४८, मत्स्य० ८५।५ नारदीय० १।१२५।४४, ब्र० वै० ३।३।२४, ब्र० वै० ४।७७।२, वराह० ११३।५२, इत्यादि)। यह मत गीता १०।२२ में भी स्वीकृत है। अनुशासनपर्व १४।३१७ में भी "वेदानां सामवेदश्च" कहा गया है। साम की प्रशंसा वैदिक संहिताओं में भी उपलब्ध होती है:—"सर्वेषां वा वेदानां रसो यत् साम" (शत० १२।८।३।२३; गोपथ०

द्वादश गायनवरों में विश्वावसु का नाम कूर्म० १।४२।१२-१३ में मिलता है। विष्णु० १।९।१०० में विश्वावसु को प्रमुख गन्धर्व के रूप में दिखाया गया है।

५. सामवेद के साथ गौतम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामवेदानुयायी के द्वारा गौतमधर्मसूत्र अधीत होता है, यह प्रसिद्ध है (तन्त्रवार्त्तिक १।३।११)। सामवेदीय राणायनीय शाखा के भेदों में गौतम का नाम है (चरणव्यूह का सामवेदप्रकरण)। सामवेदीय लाट्यायनश्रौतसूत्र १।३।३, १।४।१७, तथा द्राह्यायनश्रौतसूत्र १।४।१७, ९।३।१५ में गौतम स्मृत हुए हैं। गोभिलगृह्य सूत्र ३।१०-६ में भी गौतम का नाम मिलता है। सामविधान ब्राह्मण (१।२) के साथ गौतमधर्मसूत्र के २६वां अध्याय का साम्य दर्शनीय है।

२।५।३)। श्री सातवलेकर द्वारा सम्पादित सामवेद की भूमिका (पृ० ८-९) में सामप्रशंसापरक अनेक प्रमाण-वाक्यों का संकलन किया गया है।

साम की यह प्रशंसा विचार्य है। यह निश्चित है कि प्रचलित सामसंहिताओं के मन्त्र रचना की दृष्टि से ऋङ्मन्त्र हैं और उन मन्त्रों के गान स्वतन्त्र रूप से अधीत और अध्यापित होते हैं। ये गान ही सामपदवाच्य हैं, अर्थवान् मन्त्र नहीं जैसा कि ऊपर कहा गया है अतः मन्त्र की दृष्टि से सामवेद सर्वश्रेष्ठ नहीं हो सकता। चित्त की एकाग्रता के विधान में तथा भक्तिरस के उद्रेक में गान की महत्ता को लक्ष्य कर यदि सामवेद को यह स्थान दिया गया है तो यह समीचीन ही है।[6] साम का रस उद्गीथ है और उद्गीथ (=प्रणव) की महत्ता को लक्ष्य कर भी सामवेद को श्रेष्ठ वेद कहा जा सकता है। गीता-रहस्य में श्री बालगंगाधर तिलक ने इस प्रकार के कई विकल्प दिखाए हैं। गीताव्याख्याकार शंकर, आनन्द गिरि, श्रीधर आदि इस विषय में मौन हैं।

सामवेद की महत्ता के लिये यह भी एक कारण हो सकता है कि इस वेद में ऋक् यजुष् और साम—इन तीनों की सत्ता है। इस विषय में बृहस्पति का यह वचन द्रष्टव्य है—"यद्येकं भोजयेत् श्राद्धे छन्दोगं तत्र भोजयेत्। ऋचो यजूंषि सामानि त्रयं तत्र तु विद्यते"। यह वाक्य श्राद्धप्रकरणीय कल्पतरु पृ० ५८ तथा स्मृति-मुक्ताफल पृ० ३६५ में उद्धृत है।

गीति के लिये साम की यह प्रशंसा है, यह पक्ष सर्वथा उचित नहीं जँचता; क्योंकि गीति संहिताबहिर्भूत है। साम की सहस्रशाखावत्ता को मानकर विपुलता की दृष्टि से इस वेद को सर्ववेदश्रेष्ठता कही गई हो ऐसा भी कहा जा सकता है।

साम के साथ ब्रह्म का निकटतम सम्बन्ध पुराणों में माना गया है—"सामानि जो वेद स वेद ब्रह्म" (ब्रह्माण्ड० २।१५।६८; वायु० ७९।९५), जबकि ऋक्-यजुष्ज्ञान से ऐसे फल की प्राप्ति नहीं कही गई है (इस स्थल में)।[7] ब्रह्मप्राप्ति

---

६. यह आश्चर्य का विषय है कि याज्ञवल्क्यस्मृति (३।११२) में यह मत अत्यन्त विशद रूप से प्रतिपादित हुआ है—"यथाविधानेन पठन् सामगानमविच्युतम्। सावधानस्तदभ्यासात् परब्रह्माधिगच्छति।" मिताक्षरा में 'सामगायम्' पाठ है।

७. मन्त्र की दृष्टि से साम के प्रायः सभी मन्त्र ऋक्संहिता में (अविकल रूप से या ईषत् पाठभेद के साथ) मिलते हैं। मन्त्र ही अर्थवान् हैं; अतः मनन के उपयोगी हैं। ब्रह्मज्ञान मननसाध्य है, अतः ब्रह्मप्रापकमन्त्र की दृष्टि से ऋग्वेद को ही सर्ववेद श्रेष्ठ होना चाहिए। वस्तुतः ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादक मन्त्रों की संख्या

का यह सम्बन्ध साम के साथ मानने पर (किसी किसी के अनुसार) सामवेद की सर्ववेदश्रेष्ठता उपपन्न होती है, यद्यपि सामवेद और ब्रह्म का यह प्रापक-प्राप्य सम्बन्ध स्पष्टीकरणीय है। बृहद्देवता (८।१३०) में "सामानि यो वेद स वेद तत्त्वम्" कहा गया है; सम्भवतः 'तत्त्व' का स्पष्टीकरण ब्रह्मपद से पुराणकार ने किया है।

साम की अशूचिता—विष्णु० २।११।१३ में सामध्वनि को अशुचि कहा गया है। श्रीधर स्वामी कहते हैं कि सामशक्ति से रुद्र जगत् का नाश करते हैं अतएव सामध्वनि अशुचि है, जैसे अशुचि देशकाल में अध्ययन नहीं किया जाता, वैसे ही सामध्वनि में भी वेदान्तर का अध्ययन वर्ज्य होता है। श्रीधर द्वारा उद्धृत गौतम-स्मृति में भी "न सामध्वनावृग्यजुषी" कहा गया है। (मुद्रित पाठ सामध्वाना....है, जो "सामध्वना....." होगा)। गौतमधर्मसूत्र १६। २० का "ऋग्यजुषां च सामशब्दो यावत्" यह वाक्य इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। सामवेद रुद्ररूपी है—यह मत अनेकत्र पुराणों में मिलता है, जैसा कि 'वेदों का आध्यात्मिक स्वरूप' प्रकरण में दिखाया गया है। इस मत का मूल स्मृति में मिलता है (यद्यपि हेतु पृथक् है)। (द्र० मनु० "सामवेदः स्मृतः पित्यः तस्मात् तस्याशुचिर्ध्वनिः" ४।१२४)।

सामवेद की उपयोगिता और विषय—उद्गातृकर्म सामवेद का विषय है, यह पुराणों में कहा गया है (अग्नि० १५०।२५, विष्णु० ३।४।१२, ब्रह्माण्ड० १।३४।१८, वायु० ६०।१८, कूर्म० १।५२।१७)। पुराणों में कहीं 'औद्गात्र' और कहीं कहीं 'उद्गात्र'-पाठ है, इनमें द्वितीय पाठ स्पष्टतः अशुद्ध है। सामवेदीय लाट्यायन श्रौतसूत्र ४।१० में "उद्गाता सामवेदेन" सूत्र है—जो इस मत का ज्ञापक है। ऐ० ब्रा० ५।३३ का "साम्ना उद्गीथम्" वाक्य इस सिद्धान्त का मूल है।

भागवत में सामवेद के विषय के निर्देश में "स्तुतिस्तोम" पद प्रयुक्त हुआ है। स्तुति=संगीत, स्तोम=स्तुत्यर्थ ऋक्समुदाय। स्तोम त्रिवृत्, सप्तदश आदि होते हैं जिनका प्रयोग उद्गाता करता है—यह प्रसिद्ध है। भाग० ६।८।२९ में गरुड़ के विशेषण में "स्तोत्रस्तोभः छन्दोमयः" कहा गया है।[८] स्तोत्रस्तोभ=बृहत्-

---

ऋग्वेद में सामवेद से अधिक हैं। सगुण आत्मज्ञान के प्रतिपादक ऐसे अनेक मन्त्र (सूक्त भी) ऋग्वेद में हैं, जो सामवेद में नहीं हैं।

८. अप्रगीतमन्त्र साध्य स्तुति 'शस्त्र' और प्रगीत-मन्त्रसाध्य स्तुति 'स्तोत्र' कहलाती है। मीमांसादर्शन के १०।४।४९ और २।१।१३ सूत्र की व्याख्याएँ इस विषय में आलोच्य हैं।

रथन्तादि सामों (=स्तोत्र) से जो स्तुत होता है (स्तुभ्यते संस्तूयते)। यदि "स्तोत्रस्तोभ-छन्दोमय" ऐसा समासबद्ध पाठ माना जाए तो स्तोत्र=बृहदादि साम और स्तोभ=गीतिपूरक अक्षर होगा। कहीं कहीं 'स्तोभ' के स्थान पर 'स्तोम' पाठ भी मिलता है। स्तोम=सामाधारभूत ऋक् समुदाय (द्र० श्रीधरी टीका ६।८ २९)। सामगकर्तृक स्तोत्रगान का उल्लेख धर्मारण्य० ३९।७ में है। भाग० ३।२१।३४ में "उच्चारितं स्तोममुदीर्णसाम" कहा गया है। यहाँ भी स्तोम= सामाधारभूतऋक्समुदाय है।

वराह० में "वेदानां सामवेदोऽस्मि साङ्गोपाङ्गो महाव्रतः" (११३।५२) कहा गया है। महाव्रत सामवेदीय स्तोत्रविशेष का नाम है। सामवेद में इसकी महिमा स्वीकृत है।[९] शतपथ० १०।१।१।५ में कहा गया है "सर्वाणि ह्येतानि सामानि यन् महाव्रतम्"; यह वाक्य उपर्युक्त मत का ज्ञापक है।[१०]

उद्गातृकर्म का उल्लेख पौराणिक यज्ञीय विवरणों में मिलता है। गीत उद्गाता का विषय है (नागर० १८८।६)। देवी० ३।१०।२३ में उद्गातृगान-सम्बन्धी एक विशिष्ट उल्लेख है, जहाँ उद्गातृकर्तृक 'समन्वित स्वरितयुक्त रथन्त-रगान' कथित हुआ है। नागर० १८८।४-५ में उद्गातृगीत-सम्बन्धी एक रोचक वर्णन आया है। यहाँ 'शंकुसंपाद्य सामगीतिसूचित सप्तावर्त कर्म' का उल्लेख है। साम से स्तुति करना उद्गाता का कर्म है, यह शाबरभाष्य (पृ० ३५३) में भी कहा गया है।

सामवेदीय अभिचार कर्म—नागर० १६८।४६ में सामवेदीय मन्त्रों से कृत्या की उत्पत्ति कही गई है तथा १६८।३६ श्लोक में सामवेदीय मन्त्रों से हन-नात्मक अभिचार का निर्देश है। सामवेदीय मन्त्रों से इस प्रकार के कर्म किए जाते थे—इसका प्रमाण सामविधान-ब्राह्मण में मिलता है, क्योंकि इसमें आभिचारिक प्रयोग सम्बन्धी साममन्त्रों का वर्णन है।

साम और जगती छन्द आदिः—कई पुराणों के सृष्टि प्रसंगों में साम के साथ जगती छन्द, सप्तदश स्तोम[११] वैरूप्य साम और अतिरात्र (यज्ञ) का सम्बन्ध कहा

---

९. महाव्रत सम्बन्धी विशिष्ट विवरण के लिये हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र (भाग २, पृ० १२४३-१२४५) द्रष्टव्य है।

१०. "त्रयो ह वै समुद्रा अग्निर्यजुषां, महाव्रतं साम्नां महदुक्थमृचामिति श्रुतेः—(महीधरभाष्यधृत वचन, माध्यन्दिनसंहिता, ११।४६); इस वचन से भी महाव्रत और सामवेद का घनिष्ठ सम्बन्ध ज्ञात होता है।

११. त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश आदि स्तोमों के प्रयोग के विषय में यज्ञतत्त्व-

गया है (विष्णु० २।५।५४, शिव० ७।१२।६०-६१ ब्रह्माण्ड० १।८।५२)। "वेदों की तुलना" प्रकरण में इस विषय की उपपत्ति की गई है।

सामवेद का उपवेद—गान्धर्ववेद को सामवेद का उपवेद माना गया है (भाग० ३।१२।३८)। देवीपुराण १०७।४६ में भी यह मत मिलता है। चरणव्यूह (पृ० ४८) में यह मत स्वीकृत है। गान्धर्ववेद=संगीतशास्त्र (महिदास)। भरत-नाट्यशास्त्रकार ने सामवेद को गीत का मूल स्वीकार किया है (नाट्यशास्त्र १।१७-१८)। मूल श्लोक में यद्यपि 'सामभ्यः' पद प्रयुक्त हुआ है, तथापि उसका अर्थ केवल साममन्त्र न होकर पूर्वापरसम्बन्ध की दृष्टि से सामवेद ही है।

सामगान[१२]—पुराणों में सामगान-सम्बन्धी कुछ ही साधारण निर्देश मिलते हैं। धर्मारण्य० ३९।७, भविष्य ब्राह्म० १५८।२९, अश्वमेध० २५।१७, अनुशासन० १६।८८ में सामगान के विषय में सामान्य उल्लेख मिलते हैं। विष्णु० १।८।२० में साम और उद्गीति शब्द का एकत्र व्यवहार है, जहाँ साम=रथन्तरादि गान और उद्गीति उस गान की क्रिया है (द्र० श्रीधरी टीका)। पुराणों में 'सामसंगीत' (लिंग० १।१०२।४२), 'सामगीतिषु गीतम्' (पुरुषोत्तम० २१।६) इत्यादि गानज्ञापक प्रयोग प्रायेण मिलते हैं।[१३]

चार प्रकार के सामगान—अग्नि० २७१।६-७ में "गानान्यपि चत्वारि" कहकर चार प्रकार के सामगान का निर्देश किया गया है। यहाँ का मुद्रित पाठ भ्रष्ट है। प्रकृत पाठ होगा—आरण्यक, ऊह और ऊह्य। 'वेद' के स्थान पर 'गेय'

प्रकाश (पृ० ८६-९६) द्रष्टव्य है। स्तोम नौ हैं—त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव (सप्तविंशति), त्रयस्त्रिंश चतुर्विंश, चतुश्चत्वारिंश और अष्टाचत्वारिंश। स्तोत्रगत आवृत्ति स्तोमपदवाच्य है और आवृत्तिसंख्या से स्तोम का नाम दिया जाता है। तीन ऋचाओं में एक सामगान पूर्ण होता है। उन ऋचाओं में जितने बार साम की आवृत्ति होती है, उस संख्या के अनुसार स्तोम का नाम दिया जाता है। स्तोम के प्रसंग में विष्टुति (गानगत-प्रकार-विशेष) भी आलोच्य है।

१२. हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र (भाग १, पृ० ११७१) ग्रन्थ में श्री पाण्डुरंग वामन काणे ने सामगान सम्बन्धी ग्रन्थों की सूची दी है।

१३. यद्यपि वैदिक प्रयोग की दृष्टि से 'सामगान' शब्द पुनरुक्तिदोष-दुष्ट प्रतीत होता है, तथापि ऐसा व्यवहार सर्वत्र मिलता है। याज्ञवल्क्यस्मृति ३।११२ में ऐसी एक पुनरुक्ति है, जिसके समाधान के लिये विज्ञानेश्वर ने प्रयास किया है (द्र० मिताक्षरा)।

पाठ होगा। गेयगान को 'वेदसाम' या 'वेद्यसाम' भी कहा जाता है। यह हो सकता है कि मूलपाठ वेद ही हो, जहाँ वेद=वेदसाम=वेदगान=गेयगान है। अरण्येगेयगान=आरण्यकगान=आरण्यगान। उक्थ के स्थान पर 'ऊह्य' पाठ होगा ; ऊह्य गान रहस्यगान भी कहलाता है।

सामगीति-स्वरूप—यद्यपि साम गीतिविशेष है, पर ऋक् मन्त्र पर जो गाया जाता है—वही साम है क्योंकि "ऋच्यध्यूढं साम गीयते" (छा० उ० १।६।५, १।२।१)-यह नियम है। शतपथ० में भी "ऋचि साम गीयते" कहा गया है (८।१।३।३)। यह मत शाबरभाष्य में भी मिलता है (पृ० १९२ बिब्० इन्डिका संस्क०)। वनपर्व ४३।२८ में "गीतसामसु" पाठ है, जहाँ साम=मन्त्रोपरिगान और गीत=अमन्त्रोपरिगान है (द्र० नीलकण्ठी)। वनपर्व ९१।१४-१५ में "गीतं नृत्यं च साम" कहा गया है, जहाँ गीत=लौकिक गान और साम=ऋचा में **गीत** गान है (द्र० नीलकण्ठी)।

सामगान और स्तोभ—पुराणों में क्वचित 'हायि हावु' आदि स्तोभों (ऋग्-विलक्षण वर्ण) का उल्लेख मिलता है। वायु० ३०।२२८-२३० में सामग ब्रह्म-वादी के गान के उल्लेख में 'हवि' 'हावी' आदि स्तोभों का उल्लेख मिलता है। यह अंश ब्रह्म० ४०।४-४५ में भी मिलता है, जहाँ 'हायि, हरे, हुवा' आदि पाठ हैं। वेदज्ञों के अनुसार 'हाइ' 'हाउ' कौथुमीय शाखा में प्रचलित हैं (सातवलेकर-सम्पादित सामवेद की भूमिका, पृ० ६)।

सामगान और भक्तियां—साम की पञ्चविध और सप्तविध भक्तियों का उल्लेख साममन्त्रप्रकरण में किया गया है। प्रभास क्षेत्र० १७।१४१-१४४ में भी इन भक्तियों का उल्लेख है।

साम और स्वर—देवीभाग० ३।१०।२३ में, सामगान के प्रसंग में स्वरित स्वर और सप्तस्वरों का उल्लेख मिलता है। मत्स्य० १६।१२ में "सामस्वर-विधिज्ञ" पद है। सामगान में दो प्रकार के स्वर प्रयुक्त होते हैं—पहला मन्त्रस्वर, जो उदात्तादि हैं एवं सामयोनि मन्त्र पर लागू होते हैं ; दूसरा सामगान स्वर, जो संख्या में ७ हैं (मध्यमादि भेद से)। अनेक उदाहरणों के साथ यह विषय श्री सातवलेकर-सम्पादित सामवेद की भूमिका में समझाया गया है।

सामगान और वाद्य—इस विषय में पुराण की सामग्री बहुत ही अल्प है। देवी० ३।३०।२ में बृहत्-सामगान के साथ स्वरग्रामविभूषित 'महती' नामक वीणा का उल्लेख है। उसी प्रकार देवी० ४।२४।८-९ में महती वीणा द्वारा बृह-दादि सामगान करने का उल्लेख है। यह 'महती' विशेषण पद नहीं है, बल्कि नारद की वीणा का नाम है, यह ज्ञातव्य है।

सामगानों के नाम—पुराणों में अनेक स्थलों पर रथन्तर, बृहत् आदि साम-नामों का उल्लेख मिलता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि रथन्तर आदि वस्तुतः गान-विशेष के नाम हैं, मन्त्रविशेष के नहीं। सायण ने स्पष्टतः यह मत प्रतिपादित किया है—"स्वरादिविशेषानुपूर्वीमात्रस्वरूपम् ऋगक्षरव्यतिरिक्तं यद् गानं तदेव रथन्तर-शब्दार्थः" (सामवेदभाष्यभूमिका पृ० १०, बिब् इन्डिका संस्क०)। श्री साम-श्रमी ने स्पष्टतः कहा है—"अक्षरविशिष्टस्य स्वरादेर्नास्ति सामत्वम्, अपितु स्वरादेरेवेति" (सामभाष्य-भूमिका पृ० ६९, टिप्पणी संख्या २)। जिस मन्त्र पर जो साम परम्परानुसार गाया जाता है, उसको उस साम का 'स्वकीय मन्त्र' कहते हैं (द्राह्यायन श्रौतसूत्र २।१।१ की टीका)। इस विषय में शबर ने भी विशद विचार किया है (मीमांसाभाष्य ७।२।२७)। जिस साम के जो स्वकीय मन्त्र हैं, वे अन्य सामों के अनुसार भी गाए जा सकते हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि रथन्तर साम, बृहत्साम आदि में प्रयुज्यमान साम का अर्थ 'गीतिविशेष' ही है, मन्त्रविशेष नहीं। इस विषय में पूर्व मीमांसा ९।२।१-२ भी द्रष्टव्य है।

सामवेदीय-सामादिनिर्देश

पुराणों में सामवेद के कुछ सामगानों के उल्लेख (पूजाश्राद्धव्रत आदि प्रक-रणों में) मिलते हैं। यहाँ उद्धृत सामगानों का परिचय दिया जा रहा है। साम-गान उद्गातृकार्य है—यह पुराणों का सार्वत्रिक मत है।

सामगानप्रकरण—सामों के 'राजन-रौहिण-गायत्र-बृहत्-ज्येष्ठ' आदि नामों के विषय में विचार किया जा रहा है। सामनामकरण के नियमों के ज्ञान के विना सामनामों का रहस्य दुरधिगम है।[१४] संक्षेप में ये नियम इस प्रकार हैं:—

एक ऋक् मन्त्र पर एकाधिक पृथक् गान हो सकते हैं। 'अग्न आयाहि वीतये—' मन्त्र पर तीन गान हैं (कौथुम शाखा में ; अन्यान्य शाखाओं में इससे अधिक भी गान हो सकते हैं)। प्रत्येक गान का पृथक् नाम होता है। नामकरण की पद्धतियाँ

---

१४. यह ज्ञातव्य है कि अनेक ऐसे साम हैं, जिनके साम का कारण दुर्ज्ञेय है। रथन्तर सामविशेष का नाम है, परन्तु इसका यह नाम क्यों पड़ा—इस विषय में कोई विशिष्ट विवेचन नहीं मिलता। अध्येतृ-प्रसिद्धि ही इसका कारण है—ऐसा सायण कहते हैं (सामवेदभाष्य-भूमिका पृ० ६७, रथन्तरमित्युच्यते कुतः अध्येतृ-प्रसिद्धितः)। 'रथतरण' रूप किसी क्रिया का उल्लेख रथन्तर साममन्त्र (साम-वेद २३३) में देखा नहीं जाता। रथन्तरादि गानविशेष के ही नाम हैं, मन्त्रविशेष के नहीं—यह पहले कहा गया है (पूर्वमीमांसा ७।२ पाद विशेषतः द्रष्टव्य)

अनेक प्रकार की हैं। यहाँ आर्षेयब्राह्मणीय उदाहरणों के अनुसार मुख्यतः चार प्रकारों का उल्लेख किया जा रहा है।

१. **देवतानुसार सामनाम**—सामवेद के ५६ वें मन्त्र[१५] का देवता बृहस्पति है, अतः इस साम का नाम बार्हस्पत्य है (आर्षेय ब्रा० १।७)। उसी प्रकार जिस साम का देवता यम है वह 'याम' साम कहलाता है (आर्षेय ब्रा० १।८)।

२. **द्रष्टृनामानुसार सामनाम**—सुपर्णदृष्ट साम 'सौपर्ण' (आर्षेय ब्रा० १।३) कहलाता है, यह इस नियम का प्रसिद्ध उदाहरण है।

३. **विशिष्टव्यापारहेतुक सामनाम**—ज्योतिष्टोमादि यज्ञ का चालन करने के कारण एक साम को 'यज्ञसारथि' कहा जाता है (आर्षेय ब्रा० १।८)। 'प्रस्तोक' रूप सामनाम भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है (आर्षेय ब्रा० १।१६)। उत्कृष्ट स्तवोपयुक्तत्व के कारण यह नाम पड़ा है।

४. **मन्त्रस्थविशिष्टशब्दघटित नाम**—सामवेद के ५५वें मन्त्र में 'द्रविण' शब्द है, अतः इस मन्त्र में उत्पन्न साम का नाम 'द्रावण' है (आर्षेय ब्रा० १।७)। उसी प्रकार मन्त्रगत 'सुक्रतु' शब्द निबन्धन एक साम का नाम 'सौक्रत' हुआ है (आर्षेय ब्रा० १।६)।

एक ही सामनाम कभी कभी एकाधिक स्थलों में भी प्रयुक्त होता है, यह विशिष्ट तथ्य इस प्रसंग में विज्ञेय है। 'बृहत्' नाम सामवेदीय तृतीय मन्त्र पर गीत साम का भी है, ८२वें मन्त्र का साम भी 'बृहत्' कहलाता है (आर्षेय ब्रा० १।२ तथा १।१०)। 'रक्षोघ्न' नाम कई सामों के हैं (आर्षेय ब्रा० १।९, १।१२ आदि)।

सामवेदीय १७ वें मन्त्र के तीन साम हैं। एक मत के अनुसार इसका तृतीय साम 'वारवन्तीय' नामक है, और मतान्तर में तीनों ही वारवन्तीय हैं। यहाँ सामों के नामों में भी मतभेद है (आर्षेय ब्रा० १।३)। सामों के ऋषिनामों में प्रायः विकल्प दृष्ट होते हैं। उसी प्रकार 'वामदेव्यसाम'="कयानश्चित्र . ." मन्त्र के साम का नाम है, परन्तु सामवेद का २२वां मन्त्र भी 'वामदेव्य' कहलाता है (आर्षेय ब्रा० १।४)। एक नाम के एकाधिक साम होने के कारण ही गौ० ध० सू० १९। १३ में 'ज्येष्ठसाम्नामन्यतमत्' ऐसा कहा गया है। अन्यतम से ध्वनित होता है कि एकाधिक ज्येष्ठसाम हैं—जैसा कि व्याख्या में सोदाहरण दिखाया गया है।

---

१५. सर्वत्र साममन्त्रसंख्या स्वाध्यायमण्डल के संस्करण के अनुसार दी गई है ; आर्चिक, प्रपाठक आदि भेद के अनुसार आकरस्थल का निर्देश विशिष्ट स्थलों पर ही किया गया है।

इस प्रकार एक नाम से अनेक गानों के अभिहित होने पर भी साम्प्रदायिक संकेतानुसार किस स्थल में कौन साम विवक्षित है—इसका यथावत् ज्ञान हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभ्यासकाल में रथन्तररीति के अभ्यास के लिये "अभि त्वा शूर" इत्यादि मन्त्र पर ही अभ्यास किया जाता है। अभ्यस्त हो जाने के बाद रथन्तररीति का प्रयोग तत्सजातीय छन्द वाले अन्य मन्त्रों पर भी किया जाता है। ये सजातीयमन्त्रगत गान भी रथन्तर कहलाते होंगे। सायणादि के ग्रन्थों से इस विषय पर कुछ विशिष्ट प्रकाश नहीं पड़ता, अतः इस विषय का विशदीकरण करना सम्भव नहीं है। वस्तुतः यह विषय गुरुपरम्परागम्य ही है।

दूसरा तथ्य यह है कि एक ही मन्त्र पर एकाधिक गान उत्पन्न होते हैं और प्रायेण गानकर्ता[१६] के नामानुसार गान का नाम पड़ता है। सामवेद के प्रथम मन्त्र पर तीन गान हैं जो यथाक्रम गौतम, कश्यप बर्हिष्य और गौतमकर्तृक दृष्ट हुए हैं। एक ही ऋषि द्वारा दृष्ट गान एकाधिक स्थलों पर मिलते हैं। सामवेदीय ३५वें मन्त्र का साम और ४१वें मन्त्र का साम भरद्वाजदृष्ट हैं, अतः दोनों ही "दृष्टं साम" (अष्टा० ४।२।७) सूत्रानुसार 'भारद्वाज' कहला सकते हैं। पर इन सामों के स्वकीय नाम भी हैं (यथाक्रम उपह्व और गाथ नामक), अतः सामों की पहचान में बाधा नहीं होती।

प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि 'राजन' 'रौहिण' आदि (साम) नाम याजुष मन्त्रों के भी होते हैं। गौ० ध० सू० १९।१३ में "राजन-रौहिणे सामनी" कहा गया है। जब राजन-रौहिण साम ही हैं तो पुनः साम शब्द का उल्लेख क्यों किया गया है? इसके उत्तर में मस्करी कहते हैं—"यजुषोरपि एवं नामत्वात् साम-ग्रहणम्।"

सामनाम के प्रसंग में 'एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयम्' न्याय भी ज्ञातव्य है। 'वामदेव्य' साम वस्तुतः 'कयानश्चित्र' (सामवेद १६९) मन्त्र पर गीत गान ही है। यह पूर्वार्चिक में पठित है। इस पर यह गान पूर्ण हो जाता है। उद्देश्यविशेष से यह वामदेव्य-सामगान उत्तरार्चिकपठित "कस्त्वा...." (सामवेद ६८३) और "अभीषुगः...." (सामवेद ६८४) पर भी गाया जाता है। उत्तरार्चिक

---

१६. सामगान के प्रसंग में पाणिनि का प्रसिद्ध सूत्र है—"दृष्टं साम" (४।२।७)। वामदेव द्वारा दृष्ट साम को 'वामदेव्य' कहा जाता है। 'गान' के लिये 'दृष्ट' शब्द का व्यवहार साभिप्राय है, अर्थात् गान संकल्पपूर्वक स्वेच्छा से कृत नहीं होता, बल्कि प्रतिभा से अभिव्यक्त ही होता है। मन्त्रदर्शनवाद के पीछे भी यही मनोभाव है।

पठित ऋचाओं को 'उत्तरा' कहा जाता है और पूर्वार्चिक-पठित को 'योनिऋक्'। उत्तरार्चिक में अधिकतया तृच ही पठित हैं, जिनमें प्रथम को योनि-ऋक् कहा जाता है। यह उत्तराग्रन्थ यज्ञकर्माङ्गसमर्पक प्रकरण हैं; क्योंकि यज्ञकर्मगत पञ्चदश-सप्तदश आदि स्तोम तृच में ही उत्पन्न होते हैं, एक एक योनि-ऋक् में नहीं। क्रतु (सोमयज्ञ) में तृच का ही उपयोग किया जाता है, अतएव उत्तराग्रन्थ की आवश्यकता होती है। ताण्ड्यब्राह्मण की सम्पादकीय भूमिका में यह विषय कुछ विस्तार से विवृत हुआ है, यद्यपि गानरचना के नियमादि गुरुमुखगम्य ही हैं।

वैदिक व्यवहार के अनुसार रथन्तर के उल्लेख में उसके योनिभूत ऋक् "अभि-त्वा शूर....." (सामवेद २३३) ही उल्लिखित होता है, उत्तरग्रन्थ में पठित ऋचाएँ नहीं। जैसा बृहत्साम के विवरण में सायण ने कहा है —"त्वामिद्धि हवामहे इत्यस्यामृचि उत्पन्नं साम बृहत्" (ऐ० ब्रा० ४।१३)। इसी स्थल पर रथन्तर के विवरण में कहा गया है—"अभित्वा शूर नो नुम इत्यस्यामृच्युत्पन्नं साम रथन्तरम्।" यद्यपि रथन्तर का योनि-ऋक् यह मन्त्र है, तथापि स्तोत्रकाल में इसके साथ 'न त्वावाँ' आदि मन्त्र भी संयुक्त रहते हैं। इस विषय का विशिष्ट ज्ञान सम्प्रदायगम्य ही है। चूंकि साम्प्रदायिक परम्परा में 'योनिऋक्' और 'उत्तरा ऋक्' का निश्चित सम्बन्ध रहता है, इसलिये गानव्यवस्था में संशय उत्पन्न नहीं होता।

पुराणोक्त सामनामों में प्रायः भ्रष्ट पाठ मिलता है। इस ग्रन्थ में शुद्ध पाठ ही उद्धृत हुआ है। विशिष्ट स्थलों में पाठान्तर का उल्लेख किया गया है। कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहाँ सम्यक् पाठ का निश्चय नहीं किया जा सका। यथा—लिंग० १।२७।४२ में "भारुण्डेनारुणेन च" कहा गया है (शिवलिंगस्नान में)। यतः 'भारुण्ड' एक सामनाम है, अतः 'अरुण' या 'आरुण' भी कोई सामनाम होगा, यह प्रतीत होता है; परन्तु इस नाम का कोई सामगान प्रचलित ग्रन्थों में नहीं मिलता। यह पूर्ण सम्भव है कि यहाँ का पाठ भ्रष्ट हो गया हो।

अब पुराणोल्लिखित सामों का विवरण दिया जा रहा है। सायणादि के भाष्यों में इन सामों के विषय में जो कुछ कहा गया है, तदनुसार ही इस विषय का विवेचन किया जाएगा। शाखाभेदानुसार सामों के विषय में जो मतभेद हैं, उन ही पर आलोचना करना यहाँ संभव नहीं है। साममन्त्रों के सामवेदीय आकरस्थल दिखाए गए हैं। विशिष्ट स्थलों में ऋग्वेदीय आकरस्थान भी कहे गए हैं।

आग्नेयसामः—सामवेदीय ऋत्विक् द्वारा ग्रहयज्ञ में इसके जप का उल्लेख मिलता है (मत्स्य० ९३।१२३-१३२)। ताण्ड्य० १३।३।२१-२२ में इस साम का उल्लेख है।

काण्वसाम—मत्स्य० ५८।३६ में सामग द्वारा इसके जप का उल्लेख है। ताण्ड्य० ९।२।५-६ में काण्वसाम उल्लिखित है। सायणीय सामवेद भाष्य-भूमिका, पृ० ९१ इस प्रसंग में द्रष्टव्य है (द्र० सामश्रमिकृतसामवेद भाष्य भूमिका, पृ० ६५, टि० २)। एक काण्वरथन्तर साम भी है, जो इससे भिन्न है (सायणीय भाष्यभूमिका, पृ० ८०-८१)।

गवांव्रतसाम—मत्स्य० ५८।३६ में तडागादि-विधि में इसका उल्लेख है। भविष्य० २।२।१९।१७४ में 'गोव्रत' नाम पठित है, जो 'गवांव्रत' का नामान्तर प्रतीत होता है। "अग्निमीडे...." इत्यादि मन्त्र पर जो गाया जाता है वह गवांव्रतसाम है (आर्षेय ब्रा० ३।२१, आश्वलायन श्रौतसूत्र २।१ का अग्निस्वामिभाष्य द्र०)। अन्य गवांव्रत साम भी है (आर्षेय ब्रा० ३।२७ खण्ड)।

गायत्रसाम—मत्स्य० ५८।३५ में तडागादि विधि में सामग के द्वारा इसके जप का उल्लेख है। जै० उ० ब्रा० ३।३८।४ में गायत्र सामगान का उल्लेख है। ताण्ड्य० १६।११।११ में भी इसका निर्देश है। सायणीय सामवेद भाष्य-भूमिका में इस साम का उल्लेख मिलता है (पृ० ७६, ८२)। इस साम के विषय में श्री सामश्रमी कहते हैं कि यह इस समय किसी भी गानग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता, पर गुरुपरम्परा में "उच्चाते...."इत्यादि मन्त्र पर गीत गान गायत्र साम के रूप में प्रसिद्ध है (सामवेदभाष्यभूमिका, पृ० ३१, टि० ५)। ताण्ड्य ब्राह्मण के पूर्वोक्त निर्देश के रहते हुए भी श्री सामश्रमी ने ऐसा क्यों कहा—यह चिन्त्य है।

ज्येष्ठसाम—श्राद्धयोग्य ब्राह्मण के विशेषण में 'ज्येष्ठसामग' पद पुराणों में प्रायः मिलता है (कूर्म० २।२१।५, नागर० २१६।२३)। सामवेद के सामों में यह साम श्रेष्ठ माना गया है (ब्रह्माण्ड० १।२७।८२, कूर्म० १।१२।१२३, २।७।१३)। लिंग० १।३२।६ में "श्रेष्ठं साम च सामसु" पाठ है, परन्तु यह भ्रष्ट प्रतीत होता है, प्रकृत पाठ "ज्येष्ठं साम" होना चाहिए। ज्येष्ठसाम शैवों को प्रिय है, क्योंकि शिवस्तुति में "ज्येष्ठसामरहस्याय" पद मिलता है (प्रभासक्षेत्र० ३।४२)। इस साम से शिवलिंगस्नान लिंग० १।२७।४३ में कहा गया है। ज्येष्ठ-साम को वेधाः (ब्रह्मा) का प्रिय माना गया है (प्रभासक्षेत्र० १७।१४४)। (१४५वें श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि ज्येष्ठसाम दो प्रकार का है)। छन्दोग या साम-वेदी द्वारा इसके जप का उल्लेख बहुत्र मिलता है (मत्स्य० २६५।२४, ९३।१२९-१३२, ५८।३५, अग्नि० ९६।४०-४३, गरुड़० १।४८।५३-५५)।

गौतमधर्मसूत्र की टीका १५।२८ में हरदत्त ने कहा है कि ज्येष्ठसाम=उदुत्यम् (ऋग्० १।५०।१)और चित्रम् (ऋग्० १।११५।१) पर गीत का नाम है ; यह तलवकार शाखा का मत है। इस प्रसंग में भास्करराय का वचन द्रष्टव्य है—

"तलवकारिणां शाखायाम् उदुत्यं चित्रमनयोर्ऋचोर्गीयमानं साम ज्येष्ठं सामेत्युज्ज्वलायां हरदत्तोक्तेः। बृहत्साम तु सत्वं नश्चित्रेत्यस्यामृचि गीयमानं प्रसिद्धमेव। बृहज्ज्येष्ठशब्दयोः पर्यायत्वसंभवाच्च" (ललितासहस्रनामभाष्य पृ० १४२)। मनुभाष्य ३।१८५ में मेधातिथि ने इन दोनों मन्त्रों पर गीत साम को ज्येष्ठदोहसाम कहा है। छन्दोगशाखा के अनुसार 'मूर्धानम्' (ऋग्० ६।७।१) पर गीत को 'ज्येष्ठसाम' कहा जाता है। मस्करी के अनुसार 'शं नो देवी' (ऋग्० १०।९।४) और 'चित्रं...' (ऋग्० १।११५।१) पर गीत ज्येष्ठसाम है। ये सब मन्त्र सामवेद में भी हैं।

देवव्रतसाम—देवपूजाधिवास में सामवेदी द्वारा इसके जप का उल्लेख है (अग्नि० ९६।४०-४३)। शिवपूजा में भी इसका जप विहित है (रेवा० ५१। ४६)। ताण्ड्य ब्रा० ८।२।६, सामविधान० २।४।३ आदि में यह साम निर्दिष्ट हुआ है।

पञ्चनिधनसाम—सामग द्वारा इसके जप का उल्लेख मत्स्य० ५८।३५ में है (तडागादिविधि)। भविष्य० २।२।१९।१७३ में पञ्चनिरयपाठ है, जो पञ्चनिधन ही होगा। ताण्ड्य० ५।२।१०, १२।४।५ आदि में यह साम विवृत है।

पुरुषगतिसाम—पुराणों में 'पुरुषगीति', 'पुरुषंगति-सामनी' आदि पाठ हैं, जो भ्रष्ट हैं। पुरुष-गति-साम का जप अग्नि० ९६।४१ में कहा गया है (देवपूजाधिवास में)। मुद्रित पाठ पुरुषगीति है जो भ्रष्ट है। पुरुषगतिसाम को गौतमधर्मसूत्र १९।१३, बौधायनधर्मसूत्र ३।१०।१०, वसिष्ठधर्मसूत्र २२।९ में पवित्रताकारक के रूप में माना गया है। "अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य" मन्त्र पर गीत साम पुरुषगतिसाम है (सामवेद ५९४)। आर्षेय ब्रा० ३।१३ भी इस विषय में द्रष्टव्य है।

पुरुषसूक्त—पुरुषसूक्त प्रत्येक वेद में है—यह अग्नि० २६३।४ में कहा गया है। सामगकर्तृक पुरुष-सूक्त-जप का उल्लेख कई पुराणों में मिलता है (भविष्य० २।२।१९।१७३; मत्स्य० ५८।३५, ३६५।२८)। कहीं कहीं 'पौरुष' पाठ भी है। "सहस्रशीर्षा पुरुषः—" इत्यादि कई मन्त्र सामवेद में (६१७ मन्त्र से शुरू कर) हैं, इन मन्त्रों पर अनेक सामगान उत्पन्न होते हैं। ये साम 'पुरुषव्रत' कहलाते हैं (आर्षेय ब्रा० ३।२५)। ये "पुरुष-व्रत साम" यहाँ लक्षित हुए हैं—ऐसा प्रतीत होता है।

बृहत्साम—गीता में इसे सर्वश्रेष्ठ माना गया है (बृहत्साम तथा साम्नाम् १०।३५)। शंकर ने इसको मोक्ष-प्रतिपादक कहा है। शिवपूजा में इसके जप का उल्लेख रेवा० ५१।४७ में है। बृहत्साम के गान का बहुधा उल्लेख मिलता है (देवी० ३।३०।२, ६।२४।८-९)। बृहत्साम और रथन्तर साम का देवप्रतिष्ठा

में देव के उरु के रूप में (न्यास-क्रिया में) चिन्तन करने का भी उल्लेख है (गरुड० १।४८।७८)। सामगकर्तृक इसके जप का उल्लेख मिलता है (मत्स्य० २६५। २७, ५८।३६)। बृहत् (बृहत्साम) से शिवलिङ्गस्नान भी लिङ्ग० १।२७। ४४) में कहा गया है। 'त्वामिद्धि हवामहे–' (सामवेद २३४) पर गीत साम बृहत्साम कहलाता है। गौतम धर्मसूत्र १९।१३ और बौधायनधर्मसूत्र ३।१०।१० में इसकी शुद्धिकारकता कही गई है।

भारुण्डसाम—देवप्रतिष्ठा आदि विभिन्न कर्मों में सामगकर्तृक इस साम के जप का उल्लेख मिलता है (गरुड० १।४८।५३-५६, मत्स्य० २६५।२४, अग्नि० ९६।४०-४३)। शिवलिङ्गस्नान में भी भारुण्ड साम का जप किया जाता है (लिङ्ग० १।२७।४२)। कहीं कहीं 'भेरुण्ड' आदि पाठ भी मिलते हैं। सम्भवतः इसका नाम 'भारण्ड' है। यह भारण्डसाम गान ग्रन्थातिरिक्त है, यह श्री सामश्रमी ने कहा है (सामवेदभाष्यभूमिका, पृष्ठ ३१, टि० ५)।

रक्षोघ्नसाम—सामगकर्तृक रक्षोघ्न जप मत्स्य० ५८।३६ में उल्लिखित है। आर्षेय ब्राह्मण १।९ में इस साम का निर्देश है। रक्षोघ्नसाम अनेक हैं। आर्षेय ब्राह्मण १।१२ में ही दो रक्षोघ्न साम कहे गए हैं। १।१३ में भी एक रक्षोघ्न साम है। रक्षोघ्न मन्त्र ऋग्वेद ४।४।१-५, वाज० सं० १३।९-१३, तै० सं० १।२।१४।१-२ आदि में मिलते हैं।

रथन्तरसाम—पुराणों में इस साम का बहुधा उल्लेख मिलता है। रथन्तर गान करने का सुन्दर वर्णन देवी० ३।३०।२, ६।२४।८-९ में है (कहीं कहीं रथन्तर के लिये 'रथ' शब्द का भी प्रयोग है)। शिवपूजा में इसका जप विहित है (रेवा० ५१।४७)। देवपूजाधिवास, तडागादिविधि आदि में सामग द्वारा इसके जप का उल्लेख मिलता है (गरुड० १।४८।५३, मत्स्य० ५८।३६, २६५।२४, अग्नि० ९६।४१,)। देवस्नानान्तर्गत भूषण-विनियोग में भी इस साम का उल्लेख है (अग्नि० ५८।३८)। देव के उरु के रूप में रथन्तर साम का आरोप किया गया है (गरुड० १।४८।७८)। "अभित्वा शूर....." (सामवेद २३३) मन्त्र पर गीत साम रथन्तर है। सायण ने सामवेदभाष्यभूमिका में एकाधिक स्थानों पर इस साम पर विचार किया है (पृ० ६७, ७५, ७६, ८३)।

रुद्रसंहिता—महायज्ञ-तडागादिविधि में सामग द्वारा इसके जप का विधान है (मत्स्य० ९३।२३१, ५८।३५)। उसी प्रकार छन्दोग द्वारा रौद्र या रुद्र-सूक्तजप मत्स्य० २६५।२७ में कहा गया है (मूर्ति-अधिवास-प्रसंग में)। रुद्रदेवता वाले मन्त्रों पर गीत साम रुद्र है—ऐसा ज्ञात होता है।

रौरवसाम—तडागादिविधि में सामगकर्तृक इसके जप का उल्लेख है

(मत्स्य० ५८।३६)। यह "पुनानः सोम धारया" (सामवेद ५११, ६७५) मन्त्र पर गीत साम है। इस प्रसंग में सायणीय सामवेदभाष्य भूमिका (पृ० ७५) द्रष्टव्य है।

रौहिणसाम—मत्स्य० १७।३८ में इसका उल्लेख है (श्राद्ध में)। सामवेद ३१८ पर गीत साम रौहिण साम है (गौतमधर्मसूत्र १९।१३ पर मस्करि-टीका)। इसका नामान्तर 'राजनरौहिण' भी है। इस मन्त्र पर एक ऐसा भी सामगान है, जिसमें दश स्तोत्र होते हैं और इसी लिये वह साम 'दशस्तोत्र' कहलाता है (आर्षेय ब्रा० २।२३)।

वयस्साम—तडागादिविधि में सामगकर्तृक इसके जप का उल्लेख है (मत्स्य० ५८।३६)। यह "वयः सुपर्णा..." मन्त्र पर गीत साम है (सामवेद ३१९)।

वामदेव्यसाम—तडागादिविधि आदि में सामवेदी द्वारा इसके जप का उल्लेख मिलता है (मत्स्य० ५८।३६, २६५।२७, गरुड० १।४८।५३-५६)। शिवपूजा में इसके जप का उल्लेख है (रेवा० ५१।४६)। कहीं कहीं 'वामदेवसाम' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। सायणीय सामवेदभाष्य (पृ० ७६, ८३) में वामदेव्यसाम पर विशिष्ट विचार है। "कया नश्चित्र" (ऋक् ४।३१।१) पर गीत साम वामदेव्य कहलाता है। ताण्ड्य ब्रा० १५।१०।१ में वामदेव्यसाम के स्वकीय मन्त्रों का उल्लेख है।

विकर्णसाम—भविष्य० २।२।१९।१७४ में इसका उल्लेख है (होम प्रसंग में)। 'चामरं तु विकर्णेन' (अग्नि० ५८।२६) वाक्यस्थ विकर्ण पद सामनाम प्रतीत होता है, क्योंकि इसके साथ रथन्तर का पाठ है। ताण्ड्य ब्रा० ४।६।१५ में इस साम का विवरण है। वायुदेवता का विकर्णसाम आर्षेय ३।२८ में कथित हुआ है।

वेदव्रतसाम—छन्दोगकर्तृक इसके जप का उल्लेख गरुड० १।४८।५३-५६ में है (देवप्रतिष्ठा में)। शिवलिंग स्नान में भी इसका विनियोग है (लिंग० १।२७।४३)। यह कौन साम है—यह ज्ञात नहीं है। सम्भवतः वह 'देवव्रत' साम ही हो और 'वेदव्रत' भ्रष्ट पाठ हो।

वैराजसाम—कहीं कहीं 'वैराज्य' नाम भी है। (मत्स्य० ५८।३५)। तडागादिविधि आदि में सामग द्वारा इसके जप का उल्लेख मिलता है (मत्स्य० ५८।३५, ९३।१३१)। 'पिबा सोममिन्द्र....' (सामवेद ३९८) पर गीत साम वैराज है (द्र० ऐ० ब्रा० सायण भाष्य ४।१३)। ताण्ड्य० ७।८।११ में इस साम का उल्लेख है। इसके भाष्य में "प्रथमापि वा सोमम्....' इत्यादि पाठ मुद्रित हुआ है,

जहाँ 'पिबा...' में पदच्छेद होना चाहिए (मुद्रित पाठ में यह संशय होता है कि मन्त्र का आरम्भ 'सोमम्' से होता है, 'पिबा' से नहीं)।

वैष्णव साम—सामवेदी द्वारा वैष्णव साम (अरिष्ट वर्गसहित) के जप का उल्लेख मत्स्य० ६९।४४ में है (व्रतान्तर्गत होम कर्म में; 'वैष्णवानि तु सामानि चतुरः सामवेदिनः')।

ऋग्वेद का 'इदं विष्णु....' (१।२२।१७) मन्त्र 'वैष्णवी ऋक्' कहलाता है। उसी प्रकार 'विष्णो हव्यं रक्ष', यह 'वैष्णव यजुः' कहलाता है (तै० सं० १।१।३।१, माध्यन्दिन सं० १।४ में यह मन्त्र है। अतएव विष्णुसम्बन्धी चार सामवेदीय मन्त्र चार वैष्णवसाम हैं, ऐसा कहना संगत ही है। ये मन्त्र कौन कौन हैं, यह ज्ञात नहीं है। 'विष्णु व्रत साम' आर्षेय ब्रा० ३।२२ में उल्लिखित है। सम्भवतः यही वैष्णवसाम है। 'विष्णु स्वरीय साम' आर्षेय ब्रा० ३।१९ में है। वैष्णव नामक अन्य दो साम हैं, जिनका विवरण श्री सामश्रमी ने दिया है (सामभाष्यभूमिका पृ० ६३ टिप० ३)।

शान्ति, शान्तिक—छन्दोगकर्तृक शान्ति-जप का उल्लेख ग्रहयज्ञादि में मिलता है (मत्स्य० ९३।१२८-१३२, २६५।२७) निबन्धकारों के अनुसार सामवेदीय शान्ति मन्त्र का स्वरूप है—"कयानश्चित्र" "कस्त्वासत्यो", "अभीषुणः", "स्वस्ति न इन्द्रः"—ये चार मन्त्र तथा आदि-अन्त में गायत्री—इन सबों की समष्टि। सामवेदीय शाखाओं में जब ये मन्त्र पठित होते हैं, तब वे सामवेदीय कहलाते हैं।

शैशवसाम—सामगकर्तृक इसके जप का उल्लेख भविष्य० २।२।१९।१७३, मत्स्य० ५८।३५ में मिलता है (तडागादिविधि में)। यह साम शिशु नामक आचार्य द्वारा दृष्ट है।[17] शैशवसाम का निर्देश ताण्ड्य ब्रा० १३।३।२३ में है।

श्रायन्तीय साम—अग्नि० ६२।९ में लक्ष्मीप्रतिष्ठा के प्रसंग में इसका उल्लेख है। श्रायन्तीयसाम ही श्रीसूक्त है, अतः लक्ष्मी के साथ इस साम का सम्बन्ध जोड़ा गया है (द्र० श्रीसूक्त—सामवेदीय तथा ऋग्वेदीय)। कहीं कहीं 'श्रावन्तीय' पाठ मिलता है, जो भ्रष्ट है। सामवेद (२६७ मन्त्र) पर गीत साम ही श्रायन्तीय कहलाता है।

श्रीसूक्त—सामवेदीय 'श्रायन्तीय' साम ही श्रीसूक्त है, यह अग्नि० २६३।२ में कहा गया है। इस स्थल की व्याख्या में डा० शशिभूषण दास गुप्त लिखते हैं कि

---

१७. मनु० २।१५१-१५४ में इस शिशुनामक आचार्य का वृत्तान्त है—"अध्याययामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः..."। यहाँ 'शिशु' यह आचार्य का नाम भी है और साथ साथ उनके बालरूप का ज्ञापक भी है।

सामवेदीय श्रायन्तीय साम आदि मन्त्र श्रीसूक्त है (श्रीराधा का क्रम विकास, पृ० २०)। श्रीदास गुप्त के कहने का अभिप्राय यह है कि सामवेद में ऐसा एक मन्त्र है जिसका आरम्भ 'श्रायन्तीय' पद से होता है। यह मत भ्रान्त है। सामवेद में कोई भी ऐसा मन्त्र नहीं है। श्रायन्त इव . . . (सामवेद २६७) मन्त्र पर गीत साम ही श्रायन्तीय साम है। यह मत विष्णुधर्मोत्तर० २।१२८।२-६ में भी मिलता है।

सुपर्ण, सौपर्ण—कहीं कहीं 'सौवर्ण' पाठ है जो भ्रष्ट है। छन्दोगकर्तृक इसके जप का बहुधा उल्लेख मिलता है (मत्स्य० ९३।१३१, ५८।३५)। सुपर्ण साम का परिचय आर्षेय ब्रा० ३।२८ में दिया गया है। आर्षेय ब्रा० १।२ में एक अन्य सौपर्ण साम कहा गया है।

सौरसूक्त—सूर्यप्रार्थना में सामवेदीय सौरसूक्त का उल्लेख लिंग० १।२६।७ में है। कूर्म० २।१८।३३ और गरुड० १।५०।२५ में आदित्योपासना में ऐसा उल्लेख मिलता है। सूर्यदेवता वाले मन्त्र-विशेष पर गीत साम सौरसाम हो सकता है।

सूर्यपरक ऋग्मन्त्र सौर हैं, ऐसा कहा जा सकता है। जिस प्रकार "उदुत्यं जातवेदसम् . . ." इत्यादि सूर्यदेवताक मन्त्र सौरसाम के रूप में आर्षेय ब्रा० १।४ में अभिहित हुआ है, उसी प्रकार ऋग्वेद के १०।१५८, १।५०।१-९; १।११५।१७, १०।३७।१ मन्त्र भी सौर्य कहलाते हैं (आश्वलायन गृह्यसूत्र २।३।३-१२ की नारायण कृत टीका द्र०)। सामवेद में जब ये मन्त्र पठित होते हैं, तब तत्सम्बन्धी साम सौरसामपदवाच्य होते हैं।

अग्निपुराणोक्त सामवेदविधान के अन्तर्गत सामनामों में निम्नोक्त साम द्रष्टव्य हैं। रथन्तर आदि नामों का परिचय पहले दिया गया है। यहाँ ऊपर न कहे गए साम नामों का परिचय दिया जा रहा है—

सर्पसाम—अग्नि० २६१।८ में इसका उल्लेख है (सामविधान प्रकरण)। सम्भवतः यह 'सफ' साम है, जिसका परिचय सायण ने दिया है (सामवेदभाष्य-भूमिका, पृ० ७७)।

गारुड—अग्नि० २६१।२४ में इस साम का उल्लेख है। सम्भवतः जो मन्त्र विषनाश से सम्बद्ध हैं, उन पर गीत साम गारुड पद से अभिहित होते हैं। इस साम का परिचयात्मक निर्देश ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं मिलता।

सामवेदीय विशिष्ट मन्त्रादि के उद्धरण

(१) **सामवेदीय व्रत**—त्रैमासिक नामक व्रत (पतिसौभाग्यवर्धन) के विषय

में कहा गया है कि यह व्रत सामवेदोक्त है (ब्र० वै० ४।१६।१११)। सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों या सूत्रग्रन्थों में यह व्रत नहीं मिलता।

(२) **सामवेदोक्त ध्यान**—कृष्ण का एक सामवेदोक्त ध्यान ब्र० वै० १।२१।३१-४४ और ४।१२८।५२-५७ में मिलता है। सामवेदीय किसी भी ग्रन्थ में ऐसा ध्यान नहीं है; एतादृश शब्द प्रयोग भी सामवेदीय ग्रन्थों में नहीं हो सकता। इसी प्रकार गणेश का सामवेदोक्त ध्यान ब्र० वै० ४।१२१।६८ में है। स्वाहा का सामवेदोक्त ध्यान ब्र० वै० २।४०।४६-४८ में कथित है; ये दो सामवेदीय ग्रन्थों में अनुक्त हैं।

(३) **सामवेदीय राधानिर्वचन**—ब्र० वै० ४।१३।१०२ में कहा गया है—"राधाशब्दस्य व्युत्पत्तिः सामवेदे निरूपिता" और इसके बाद 'फ-आ-ध्-आ' इन चार वर्णों के अर्थ जोड़ कर 'राधा' शब्द का तात्पर्य दिखाया गया है। पुनः १०७ वें श्लोक में अन्य प्रकार का तात्पर्य भी कहा गया है। ये दोनों मत सामवेद के सहिताब्राह्मण में नहीं मिलते।[१८]

(४) **सामवेदीयदुर्गामन्त्र**—ब्र० वै० ४।२७।८ में सामवेदोक्त पार्वतीमन्त्र (अयातयाम, सर्बीजक) कहा गया है जो 'ओं श्रीं दुर्गायै सर्वविघ्नविनाशिन्यै नमः' है। यह मन्त्र सामवेदीय ग्रन्थों में नहीं मिलता।

(५) **सामवेदोक्त षोडशविध कृतघ्न**—"कृतघ्नाः षोडशविधाः सामवेदे निरूपिताः" (ब्र० वै० २।५१।३५) कहा गया है और इस प्रकरण में इनका विवरण भी है (३८ श्लोक पर्यन्त)। सामवेद में यह विषय अनुपलब्ध है।

(६) **दन्तमार्जनकाष्ठसम्बन्धी नियम**—सामवेद में इस विषय का निरूपण हरि ने आह्निक विधि के प्रसंग में किया है—ऐसा उल्लेख ब्र० वै० १।२६।४४ में मिलता है। यह सामवेद में नहीं मिलता।

(७) **सामवेदीय शाखा में कृष्णसहस्रनाम**—ब्र० वै० ७।९०।२६ में कहा

---

१८. 'नहीं मिलता' या 'अनुक्त है' कहने का तात्पर्य यह है कि सामवेदीय संहिता-ब्राह्मण-उपनिषदों के प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों में यह विषय नहीं देखा गया। पर अर्वाचीन साम्प्रदायिक उपनिषदों में ऐसे उल्लेख मिल सकते हैं। उदाहरणार्थ सामरहस्योपनिषद् और राधोपनिषद् में राधा का एतादृश निर्वचन मिलता है (सनातनधर्मालोक भाग ६, पृ० ५२२-५२३)। इन अष्टोत्तरशतोपनिषदों में इन उपनिषदों के नाम मिलते हैं और न प्रचलित दार्शनिक ग्रन्थों में ही इन उपनिषदों का उल्लेख है। सम्भवतः ऐसे किसी उपनिषद् पर ब्र० वै० के वचन आधृत हैं। प्रचलित ब्रह्मवैवर्तपुराण अर्वाचीन है—यह ज्ञातव्य है।

गया है—"वेदे कौथुमिशाखायां तस्य नाम्नां सहस्रकम् नन्दनन्दननाम्नोक्तम्।" पुष्पसूत्र को देखने से ज्ञात होता है कि सामवेद की कौथुमशाखा में ऐसे विषय की सम्भावना भी नहीं है। गङ्गा का कौथुमशाखोक्त ध्यान (ब्र० वै० २।१०।९५) और स्तोत्र (२।१०।१११) कहे गए हैं जो इस वेद में नहीं मिलते।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि सामवेद के साथ इन विषयों का सम्बन्ध क्यों जोड़ा गया, जब कि वस्तुतः ये विषय सामवेदीय ग्रन्थों में नहीं हैं? प्रतीत होता है कि वैष्णवधर्म में गीत, कीर्तन, आदि का मर्यादित स्थान है और सामवेद गीत का आदिम आकर ग्रन्थ है; यही कारण है कि वैष्णवगण अभीष्ट मतों को सामवेद से संबद्ध करते थे।[१९]

(८) **देवीभागवत में सामवेदोक्त ध्यान**—देवी० ९।४३।३६ में "सामवेदोक्त ध्यानेन ध्यात्वा तां जगदम्बिकाम्" कहा गया है। यहाँ ध्यान-श्लोक उल्लिखित नहीं है। सामवेद के किन मन्त्रों से ध्यान किया गया, यह भी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। पुनः ९।४८।१ में "ध्यानं च सामवेदोक्तं प्रोक्तं देवीविधानकम्" कहा गया है और "श्वेतचम्पकवर्णाभाम्" इत्यादि शब्दों से ध्यान-श्लोक कहे गए हैं (४८।२-३)। यहाँ मनसा देवी का ध्यान कहा गया है। पर सामवेद के किसी भी ग्रन्थ में मनसा देवी सम्बन्धी कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता है। एतादृश अनुल्लेख के विषय में पहले विचार किया जा चुका है।

---

१९. ऐसा प्रतीत होता है कि सामवेद का प्रचार-प्रसार वैष्णवसम्प्रदायों में अधिक था। सामवेदीय छान्दोग्य उपनिषद् ३।१७।६ में देवकीपुत्र कृष्ण के विषय में विशिष्ट तथ्य मिलता है। भागवतधर्म प्रतिपादक गीता १०।२२ में सामवेद को श्रेष्ठ वेद माना गया है। वैष्णवमतों के अनुसार गीतपूर्वक भजन श्रेष्ठ साधन है, और सामवेद गीत का आकरस्थल है। वैष्णवों की दृष्टि में नारद श्रेष्ठ वैष्णव हैं। सामविधान ब्राह्मण की वंशसूची (३।९।३) में नारद का नाम पढ़ा गया है। इस प्रकार यह देखा जाता है कि वैष्णव-परम्परा में सामवेद का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

चतुर्थ परिच्छेद

अथर्ववेद

अथर्व शब्द और उसका अर्थ—'अथर्वन्' पुंलिंग शब्द है, जो वेद-विशेष का वाचक है। पुराणों के "अथर्वा च नवश्यामः" (प्रभास क्षेत्र० ३।२७) "अथर्वाणमपि पठन्ति" (धर्मारण्य० ३६।६-७) "अथर्वाणं द्विधा कृत्वा (वायु० ६१।४९) आदि प्रयोग इस पुंलिंग शब्द के अनुसार हैं। अथर्वन् शब्द को नकारान्त मान कर ही आथर्वणी श्रुतिः' (अग्नि० ११५, विष्णु० ६।५।६५) 'आथर्वणः विधिः' (ब्रह्माण्ड० २।१२।१) 'आथर्वण मन्त्र' (नागर० ६०।२-३) इत्यादि प्रयोग उपपन्न होते हैं। अथर्ववेदवित् अर्थ में 'आथर्वण' पद मिलता है (भविष्य० ब्राह्म० १८।१२)।

यद्यपि 'अथर्वन्' ही वेद नाम है, परन्तु कभी कभी स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय कर 'आथर्वण' प्रयोग भी किया गया है। आथर्वण-शब्द की सिद्धि हरदत्तकृत आपस्तम्ब-धर्मसूत्रटीका में द्रष्टव्य है।[1] इसी प्रकार 'आथर्वण' शब्द पर वैद्यनाथ पायगुण्डे ने भी छाया टीका में विचार किया है।[2] उनके मत के अनुसार अथर्वा द्वारा प्रोक्त वेद आथर्वण है, इस वेद के अध्येता आथर्वणिक हैं और आथर्वणिकों का आम्नाय आथर्वण कहलाता है। अथर्वा (अथर्वन्) एक ऋषि का नाम है (शंकर कृत छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य ३।४।३)। तैत्तिरीय उपनिषत् ८।२ भाष्य में सायण ने भी अथर्वा ऋषि का उल्लेख किया है। अथर्वा द्वारा दृष्ट या संकलित होने के कारण इस वेद का नाम भी 'आथर्वण' या 'अथर्वा' (उपचार प्रयोग) हुआ है, ऐसा कहना सर्वथा संगत है (त्रयीपरिचय, पृ० २१-२२ ; अथर्ववेदभाष्य-भूमिका, पृ० १२१-१२२)।

---

१. अथर्वणा प्रोक्तमधीयते ये ते आथर्वणिकाः। वसन्तादिभ्यष्ठक्, तेषां समाम्नायः। आथर्वणिकस्येकलोपश्च आथर्वणः (आ. ध. सू. २।११।२९।१२ की उज्ज्वला टीका)।

२. अथर्वणा ऋषिणा प्रोक्तो वेद आथर्वणः। अन्निति प्रकृतिभावः। तमधीयते आथर्वणिकाः। वसन्तादित्वात् ठक् तेषामाम्नाय आथर्वणः, आथर्वणिकस्येत्यण् इकलोपश्चेत्यर्थः (छायाटीका पृ० ६५)।

पुराणों में कहीं कहीं अथर्ववेद के लिये अकारान्त 'अथर्व' शब्द आया है (वराह० ३९।५४), परन्तु यहां भी 'अथर्वा' पाठ की कल्पना की जा सकती है। वस्तुतः अकारान्त 'अथर्व' शब्द भी है[3]—'अथर्वशब्दोऽकारान्तो नान्तश्च' (मुण्डक उप० के शांकरभाष्य की नारायणकृत टीका १।१।१)। पद्म० ५।३१।४३ में अकारान्त 'अथर्व' शब्द है। विष्णु० ५।१।३६ में 'ऋग्वेदस्त्वम्...अथर्व च' पाठ है। यहाँ नान्त नपुंसक 'अथर्वन्' पद प्रयुक्त हुआ है। परन्तु अन्यत्र ऐसा प्रयोग प्रायेण नहीं मिलता।

'अथर्वा' शब्द अथर्ववेदी ऋत्विक् के लिये भी आता है—"अथर्वा चोत्तरेऽजपत्" (प्रभास क्षेत्र० २३।११५, मत्स्य० २६५।२९)। कहीं कहीं इसी प्रसंग में "अथर्वश्चोत्तरेऽजपत्" पाठ भी मिलता है (गरुड० १।४८।५३-५६), कहीं कहीं 'अथर्वा' पाठ भी है (अग्नि० ९६।४३)। इन पुराणों के पाठ इतने भ्रष्ट हो गए हैं कि केवल दो चार मुद्रित प्रयोगों के आधार पर कुछ निर्णय नहीं किया जा सकता।

'अथर्वा' नाम का निर्वचन गोपथ ब्राह्मण में मिलता है (१।१।४)। निरुक्त (११।१८ ख०) में अथर्वा का निर्वचन प्रकारान्तर से किया गया है। पुराणों में इस प्रकार का कोई निर्वचन नहीं मिलता।

अथर्ववेदपर्याय—अथर्ववेद के कई पर्यायवाची शब्द पुराणों में मिलते हैं, जिन पर विचार करना आवश्यक है—

अथर्वक—स्वार्थ में 'क' प्रत्यय से निष्पन्न 'अथर्वक' पद अग्नि० २७१।८ में मिलता है।

ब्रह्मवेद—यह शब्द वायु० ६५।२७ और ब्रह्माण्ड० २।१।२६ में मिलता है। पुराणों के अतिरिक्त मुण्डक उपनिषद् (१।१।५ पर दीपिका टीका में दर्शित पाठान्तर) आदि में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। गोपथ० १।२।१६ में तथा अथर्व-प्रातिशाख्य के आरम्भ में भी 'ब्रह्मवेद' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस वेद का यह नाम 'ब्रह्मा' (ऋत्विक्) द्वारा व्यवहृत होने के कारण पड़ा है—यह कहा जा चुका है। ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादक मन्त्र इस वेद में अनेक हैं, इस दृष्टि से भी इसे ब्रह्मवेद कहा जाता है—ऐसा कहना भी संगत हो सकता है (अथर्ववेदभाष्यभूमिका, पृ० १२२।)

अथर्वाङ्गिरस्—यह शब्द पुराणों में बार-बार व्यवहृत हुआ है। यथा—

---

३. वेदवाची अकारान्त अथर्व-शब्द प्रचलित कोशों में नहीं मिलता। मोनियर विलियम्स कोश में यह शब्द संकलित नहीं हुआ है।

भाग० ६।६।१९, १।४।२२ गरुड० १।९४।२७ इत्यादि। स्मृतियों में भी यह प्रयोग है (याज्ञ० १।४४)।

कहीं कहीं अकारान्त 'अथर्वाङ्गिरस' शब्द मिलता है (गरुड० १।२०५।४१)। अकरान्त पाठ का अर्थ होगा 'अथर्वाङ्गिरस् से युक्त या अथर्ववेदान्तर्गत सूक्त'। सकारान्त पाठ का लक्ष्य वेदनाम विशेष या मन्त्र प्रकार-विशेष है। पुराणों में इस विषय में कहीं-कहीं भ्रष्ट पाठ भी मिलते हैं।

अथर्ववेद के लिये अथर्वाङ्गिरस् पद क्यों प्रयुक्त होता है—यह विशेषतः विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वेद में अथर्वसंकलित मन्त्र (जो शान्तिकारक[४] हैं) के साथ अङ्गिरस् दृष्ट मन्त्र भी हैं (जो अभिचारिक[५] हैं), अतः दोनों ऋषियों के नाम के अनुसार यह नाम पड़ गया है। पुराणों की कुछ उक्तियों से भी यह द्वि-नामवत्ता सिद्ध होती है। लिंग० २।१७।१६ में "अथर्वणः...चाङ्गिरसां मन्त्रः" कहा गया है। उसी प्रकार लिंग० १।२६।२६ में "अथर्ववेदानां अङ्गिरसां च" पाठ है।

इस विषय में याज्ञवल्क्यस्मृति १।३, १।४४ की वीरमित्रोदय व्याख्या द्रष्टव्य है। शंकर ने स्पष्टतः 'अथर्वाङ्गिरसः' की व्याख्या में "अथर्वणा अङ्गिरसा च दृष्टा मन्त्रा अथर्वाङ्गिरसः" कहा है (छान्दोग्य उप० ३।४।३ भाष्य)। आङ्गिर-संकल्प में षट्कर्म (मारण, उच्चाटन आदि) सविस्तार वर्णित थे। नारदीय० में कहा गया है—"आङ्गिरसे कल्पे षट्कर्माणि सविस्तरम् अभिचारविधानेन निर्दिष्टानि स्वयम्भुवा" (१।५१।७)। अथर्ववेद (अथर्वाङ्गिरस) का जो अथर्व-दृष्ट अंश है वह शान्तिपुष्टिकर्मयुक्त है। सम्भवतः ब्रह्मज्ञानपरक अंश भी अथर्वांश में ही है; परन्तु अभी यह निर्णय सन्दिग्ध है। अथर्ववेदीय प्रत्यङ्गिरस-मन्त्र (जो अङ्गिरस्-विरोधी है) शान्तिकर है (हरिवंश० १।३।६५ की नीलकण्ठी टीका)।

अथर्वा और अङ्गिराः सम्बन्धी कुछ विशिष्ट बातें पुराणादि में मिलती हैं। मत्स्य० ५१।१० में "भृगोः प्रजायताथर्वा अङ्गिराथर्वणः स्मृतः" कहा गया है,[६] अतः 'भृगु-अथर्वन्-अङ्गिरस्'—यह संबंध पिता-पुत्र-क्रमानुसार है। भृगुओं और

---

४. अथर्ववेदीय जो मन्त्र अङ्गिरोदृष्ट नहीं हैं, वे शान्तिकर हैं (हरिवंश० १।३।६५ नीलकण्ठी टीका)।

५. द्र० मनु० ११।३३ की मेधातिथि कुल्लूक टीका।

६. यह वाक्य अग्निसम्बन्धी है, अतः अथर्वसंग्राहक ऋषियों से इसका वास्तविक संबंध सिद्ध नहीं होता है। इस उल्लेख पर विचार करने से अथर्वसम्बन्धी

अङ्गिरसों का घनिष्ठ सान्निध्य महाभारत की कथाओं और वंशावलियों में प्रतिबिंबित होता है—यह डा० सुकथनकर जी का मत है। [डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा हिन्दी में अनूदित सुकथनकर जी का लेख—भृगुवंश और भारत, वैदिक धर्म, वर्ष २२, अङ्क ४ में प्रकाशित]।

इस विषय में अन्यान्य प्रमाण भी हैं। तै० ब्रा० ३।१२।९।१ में "अथर्वणामङ्गिरसां प्रतीची" कहा गया है, जो दोनों के मिलित स्वरूप को बतलाता है। सम्भवतः कभी अथर्वकृत भाग और अङ्गिराःकृत भाग पृथक् पृथक् भी थे, इसी दृष्टि से गोपथ ब्राह्मण के एक ही प्रकरण में "आथर्वणः वेदोऽभवत्" और "आङ्गिरसो वेदोऽभवत्" वाक्य मिलते हैं (१।१।५, १।१।८)। पूर्वोक्त दोनों ऋषियों द्वारा दृष्ट चतुर्थवेदगत मन्त्र अथर्वाङ्गिरस् कहलाते हैं—यह सायण को भी अनुमत है (तै० आ० टीका ८।२)। शतपथ० १३।४।३।२ में भी अथर्ववेद और आङ्गिरस वेद का पृथक् पृथक् उल्लेख है।[७]

उद्योग पर्व में कहा गया है कि अङ्गिराः ने अथर्ववेदमन्त्र से इन्द्र की पूजा की और बाद में इन्द्रदत्त वर के कारण अथर्ववेद अथर्वाङ्गिरस् नाम से प्रसिद्ध हुआ (१८।४-८)। इससे भी अनुमान होता है कि शान्तिपुष्टिकारक अथर्ववेद के साथ अङ्गिराः द्वारा प्रोक्त अभिचारभाग बाद में जोड़ा गया है। अथर्वाङ्गिरस्-नाम में अथर्वा का सार्वत्रिक पूर्वनिपात भी सम्भवतः इस तथ्य की ओर इङ्गित करता है।

आङ्गिरसी संहिता भाग० १२।६।५३ में उल्लिखित है। उसी प्रकार 'अथर्वाङ्गिरसी श्रुतिः' शब्द मनु० ११।३३ में मिलता है। यहाँ 'अथर्ववेदगत आङ्गिरसी श्रुति' इस अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।[८]

कोई गुप्त रहस्य प्रकट हो सके इस संभावना को ध्यान में रखकर विद्वानों के ध्यानाकर्षण के लिये यह सूचना दी गई है।

७. तै० उप० २।३ गत "अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा" वाक्य की व्याख्या में शंकर कहते हैं—"अथर्वाङ्गिरसा च दृष्टा मन्त्रा ब्राह्मणं च शान्तिकपौष्टिकादि-प्रतिष्ठाहेतुकर्मप्रधानत्वात्।" शंकर ने ब्राह्मण का भी अन्तर्भाव किया है; परन्तु पूर्वोक्त बृहदारण्यक-गत इस शब्द की व्याख्या में मन्त्र का ही उल्लेख है। शंकरानन्द की दीपिकाटीका में भी ब्राह्मणों का अन्तर्भाव स्वीकृत हुआ है।

८. मेधातिथि कहते हैं—"आथर्वणवेदे येऽभिचारप्रकाराः श्रुतास्ते कर्तव्याः इत्यर्थः....अथवा अभिचारश्रुतयोऽथर्वाङ्गिरसशब्देनोपात्ताः"। कुल्लूक कहते हैं—"अथर्ववेदे आङ्गिरसीः दृष्टाभिचारश्रुतीः...."।

चतुर्थवेद—अथर्ववेद के लिये यह शब्द कहीं कहीं प्रयुक्त मिलता है (नागर० २०१।१३–१८)। वेदक्रम प्रकरण में इस पर विचार द्रष्टव्य है।

अथर्ववेद का स्वरूप—वायु० ६५।२७, ब्रह्माण्ड० २।१।२६ में अथर्ववेद (ब्रह्मवेद) को "घोर कृत्याविधि से युक्त तथा प्रत्यङ्गिरस-योग से द्विशरीरशिरा:" ऐसा कहा गया है (ब्रह्माण्ड० में 'कृत्वाविधि' पाठ है, जो भ्रष्ट है)।

उपर्युक्त विवरण अथर्ववेद के स्वरूप को सम्यक् रूप से प्रतिपादित करता है। अथर्वा में घोर कृत्याविधि (अभिचार) है, यह प्रसिद्ध है। अथर्वा के इस स्वभाव के कारण ही अथर्ववक्ता सुमन्तु का विशेषण 'दारुण' दिया गया है (भाग० १।४। २२, द्र० श्रीधरी टीका)। अथर्ववेद का जो भाग अङ्गिरस्-दृष्ट है, वह अभिचार प्रयोजक है—यह प्रसिद्ध है (याज्ञ० स्मृति १।४४ वीरमित्रोदय)। नागर० २०२।१७ में "अथर्ववेदे तच्चोक्तं कर्म चैवाभिचारिकम्" कहा गया है। इस प्रकार के वाक्य अन्यत्र भी मिलते हैं जो अथर्ववेद के एक विशिष्ट विषय को विज्ञापित करते हैं। अथर्व-अंश के आभिचारिक स्वभाव के विषय में मनु० ३।१ की कुल्लूकमेधातिथिटीकाएँ भी द्रष्टव्य हैं। आथर्वण अभिचारकृत्यादि के विषय में पुराणों में अनेक उदाहरण यत्र-तत्र मिल जाते हैं (नागर० ६०।२-३, १७०।१-२ वामन० ५१।१५, इत्यादि)।

'प्रत्यङ्गिरसयोग' का तात्पर्य है—अभिचार का प्रतिविधान अर्थात् शान्तिपुष्टि आदि। शान्ति-पुष्टिकर्म अथर्ववेदीय हैं, ऐसा वैदिक सम्प्रदायों में प्रसिद्ध है। प्रत्यङ्गिरस-मन्त्र शान्तिकर है, यह हरिवंश० १।३।६५ की टीका में नीलकण्ठ ने भी कहा है। प्रत्यङ्गिरा: मन्त्र आथर्वण हैं, यह देवबोध ने महाभारत-टीका में कहा है (उद्योग० ३७।५४)।

अथर्ववेद में दो विरोधी तत्त्व हैं, और इसी दृष्टि से इस वेद को 'द्विशरीरशिरा:' कहा गया है—ऐसा प्रतीत होता है।

अथर्ववेद–शतकल्प, शतशाख:—ब्रह्माण्ड में पिप्पलाद ऋषि को लक्ष्य कर कहा गया है कि यह ऋषि शतकल्प–शतभेद आथर्वण वेद को नवधा और पञ्चकल्प बनाएगा (ब्रह्म० ४८।२३)। नागर० में भी शतकल्प-शतभेद अथर्ववेद को नवशाख और पञ्चकल्प बनाने का उल्लेख है (नागर० १७४।५०-५२)। इन वाक्यों का तात्पर्य विचार्य है। ऐसा जान पड़ता है कि अथर्ववेद का कोई एक अति प्राचीन रूप था, और बाद में उसका नूतन संस्करण किया गया था। प्राचीनतर अथर्वा के शतकल्प एवं शतभेद (=शाखा) थे और बाद में पञ्चकल्प और नवभेद (=शाखा) बनाए गए हैं। इन पञ्चकल्पों के विषय में आगे विचार किया जाएगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि कभी अथर्ववेद का प्रथम संग्रह अथर्वा ने किया था

और बाद में अङ्गिरस् ने। शान्तिपुष्टि और अभिचार भी विभिन्न स्रोतों के विषय हैं, अतः अथर्ववेद की धारा में कई प्रकार के परिवर्तन हुए होंगे, इसमें सन्देह नहीं। पुराण के उपर्युक्त वचनों से भी अथर्ववेद की ऐसी ही स्थिति ज्ञात होती है।

अन्य वेदों से अथर्ववेद का वैशिष्ट्यः—यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। नागर० के २०२ वें अध्याय में इस विषय में प्रश्नोत्तरपूर्वक विचार किया गया है। अन्त में यह निर्णय किया गया है कि ऋग्यजुः सामवेदनिष्पाद्य अग्निष्टोमादि यज्ञ 'पारत्रिक' (परलोक में फलदायी) हैं, ऐहिक नहीं है। अथर्ववेद में आभिचारिक कर्म है, अतः यह लोकहितकारक वेद हैं (२०२।१६-१८)। अथर्ववेद में बहुलतया दृष्टप्रयोजन कर्मों का प्रतिपादन है, ऐसा पूर्वाचार्यों ने कण्ठतः कहा है (याज्ञ० १।३ की वीरमित्रोदय टीका)। अथर्ववेद वस्तुतः यज्ञ में अनुपयुक्त है और लोकोपयोगी शान्तिक-पौष्टिक-आभिचारिक कर्म के प्रतिपादक होने के कारण अन्य वेदों से यह विलक्षण है—यह मधुसूदन सरस्वती का न्याय-दृढ़ मत है (प्रस्थानभेद पृ० १४)। अथर्वा का उपयोग ज्योतिष्टोमादि पारलौकिक कर्मों में नहीं होता, यह मेधातिथि और कुल्लूक दोनों ने ही स्पष्ट रूप से कहा है (मनु-स्मृति ३।१ की व्याख्या)। वन० २५१।२४ की टीका में नीलकण्ठ ने एतादृश आथर्वणिक कर्म का उल्लेख किया है, जो वेदत्रयी से नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वेदत्रय से अथर्वा की विलक्षणता स्पष्ट हो जाती है।

वेदत्रय से अथर्ववेद के पृथक्करण के विषय में वैदिकग्रन्थों का साक्ष्य भी अवलोकनीय है। गोपथ० १।३।२ में कहा गया है कि तीन वेदों से यज्ञ के एक पक्ष का संस्कार किया जाता है और ब्रह्मा मन से अन्य पक्ष का संस्कार करता है। ऐतरेय ब्राह्मण ५।५।३ में भी यह दृष्टि मिलती है। इस प्रकार यह देखा जाता है कि प्राचीन काल से ही अन्य वेद की अपेक्षा अथर्व वेद का पृथक् वैशिष्ट्य माना जाता था।

इस विषय में यह स्पष्टतः ज्ञातव्य है कि अथर्ववेद के साथ दर्शपूर्णादि श्रौतकर्म का कोई वास्तविक सम्बन्ध दृष्ट नहीं होता। कर्मवैगुण्यनिवारणार्थ अथर्ववेदी ऋत्विक् ब्रह्मा की सामान्य आवश्यकता मानी जाती है। आनुष्ठानिक क्रिया में ब्रह्मा का कोई योग श्रौतसूत्रों में प्रतिपादित नहीं हुआ है। परन्तु ऐहिक-फलद शान्तिक-पौष्टिक कर्म, राजकर्म, तुलापुरुष एवं दानादि कर्म अथर्ववेद में ही प्रतिपादित हुए हैं। (अथर्ववेदभाष्यभूमिका पृ० १२२-१२३)। गृहकर्म का भी प्रतिपादन विस्तरशः इस वेद में ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अथर्ववेद का अपना विशिष्ट क्षेत्र है।

अथर्ववेद के साथ शूद्रों का भी विशिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है (आ० ध०

सू० २।११।२९।११-१२)[९]। इतिहासपुराणपरम्परा का सम्बन्ध भी अथर्ववेद से माना जाता है (छान्दोग्य उप० ३।४।१-३)। याज्ञिक परम्परा में अथर्ववेदी ब्रह्मा का स्थान 'कृताकृत' माना जाता है। ये सब उदाहरण अथर्ववेदीय परम्परा की बहुमुखता और जटिलता के ज्ञापक हैं।

अथर्वा का प्रतिपाद्यविषय——पुराणों में अथर्ववेद से 'ब्रह्मत्व-सम्पादन' करने का बहुधा उल्लेख मिलता है (ब्रह्मत्वं चाप्यथर्वभिः, अग्नि० १५०।२५, विष्णु० ३।४।१२, ब्रह्माण्ड० १।३४।१८)। कहीं कहीं "ब्रह्मत्वमकरोत् यज्ञे वेदेनाथर्वणेन तु" (वायु० ६०।१८) भी कहा गया है। भाग० ३।१२।३७ में अथर्ववेदीय प्रायश्चित्त का उल्लेख है। यह प्रायश्चित्त 'ब्रह्मा' नामक पुरोहित का है——यह पूर्वाचार्यों का मत है (द्र० श्रीधरी टीका)। 'ब्रह्मा' नामक अथर्ववेदीय पुरोहित के वैशिष्ट्य के विषय में निरुक्त (१।८ ख०) द्रष्टव्य है। ब्रह्मा के स्वरूप को दुर्ग ने टीका में स्पष्टतः समझाया है। ब्रह्मत्व में त्रयी विद्या अन्तर्भूत है, यह मत शतपथ० ११।४।२।७ में भी मिलता है। त्रयीवित् तीन ऋत्विजों से पृथक् कर ब्रह्मा का स्थान पृथक् रूप से क्यों निर्दिष्ट किया गया है——इस विषय पर पहले विवेचन किया जा चुका है।

अथर्ववेद के पाँच कल्प——अथर्ववेद के पाँच कल्पों का उल्लेख पुराणों में मिलता है——नक्षत्र कल्प (नक्षत्रादिपूजाविधि), वेदकल्प (वैतानिक ब्रह्मत्वादिविधि), संहिताकल्प (संहितादिविधि), आङ्गिरसकल्प (अभिचारादिविधि) और शान्तिकल्प (अश्वगज आदि अष्टादश महाशान्ति विधि; कल्पों के ये अर्थ विष्णुपुराण की श्रीधरी टीका के अनुसार हैं)। वायु० ६१।५४-५५, ब्रह्माण्ड० १।३५।६१-६२, विष्णु० ३।६।१४ में यह विवरण है।

नारदीय० १।५१।२-७ में इन कल्पों के नाम और परिचय विशद रूप से मिलते हैं। यथा——नक्षत्रकल्प (नक्षत्राधीश्वराख्यान), विधानकल्प (वेदकल्प=धर्मार्थकाममोक्ष के लिये ऋगादि का प्रयोग), संहिताकल्प (मन्त्र-ऋषि-छन्द-देवता का निर्देश), आङ्गिरसकल्प (अभिचार-विधान से छह कर्मों का निर्देश; छह कर्म ये हैं——मारण, मोहन, उच्चाटन, विद्वेषण, स्तम्भन और वशीकरण) और शान्ति कल्प (दिव्य-भौम-अन्तरिक्षोत्पातशान्ति)।

इन कल्पों के विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि वायु-ब्रह्माण्ड-विष्णु० में अथर्ववेद के प्रसंग में इन कल्पों का उल्लेख किया गया है तथापि ये विषय अन्य वेद

---

९. सा निष्ठा या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु च। आथर्वणस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति।"

के भी हो सकते हैं। अन्य वेदों में भी अभिचार कर्म है, यह प्रसिद्ध है। मनु० ११।३३ की व्याख्या में मेधातिथि ने स्पष्टतः कहा है कि अथर्ववेद में अभिचार की बहुलता है और अन्य वेदों में भी अभिचार सामान्यतया है। नागर० १६८।३६में 'सामवेदोक्त शत्रुवधकारक मन्त्रविधि' का उल्लेख मिलता है। नारद० में भी इन पाँच कल्पों का उल्लेख केवल अथर्ववेद के सम्बन्ध में नहीं है, बल्कि सर्ववेदसंबद्ध कल्पसूत्र के प्रसंग में है।

भागवत में इन कल्पों के विषय में एक विचित्र बात कही गई है। इस पुराण के अनुसार नक्षत्रकल्प, शान्तिकल्प आदि आथर्वण आचार्यों के नाम हैं (१२।७।४)। श्रीधर ने स्पष्टतः कहा है—"नक्षत्रकल्पादीनां कर्तारः तत्तन्नामभिरुच्यते"। यह मत अन्य पुराण में नहीं मिलता और वस्तुतः यह मत अयथार्थ है।

विष्णुधर्मोत्तर (२।५।३-५, कहीं कहीं "चतुर्थोऽङ्गिरसःकल्पः" रूप शुद्ध पाठ के स्थान पर "चतुर्थः शिरसः कल्पः" ऐसा अशुद्ध पाठ उद्धृत मिलता है। ये श्लोक अनन्तदेवकृत राजनीति-कौस्तुभ, पृ० २५६ में उद्धृत हैं) में पुरोहित का विशेषण पञ्चकल्पविशेषज्ञ दिया गया है और यह भी कहा गया है ऐसे पुरोहित के रहने पर राजा के राज्यों में उत्पातों की शान्ति होती है।

इन पञ्चकल्पों के विषय में "नक्षत्रकल्पो वैतानः. . ." इत्यादि (मीमांसा-वृत्तिकार उपवर्षाचार्य[१०] कृत) एक विशेष श्लोक अथर्ववेदभाष्यभूमिका में सायण ने उद्धृत किया है (पृ० १३८)।

अथर्ववेद और पुरोहितकर्म—अथर्ववेद से पुरोहित (विशेषकर राजपुरोहित) का सम्बन्ध माना गया है। अथर्ववित् पुरोहित द्वारा ग्रहशान्त्यर्थ होम भाग० १०।५३।१२ में कहा गया है। अथर्ववेद का विषय प्रायश्चित्त है जो 'ब्रह्मा' नामक पुरोहित करता है—यह भी भाग० ३।१२।३७ (श्रीधरी टीका भी द्रष्टव्य है) में कहा गया है। राजा के पुरोहित अथर्ववित् होंगे और प्रायश्चित्त कर्म करना उनका कार्य होगा—यह भी पुराणों का मत है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। सायण ने अथर्ववेदभाष्य-भूमिका में कहा है कि पौरोहित्य अथर्ववित् का ही कार्य

---

१०. इनका उल्लेख शाबर भाष्य १।१।५ में मिलता है। शंकर ने शारीरक भाष्य ३।३।५३ में इनके मत का उपन्यास किया है। सम्भवतः एक अन्य उपवर्ष भी थे (द्र० Fitz Edward Hall कृत Index to Sanskrit Philosophy पृ० १६७; द्र० गोपीनाथ कविराजकृत रत्नप्रभाटीका-हिन्दी अनुवाद की भूमिका, पृ० ११-१२)।

है। राजाभिषेक आदि कार्य पुरोहित के ही हैं। इस विषय में विष्णुपुराण का मत भी यहाँ उद्धृत किया गया है (पृ० १२३)।[११]

अथर्ववेदी का पौरोहित्य कर्म अन्य शास्त्रों को भी अनुमत है। कामन्दकीय नीतिसार (४।३२) में पुरोहित के लिये अथर्वज्ञता स्वीकृत हुई है। याज्ञवल्क्य स्मृति में अत्यन्त स्पष्ट रूप से "पुरोहितं दैवज्ञं... कुशलम् अथर्वाङ्गिरसे" कहा गया है (१। ३१३)। अर्थशास्त्रकार कौटल्य[१२] ने भी "आपदां देवमानुषीणां अथर्वभिरुपायैश्च प्रतिकर्तारम्" कहा है (१।९)। यज्ञवित् ऋत्विक् से पुरोहित का वैशिष्ट्य इन वाक्यों से जाना जाता है।

अथर्व-मन्त्र और जप—सायणकृत अथर्ववेदभाष्यभूमिका में स्कन्दपुराण के कमलालय खण्ड का एक वचन उद्धृत मिलता है (पृ० १२२)। यहाँ कहा गया है कि श्रद्धा से अथर्वमन्त्र का जपकारी मन्त्रार्थ के अनुरूप पूर्ण फल को प्राप्त करता है। यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है। अथर्वमन्त्र जप के लिये विशेष रूप से उपयोगी हैं, यह मत प्राचीनकाल में प्रसिद्ध था। काठकसंहिता के ब्राह्मण में ऋगादि-मन्त्रजन्य शंसनादि के साथ अथर्वमन्त्र जनित जप-क्रिया का ही निर्देश मिलता है। (४०।७)। वैदिक मन्त्रजप-प्रसङ्ग में इस विषय पर पूर्वाचार्यों ने विशद विचार किया है।[१३]

अथर्ववेदोक्त अभिचार—अथर्ववेद से अभिचारकर्म सिद्ध होते हैं—यह धर्मारण्य० ४।९९ में कहा गया है। मार्क० १०२।५ में अथर्व को 'घोरस्वरूप' और 'आभिचारिक' कहा गया है। अथर्ववेद के विशेषण में जो 'कृत्यादिविधि से अन्वित' कहा गया है, वह भी इस तत्त्व का ज्ञापक है (वायु० ६५।२७, ब्रह्माण्ड० २।१।२६, यहाँ 'कृत्वा' पाठ के स्थान में 'कृत्या' होगा), क्योंकि कृत्या का सम्बन्ध

---

११. सायणोद्धृत वाक्य विष्णु-पुराणगत वाक्य का संक्षेप है (द्र० विष्णु० ३।४।१४)। सायण ने यहाँ अन्यान्य ग्रन्थों के वचन भी उद्धृत किए हैं।

१२. यद्यपि 'कौटिल्य' शब्द बहुप्रचलित है, तथापि गोत्रनाम की दृष्टि में 'कौटल्य' शब्द ही साधु है। इस विषय का विस्तृत प्रतिपादन मैंने अन्यत्र किया है (इतिहास-पुराण का अनुशीलन, पृ० २८–३२)

१३. इस विषय पर डा० मंगलदेव शास्त्री का यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है "यहाँ (अथर्ववेद में) मन्त्र को बहुत ऊँचे स्तर पर रखा गया है। मन्त्र में स्वयं शक्ति है....और इसीलिये उसका प्रयोग-उपयोग किसी वैदिक यज्ञ के आश्रय विना स्वतन्त्र रूप से भी किया जा सकता है, यह मौलिक सिद्धान्त ही अथर्ववेद की प्रमुख विशेषता है" (भारतीय संस्कृति का विकास, भाग १, पृ० ६६)।

अभिचार के साथ ही है। नागर० २०२।१७ में स्पष्टतः 'अथर्ववेद में सब आभिचारिक कर्म हैं' कहा गया है।

अथर्ववेद का यह अभिचार-प्रयोजक भाग अङ्गिराः द्वारा दृष्ट है, यह पूर्वाचार्यों ने कहा है (याज्ञ० स्मृति १।४४ की वीरमित्रोदयटीका)। आङ्गिरस वस्तुतः अथर्ववेद का एकदेश है, यह अन्यत्र इसी टीका में कहा गया है (१।३)। सम्भवतः अङ्गिराः के कारण ही बाद में अथर्ववेद का लोक में सर्वत्र प्रचार हुआ था, इसलिये अथर्वा के साथ 'अङ्गिराः' नाम का संयोग भी बहुत्र मिलता है। भागवत में यह जो कहा गया है कि अङ्गिराः और तत्पत्नी सती से अथर्ववेद (अथर्वाङ्गिरस्) का जन्म हुआ (६।६।१९), यह भी पूर्वोक्त तथ्य का ज्ञापक है।

अथर्ववेदोक्त शान्तिपुष्टि—अथर्ववित् द्वारा ग्रहशान्ति[१४] करने का उल्लेख भाग० १०।५३।१२ में मिलता है। मार्क० १०२।२ में अभिचार-शान्तिकर्म-युक्त अथर्ववेद का उल्लेख है। अथर्ववेद के विषय के रूप में शान्ति-पुष्टि-अभिचार की सत्ता मीमांसकों को भी मान्य है। (द्र० कुमारिल कृत "शान्तिपुष्टि ...." इत्यादि श्लोक, अथर्ववेदभाष्यभूमिका, पृ० १२३ में उद्धृत)।

अथर्ववेद और राजा—पुरोहित की सहायता से राज-कार्य की सिद्धि करना अथर्ववेद का मुख्य विषय है, यह नागर० १७४।५० में कहा गया है। वायु० ६०।२०, विष्णु० ३।४।१४ में अथर्ववेद के अनुसार राजकार्यनिष्पादन करने का उल्लेख है। सायणकृत अथर्ववेदभाष्यभूमिका में इस विषय से संबद्ध कुछ वचन भी उद्धृत मिलते हैं, जैसे "अभिषिक्तोऽथर्वमन्त्रैः महीं भुङ्क्ते ससागराम्" इत्यादि (पृ० १२३)। स्मृति आदि में भी यह विषय प्रतिपादित हुआ है, जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है। दुर्गाचार्य ने निरुक्त टीका में स्पष्ट रूप से कहा है कि 'यतः शान्तिपौष्टिक-आभिचारिक कर्मों में राजा पुरोहित को सबसे अग्रभाग में रखते हैं, अतः वे पुरोहित कहलाते हैं' (२।३ पा०)। पुरोहित का यह निर्वचन सर्वथा समीचीन है।

अथर्वमन्त्रों का अन्यान्य कर्मों में प्रयोग—पुराणों में कुछ विशिष्ट कर्मों के लिये आथर्वण मन्त्रों के प्रयोग दिखाए गए हैं। यथा—पुत्रोत्पत्ति के लिये आथर्वण-मन्त्र का प्रयोग (देवी० ६।२।३३), रौद्र आथर्वण मन्त्र से स्वमांसहोम (नागर० १५०।२), आथर्वण मन्त्र से शक्तिस्तम्भन (नागर० १७०।१-२), आथर्वण-

---

१४. भाग० ३।२४।२४ में अथर्वा के साथ शान्ति का विवाह और उससे यज्ञ का विस्तार कहा गया है। यह वाक्य निश्चित ही अथर्ववेदजन्य शान्तिकर्म का ज्ञापक है। यह यज्ञ श्रौत यज्ञ नहीं, बल्कि गृह्याग्निसाध्य कर्म है। यज्ञ के साथ अथर्वा का संबंध भी है, इस विषय पर पहले आलोचना की जा चुकी है।

मन्त्रजन्य शोषणी विद्या से अगस्त्यकर्तृक समुद्रपान[15] (नागर० ६०।२-३), शत्रुक्षय में आथर्वण मन्त्र का सामर्थ्य (नागर० ३७।३७), अथर्ववेदीय प्रत्यङ्गिरस मन्त्र का शान्तिकरत्व (हरिवंश० १।३।६५ की नीलकण्ठी टीका), अथर्वमन्त्र से वेननृप की हत्या (प्रभास क्षेत्र० ३३६।८६), आथर्वण मन्त्र से दीक्षा (पुरुषोत्तम० २८।१७) इत्यादि।

पुराणोक्त अथर्ववित्—भृगु को 'अथर्वविधि' स्वरूप कहा गया है ("अथर्वणां विधिः साक्षात्"—ब्रह्माण्ड० २।३०।५१-५२)। अथर्ववेद को 'भृग्वङ्गिरोवेद' भी कहा जाता है। भृगुकुल के साथ अथर्वा का सम्बन्ध प्रसिद्ध है, इस विषय में डा० सुकथनकर जी का मत पहले उद्धृत किया जा चुका है। भृगुविस्तार शब्द भी अथर्व-परिमाण के प्रसङ्ग में मिलता है। अथर्ववेद के प्रणयन में भृगु और उनके वंशजों का घनिष्ठ सम्बन्ध था—यह स्पष्टतः विज्ञात होता है। नारदीय० १।८।६२ में वसिष्ठ को 'अथर्वनिधि' कहा गया है। सम्भवतः वसिष्ठ से अथर्ववेद का कुछ सम्बन्ध था, जिसका उल्लेख मल्लिनाथ ने किरातार्जुनीय-व्याख्या में किया है। "कृतपदपङ्क्तिरथर्वणेववेदः" (१०।१०) की टीका में मल्लिनाथ ने कहा है कि अथर्वा वसिष्ठ के द्वारा अथर्ववेद की पदानुपूर्वी (=पदपाठ) विरचित हुई है। वसिष्ठ द्वारा अथर्ववेद का मन्त्रोद्धार हुआ है—ऐसा आगमवचन है। मल्लिनाथ के इस मत का मूल अन्वेषणीय है।

अथर्ववेद और शौनक—ब्रह्मा के मुख से अथर्ववेद की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में शौनक का उल्लेख भविष्यपुराण में मिलता है (ब्राह्म० २।५२-५५)। सम्भवतः अथर्ववेदीय शौनकशाखा की अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण बाद में ऐसी कल्पना की गई है।

अथर्ववेद और एकविंशस्तोम आदि—अथर्ववेद के प्रादुर्भाव के साथ एकविंश स्तोम, आप्तोर्याम यज्ञ, अनुष्टुप् छन्द और वैराज साम का उल्लेख कई पुराणों में मिलता है (विष्णु० १।५।५५, शिव० ७।१२।६१-६२, ब्रह्माण्ड० १।८।५३, कूर्म० १।७।६०)। इस पर प्रथमाध्याय में विशद विचार किया गया है।

अथर्ववेद का उपवेद—भाग० ३।१२।३८ में स्थापत्य को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है। इस वेद का उपवेद आयुर्वेद है, यह मत आयुर्वेद ग्रन्थ में प्रसिद्ध है। (सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान १।६, काश्यपसंहिता पृ० ४२)। गोपथ० १।३।४ में "येऽथर्वाणः तद्भेषजम्" कहा गया है, जो अथर्ववेद को चिकित्सा-विद्या के

---

१५. यह घटना दार्शनिक समाज में भी प्रसिद्ध थी। पातञ्जल योगभाष्य ४।१० में इसका स्मरण किया गया है।

मूल के रूप में सिद्ध करता है। अथर्ववेद में अनेक भैषज्य-सूक्त हैं तथा रोगनाशार्थ अनेक उपाय भी कहे गए हैं। इस प्रकार यदि अथर्ववेद का उपवेद आयुर्वेद माना जाए तो यह समीचीन ही है।[१६]

स्थापत्य को अथर्ववेद का उपवेद मानने का कारण भी स्पष्ट है। स्थापत्य-क्रिया का सम्बन्ध द्विज-बाह्यों से है और अथर्ववेद का सम्बन्ध भी द्विजानुष्ठेय श्रौतयज्ञ से पृथक् गृह्यादि-कर्मों से ही है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।११।२९।११-१२) में स्पष्टतः कहा गया है कि स्त्री और शूद्रों में निहित विद्या अथर्ववेद का शेष है। यह वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह वाक्य अथर्ववेद को कथंचित् शूद्रपरम्परासंबद्ध सिद्ध करता है। सम्भवतः इसी दृष्टि से स्थापत्य को अथर्ववेद का उपवेद कहा गया है। स्थापत्य का सम्बन्ध राजाओं से ही हो सकता है, और राजकार्यार्थ अथर्ववेद का उपयोग है—यह पुराणों में कहा गया है (नागर० १७४।५०)। इस दृष्टि से यदि 'स्थापत्य का मूल अथर्ववेद में है,' ऐसा कहा गया है, तो वह असंगत नहीं है।[१७]

अथर्वसम्बन्धी एक विधिः—ब्रह्माण्ड० २।१२।१ में कहा गया है कि देव और पितृगण अन्योन्य-नियत हैं, यह आथर्वण विधि है—ऐसा बृहस्पति ने कहा है। इस मत का मूल अन्वेष्टव्य है।

---

१६. अथर्ववेद के साथ औषध-रोग आदि के सम्बन्ध के लिये राजगुरु पण्डित हेमराजशर्मा द्वारा लिखित काश्यप-संहिता का उपोद्घात (पृ० ९-१२) द्रष्टव्य है।

१७. देवीपुराण १०७।४६ में अथर्ववेद का उपवेद 'अर्थशास्त्र' माना गया है। सम्भवतः अथर्ववेद की लोकपरायणता ही इस धारणा का मूल है, क्योंकि अर्थ-शास्त्र विशुद्ध लौकिक विषय है। अर्थविद्या को वार्ताशास्त्र कहा जाता है (काम-सूत्र १।३।१ टीका) और वार्ता लौकिक विद्या है, यह प्रसिद्ध है। चरणव्यूह में भी अथर्ववेद का उपवेद अर्थशास्त्र ही माना गया है (पृ० ४७)। अर्थशास्त्र में नीति-शिल्प-शस्त्र-विद्या का अन्तर्भाव है—यह महिदासवृत्ति में स्पष्टतः कहा गया है।

पञ्चम परिच्छेद

विशिष्टमन्त्रसूक्तानुवाकादि–विवरण

पूजा-व्रत-श्राद्धादि के प्रसङ्ग में पुराणों में अनेक वैदिक मन्त्र-सूक्तादि के उल्लेख किए गए हैं। इस परिच्छेद में इन सूक्तादिकों का परिचय (पुराणोक्त विनियोगों के साथ) दिया जा रहा है। सूक्तादि के परिचय में स्मृति-धर्मसूत्रादि की व्याख्याओं का अनुसरण किया गया है, क्योंकि इस पुराणोक्त सामग्री का आधार वस्तुतः स्मृत्यादि ही हैं। इस विवरण में विशिष्टनामवाले मन्त्रादि का ही परिचय दिया गया है, मन्त्रादिविनियोगसंबंधी विचार यहाँ नहीं किया गया।

इस विवरण के सम्बन्ध में निम्नोक्त विषय ज्ञातव्य हैं:—

पुराणों में सूक्तादिनिर्देश के साथ कहीं कहीं ऋग्वेदी यजुर्वेदी आदि या ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि शब्दों का उल्लेख किया गया है (मत्स्य० ५८।३३-३७, ९३। १२९-१३२) जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लक्षित सूक्तादि की स्थिति तत्तद् वेद में हैं। पुराणदर्शित सूक्तादि के वैदिकवाङ्मयगत आकरस्थल के अनुसन्धान करने की चेष्टा सर्वत्र की गई है। इस अनुसन्धान में वेदों की अनुक्रमणियाँ तथा धर्मसूत्रादि के व्याख्याकार परम सहायक सिद्ध हुए हैं। कहीं कहीं सायणमहीधर आदि की व्याख्याओं की सहायता भी ली गई है (मन्त्र-सूक्तनामों की पहचान के लिये)। जिन मन्त्रादिकों का परिचय पूर्णतः ज्ञात न हो सका, उनके लिये तादृश उल्लेख कर दिया गया है।

जिन सूक्तादि के साथ सम्बद्ध वेद का नाम पुराणों में नहीं लिया गया, उनके विवरण में भी सम्भाव्य वेदनाम का उल्लेख कर आकरस्थल के अनुसन्धान करने के लिये चेष्टा की गई है। कुछ सूक्तों का परिचय ज्ञात न हो सका। लिङ्ग० १।२७। ४४ में उल्लिखित 'कपर्दिसूक्त' का परिचय अज्ञात है। ऐसे भी कुछ सूक्तनाम हैं, जो 'नामैकदेश-ग्रहण-न्याय' के अनुसार कल्पित किए गए हैं, जैसा कि यथास्थान दिखाया जाएगा। 'नामैकदेश-ग्रहणन्याय' के प्रयोग में कहीं कहीं भ्रम भी हो सकता है। यतः पुराणों के व्याख्या-ग्रन्थ नहीं हैं (भागवत-विष्णु-लिङ्ग-देवी-भागवत को छोड़कर), अतः विवक्षित सूक्तनाम के परिज्ञान में क्वचित् स्खलन सम्भव ही है।

अनेक मन्त्र एकाधिक वेदों में मिलते हैं। ऐसे स्थलों में यदि पुराणों में कण्ठ तः वेदनाम नहीं कहा गया तो आकरनिर्देश में ऋग्वेदसंहिता को प्रमुखता दी गई है।[१] कुछ अनुवाक आदि एकाधिक संहिताब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलते हैं, जहाँ किसी एक आकर ग्रन्थ का उल्लेख प्रायेण किया गया है। शुक्लयजुर्वेद में माध्यन्दिनसंहिता का और कृष्ण यजुर्वेद में तैत्तिरीयशाखा का ही उल्लेख प्रमुखरूप से किया गया है। यह सामान्य नियम है।

कुछ सूक्तनाम भ्रष्टरूप से मुद्रित हो चुके हैं—ऐसा देखा जाता है। पुराणान्तर-संवाद से शुद्धनाम का निर्णय कर वही उदाहृत हुआ है। भ्रष्टपाठ के आधिक्य के कारण कुछ स्थलों में प्रकृत नाम का निर्णय नहीं किया जा सका। लिङ्ग० १।२। ४२ में "होतारेणाथ शिरसा" पाठ है। 'होतारेण' शब्द का अर्थ अज्ञात है। यहाँ प्रकृत पाठ 'उत्तरेण' हो सकता है और 'उत्तर' का अर्थ होगा—उत्तरनारायण, जो माध्यन्दिनसंहिता ३१।१७ से आरब्ध होता है। यह भी पूर्ण सम्भव है कि यह अनुमान अयथार्थ हो और अन्य कोई मन्त्र या सूक्त यहाँ विवक्षित हो।

कुछ स्थलों में सूक्तादि के निश्चित लक्ष्य का निर्णय करना असम्भव ही प्रतीत होता है। भविष्य ब्राह्म० २०२।१० में "उद्वर्तयेत् ततो भानुं द्विपदाभिः" कहा गया है। द्विपदा के लक्ष्य भूत मन्त्र कौन-कौन हैं, यह अज्ञात है। ऋक्संहिता में द्विपदा ऋचाएँ हैं, इनके नैमित्तिक-नित्य-रूप दो भेद भी हैं। क्या यहाँ ये द्विपदा ऋचाएँ अभीष्ट हैं, या अन्य कोई ऋचा, यह निश्चयेन नहीं कहा जा सकता।

मन्त्रादिनामों के विषय में भी कई ज्ञातव्य तत्त्व हैं। सूक्तों के नाम बहुधा देवतानामानुसार होते हैं (अग्निसूक्त, विष्णुसूक्त, इन्द्रसूक्त आदि)। देवीसूक्त आदि कुछ ऐसे नाम हैं, जिनका नामकरण वैदिकपद्धति के अनुसार न होकर तान्त्रिक दृष्टि के अनुसार ही है। मन्त्रगत प्रथम शब्द या प्रमुख शब्द के आधार पर नामकरण दृष्ट होता है, 'नासदीय' 'अस्यवामीय' आदि नाम इसके उदाहरण हैं। पुराणगत कुछ सूक्तनाम तो मन्त्रादि में विद्यमान पद या पदसमूह पर ही आश्रित हैं, ऐसा प्रतीत होता है, यथा—"अग्ने नय सूक्त" (अग्नि० २५९।३६), "युञ्जत इत्यनुवाकं तु" (अग्नि० ६६।२२)। कुछ मन्त्रनाम मन्त्रभाव के आधार पर हैं (यथा मृत्युञ्जय मन्त्र)। मन्त्रनामकरण की यह पद्धति पुराणों में भी दिखाई पड़ती है। पुराणगत मन्त्रविशेष का नाम 'सप्तार्चिष्'

---

१. ऋग्वेद की शाकलसंहिता को सर्वप्राचीन मानना आधुनिक अनुसंधान पद्धति के अनुसार ही है, यद्यपि इसमें भी संशय की संभावना है।

है, जिसका परिचय हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र, भाग ४, पृ० ४५८ टिप्० १०२० में द्रष्टव्य है।

एक सूक्तनाम के एकाधिक परिचय भी हो सकते हैं। गृह्यसूत्रादि में कुछ ऐसे मतभेद हैं, जो सम्प्रदायानुसार नियमित हैं। पुराणकार जिस शाखा का अनुयायी है, तदनुसार ही विवक्षित तात्पर्य का निर्णय करना चाहिए, यद्यपि सर्वत्र ऐसा निर्णय करना सम्भव नहीं है (पुराणकारकर्तृक अवलम्बित शाखा का ज्ञान न होने के कारण)। इसी दृष्टि से पुराणों में कहीं कहीं "स्वगृह्योक्तविधानेन" वाक्य प्रयुक्त हुआ है (भविष्य० २।२।१९।१७७)। शाखा-भेदानुसार सामभेद का एक उदाहरण भास्करकृत ललितासहस्रनामभाष्य (पृ० १४२) में मिलता है। सूक्तादि के परिचय में जो मतभेद हैं, शाखाभेद ही उसका कारण है—यह ज्ञातव्य है। सम्प्रदायभेद के अनुसार अनुवाकपरिमाण में भी भेद होता है, यह तै० आ० १०।१ भाष्य के आरम्भ में सायण ने स्पष्टतः दिखाया है।

पुराणों में ऋगादि चारों वेदों के विधान मिलते हैं (अग्नि० २५९-२६२ अ०, विष्णुधर्म० २।१२४-१२७ अ०)। इनमें सूक्तादि के नाम प्रायेण आदिम-शब्दघटित ही दिए गए हैं। कुछ ऐसे सूक्त-मन्त्र हैं, जिनके स्वतन्त्र नाम प्रयुक्त हुए हैं, यथा—कौत्ससूक्त (अग्नि० २५९।२३), रक्षोघ्न (अग्नि० २५९।३३), पावमानी (अग्नि० २५९।७७), वैष्णवी गायत्री (अग्नि० २६०।८४) आदि। इन सूक्तों का परिचय भी तत्तत् पुराण स्थलों में दिया गया है, अतः इस परिच्छेद में एतादृश सूक्तनाम संकलित नहीं हुए हैं। इन चार विधानों में उक्त सूक्तादि में जिनके नाम ज्ञातव्य हैं, वे यहाँ संकलित हुए हैं। यहाँ विनियोगोल्लेखपूर्वक परिचय मात्र दिया गया है (विनियोग की युक्तता पर विचार यहाँ नहीं किया जाएगा)।

सूक्तादि-विवरण में जो विनियोगादि उल्लिखित हुए हैं, वे निदर्शनार्थ हैं। पुराणों में एक ही प्रकार के वाक्य बहुत्र मिलते हैं, अतः सभी वाक्यों का संकलन न कर संक्षेप में कतिपय वाक्यों का ही उल्लेख किया गया है। कोई भी विशिष्ट मत छूट न जाए, इस पर विशेष ध्यान रखा गया है।

अग्निसूक्त—अग्नि की प्रसन्नता के लिये अग्निसूक्त-जप का उल्लेख नागर० ९०।६५ में है। चूँकि यहाँ सूक्त के किसी वैशिष्ट्य का उल्लेख नहीं किया गया है, इसलिये यहाँ कौन सूक्त अभीष्ट है—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक अग्निदेवताक सूक्त 'अग्निसूक्त'-पदवाच्य है।

अघमर्षण सूक्त—पुराणों में इसकी महती प्रशंसा है। अग्नि० १५५।१०-११ में इस सूक्त के देवता भाववृत्त, ऋषि अघमर्षण और छन्द अनुष्टुप् का भी उल्लेख

मिलता है। अघमर्षण जप का उल्लेख अनेक प्रसंगों में मिलता है, विशेषकर जल में खड़े होकर इसके जप का विधान प्रायः मिलता है। कूर्म० २।१८।६६, २।१८।६८, नारदीय० १।१४।३१, १।२०।३६, लिङ्ग० १।२५।२०, अग्नि० १७५।२७ आदि पुराणों में अघमर्षण जप का विशद उल्लेख है, तथा इसकी महत्ता कही गई है। गरुड़० १।५०।४५ में अघमर्षण के उल्लेख के साथ "आपो हि ष्ठा..." इत्यादि मन्त्रों का निर्देश भी किया गया है। स्मृतिधर्मसूत्रों में यह सूक्त अत्यन्त प्रशंसित हुआ है (मनु० ११।२५९-२६०, विष्णु धर्मसूत्र ५५।७)। यह ऋग्वेद का प्रसिद्ध सूक्त है (१०।१९०।१-३)।

अघोर मन्त्र—शिवपूजा में इसका उल्लेख है (ब्रह्म० ५७।७-८, नारदीय० २।५५।१८-१९)। यह अघोर मन्त्र कौन है, इसका कोई उल्लेख पुराणों में नहीं मिलता। तीर्थ-चिन्तामणि में यह मन्त्र निर्दिष्ट हुआ है (पृ० ८८), जो "ओम् अघोरेभ्यो घोरेभ्यो घोरतरेभ्यः....." मन्त्र है। यह मन्त्र मैत्रायणीसंहिता २।९।१० तथा तैत्तिरीय आरण्यक १०।४५ में मिलता है।

अपराजितादेवी सूक्त—कहीं कहीं इसे 'अपराजितासूक्त' भी कहा गया है। मूर्ति-अधिवास में उत्तरस्थ अथर्वा द्वारा इस देवी के 'सप्तसूक्तों' का जप उक्त हुआ है (मत्स्य० २६५।२९)। नीतिमयूख पृ० २५ में अपराजितमन्त्र कथित हुआ है। अथर्ववेदीय कौशिकसूत्र १४।७ की टिप्पणी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है (H. Dh. S. भाग ३, पृ० ७५ की टिप्०)।

अप्रतिरथ—कृत्यकल्पतरु के राजधर्मकाण्ड पृ० ७ में उद्धृत ब्रह्मपुराणीय श्लोक में यह नाम है। आश्वलायन गृह्य ३।१९।२ के अनुसार अप्रतिरथ सूक्त ऋग्० १०।१०३ है। वाजसनेयी संहिता १७।३३-३४ भी (सभाष्य) इस प्रसंग में द्रष्टव्य है (H. Dh. S. भाग ३, पृ० ७५ की टिप्०)।

अप्सूक्त—राजाभिषेक में अप्-दैवत सूक्त का उल्लेख है (पुरुषोत्तम० ११।२७)। अप्दैवत कोई भी सूक्त अप्सूप्क्त है, अतः यहाँ कौन सूक्त विवक्षित है—यह अज्ञात है। धर्मसूत्रों में ऋग्वेद १०।९।१-३ को 'अब्लिङ्ग' मन्त्र कहा जाता है। कहीं कही 'अब्दैवततृच' शब्द भी व्यवहृत होता है। बौ० ध० सूत्र २।४।२ में 'अब्लिङग' पद प्रयुक्त हुआ है।

अभय—कृत्यकल्पतरु के राजधर्मकाण्ड में ब्रह्मपुराणगत श्लोक के रूप में यह उल्लिखित है। कौशिक सूत्र १६।८ के अनुसार यह अथर्व० १९।१५ है। इस प्रसङग में ऋग्वेद ८।६१।१३ भी द्रष्टव्य है (H. Dh. S. भाग ३, पृ० ७५ की टिप्०)।

अश्वसूक्त—अग्नि० ५८।३२ में देवस्नपनविधि में अश्वसूक्त का उल्लेख

है। नागर० में "अश्वो वोढेति यत् सूक्तम्" कहा गया है (१६५।३३); यहाँ अश्वतीर्थान्तिर्गत अश्वोत्पत्ति का प्रसंग है। यह ऋग्वेदीय है क्योंकि नागरखण्ड में इसे 'चतुःषष्टिसमुद्भव' कहा गया है। ऋग्वेदपरिच्छेद में यह दिखाया गया है कि 'चतुःषष्टि' का अर्थ ऋग्वेद है।

यह "अश्वो वोढा...." ऋग्वेद में है (९।११२।४)। निरुक्त ९।४ ख० में इसे अश्वदेवता-सम्बन्धी माना गया है। अश्वदेवताक एक सूक्त ऋग्० १।१६३ में है तथा अन्य अश्वदेवताक सूक्त भी हैं।

आयुष्य मन्त्र—कृत्यकल्पतरु के राजधर्मकाण्ड पृ० ७ में जो ब्रह्मपुराणीय श्लोक उद्धृत हैं, उनमें यह मन्त्र है। कौशिकसूत्र ५२।१८ के अनुसार यह अथर्ववेद १।३० सूक्त है (द्र० हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र भाग ३, पृ० ५७ की टिप्०)। इस मन्त्र के वि० म० में विनायक आप्ते जी का मत भी आलोच्य है (Ṛgveda Mantras in Their Ritual Setting in the Gṛhya Sūtras, पृ० ३७—३८)।

इन्द्र सूक्त—ब्रह्म० में इन्द्रतीर्थान्तिर्गत इन्द्रस्तुति के रूप में इस सूक्त का नामतः उल्लेख है। यहाँ इस सूक्त के प्रथममन्त्र का भी उल्लेख मिलता है (१४०।२२-२३)। यह ऋग्वेद २।१२ है। इसमें १५ मन्त्र हैं। बह्वृचकर्तृक इन्द्रसूक्त-जप का उल्लेख मत्स्य० १६५।२४-२५ में है। इन्द्रदेवताक सूक्त इन्द्रसूक्तपद-वाच्य है।

ईशानमन्त्र—शिवपूजा-शिवध्यान-शिवलिङ्गस्नान आदि में इस मन्त्र का बहुधा उल्लेख पुराणों में मिलता है (कूर्म० २।१८।९५, अग्नि० ५६।२९, लिङ्ग० १।२७।१८ आदि)। लिङ्ग० की शिवतोषिणी टीका में ईशानादि पांच मन्त्रों को याजुष मन्त्र कहा गया हैं। ये पांच मन्त्र तै० आ० १०।४३-४७ में कहे गए हैं। शिव० २।१।११।५१ में "ईशानः सर्वविद्यानाम्...."मन्त्र कथित हुआ है, तथा शिव० ४।४२।२३ में इस मन्त्र को "श्रुतिरेषा सनातनी" कहा गया है।

कुम्भसूक्त—देवप्रतिष्ठा में उत्तरस्थ अथर्वा द्वारा इसके जप का उल्लेख है (गरुड़० १।४८।५३-५४)। सम्भवतः यहाँ प्रकृत-पाठ 'स्कम्भसूक्त' है जो अथर्व० १०।८ है।

कूष्माण्ड मन्त्र—(कूश्माण्ड पाठ भी पुराण, धर्मसूत्र और वैदिक ग्रन्थों में मिलता है)। यजुर्वेदिकर्तृक इसके जप का उल्लेख पुराणों में मिलता है (मत्स्य० ९३।१२९-१३२, ५८।३४, भविष्य० २।२।१९।१७५-१८१ आदि)।

यह ज्ञातव्य है कि कूष्माण्ड से क्रियमाण होम भी कूष्माण्ड पदवाच्य है (यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृ० ५६)। कूष्माण्डहोम-मन्त्र तै० आ० २।३-६ में द्रष्टव्य है।

गौतमधर्मसूत्र की मस्करिटीका में "कूष्मण्डानि यद्देवा देवहेलनमित्यादीनि यजूंषि" (१९।१३) कहा गया है। सायण ने कहा है—"तृतीयादिषु चतुर्षु अनुवाकेषु पापक्षयार्थं कूष्माण्डहोमाङ्गभूता मन्त्रा उच्यन्ते" (तै० आ २।३ का आरम्भ)। बौधायन धर्मसूत्र ३।१०।१०, और वसिष्ठ धर्मसूत्र २२।९ में कूष्माण्ड का निर्देश है (माध्यन्दिनसंहिता २०।१४ पर महीधर टीका द्रष्टव्य है)।

गण—राजधर्मकाण्डधृत ब्रह्मपुराणवाक्य में यह नाम उल्लिखित है (द्र० H. Dh. S. भाग ३, पृ० ७५ की टिप्०)।

गायत्री—कहीं कहीं 'सावित्री' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। पुराणों में गायत्री के विषय में विस्तृत सामग्री मिलती है। पुराणोक्त सामग्री स्मृतिशास्त्रवत् ही है। विभिन्न क्रियाओं में गायत्रीमन्त्र के विनियोग पुराणों में सर्वत्र मिलते हैं (अग्नि० ५८।१३, ६०।१०, १७५।२५, मत्स्य० २६७।५, भविष्य ब्राह्म० १३५।१४ आदि)।

विनियोग के अतिरिक्त गायत्री के विषय में पुराणों में कुछ विशिष्ट बातें मिलती हैं, यथा—गायत्री वेदमाता है (स्क० वेंकटा० १३।१२), वेद गायत्रीसम्भव है (मत्स्य० १७१।२४), त्रिपदा गायत्री (मत्स्य० १७१।२४), मन्त्रों में गायत्री की श्रेष्ठता (स्क० वेंकटा० ३३।३८) आदि।

गायत्री और सन्ध्याक्रिया का सम्बन्ध तथा गायत्री माहात्म्य (गरुड़० १।३६-३७ अ०), गायत्री के नानारूप (लिङ्ग०१।२३ अ०, वायु० २३ अ०), गायत्री-जप और व्याहृति आदि विषय (कूर्म० २।१४।४७-५५) भी सविस्तार पुराणों में कहे गए हैं।

प्रसिद्ध गायत्रीमन्त्र के अतिरिक्त विष्णु-शिव-गायत्री का विनियोग भी लिङ्ग० २।४७।३०-३१ में कहा गया है। लिङ्ग० २।४८ अ० में अनेक देव-देवियों के गायत्रीमन्त्र कहे गए हैं (शिव-गौरी-रुद्र-दन्ति-स्कन्द-विष्णु-लक्ष्मी-राधा आदि)। रुद्रगायत्री से ईशानध्यान कूर्म० २।१८।९५ में कथित हुआ है।

गायत्री की महिमा और विनियोग के अतिरिक्त गायत्री मन्त्र की व्याख्या तथा (ईषत्परिवर्तन के साथ) उद्धरण भी कई पुराणों में मिलते हैं। पद्म० ६। २७२।२१० में यह मन्त्र ईषत् भेद के साथ उद्धृत हुआ है। यहाँ इस मन्त्र को कृष्ण-परक लगाया गया है। बृहद्धर्मपुराण के मङ्गलचारण में गायत्रीमन्त्र ईषत् व्याख्या

---

२. गण का तात्पर्य 'आयुष्यसूक्त' 'भैषज्यसूक्त' आदि अथर्ववेदीय सूक्त हो सकता है, क्योंकि 'सूक्त' के स्थान पर 'गण' शब्द भी प्रचलित है (वैदिक सम्प्रदाय में)। ऐसे सूक्त अथर्ववेद में अनेक हैं।

के साथ वसन्ततिलकछन्द में उदाहृत हुआ है। यह व्याख्या वैष्णव दृष्टि के अनुसार की गई है—यह स्पष्ट है। गायत्री की विस्तृत व्याख्या अग्नि० २१६ अ० में मिलती है।[३]

यह मन्त्र ऋग्वेद ३।६२।१० है। अन्यान्य वेदों में भी यह मन्त्र मिलता है (यथा वाजसनेयी संहिता ३।३५ आदि)।

गायत्रीशिर—अग्नि० २१५।४५ में इसका उल्लेख है। यह तै० आ० १०।१५ गत 'आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम्" मन्त्र है।

चमक—लिङ्ग० १।२७।४१ में चमक से शिवलिङ्ग-स्नान का उल्लेख है। यह "वाजश्च मे. . . ."इत्यादि अनुवाक है (द्र० माध्यन्दिनसंहिता १८ अ० और काण्वसंहिता १९ अ०)। सायणकृत चमकभाष्य में चमकान्तर्गत अनुवाकादिसम्बन्धी विशिष्ट विवरण अवलोकनीय है (आनन्दाश्रम संस्क० रुद्राध्याय के अन्त में)।

जातवेदा—यजुर्वित्कर्तृक इसके जप का उल्लेख मत्स्य० ५८।३४ में तडागादि विधि के प्रसंग में मिलता है। सूर्य-प्रतिमा-स्नान, सूर्यप्रार्थना और सूर्यपूजा में इस मन्त्र का बहुधा उल्लेख मिलता है (लिङ्ग० १।२६।६, भविष्य ब्राह्म० १३५।३६) इत्यादि। भविष्य० २।२।१९।१७२ में जातवेदस्सूक्त का उल्लेख है (गृह्यवास्तुप्रतिष्ठादि में) और १७७ श्लोक में जातवेदस्-सूक्त का परिचय भी दिया गया है (अग्ने बृहन्निति नवसूक्तं वै जातवेदसम्)। जातवेदाःदेवताक मन्त्र या सूक्त 'जातवेदाः' कहलाता है। मत्स्यादि पुराणों में कौन सूक्त अभीष्ट है—यह अज्ञात है।

ज्योतिर्ब्राह्मण—यजुर्वेदी-कर्तृक शिवपूजा में इसके जप का उल्लेख है (रेवा० ५१।४५)।

यह 'ज्योति र्ब्राह्मण' कौन है—यह निश्चित नहीं। यह किसी याजुषब्राह्मण का अंशविशेष प्रतीत होता है। यदि ऐसा न हो तो यहाँ ज्योतिः और ब्राह्मण को दो पृथक् पद मानना होगा। ज्योतिः का तात्पर्य "उद्वयं तमसस्परि" मन्त्र है जो यजुर्वेद में (३८।२४) है (यह ऋग्वेद में भी १।५०।१० है)। इस मन्त्र को ज्योतिष्मती ऋक् कहा जाता है। इस पक्ष में ब्राह्मण=यजुर्वेद का कोई भी

---

३. यह प्रसिद्धि है कि 'गायत्रीव्याख्याविवृति' नाम से इस अंश की एक व्याख्या श्री जीवगोस्वामी ने लिखी थी, जो अभी तक अप्रकाशित है। अफ्रेक्ट के कैटेलोगस कैटेलोगोरम में इस ग्रन्थ का नाम नहीं है, पर हरिदास बाबाजी कृत गौडीय वैष्णव अभिधान ग्रन्थ में इस व्याख्या का उल्लेख है।

ब्राह्मण—ऐसा अर्थ करना होगा। नीलकण्ठ कहते हैं—"ज्योतिर्ब्राह्मणे अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिरिति" (शान्ति० १७४।५१ टीका)। "अत्रायं पुरुषः..." वाक्य बृहदारण्यक का है (४।३।९)। सम्भवतः बृहदारण्यक का ४।३ ब्राह्मण ज्योति-ब्राह्मण पदवाच्य है क्योंकि इसके आरम्भ में "किं ज्योतिरयं पुरुषः" प्रश्न किया गया है। जिस प्रकार मधुविद्या-निरूपणात्मक अंश मधुकाण्ड कहलाता है, (बृहदारण्यक के द्वितीयाध्याय का अंशविशेष) उसी प्रकार ४।३ ब्राह्मण 'ज्योतिर्ब्राह्मण' नामक हो सकता है।

तत्पुरुष मन्त्रः—लिङ्ग० १।२७।१८ में ईशानादि पांच मन्त्रों का निर्देश है; तत्पुरुष मन्त्र उनमें अन्यतम है (द्र० ईशानमन्त्र विवरण)। यह मन्त्र तै० आ० १०।४६ में है।

त्रिणाचिकेतः—श्राद्धयोग्य ब्राह्मण के लिये त्रिणाचिकेत होना पुराणीय श्राद्ध प्रकरणों में कहा गया है। विष्णु० ३।१५।१ की टीका में श्रीधर ने त्रिणाचि-केत का परिचय इस प्रकार दिया है—"द्वितीयकठिकस्थाः त्रयोऽनुवाकाः त्रिणाचि-केताः, तदध्यायी तदनुष्ठाता च त्रिणाचिकेतः।" त्रिणाचिकेत के तीन अर्थ हैं—(१) नाचिकेताग्निवित्, (२) नाचिकेताग्नि को तीन वार जलानेवाला, (३) 'विरजा': नामक अनुवाक का अध्येता (द्र० हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र, भाग ४ पृ० ३८४)। कठ उप० १।१।१६-१८ में नाचिकेताग्नि-विवरण द्रष्टव्य है।

त्रिमधुः—पुराणों में श्राद्धयोग्य ब्राह्मण के विशेषण में इसका उल्लेख मिलता है (कूर्म० २।२१।४, विष्णु० ३।१५।१)। धर्मसूत्रों में भी यह मत स्वी-कृत हुआ है (आ० ध० सू० २।७।१७-२२)। श्रीधर स्वामी ने कहा है—"मधु-वाता इति तृचाध्यायी तद्‌व्रतश्च.... त्रिमधुः" (विष्णु० ३।१५।१ टीका)। ऋग्० १।९१।६-८ में प्रत्येक मन्त्र के आरम्भ में 'मधु' शब्द है, अतः ये तीन मन्त्र 'त्रिमधु' कहलाते हैं।

त्रियम्बक मन्त्र—शिवपूजा-शिवध्यान में इस मन्त्र का बहुधा उल्लेख मिलता है (कूर्म० २।१८।९४-९५, लिंग० २।५४।१)। शिव० १।२४।३४ में त्रियम्बक मन्त्र से भस्मधारण विधि कही गई है। लिंग० में इस मन्त्र की विशद व्याख्या भी मिलती है (द्र० वेदव्याख्यापरिच्छेद)।

यह मन्त्र ऋग्वेद ७।५९।२२, वाजसनेयिसंहिता ३।६० में मिलता है। कहीं कहीं इसको 'त्र्यम्बकमन्त्र' भी कहा गया है। इस मन्त्र का नामान्तर 'मृत्युञ्जय मन्त्र' है।

त्रिसुपर्ण—पुराणीय श्राद्धप्रकरण में श्राद्धयोग्य ब्राह्मण के विशेषण में यह शब्द है (ब्रह्म० २१९।६९, विष्णु० ३।१५।१ तथा अन्य पुराणों के

श्राद्ध प्रकरण)। शिव के साथ भी त्रिसुपर्ण मन्त्र का सम्बन्ध है; वामन० ४७।१२० में शिवस्तुति में 'त्रिसौपर्ण' पद प्रयुक्त हुआ है है। स्मृति और धर्मसूत्रों में भी इसका उल्लेख मिलता है। श्राद्धप्रकरण में कहीं कहीं त्रिसौपर्णपद प्रयुक्त हुआ है (कूर्म० २।२१।४)।

गौतमधर्मसूत्र की व्याख्या में हरदत्त ने कहा है कि ऋक्० १०।११४।४-६ त्रिसुपर्ण मन्त्र है (१५।१८)। हरदत्त ने एक मतान्तर भी दिखाया है कि तै० आ० १०।४८-५० के तीन अनुवाक त्रिसुपर्ण हैं। तै० आ० १०।४८ का सायणभाष्य में भी यह मत है। श्रीधर ने विष्णु० ३।१५।१ की व्याख्या में तै० आ० गत वाक्य को ही त्रिसुपर्ण के रूप में माना है (मुद्रित पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है।)

त्वरित मन्त्र—इस मन्त्र से शिवलिंग स्नान (लिंग १।२७।४४) और रुद्र-लिङ्गाभिषेक (लिंग १।२५।३३) करने का उल्लेख है।

यह "यो रुद्र....." इत्यादि मन्त्र है (शिवतोषिणी टीका)। तै० सं० ५।५।९।९ में "यो रुद्र..." इत्यादि एक मन्त्र है, पर चूँकि टीकाकार ने पूर्ण मन्त्र का उद्धरण नहीं दिया, इसलिये टीकाकार का लक्ष्य यही मन्त्र है, ऐसा कहना सहसा उचित नहीं जँचता। तै० आ० १०।१८ के भाष्य में सायण कहते हैं कि १०।१८-२० मन्त्र 'त्वरित रुद्र' कहलाते हैं, ऐसा मन्त्रकल्पों में प्रसिद्ध है। तै० आ० में उक्त मन्त्र टीकाकारदर्शित मन्त्र से पृथक् है। रुद्राध्यायजपशेष के रूप में इन मन्त्रों का विनियोग भी है।

देवीसूक्त—देवीपूजा में इसका बहुधा उल्लेख मिलता है (शिव० ५।५१। ४७)। इस सूक्त से सुभद्रा देवी की पूजा (पुरुषोत्तम० २०।३१) करने का उल्लेख भी है। मार्क० ९३।६ में देवीसूक्तजपपूर्वक चण्डिकापूजा विहित हुई है। ब्रह्माण्ड० ३।४३।११-१२ में इस सूक्त से समातृक विद्यान्यास करने का उल्लेख है। यह ऋग्वेद १०।१२५ है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार यह सूक्त आत्मदेवताक है (वागाम्भृणी आत्मानं तुष्टाव)।

द्रुपदा गायत्री—कूर्म० २।१८।६९ में (जलस्थ हो कर जप करने के लिये) इसका उल्लेख है। कहीं कहीं केवल 'द्रुपदा' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है (अग्नि० ५८।१२, कूर्म० २।१८।६६)। कूर्म० २।१८।७० में इसकी यजुर्वेदीयता भी कही गई है)।

विष्णुधर्मसूत्र ६४।१८-२४ में इसका निर्देश है। यह वाजसनेयी संहिता २०।२० है।

धर्मगण—राजधर्मकाण्डधृत ब्रह्मपुराण में यह निर्दिष्ट है। यह तै० ब्रा०

१।१।७।३ का "यास्ते अग्ने . . .", वाक्य है (द्र० हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र भाग ३, पृ० ७५ की टिप्०)।

नाचिकेत—ब्रह्म० २१९।६९ (श्राद्धप्रकरण) में इसका उल्लेख है। नाचिकेतज्ञ ब्राह्मण को श्राद्धार्ह माना गया है। तै० ब्रा० ३।२।७-८ में नाचिकेत अग्नि और नचिकेताः का चरित कथित हुए हैं। (द्र० त्रिणाचिकेत)।

नीलरुद्र—पुराणों में बहुधा इसका उल्लेख मिलता है। अथर्ववेदी द्वारा (कहीं कहीं अथर्वा, अथर्वी या अथर्व द्वारा भी) देवप्रतिष्ठा, देवपूजाधिवास, मूर्ति-अधिवास के संपादन में इसका उल्लेख मिलता है (गरुड० १।४८।५३-५५, अग्नि० ९६।४०-४३ मत्स्य० २६५।२४)। इस सूक्त का विशेषतः उल्लेख शिव के साथ है। लिंग० १।२७।४१ में शिवलिंगस्नान में यह उल्लिखित है। यहाँ टीकाकार ने "नीलरुद्र=अथर्ववेदीय तत्तत्संज्ञक मन्त्र" कहा है। सम्भवतः रुद्रदेताक अथर्वमन्त्रविशेष नीलरुद्र है। यहाँ कौन मन्त्र लक्षित है—यह अज्ञात है।

पञ्चब्रह्म मन्त्र—रुद्रलिङ्गाभिषेक, शिवलिङ्गस्नान आदि में इन मन्त्रों का उल्लेख मिलता है (लिङ्ग० १।२५।२४ की शिवतोषिणी टीका; लिङ्ग० १।२७। ४५)। सद्योजात-अघोर-ईशान-तत्पुरुष-वामदेव को पुराणों में 'पञ्चब्रह्म' कहा गया है तथा इनके जो मन्त्र तै० आ० १०।४३-४७ में हैं, उनको भी 'पञ्चब्रह्म' पद से अभिहित किया जाता है। सायण कहते हैं—"महादेवसम्बन्धिषु पञ्चवक्त्रेषु मध्ये . . ." (तै० आ० १०।४३)। तथैव १०।४८ के आरम्भ में वे कहते हैं . . . "इत्थं . . . पञ्चब्रह्ममन्त्रा उक्ताः"

पथिसूक्त—याजुष्क पथिसूक्त का उल्लेख राज्याभिषेक-प्रसंग में मिलता है (पुरुषोत्तम० ११।४५)।

इस सूक्त का परिचय ज्ञात नहीं है। शुक्लयजुः-अनुक्रमणी (पृ० ५१) में 'पथि स्वस्त्ययनकारक' मन्त्र निर्दिष्ट हुआ है। यह माध्यन्दिनसंहिता ३।३१-३३ हैं।

पुरुषसूक्त—यह सूक्त वैदिक वाङ्मय में अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह सूक्त प्रत्येक वेद में है, यह अग्नि० २६३।४ में कहा गया है (एकं तु पौरुषं सूक्तं प्रतिवेदं तु सर्वदम्)। पुरुषोत्तम० २०।३१ में जो "त्रयीप्रसंगं यत् सूक्तं पौरुषं" कहा गया है, वह 'चारों वेदों में इस सूक्त की सत्ता' को ज्ञापित करता है। धर्मसूत्रों में इस सूक्त की प्रशंसा उपलब्ध होती है (बौधायनधर्मसूत्र ३।१०।१०, गौतमधर्मसूत्र १९।१३)।

विभिन्न क्रियाओं में इस सूक्त का विनियोग दिखाया गया है (अग्नि० २६३।५, लिङ्ग० १।२७।४३, गरुड० १।५०।५८-५९)। उसी प्रकार बह्वृच-यजुर्वेदी-

सामग द्वारा इस सूक्त का जप बहुशः उल्लिखित हुआ है (मत्स्य० ५८।३३-३५, मत्स्य० २६५।२६-२७, अग्नि० ९६।४०-४३, गरुड० १।४८।५३-५६)।

विष्णु के साथ इस सूक्त का घनिष्ठ सम्बन्ध पुराणकारों ने दिखाया है (गरुड० १।५०।६१-६२, अग्नि० ५८।२७)। तथैव शिवपूजा में भी पुरुषसूक्त का उल्लेख मिलता है, पर ऐसा उल्लेख बहुत ही अल्प है (लिङ्ग० १।२७।४३)।

याज्ञिकक्रियाओं के विवरण के साथ भी इस सूक्त का निर्देश मिलता है। ब्रह्म० १६१।२८ में इस विषय का एक प्रमाण द्रष्टव्य है। इस सूक्त में 'यज्ञ' शब्द का जो बहुधा प्रयोग है, उसके कारण ही ईदृश उल्लेख किया गया है, ऐसा स्पष्टतया ज्ञात होता है।

पुरुषसूक्तान्तर्गत विभिन्न मन्त्र पृथक् रूप से पुराणों में (व्रतपूजायज्ञादिकर्मों में) स्मृत हुए हैं। "सहस्रशीर्षा पुरुषः" मन्त्र अनेक स्थलों पर मिलता है (अग्नि० ३१।३८, मत्स्य० ९३।४३ आदि)। उसी प्रकार "पुरुष एवेदं सर्वम्" मन्त्र भी स्मृत हुआ है (मत्स्य० २६६।६२)।

यह सूक्त ऋग्वेद १०।९० है, जिसमें १६ मन्त्र हैं। माध्यन्दिन संहिता के ३१ अध्याय में भी यह सूक्त है। सामवेद ६१७-६२१ में पुरुषसूक्तगत कई मन्त्र मिलते हैं। अथर्व० का १९।६ सूक्त पुरुषसूक्त है। यजुर्वेद में पुरुष सूक्तानुवाक षोडशर्च (१६ ऋक्) है, उसके बाद की कण्डिकाएँ 'उत्तरनारायण' कहलाती हैं। अथर्ववेद में १६ मन्त्र हैं; प्रत्येक वेद के पुरुषसूक्त की शब्दानुपूर्वी सर्वथा समान नहीं है। अष्टादशमन्त्रयुक्त पुरुषसूक्त की सत्ता भी मानी जाती है (H.Dh. S. भाग ४, पृ० ५४३)।

पुरूरवाः-उर्वशी-सूक्तः—पुरूरवस्-उर्वशी के प्रसंग में पुराणों में ऋग्वेदीय १०।९५ सूक्त की प्रतिध्वनि प्रायः मिलती है। भाग० ९।१४।३३ में "प्राह सूक्तं पुरूरवाः" कहा गया है और उसके बाद वैदिक शब्दों का अनुकरण कर "अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ . . ." इत्यादि वाक्य कहा गया है। विष्णु० ४।६।३३ में "जाये ह तिष्ठ . . . .इत्यनेकप्रकारं सूक्तमवोचत्" कहा गया है। यहाँ ऋग्वेदीय सूक्त ही लक्षित है, इसमें कोई संशय नहीं। हरिवंश० १।२६।३५-३६ में भी इस सूक्त का संकेत है (जाये ह तिष्ठ मनसा घोरे वचसि तिष्ठ ह. . . .)। यहाँ "एवमादीनि सूक्तानि" कह कर वैदिक वाक्य को ही लक्षित किया गया है। नीलकण्ठ कहते हैं—"हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे इति सूक्तादिमर्थतः पठति–जाये इति। हये इत्यस्य व्याख्यानं वचसीति हये तिष्ठेति संबन्धात्। जाये इत्यस्याः संबुद्धेः पादादिस्थत्वादाद्युदात्तत्वम्।"

पैतृकमन्त्र—नारदीय० १।२८।६५-६८ में इसका उल्लेख है। ऋग्० १०।१५।१-१३ पैतृक मन्त्र कहलाता है। वाजसनेयी संहिता का ३५ वाँ अध्याय भी पित्र्य है (३५।१ की उवट टीका)।

पौष्टिक सूक्त—उत्तरदिक्स्थ अथर्वा द्वारा इसका जप मत्स्य० ५८।३७ में कथित है (तडागादिविधि में)। पुनः मत्स्य० ९३।१२९-१४२ में ग्रहयज्ञ में भी इसका उल्लेख है। पौष्टिक सूक्त वे सूक्त हैं जो हलप्रसारण, बीजवपन, वाणिज्य, वृष्टि आदि से संबद्ध हैं। अथर्ववेद का वृष्टिसूक्त (४।१५) एक प्रसिद्ध पौष्टिक सूक्त है।

प्रत्यङ्गिरससूक्त—प्राचेतस-दक्ष-कन्याकर्तृक-सृष्टि के प्रसंग में कई पुराणों में यह श्लोक मिलता है—"प्रत्यङगिरसजाः श्रेष्ठाः ऋचो ब्रह्मर्षिसत्कृताः' (विष्णु० १।१५।१३६, हरिवंश० १।३।६५, ब्रह्म० ३।६१, वायु० ६६।७८, कूर्म० १।१८।१८, कहीं कहीं पाठ भ्रष्ट है)। विष्णु० की टीका में श्रीधर स्वामी कहते हैं—'प्रत्यङगिर-साख्या ऋचः यान् कल्पयन्ति पञ्चत्रिंशन्मन्त्राभिमानिदेवताः"। ऋग्वेद परिशिष्ट में "यान् कल्पयन्ति..." इत्यादि सूक्त है, जिसमें ४८ मन्त्र हैं (श्री सातवलेकर सम्पादित ऋग्वेद, पृ० ७८२)। वैदिक संशोधन मण्डल से प्रकाशित ऋग्वेद (भाग ४, पृ० ९६०-९६१) में इस सूक्त में ४० मन्त्र हैं। ऋग्विधान ४।४१ में इसको 'कृत्यासूक्त' कहा गया है। अथर्व० १०।१ भी इस सूक्त से बहुत साम्य रखता है; परन्तु इसमें ३२ मन्त्र हैं। अथर्ववेदीय पिप्पलादशाखा में ४८ ऋगात्मक (यां कल्पयन्ति...) एक सूक्त है और यह भी प्रत्यङ्गिरा सूक्त कहलाता है।

हरिवंश० १।३।६५ की टीका में नीलकण्ठ कहते हैं—"प्रत्यङ्गिरसः (शौनकः) यः अङगिराः शौनको होत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत्" इति स्मृतेः। तस्माज्जाताः तेन दृष्टा ऋचः मन्त्राः प्रत्यङ्गिरसजाः। अथर्ववेदेऽपि शौनकीयशाखा प्रसिद्धा। तत्र च प्रत्यङ्गिरसमन्त्राः शान्तिकराः प्रसिद्धाः"। प्रत्यङ्गिरा सूक्त के विषय में भास्करराय का मत भी द्रष्टव्य है। उन्होंने कहा है कि प्रत्यङ्गिरा का अर्थ है—आथर्वण भद्रकाली देवता।[4] शौनक शाखा के आथर्वणमन्त्रकाण्ड में ३२ ऋचाएँ हैं और पिप्पलादशाखा में ४८। नारदतन्त्र में इस सूक्त का प्रयोग कहा गया है (ललितासहस्रनामभाष्य, पृ० २१४)।

---

४. प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि तान्त्रिक संप्रदाय अथर्ववेद को स्वकीय वेद मानते हैं। भावनोपनिषद् की व्याख्या में भास्कर कहते हैं—"अथर्वणवेदस्तु अन्तरङ्गकर्माण्येव प्रचुरं प्रतिपादयति' (३६)। यह अन्तरङ्ग शब्द तान्त्रिकसाधना-परक ही है।

इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि इस सूक्त पर श्री वासुदेव द्विवेद की व्याख्या प्रकाशित हो चुकी है (राजकीय संस्कृत कालेज की सारस्वती सुषमा पत्रिका वर्ष ७-८ में)। इसमें एक ४ मन्त्रों का तथा अन्य १ मन्त्र का परिशिष्ट भी हैं। सम्पादकों का कहना है कि इस सूक्त की मन्त्रसंख्या और मन्त्रक्रम में पर्याप्त मतभेद है।

ब्रह्मसूक्त—ब्रह्मप्रतिपादक सूक्त ब्रह्मसूक्त कहलाता है। इसका उल्लेख क्वचित् ही मिलता है। प्रभास क्षेत्र० १६५।१७१ में सावित्री-स्थल-सन्निधि में ब्रह्मसूक्त पाठ करने का उल्लेख है। ब्रह्मा और सावित्री का सम्बन्ध प्रसिद्ध है। आध्यात्मिक दृष्टि में ब्रह्मा=वेद तथा सावित्री=तदधिष्ठात्री देवी है—"वेदराशिः स्मृतो ब्रह्मा सावित्री तदधिष्ठिता" (मत्स्य० ४।१०), अतः सावित्री के पास ब्रह्मसूक्त पाठ उचित ही है। यहाँ ब्रह्मसूक्त में बहुवचन है, जो ब्रह्मसूक्तों के बहुसंख्यकत्व का ज्ञापक है। ऋग्वेदखिलगत 'ब्रह्म जज्ञानम्' मन्त्रघटित सूक्त ब्रह्मसूक्त हो सकता है (वैदिक संशोधन मण्डल प्रकाशित ऋग्वेद पृ० ९५४)। अथर्व० ४।१ सूक्त भी ब्रह्मसूक्तपदवाच्य हो सकता है। अथर्ववेदीय १०।३१-३२ सूक्त ब्रह्मप्रकाशक माने जाते हैं (अथर्ववेदीय बृहत् सर्वानुक्रमणी), अतः वे ब्रह्मसूक्त कहला सकते हैं।

ब्राह्मण—चतुर्वेदी द्वारा ब्राह्मण के जप का उल्लेख अग्नि० ९६।४०-४३ (देवपूजाधिवास) तथा गरुड० १।४८।५३-५६ (देवप्रतिष्ठा) में मिलता है। सम्भवतः यह शब्द यजुर्वेदीय ब्राह्मण-सामान्य के लिये आया है, यद्यपि ब्राह्मणवाक्यों का जप नहीं किया जाता, मन्त्रों का ही जप किया जाता है। यह भी सम्भव है कि ब्राह्मण='यजुः संहितान्तर्गत ब्राह्मण' हो। किसी किसी के अनुसार शुक्ल-यजुर्वेद में भी ब्राह्मण का संमिश्रण है (द्र० मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् शीर्षक लेख)। यजुर्विधान शिक्षा (पृ० ३३४) में कहा गया है—"देवा यज्ञमिति ब्राह्मणानुवाकम्"। इस ब्राह्मणांश का जप विधिसंगत हो सकता है।

मण्डलाध्याय—मूर्ति-अधिवास में अध्वर्युकर्तृक इसके जप का उल्लेख मत्स्य० २६५।२६ तथा अन्यान्य पुराणों में मिलता है। सम्भवतः यह मण्डलब्राह्मण ही है।

मधु—यजुर्वेदी द्वारा शिवपूजा में इसके जप का उल्लेख रेवा० ५१।४५ में मिलता है।

मस्करी के अनुसार "मधूनि मधुवाता ऋतायते इत्यादीनि मधुशब्दसंयुक्तानि" है। (गौ० ध० सू० १९।१३) यह ऋग्वेद १।९०।६-८ है। वसिष्ठधर्मसूत्र २९।९, बौधायनधर्मसूत्र ३।१०।१० में भी 'मधु' जप की प्रशंसा उपलब्ध होती है। यह पवित्रकारक माना जाता है। 'मधु' की व्याख्या में हरदत्त ने कहा है—"मधुशब्द-

युक्तानि यजूंषि ब्रह्ममेतु माम् इत्यादीनि" (गौतमधर्मसूत्र १९।१२)। ये मन्त्र तै० आ० १०।३८ में मिलते हैं। मदनपारिजात (पृ० ७६१) में मस्करी का मत ही अनुसृत हुआ है। ये मन्त्र तै० आ० ४।२।९ तथा वाजसनेयी संहिता १३।२७-२९ में भी हैं। इन ऋग्मन्त्रों को 'मधुमती' भी कहा गया है (आश्वलायन गृह्य १।३, मानवगृह्य १।९।१४)। कभी कभी मधु का अर्थ मधुब्राह्मण भी होता है। मधु-ब्राह्मण=मधुविद्याप्रतिपादक ब्राह्मण, जो बृहदारण्यक उप० २।५ और छान्दोग्य उप० ३।१ में है।

महाराज्य—ब्रह्मयज्ञ में अथर्ववेदी द्वारा इसका जप निर्दिष्ट हुआ है (मत्स्य० ९३।१२९-१३२)। राजाओं से सम्बन्धित सूक्त राजकर्मसूक्त या महाराज्य सूक्त कहलाते हैं। अथर्व० ३।३, ३।४ आदि इसके उदाहरण हैं। दुन्दुभिसूक्त भी इसमें गणित हो सकता है (अथर्व० ६।१२६)। ऋग्वेद में भी दुन्दुभिपरक मन्त्र हैं। इस विषय में श्री विनायक आप्टे का मत आलोचनीय है। (Ṛgveda Mantras in Their Ritual Setting in the Gṛhya Sūtras पृ० ४५-४६)।

महाव्रत—अग्नि० ५८।२४ में इसका उल्लेख है। यह कोई सामविशेष है, ऐसा प्रतीत होता है। यज्ञायज्ञीय साम को महाव्रत का पुच्छ कहा गया है (ताण्डय० ५।१।१८, १६।११।२१)। उसी प्रकार वामदेव्यसाम को महाव्रत का आत्मा कहा गया है (ताण्डय० १६।११।११)। इन उल्लेखों से महाव्रत का पूर्वोक्त स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

मैत्र (कहीं कहीं 'मैत्रक', 'मैत्रीसूक्त' शब्द भी हैं)—बहवृचकर्तृक नाना कर्मों में इस सूक्त के जप करने का उल्लेख मिलता है (मत्स्य० ९६।४०)। गरुड० १।४८। ५३ में दक्षिणदिक्स्थ अध्वर्युकर्तृक और उत्तरदिक्स्थ अथर्वकर्तृक 'मैत्र' का जप विहित हुआ है। उसी प्रकार अथर्वविद् द्वारा जप गरुड० १।४८।५६ में उल्लिखित हुआ है।

ऋग्वेद ३।५९।१, २, ६ और तै० सं० ३।४।११।५ गत "मित्रस्य चर्षणीधृतः ....." "मित्रो जनान्.....", "प्रसमित्र–" ये तीन मन्त्र 'मैत्र' या 'मैत्री ऋक्' कहलाते हैं। मित्रदेवताक अन्य मन्त्र और सूक्त भी 'मैत्र' पदवाच्य हो सकते हैं। प्रस्तुत स्थलों में कौन मन्त्र विवक्षित हैं—यह अज्ञात है।

मृत्युञ्जयमन्त्र—यह "त्रियम्बकं यजामहे" इत्यादि मन्त्र है। इसके साथ शतरुद्र-जप का उल्लेख प्रभास क्षेत्र० ४।३८ में मिलता है। (द्र० त्रियम्बक-मन्त्र-परिचय)।

यज्ञघ्नयजु—भाग० ४।४।३२ में इसका उल्लेख है। "अपहतं रक्षः" इत्यादि मन्त्र यज्ञघ्न यजुः है—यह श्रीधर ने कहा है। याजुष माध्यन्दिनसंहिता १।१६

में "अपहतं रक्षः" इत्यादि मन्त्र पठित है। यह मन्त्र रक्षोदेवताक है—यह याजुष सर्वानुक्रम में कहा गया है (पृ० १७)।

यमसूक्त—पुराणों में क्वचित् ही इसका उल्लेख है। धर्मारण्य० १०।५३ में ब्राह्मणों द्वारा इस सूक्त के जप का उल्लेख है। गरुड० के प्रेताशौच प्रकरण में भी यमसूक्तजप का उल्लेख है (१।१०६।२)। ऋग्वेद १०।१४ में एक यमसूक्त है। यमसूक्त का अर्थ यमगाथा भी हो सकता है। यमगाथा ऋग्वेद और तैत्तिरीय आरण्यक में है (द्र० H. Dh. S. भाग ४, पृ० २२७)। एक याम्य सूक्त तै० आ० ६।३ में है (९ मन्त्रयुक्त)।

रक्षोघ्न—मत्स्य० २६५।२४ में पूर्वदिक्स्थ बह्वृचकर्तृक इसके जप का उल्लेख है (मूर्ति-अधिवास में)। श्राद्ध में भी रक्षोघ्नमन्त्रपाठ का उल्लेख है (वराह० १४।२६)। रक्षोघ्न मन्त्र से उच्चाटन करने का उल्लेख भी मिलता है (मार्क० ७२।७०)। पुरप्रवेश में भी पावमान के साथ रक्षोघ्नसूक्त निर्दिष्ट हुआ है (मत्स्य० २६८।३४)।

ऋग्० ४।४।१-१५ और १०।८७।१-२५ रक्षोघ्न कहलाता है (H. Dh. S. भाग २, पृ० ८३५)। तै० सं० १।२।१४-१-२ तथा वाजसनेयी संहिता १३।९-१३ भी रक्षोघ्न हैं। धर्मशास्त्रीय परम्परा में ऋग्० ७।१०४, १०।११८ और १०।१६२ सूक्त रक्षोघ्न कहलाते हैं। सामवेद में भी रक्षोघ्न साम है ; आर्षेय ब्रा० में बहुशः इस साम का उल्लेख मिलता है (१।१२, १।१३)। मत्स्य० ५८।३६ में सामगकर्तृक रक्षोघ्न-सामजप का उल्लेख है।

रात्रिसूक्त—कहीं कहीं 'रात्री' पाठ है। ग्रहयज्ञ में बह्वृचकर्तृक इसके जप का उल्लेख मिलता है (मत्स्य० ९३।१२९-१३२)। पुनः तडागादि विधि में बह्वृचकर्तृक जप का उल्लेख मत्स्य० ५८।२३ में मिलता है। रात्रिसूक्त (रजनी-सूक्त) से शिवलिङ्गस्नान लिङ्ग० १।२७।४१ में कहा गया है। शिव० ५।४१।४७ में 'जननीसूक्त' का उल्लेख है। वेदों में कोई जननीसूक्त नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ प्रकृत पाठ रजनीसूक्त होगा, क्योंकि यहाँ देवीपूजा का प्रसंग है। रजनी (=रात्रि) सूक्त का पाठ देवीपूजा में प्रसिद्ध है।

यह रात्रिसूक्त ऋक्परिशिष्ट में है। विभिन्न संस्करणों में इसकी मन्त्रसंख्या में भेद हैं (वैदिकशोधसंस्थान से प्रकाशित ऋग्वेद, भाग ४, पृ० ९५६-९५९)। इस सूक्त में दुर्गा और कात्यायनी के नाम कथित हुए हैं।

तान्त्रिक परम्परा में ऋग्० १०।१२७।१-८ भी रात्रिसूक्त कहलाता है। इसमें 'रात्रि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस परम्परा में मारीच कल्प का एक वचन प्रसिद्ध है—'रात्रिसूक्तं पठेदादौ मध्ये सप्तशतीस्तवम्। प्रान्ते तु पठनीयं वै देवीसूक्तमिति

क्रमः" । कुछ तान्त्रिक ऋग्वेद के इस स्थल को ही 'रात्रिसूक्त' मानते हैं। इस रात्रिसूक्त का उल्लेख ऐ० आ० ३।२।४ में है।

रौद्रसूक्त—रुद्र, रौद्रक, शब्द भी व्यवहृत हुए हैं। बह्वृचकर्तृक रौद्रसूक्त-जप का उल्लेख मत्स्य० ९३।१२९-१३२, ५८।३३ में है (ब्रह्मयज्ञ और तडागादि-विधि में यथाक्रम) । अध्वर्यु या यजुर्वित्कर्तृक देवप्रतिष्ठा-तडागादि विधि में इसके जप का उल्लेख मिलता है (गरुड० १।४८।५३-५६, मत्स्य० ५८।३४, ६९।४४, २६५।२६)। छन्दोगकर्तृक रौद्रसूक्त-जप का उल्लेख मिलता है (मत्स्य० २६५।२७)। इसी प्रकार अथर्वकर्तृक रौद्रकजप का उल्लेख मत्स्य० २६५।२८ में मिलता है (मूर्ति-अधिवास प्रकरण) । ऋग्वेद में रुद्रदेवताक कई सूक्त हैं, यथा—१।४३, १।१४४, २।२३, ७।४६। इनमें से किसी को भी संप्रदायानुसार रुद्रसूक्त कहा जा सकता है।

शिवपूजा में यजुर्वेदीकर्तृक रुद्रजप रेवा० ५१।४४ में मिलता है। सपञ्चाङ्ग रुद्र (रुद्रान्)-जप प्रभास क्षेत्र० ३०।६ में कहा गया है। यह भी शिवस्नानसम्बन्धी है। यजुर्वेदियों द्वारा 'रुद्र' का जप कथित हुआ है (मत्स्य० ६९।४३)। यह रुद्र रुद्राध्याय भी कहलाता है (लिङ्ग० १।२७।४१ की टीका द्र०)। रुद्र से महादेवाभिषेचन लिङ्ग० १।२५।२३ में द्रष्टव्य है।

तै० सं० ४।५।१-११ में ११ अनुवाक हैं, जो रुद्र कहलाते हैं। वाजसनेयी संहिता १६ अ० में शतरुद्रप्रिय होममन्त्र कहे गए हैं। यह भी रुद्राध्याय कहलाता है। इसमें प्रथम अनुवाक षोडशर्च (१६ ऋक्) है, जो एकरुद्रदैवत्य है (उवट-महीधर-टीका, १६।१)। यह रुद्राध्याय यजुर्वेद की सभी शाखाओं में है, यह महत्त्वपूर्ण सूचना भट्टभास्कर ने दी है (रुद्राध्याय भाष्य, पृ० ४, आनन्दाश्रम-संस्करण)। भट्ट भास्कर और सायण ने रुद्राध्याय के प्रशंसात्मक तथा विनियोगसंम्बन्धी अनेक वचनों का उद्धरण स्वकृत भाष्यों में दिया है।

रुद्राध्याय शब्द पुराणों में व्यवहृत हुआ है। रुद्राध्याय की प्रशंसा भी सर्वत्र मिलती है। इसको अशेषोपनिषत्सार तथा यजुषों में श्रेष्ठ माना गया है (वेंकटाचल० २३।३९) । रुद्राध्याय से शिवस्तुति करने का उल्लेख बहुधा मिलता है (लिङ्ग० २।१७।८) । रुद्राध्याय की रुद्रपरकता लिङ्ग० २।१८।६६ में कही गई है। रुद्राध्यायी का रुद्रभवनवास अवन्ती क्षेत्र० ७।७० में उक्त हुआ है। रुद्राध्याय से शिवलिङ्ग स्नान लिङ्ग० १।२७।४१ में कहा गया है। रुद्राध्याय को 'नमक' भी कहा जाता है (नमक='नमस्ते रुद्र मन्यवे' वाक्यान्तर्गत 'नमः' पद से आरम्भ होने वाला अध्याय अर्थात् रुद्राध्याय)।

यह अध्याय इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है कि वैष्णवों ने भी इसका

आदर किया है। रेवा० ११।७१ में रुद्राध्याय जप से विष्णुलोकगमन कथित हुआ है।

रुद्रगायत्री—लिङ० १।१३।१३ में महादेवध्यान के प्रसंग में रौद्री गायत्री का उल्लेख है। शिव० २।१।११।५०-५१ और वायु० २३।१३ में शिव से रुद्रगायत्री का सम्बन्ध दिखाया गया है। रुद्रगायत्री से गोमूत्र का प्रयोग लिङ्ग० १।१५।१८ में उक्त हुआ है। यह 'तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्' मन्त्र है, जो तै० आ० १०।१ और काठकसंहिता १७।३२ में मिलता है।

रुद्रसंहिता—शिवपूजादि-प्रसंग में रुद्रसंहिता-जप का उल्लेख मिलता है (प्रभास क्षेत्र० ३०।६)। प्रभास ३०।४-६ में सामग या छन्दोगकर्तृक रुद्रसंहिता जप का उल्लेख मिलता है (मत्स्य० ५८।३५, ९३।१३१, तडागादि विधि और ग्रहयज्ञ के प्रसंग में)। सामगकर्तृक इसके जप का उल्लेख होने से यह सामविशेष का नाम है, यह स्पष्ट है। रुद्रपरक साम आर्षेय ब्रा० ३।११ में उल्लिखित हुआ है, पर रुद्रसंहिता नामक साम कौन है--यह अज्ञात है।

लक्ष्मीसूक्त—सुभद्रा-मूर्ति के सम्बन्ध में इस सूक्त का उल्लेख मिलता है (पुरुषोत्तम० २५।४०)। यह श्रीसूक्त है, ऐसा प्रतीत होता है। अग्नि० २६३।१ में कहा गया है—"श्रीसूक्तं प्रतिवेदं च ज्ञेयं लक्ष्मीविवर्धनम्"; अतः श्रीसूक्त को लक्ष्मीसूक्त भी कहा जा सकता है।

वह्निसूक्त—राजाभिषेक में इस सूक्त का विधान है (पुरुषोत्तम० ११।२७)। यह कोई विशिष्ट अग्निसूक्त है, यह निश्चित है; पर कौन सूक्त यहाँ लक्षित हुआ है—यह अनिश्चित है।

वामसूक्त—गरुड़० १।४८।५३-५६ में बह्वृचकर्तृक इसके जप का उल्लेख है (देवप्रतिष्ठा में)। लिङ्ग० १।२७।४० में 'वामीयक' से शिवलिङ्गस्नान कहा गया है। वामीयक=वामसूक्त (शिवतोषिणी टीका)। यतः बह्वृचकर्तृक जप का उल्लेख है, अतः यह ऋग्वेदीय 'अस्यवामीय' सूक्त हो सकता है। 'नामैकदेश-ग्रहण-न्याय' से वाम पद से अस्यवाम (अस्यवामीय) का ग्रहण करना संगत ही है। यह सूक्त ऋग्वेद १।१६४ है।

वामदेव मन्त्र—शिव० २।१।११।५० में शिवपूजा के प्रसंग में यह मन्त्र उल्लिखित हुआ है। यह तै० आ० १०।४४ में है।

वारुण मन्त्र—वारुण मन्त्रों का बहुधा उल्लेख पुराणों में मिलता है। वारुण मन्त्र से शिवलिङ्गस्नान (लिङ्ग० १।२७।४३), वारुण मन्त्र से होम (मत्स्य० ५८।३२), वैदिक वारुण मन्त्र से वरुण की स्तुति (मार्क० २२।११-१२) आदि कर्म वरुणदेवताक मन्त्र से संबद्ध हैं।

यद्यपि वरुणदेवताक कोई भी मन्त्र वारुण है, तथापि परम्परागत धर्मशास्त्रीय दृष्टि के अनुसार निम्नोक्त मन्त्र वारुणी ऋक् माने जाते हैं—"इमं मे वरुणं" (ऋग्वेद १।२५।१९), "तत्त्वायामि..." (१।२४।११), "अवते हेलो..." (१।२४।१९) और "यत्किञ्चेदम्..." (७।८९।५)। तै० सं० ३।४।११।६ में पठित तीन मन्त्र (यच्चिद्धि... इत्यादि) भी वारुणी ऋक् कहलाते हैं। ऐसे स्थलों में शाखा-भेद के अनुसार मन्त्रभेद माना जाता है, जैसा कि पहले कहा गया है।

विभ्राट्सूक्त—नागर० १३७।४ में विभ्राट्सूक्त को भास्कर-वल्लभ कहा गया है। यह सूक्त सूर्यदेवताक है। देवस्नपन में इस सूक्त से अञ्जनदान का उल्लेख है (अग्नि० ५८।२५)। यह ऋग्वेद १०।१७०।१-४ है।

वार्तघ्नलिङ्ग मन्त्र—भाग० ६।१२।३४ में वृत्रनाशक इस मन्त्र का उल्लेख है। यह माध्यन्दिनसंहिता १८।६८ मन्त्र है (द्र० श्रीधरीटीका)।

विरूपाक्ष—लिङ्ग० १।२७।४५ में शिवलिङ्गस्नान में इसका उल्लेख है। शिवतोषिणी टीका में इसका कोई परिचय नहीं दिया गया, परन्तु यह अथर्व-वेदीय है—यह कहा गया है।

विष्णुसूक्त—विष्णुसूक्त से विष्णु की स्तुति करने का उल्लेख पद्म० ५।१३। ८६-८७ में है। लिङ्ग० १।२७।४४-४६ में "विष्णुना......स्नापयेद् देवेशम्" कहकर शिवलिङ्गस्नानविधि कही गई है। क्या यहाँ 'विष्णु' शब्द का अर्थ विष्णुसूक्त है? इस स्थल पर अनेक सूक्त-मन्त्रों का उल्लेख है, अतः 'विष्णु' को सूक्तनाम- विशेष माना जा सकता है। विष्णुसूक्त का सम्बन्ध विष्णुस्मरण से है, यह गरुड़० २।१८।६ से ज्ञात होता है।

कोई भी विष्णुदेवताक सूक्त विष्णुसूक्त-पदवाच्य हो सकता है (व्यावर्तक विशेषण या सम्प्रदाय-संकेत यदि न हो), अतः यहाँ कौन सूक्त विवक्षित है, यह स्पष्ट नहीं है। यजुर्विधानशिक्षा पृ० ३३१ में "युञ्जते मन....." इत्यादि को 'वैष्णवानुवाक' कहा गया है। "इदं विष्णु......" (ऋग्वेद १।२२।१७) को वैष्णवी ऋक् कहा जाता है, उसी प्रकार "विष्णो हव्यं रक्ष...." भी वैष्णवी ऋक् कहलाता है। यह मन्त्र माध्यन्दिनसंहिता १।४ और तै० सं० १।१।३।१ में है।

वृषाकपि—लिङ्ग० १।२७।४४ में शिवलिङ्गस्नान में कपिसंज्ञक मन्त्र का उल्लेख है। सम्भवतः यह वृषाकपिमन्त्र ही है (एकदेशग्रहणन्याय से वृषाकपि के लिये 'कपि' पद प्रयुक्त हुआ है)। अग्नि० ९६।४७, गरुड़० १।४८।५३-५६ में बह्वृचर्तृक इसके जप का उल्लेख है। रेवा० ५१।४२ में शिवपूजा में इसका जप कथित हुआ है। ऐतरेय आलोचन पृ० १४४-१४५ में वृषाकपिसूक्त का परिचय

दिया गया है। यह भी ज्ञातव्य है कि अथर्ववेद में 'कुन्ताप' सूक्त से पहले वृषाकपि-मन्त्र है, यह आश्व० श्रौतसूत्र के "तस्माद् वृषाकपेरूर्ध्वं कुन्तापम्" वाक्य से ज्ञात होता है। अथर्व० २०।१२७-१३६ कुन्ताप सूक्त है।

वैश्वदेवसूक्त—भाग० ९।४।१-१४ में नाभानेदिष्ठ की कथा है। यहाँ दो वैश्वदेवसूक्तों का उल्लेख है (९।४।४)। ये दो सूक्त ऋग्वेद १०।६१ और १०।६३ हैं। नाभागकथा शिव० ३।२९।१४ तथा अन्य पुराणों में भी है। यह कथा मूलतः ऐतरेय ब्राह्मण ५।१४ में है। तैत्तिरीय संहिता ३।१।९ में यह कथा कुछ भिन्न रूप से मिलती है।

व्याहृति या महाव्याहृति—कई पुराणों में इसका उल्लेख है (अग्नि० ६४। १४, ६४।१५, कूर्म० २।१४।५५, २।१८।५६)। कूर्म० २।१४।५५ में "तिस्रः महाव्याहृतयः" कहा गया है, जो "भूः भुवः स्वः" हैं। व्याहृति प्रणवान्वित भी स्वीकृत होती है (कूर्म० २।१८।६६)।

शतऋक्—लिङ्ग० १।२७।४५ में शतऋक् से शिवपूजा का विधान है (शतऋग्भिः शिवैः)। सम्भवतः यह शतऋक् पद ऋग्वेद के आद्यमण्डल को लक्ष्य करता है। आद्यमण्डलदर्शी ऋषि 'शतर्ची' कहलाते हैं (ऋक्सर्वानुक्रमणी वृत्ति २।१), अतः लक्षणा के बल से 'शतऋक्' शब्द आद्यमण्डल का वाचक हो सकता है।

शतरुद्र—शतरुद्र का विशिष्ट सम्बन्ध शिवभक्त से दिखाया गया है। शिव-भक्तकर्तृक शतरुद्र-जप का उल्लेख सर्वत्र मिलता है (कूर्म० २।३१।५७, शिव० १।२१।४१-४२, ब्रह्माण्ड० ३।११।३३, कुमारिका० १३।१४३)। नीललोहित रुद्रवंश के लिये कहा गया है कि वे शतरुद्र में समाम्नात होंगे—"शतरुद्रे समाम्नाता भविष्यन्तीह यज्ञियाः" (ब्रह्माण्ड० १।१।८, वायु० १०।५९)। शिव का आत्म-स्वरूप ही शतरुद्र है, यह मत प्रभास क्षेत्र० ४।४० में मिलता है। शतरुद्र का प्रयोग लौकिक इष्टसिद्धि में भी किया गया है। इसके अभिषेक से शतायु होने का उल्लेख है (स्कन्द० उत्तर २१।५३)।

शतरुद्र के लिये 'शतरुद्रिय' और 'शतरुद्रीय' शब्द भी मिलते हैं। इसको यजुर्वेद का सार कहा गया है (कूर्म० १।१२।२२४, १।२९।६९, २।७।१२, वामन० ४७।१२०)। इससे महेश्वर (शिव, रुद्र) की स्तुति या जप करने का उल्लेख मिलता है (नागर० ८९।२१, प्रभास क्षेत्र० ३०।६, ९७।११, ११०।११, काशी० १०।११३, शिव० ३।८।५४, १।२१।५१, कूर्म० २।११।५७)।

शतरुद्र के विषय में पुराणों में अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश मिलते हैं, यथा—शतरुद्र शिवमाहात्म्यपरक है (कुमारिका० १३।१९८); शिव शतरुद्रप्रिय हैं (प्रभास-

क्षेत्र० ३।४२); शतरुद्र-जपपूर्वक ज्योतिर्मय लिङ्ग में प्रवेश (काशी० १०। ११३); आदि। वायु० ५९।५७ में यह भी कहा गया है कि यह शतरुद्रिय आभूत-संप्लवस्थायी है और शतरुद्रातिरिक्त अन्य मन्त्र पुनः पुनः आवर्तक हैं (प्रभास क्षेत्र० ४।४१)। शतरुद्र से होम (शिवपूजा में) का उल्लेख भी है (प्रभास क्षेत्र० १०३।११)। मृत्युञ्जय मन्त्र (त्रियम्बकं यजामहे.... मन्त्र) के साथ शतरुद्रजप का उल्लेख भी मिलता है (प्रभास क्षेत्र० ४।३८)। नागर० ८९।२१ में 'शतरुद्रिय' शब्द बहुवचनान्त है। क्या यह शतरुद्रगत बहुवचन मन्त्राभिप्राय से किया गया है, या नानाशाखागत शतरुद्रों के नानात्व के कारण है—यह विचार्य है।

शाकुनसूक्त—अग्नि० ५८।२९ में शाकुन सूक्त का उल्लेख है (देवतास्नान-विधि में)। ग्रहयज्ञ में अथर्ववित्कर्तृक शाकुनक जप का उल्लेख मत्स्य० ९३। १२९-१३२ में है। वैखानस स्मार्तसूत्र में विष्णुप्रतिष्ठा के सम्बन्ध में इसका उल्लेख है (४।१०।११)। यह ऋग्वेद २।४२।१-३ और २।४३।१-३ है।

शाक्रसूक्त--यजुर्वेदकर्तृक शाक्रसूक्त जप का उल्लेख मत्स्य० ९३।१३२ (ग्रहयज्ञ) तथा मत्स्य० ५८।३४ (तडागादिविधि) में मिलता है। यह यजुर्वेदीय कौन सूक्त है--यह स्पष्ट नहीं। इन्द्रदेवताक सूक्त शाक्रसूक्त है।

शान्ति—पुराणों में 'शान्तिद्वय' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। शान्तिद्वय से रुद्र-लिङ्गाभिषेक लिङ्ग० १।२५।२३ में विहित हुआ है। "शान्त्या चाथ पुनः शान्त्या" वाक्य (शिवलिङ्ग स्नान में) लिङ्ग० १।२७।४२ में प्रयुक्त हुआ है। दो 'शान्ति' का तात्पर्य शान्तिकारक "शंनो मित्र" इत्यादि दो मन्त्रों से हैं (शिवतोषिणी टीका १।२५।२३)। माध्यन्दिनसंहिता ३६।९-१० में दो अनुष्टुप् 'शं'-पदघटित हैं (शंनो मित्रः..; ..शंनो वातः)। ये दो शान्तिद्वय हैं, यह स्पष्ट है।

शान्तिधर्म—इसके द्वारा शिवलिङ्गाभिषेक किया जाता है (लिङ्ग० १।२५। २४)। यह 'शंनो देवी...' मन्त्र है, यह शिवतोषिणीटीका में कहा गया है। 'शं नो देवी......' मन्त्र ऋग्० १०।९।४ है।

शान्तिक—शान्तिकाध्याय और शान्तिसूक्त शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। उत्तरदिक्स्थ अथर्वकर्तृक इसका जप मत्स्य० ५८।३७ में तडागादि-विधि-प्रसंग में कहा गया है। मत्स्य० २६५।२९ में मूर्ति-अधिवास में अथर्वकर्तृक शान्तिकाध्याय-जप का उल्लेख है। मत्स्य० ९३।१२९-१३२ (ग्रहयज्ञ) में अथर्ववेदी द्वारा शान्तिसूक्त-जप का उल्लेख है। बह्वृचकर्तृक शान्तिकाध्याय-जप मत्स्य० २६५।२४-२५ में भाषित हुआ है। तुलापुरुषदान में भी इसका विधान है (मत्स्य०

२७४।५६)। मत्स्य० ९३।१२९-१३२ में छन्दोगकर्तृक शान्तिसूक्त-जप का उल्लेख है।

वाजसनेयी संहिता का ३६वाँ अध्याय 'शान्तिकरणाध्याय' कहलाता है। इस अध्याय से शान्तिकरण किया जाता है (उवट-महीधर टीका ३६।१ तथा यजुः-सर्वानुक्रमणी ४।५)। तथैव ऋग्वेद ७।३५ शन्तातीय सूक्त कहलाता है। विभिन्न वेदों में पठित शान्तिकारक मन्त्र या सूक्त शान्तिसूक्त हैं। ऐसे मन्त्र जब अथर्व-वेद की संहिताओं में पढ़े जाते हैं तब उनका पाठ अथर्ववेदी द्वारा किया जाता है। सामवेदीय शान्तिमन्त्र चार 'वामदेव्य' मन्त्र हैं ("कयानश्चित्रः", "कस्त्वासत्यः", "अभीषुणः", "स्वस्ति न इन्द्रः"); इनके आदि और अन्त में गायत्री मन्त्र पढ़ा जाता है, ऐसी प्रसिद्धि है।

शिरस्—लिङ्ग० १।२७।४२ में शिवस्नान में इसका उल्लेख है। सम्भवतः यह अथर्वशिरः उपनिषद् है। "शिरसा अथर्वेण" पद से इस अनुमान की पुष्टि होती है। अथर्वशिरस् उपनिषद् से शिव का घनिष्ठ सम्बन्ध पहले दिखाया गया है। "आपो ज्योती रसोऽमृतम्" इत्यादि गायत्रीमन्त्रसंबद्ध जप्य मन्त्र को 'गायत्री शिरः' कहा जाता है; परन्तु प्रकृतस्थल में प्रथम अर्थ ही ग्राह्य होना चाहिए।

शिव (=शिवसंकल्प)—लिङ्ग० १।२७।४५ में शिवपूजा के प्रसंग में इसका उल्लेख है। यह वाजसनेयी संहिता ३४।१-६ है। लिङ्ग० में यद्यपि 'शिव' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, तथापि 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्' न्याय के अनुसार 'शिवसंकल्प' ही यहाँ लक्षित है, ऐसा प्रतीत होता है।

शुक्रिय—रेवा० ५१।४४ में यजुर्वेदिकर्तृक शिवपूजा में इसके जप का उल्लेख है। अध्वर्युकर्तृक देवप्रतिष्ठा-मूर्तिअधिवास में भी इसके जप का विधान है (गरुड़० १।४८।५३-५६, मत्स्य० २६५।२६)। वाजसनेयी संहिता के ३३-४० अध्याय शुक्रिय कहलाते हैं। शुक्रिय संबंधी विशिष्ट विचार के लिये शुक्लयजुः सर्वानु-क्रमसूत्रभाष्य पृ० २ द्रष्टव्य है।

श्रीसूक्त—ब्रह्माण्ड० ३।९।७७ में इस सूक्त से श्री की स्तुति करने का उल्लेख है। तथैव विष्णु० १।९।१०० में इस सूक्त से लक्ष्मीस्तुति करने का निर्देश है। नागर० ८५।१४ में लक्ष्मीपूजा में श्रीसूक्त का उल्लेख है।

अग्नि० २६३।१ में इस सूक्त का परिचय दिया गया है (विष्णुधर्म० २। १२८।२-६ में भी यह प्रकरण है)—

हिरण्यवर्णां हरिणीमृचः पञ्चदश श्रियः।
श्रीसूक्तं प्रतिवेदं च ज्ञेयं लक्ष्मीविवर्धनम्॥

इसके बाद वेद में विद्यमान श्रीसूक्त का परिचय दिया गया है (पञ्चम श्लोक पर्यन्त)। यजर्वेदगत श्रीसूक्तमन्त्र के परिचय के लिये हिस्टरी ऑव धर्म-शास्त्र, भाग ३, पृ० ७७ की टिप्० द्रष्टव्य है।

शिवपूजा में ऋग्वेदी द्वारा इस सूक्त के जप का उल्लेख है (रेवा० ५१।४२)। राज्याभिषेक में भी यह सूक्त विहित हुआ है (पुरुषोत्तम० ११।२७)। यह सूक्त ऋक्परिशिष्ट में है। किसी किसी के मत में यह ऋग्वेद १।१६५ है (हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र, भाग २, पृ० ८९८)। यह सूक्त प्रायः १५ मन्त्र-युक्त है। ऋग्विधान २।१८ में भी इसका उल्लेख है। इस सूक्त की मन्त्र-संख्या पर विचार के लिये ऋग्वेद भाग ४, पृ० ९२७-९३३ (वैदिक संशोधन मण्डल संस्क०) द्रष्टव्य है।

श्लोकाध्याय—यजुर्वेदी द्वारा शिवपूजा में इसके जप का उल्लेख है (रेवा० ५१।४४)। देवपूजा, मूर्ति-अधिवास, देव-प्रतिष्ठा में भी यजुर्वेदी या अध्वर्यु-कर्तृक इसके जप करने का बहुधा उल्लेख मिलता है (अग्नि० ९६।४०-४३, मत्स्य० २६५।२६, गरुड़० १।४८।५३-५६)। श्लोकाध्याय कौन है—यह अज्ञात है।

सत्यगण—पूर्वोक्त ब्रह्मपुराण में यह नाम निर्दिष्ट हुआ है। यह तै० ब्रा० ३।१२।३।२ है (हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र, भाग ३, पृ० ७५ की टिप्०)।

सावनसूक्त—सूर्यपरक सावनसूक्त नागर० २७८।१०८ में कथित हैं (बहु-वचन में)। ये सूक्त यजुर्वेदीय हैं, यह भी यहाँ कहा गया है। शुक्ल यजुः सर्वानु-क्रमसूक्त (सभाष्य) में अनेक सौर यजुः निर्दिष्ट हुए हैं (पृ० ४०, २९७, १८९), पर सावन यजुः कौन है, यह नहीं कहा गया है।

सारस्वतसूक्त—सारस्वती इष्टि के प्रकरण में इसका उल्लेख है (मार्क० ७२।२६)। यहाँ बहुवचनान्त पद है, अतः अनेक सारस्वत सूक्त हैं—यह जाना जाता है। चूंकि यहाँ वेदनाम का उल्लेख नहीं किया गया है, इसलिये यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि ये सारस्वत सूक्त किस वेद से संबद्ध हैं। ऋग्वेद में कई सरस्वती-देवताक मन्त्र हैं—यह ज्ञातव्य है (१।३।१०-१२, १।१६४।४९ आदि)।

सावित्र सूक्त—नागरखण्ड में कहा गया है—"सावित्रेण च सूक्तेन मां दृष्ट्वा प्रपठिष्यति" (१२९।६३)। यह याज्ञवल्क्य के प्रति सूर्य का वाक्य है, जिससे यह सूचित होता है कि यह कोई सवितृ-देवताक सूक्त है।

सावित्री—इसके जप का उल्लेख (आदित्योपस्थान, जप आदि में) प्रायः मिलता है (कूर्म० २।१८।६६, २।१८।७४, गरुड० १।५०।४९)। यदि सावित्री का अर्थ 'गायत्री' है तो यह ऋग्वेद ३।६२।१० है। प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि ऋग्वेद ५।८२।१ सावित्री-मन्त्र कहलाता है। कुछ निश्चित स्थलों पर ही इसका

विनियोग माना गया है। गायत्री और सावित्री के विषय में हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र (भाग २, पृ० ३००-३०२) द्रष्टव्य हैं।

सुमङ्गलसूक्त—तडागादि-विधि और ग्रहयज्ञ (मत्स्य० ५८।३३ और ९३। १२९-१३२) में बह्वृचकर्तृक इस सूक्त के जप का उल्लेख है। मत्स्य० २६५।२४ में भी बह्वृचकर्तृक इसके जप का उल्लेख है (मूर्ति-अधिवास में)। यह कौन सूक्त है—यह स्पष्ट नहीं है। यदि यह स्वस्तिसूक्त का नामान्तर है, तो यह ऋग्वेद ५।५१।११-१५ हो सकता है।

सूक्ष्मासूक्ष्म—देवपूजाधिवास में अथर्ववित् द्वारा इसके जप का उल्लेख है (अग्नि० ९६।४०-४३)। इसका परिचय अज्ञात है।

सौदर्शिनी ऋक्:—सुदर्शनचक्र की पूजा में कहा गया है—"सौदर्शन्या सुदर्शनम्" (पुरुषोत्तम० २०।३१)। यह 'सौदर्शनी' किसी ऋक्विशेष का नाम है, ऐसा प्रतीत होता है।

सौपर्णसूक्त—('सौवर्ण' पाठ भ्रष्ट है)। देव के उत्थान के समय में इस सूक्त के पाठ का उल्लेख है (अग्नि० ५८।२९)। कहीं-कहीं अर्घ्यदानादि के प्रसङ्ग में यह सूक्त निर्दिष्ट हुआ है (भविष्य ब्राह्म० २०२।११)। आ. गृ. सू० ३।१२-१४ में इस सूक्त का परिचय दिया गया है (प्रधारयन्तु.......)। यह सूक्त किसी भी प्रचलित संहिता में नहीं मिलता। ऐ० ब्रा० २९।९ में "प्र धारा यन्तु" को सौपर्ण-सूक्त कहा गया है। ऐ० ब्रा० ३७।७ भी इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है (वैदिक संशोधन मण्डल से प्रकाशित ऋग्वेद, भाग ४, पृ० ९१७ और ९२३ में सौपर्ण-सूक्त-प्रसङ्ग द्रष्टव्य है)।

सौम्यसूक्त—बह्वृचकर्तृक इसके जप का उल्लेख है (मत्स्य० २६५।२४)। यजुर्वित् द्वारा भी इसका जप उक्त हुआ है (मत्स्य० ५८।३४, ९३।१३० तडागादि विधि और ग्रहयज्ञ में)। कहीं कहीं 'सोम्य' या 'सोम' पाठ भी मिलता है। बह्वृच की तरह यजुर्वित्कर्तृक इसके जप का उल्लेख मत्स्य० के अतिरिक्त अग्नि० आदि में भी है (तडागादिविधि तथा पूजादि में)। सोमदेवताक कोई भी सूक्त 'सोमसूक्त' कहला सकता है। प्रकृत स्थल में यजुर्वेदगत यह सौम्यसूक्त कौन है—यह अनिश्चित है। यजुर्वेदीय सौम्य मन्त्र का निर्देश शुक्लयजु:सर्वानुक्रम पृ० २८८ में मिलता है, परन्तु यही मन्त्र यहाँ विवक्षित है—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सौरसूक्त—सूर्योपस्थान में सौरसूक्त का उल्लेख काशी० ९।६२ में है। सौर सूक्त (=सूर्यदेवताक सूक्त) अनेक हैं, इसीलिये यहाँ बहुवचन का प्रयोग किया गया है। नागर० २७८।१०८ में सूर्य ने याज्ञवल्क्य से कहा है—"यानि

सूक्तानि ऋग्वेदे मदीयानि"; इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेद में अनेक सौर सूक्त हैं भविष्य० ४।५९।६ में भी सौरसूक्त का उल्लेख है। ब्रह्म० में श्राद्ध में सौरसूक्तजप का उल्लेख है (२१९।७०)। आदित्योपस्थापन में सौर मन्त्रों का उल्लेख कूर्म० २।१८।७५ में है। ये सौर मन्त्र 'ऋग्यजुःसामभव' हैं, यह कूर्म० २।१८।३३ में कहा गया है। आदित्योपस्थापन में ऋग्यजुःसामसंज्ञित सौर मन्त्रों का उल्लेख गरुड० १।५०।२५ में है। यह मत लिङ्ग० १।२६।७ में भी है।

यजुर्वित्कर्तृक (मत्स्य० ५८।३४ तडागादि-विधि) तथा अथर्ववेदिकर्तृक (मत्स्य० ९३।१३२ ग्रहयज्ञ में) सौरसूक्तों का जप पुराणों में कहा गया है।

कोई भी सूर्यदेवताक सूक्त या मन्त्र 'सौर' पदवाच्य हो सकता है, तथापि वैदिक सम्प्रदाय में इस विषय में कुछ विशिष्ट विचार मिलते हैं, यथा—

आश्वलायन गृह्यसूत्रवृत्तिकार नारायण के अनुसार सौर्य मन्त्र ये हैं—ऋग्० १०।१५८ सू०, १।५०।१-९, १।११५।१ और १०।३७।१ (२।३।३।१२ टीका)। इस क्षेत्र में वृत्तिकार नारायण आश्व० श्रौतसूत्र ६।५।१८ का अनुयायी है। सौर-यजुः के विषय में सभाष्य यजुःसर्वानुक्रम द्रष्टव्य है (पृ० ४०, १८९ आदि)।

स्कन्द—शिवलिङ्गस्नान के प्रसङ्ग में इस सूक्त का उल्लेख है (लिङ्ग० १।२७।४५)। टीकाकार ने इसका परिचय नहीं दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्कन्ददेवताक कोई भी सूक्त **स्कन्दशब्द** का लक्ष्य है।

स्वस्त्ययन—कृत्यकल्पतरु के राजधर्मकाण्ड में उद्धृत ब्रह्मपुराण वाक्य में यह नाम निर्दिष्ट हुआ है। अथर्ववेदीय कौशिक सूक्त (८।२ टिप्पणी) में इस सूक्त का विवरण मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूक्त के टीकाकार नारायण के अनुसार ऋग्वेद के कुछ सूक्त स्वस्त्ययन-पदवाच्य हैं (द्र० हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र, भाग २, पृ० ८३१, टिप् १९६३)। अथर्व० १।२१, ७।८५।१, ७।८६।१ और ७।११७।१ भी स्वस्त्ययन कहलाते हैं। ऋग्वेद के "स्वस्तिदा. . ."...मन्त्र (१०।१५२।२) को भी स्वस्त्ययन कहा जाता है। तथैव वैदिकों की परम्परा में माङ्गलिक भावों से अन्वित मन्त्र भी स्वस्त्ययन मन्त्र के रूप में माने जाते हैं (यथा ऋग्वेद १।८९।१ और ५।५१।११)। बृहद्देवता ८।७७ के अनुसार ऋग्वेद १०।१७८ एक स्वस्त्ययन सूक्त है।

हिरण्यगर्भसूक्त—विष्णुपूजा में "हिरण्यगर्भेति जपन्" कहा गया है (पुरुषोत्तम० ५७।३०)। इसका संकेत "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे......." मन्त्र-लक्षित हिरण्यगर्भसूक्त की ओर है (ऋग्वेद १०।१२१)। पुरुषोत्तम० ५७।२९ में पुरुषसूक्त का उल्लेख है, जिससे यह ज्ञात होता है कि 'हिरण्यगर्भः' इत्यादि मन्त्र भी ऋग्वेदसम्बन्धी ही होगा।

षष्ठ परिच्छेद

वेद और वैदिक शाखाओं का परिमाण

परिमाणविचार की आवश्यकता और प्राचीनता—वैदिक वाङ्मय का पठन-पाठन प्राचीनकाल में किसी लिखित आधार पर न होकर मौखिक उपदेश पर निर्भर था—यह ऐतिहासिक सत्य है। उस समय ग्रन्थ-प्रणयन की परिपाटी नहीं थी। आचार्यकण्ठोत्थ ध्वनि को सुनना ही वैदिक अध्ययन का प्रारम्भिक रूप था। ऋग्वेद में ही "यदेषामन्यो......." (७।१०३।५) मन्त्र में यह पद्धति स्पष्टतः वर्णित हुई है। केवल श्रवण के आधार पर ग्रन्थों को कण्ठस्थ रखने से कालान्तर में पाठ में लोप, विपर्यय, परिवर्तन आदि होने की संभावना रहती है, ऐसा सोचकर पूर्वाचार्यों ने यथाश्रुत पाठ की रक्षा के लिये वैदिक ग्रन्थों के परिमाण का निर्देश अनुक्रमणी-सदृश ग्रन्थों में किया है। संहिताओं में मन्त्रों का परिमाण कितना है? अक्षर कितने हैं? मण्डल, अध्याय, अनुवाक, कण्डिका की संख्या कितनी है?—इत्यादि आवश्यक विचारों के साथ छन्द आदि के परिमाणों का भी निर्देश पूर्वाचार्यों ने किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ के परिमाण के साथ साथ सूक्तगत मन्त्रों का परिमाण, प्रत्येक अनुवाक के मन्त्रपरिमाण आदि अवान्तर-परिमाण-निर्देशक वचन भी अनुक्रमणीग्रन्थों में मिलते हैं।

परिमाणनिर्देशक प्राचीन ग्रन्थ—परिमाणनिर्देशार्थ अनेक ग्रन्थ प्राचीन काल में रचे गए थे। इस विषय में प्राचीनतम उल्लेख शतपथ० १०।४।२।२३ में है, यद्यपि यह गणना किस रीति से की गई है—यह अस्पष्ट है। इसके बाद वेदों की अनुक्रमणियों में भी अनेक स्थलों में मन्त्र, छन्द आदि की गणना मिलती है। चरणव्यूह, महिदासकृत उसकी वृत्ति (विभिन्न संस्करणों में इन दोनों ग्रन्थों के पाठों में बहुत ही परिवर्तन-परिवर्द्धन मिलते हैं), अनुवाकसूत्राध्याय, शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी, छन्दःसंख्यापरिशिष्ट, ऋक्सर्वानुक्रमणी-टीका (षड्गुरुशिष्यकृत तथा जगन्नाथकृत), वेंकटमाधवकृत ऋग्वेद का लघुभाष्य आदि ग्रन्थों में शाखागत मन्त्रपरिमाण की चर्चा की गई है। इन ग्रन्थों में कुछ अज्ञातकर्तृक परिमाणज्ञापक श्लोक भी मिलते हैं (द्र० चरणव्यूहटीकाकार महिदास द्वारा उद्धृत श्लोक, ऋक्संख्याविचार में) जिनसे ज्ञात होता है कि अनेक अज्ञात-परिचय

ग्रन्थकार भी इस विषय पर विचार कर चुके हैं। पुराणों के अतिरिक्त अर्वाचीन स्मृतिवाङ्मय में भी यह विषय क्वचित् मिलता है (द्र० लौगाक्षिस्मृति)। माध्यन्दिनी और वासिष्ठी शिक्षा में भी मन्त्र-परिमाण की चर्चा है। देवी पुराण (अ० १०७) में भी चरणव्यूहसदृश विषय मिलता है, यह ज्ञातव्य है।[1]

मन्त्रपरिमाण का तात्पर्य—मन्त्रपरिमाणज्ञापक वचनों पर विचार करने से पहले यह जानना आवश्यक होता है कि यह परिमाण किस संहिता से संबद्ध है, तथा गणना की पद्धति का स्वरूप कैसा है? वैदिकमन्त्र-गणना में कई विषयों पर ध्यान रखना पड़ता है, यथा—ऋग्वेदसंहिता की मन्त्रगणना में द्विपदा मन्त्रों की गणना-पद्धति का स्वरूप ज्ञातव्य होता है। उसी प्रकार अर्धर्च आदि की गणना किस रूप से गणनाकार ने की है, यह भी है लक्षणीय होता है। एक ही मन्त्र एक ही संहिता में कभी कभी पुनरावृत्त (अविकल रूप से या ईषत् पाठान्तर के साथ) होता है, अतः गणनाकाल में वह मन्त्र किस रूप से गिना गया है—यह भी विचार्य है।

पुराणोक्त शाखापरिमाण—यह निश्चित है कि वेदमन्त्रपरिमाणज्ञापक यह अंश पुराणों का कोई मुख्य विषय नहीं है; वस्तुतः यह प्रकरण चरणव्यूह-अनुवाकानुक्रमणी-सदृश किसी ग्रन्थ से प्रासंगिक रूप से ले लिया गया है। यह विषय मुख्यतः वायु० ६१।६१-७३ और ब्रह्माण्ड० १।३४।७०-८२ में मिलता है। विष्णु०, मार्क०, मत्स्य० आदि प्राचीन पुराणों में यह विषय उल्लिखित नहीं हुआ है। अग्निपुराण (२७१ अ०) में यह विषय स्वल्परूप से मिलता है; अन्यान्य पुराणों में क्वचित् संकेतमात्र दिखाई पड़ता है।

---

१. आधुनिक काल के कतिपय विद्वान् भी मन्त्रपरिमाण पर विचार या निर्देश कर चुके हैं। इन ग्रन्थकारों में श्री सत्यव्रत सामश्रमी (ऐतरेयालोचन, पृ० १४२-१४३), मैक्समुलर (तत्संपादित ऋग्वेद), स्वामी दयानन्द सरस्वती (ऋग्वेद-भाष्य का उपोद्घात), मेकडोनल (ऋक्सर्वानुक्रमणी की भूमिका, पृ० १७-१८), पण्डित हरिप्रसाद (वेदसर्वस्व, पृ० ६५-६८), श्री युधिष्ठिर मीमांसक (ऋग्वेद की ऋक्संख्या), श्री भगवद्दत्त (वैदिक वाङ्मय का इतिहास ग्रन्थ में प्रत्येक वेद सम्बन्धी विचार में), पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ (वैदिक इतिहासार्थ निर्णय), रामगोविन्द त्रिवेदी (ऋग्वेद संस्करण) श्री रघुनन्दन शर्मा (वैदिक संपत्ति), श्रीपाद दामोदर सातवलेकर (तत्संपादित ऋग्वेद), श्री गोपाल हरि देशमुख (स्वाध्याय, मराठीभाषीय ग्रन्थ) आदि विद्वानों के नाम प्रमुख हैं। आधुनिक आलोचकों के मतों के विशद वर्णन के लिये स्वामी स्वतन्त्रानन्दकृत 'वेदों की इयत्ता' ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

इस विषय में जो श्लोक पुराणों में मिलते हैं, उनके पाठ पर्याप्त भ्रष्ट हो चुके हैं, और श्लोकों का अर्थ निश्चित करना असम्भव-सा प्रतीत होता है। चरणव्यूह, अनुवाकानुक्रमणी आदि में यद्यपि पुराणश्लोक-सदृश वचन मिलते हैं, तथापि सबके पाठों में इतनी विभिन्नता है कि किसी भी पाठ या अर्थ का अन्तिम निर्णय करना सम्भव नहीं होता।

यह भी ज्ञातव्य है कि यतः पुराणश्लोकों में विवक्षित संहिता का नाम सर्वत्र नहीं लिया गया है, अतः 'अमुक मन्त्रपरिमाण अमुक शाखा का है'—यह निश्चय-पूर्वक सर्वत्र नहीं कहा जा सकता। एक ही वेद में शाखा-भेद से मन्त्रसंख्या में भेद होता है, यह प्रसिद्ध है (शाकलबाष्कल शाखा के मन्त्रपरिमाण के भेद के विषय में महिदास आदि के मत द्रष्टव्य हैं, द्र० चरणव्यूह का ऋग्वेद प्रकरण) और इसी-लिये शौनकादि ने शाखानामोल्लेख-पूर्वक मन्त्रगणना भी की है (द्र० अनुवाका-नुक्रमणी ४५ वाँ श्लोक)।

प्रसंगतः यह भी जानना चाहिए कि संस्कृतभाषा के संख्यावाची शब्दों का अर्थ कुछ स्थलों में अनिश्चित होता है। सप्त सप्त का अर्थ ७+७=१४ भी होता है और कभी कभी ७×७=४९ भी होता है। एकशतम् का अर्थ १०० भी होता है, १०१ भी। कभी कभी पूर्वोपात्त संख्या-शब्द की अनुवृत्ति भी उत्तरस्थ संख्या में होती है (द्र० ऋग्वेदीय छन्दःसंख्या परिशिष्ट, ६ श्लोक; यहाँ 'तथा' पद से पूर्वोक्त दश संख्या की अनुवृत्ति मानी गई है, पर तत्संलग्न सप्तसंख्या की पुनः अनुवृत्ति नहीं मानी गई)। अष्टसहस्र शब्द का अर्थ अनेकत्र ८००० है, पर कहीं कहीं ८+१००० =१००८ भी माना गया है (कूर्म० १।१२।६१)।[२]

लक्षश्लोकात्मक वेद—अग्नि० २७१।१ में चारों वेदों का परिमाण 'लक्ष' कहा गया है (ऋगथर्व तथा सामयजुः संख्या तु लक्षकम्)।[३] यह मत चरणव्यूह में भी मिलता है "लक्षं तु चतुरो वेदाः (पृ० ५०)। टीकाकार महिदास ने इस पर कुछ भी नहीं कहा है, अतः इस मत की उपपत्ति चिन्तनीय है। विष्णु० ३।४।१ में आद्य चतुष्पात् वेद को 'शतसाहस्रसंमित' कहा गया है, इसका तात्पर्य 'लक्ष' ही होता है। वायु० ६०।७ में 'शतसाहस्रसंज्ञित' पाठ है, इसका अभिप्राय भी 'लक्ष' से ही है।

---

२. संख्याशब्दों की समस्याओं के विषय में विशद आलोचना के लिये द्रष्टव्य मेरा लेख—'संस्कृतसाहित्य में संख्याशब्दप्रयोग' (राष्ट्रवाणी १०।८)।

३. ऋगथर्व तथा साम-इस वाक्य में कुछ पाठभ्रष्टता ज्ञात होती है। 'अथर्व' यह शब्द नान्त अथर्वन् (नपुंसकलिंग) का प्रथमान्त रूप है, क्या ऐसा मानना होगा ?

वेद के इस परिमाण का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। किस दृष्टि के अनुसार यह गणना की गई है—यह अज्ञात है। इस विषय में वैदिक सम्प्रदाय में यह प्रसिद्धि है कि वेद के एक लक्ष मन्त्रों में अशीतिसहस्र (८००००) मन्त्र कर्मकाण्डपरक हैं, षोडश सहस्र (१६०००) मन्त्र उपासनापरक हैं और चतुः सहस्र (४०००) मन्त्र आत्मज्ञानपरक हैं। यद्यपि यह मत सुप्रचलित है, पर किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में यह मत दृष्ट नहीं होता। सम्भवतः वेदान्तर्गत मन्त्रों की अपरिमितता को लक्ष्य कर ऐसा कहा गया हो। वेदगत ऋगादि मन्त्रों के परिमाण के विषय में शतपथ० १०।४।२।२२-२५ में जो निर्देश है, वह भी इस गणना के अनुसार नहीं है। ऋक्सर्वानुक्रमणी १।१९ के वृत्तिकार षड्गुरुशिष्य ने शौनककृत आर्षानुक्रमणी का वाक्य (ऋचस्तु पञ्चलक्षाः स्युः.....) उद्धृत किया है। बृहद्देवता ३।१३० में भी अनेक लुप्त ऋग्वेदीय मन्त्रों का संकेत है, परन्तु ऐसा मानने पर भी एक लक्ष परिमाण की उपपत्ति नहीं होती। इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि सूत्रग्रन्थों में अनेक ऐसे मन्त्र पठित हैं, जो संहिता-ग्रन्थों में नहीं मिलते[४]। ऐसे मन्त्रों को मिलाकर लक्षसंख्या की पूर्ति हो सकती है या नहीं, यह अन्वेषणीय है।

ऋग्वेदीय-मन्त्रपरिमाण—वायु० ६१।६१-६२, ब्रह्माण्ड० १।३५।७०-७१ में इस विषय से संबन्धित विशद सामग्री मिलती है, यद्यपि पाठभ्रष्टता के कारण अन्तिम निर्णय करना सम्भव नहीं है।

इन श्लोकों में किस ऋग्वेदीय शाखा के मन्त्र -परिमाण का उल्लेख है—यह स्पष्ट नहीं है। पर इस गणना में 'बालखिल्य', 'प्रैष' और 'सौपर्ण' (वायु० का सावर्ण पाठ भ्रष्ट है) के मन्त्रों का अन्तर्भाव है, यह स्पष्ट है। वायु० के 'सप्रैषाः' के स्थान पर ब्रह्माण्ड० में 'सप्तैताः' पाठ है, परन्तु यह अशुद्ध प्रतीत होता है। वायु० के वेंकट संस्क० पाठ (१।१६।६२) से भी 'प्रैष' पाठ ही अनुमित होता है (यह श्लोक भी ईषत् भ्रष्ट है)।

'बालखिल्य सूक्त' के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें हैं। सायण-भाष्य मूलतः 'शैशिरीया शाखा' पर है। बालखिल्य सूक्त उसमें गिना नहीं जाता। आश्वलायनी शाखा में बालखिल्य सूक्त पठित होता है, ऐसा कहा जाता है। बालखिल्य में ११ सूक्त (८० मन्त्र) हैं। ऐ० आ० ६।२४ के भाष्य में सायण ने बालखिल्य

---

४. इस विषय में श्री सामश्रमी का यह वाक्य द्रष्टव्य है—"कल्पित-श्रुतयोऽपि सन्ति....." (त्रयीपरिचय, पृ० ९)। जो मन्त्र केवल श्रौतसूत्रों में उपलब्ध होते हैं, वे 'श्रौतमन्त्र' कहलाते हैं।

का परिचय दिया है। छन्दःसंख्यापरिशिष्ट की ऋग्गणना में भी बालखिल्यों का समावेश नहीं हुआ है। सम्भवतः छन्दःसंख्यापरिशिष्ट शैशिरिशाखा से सम्बन्ध रखता हो। ऋक्सर्वानुक्रमणी के एक पाठ में बालखिल्य ऋचाओं के ऋषि-देवता छन्द का निर्देश मिलता है, परन्तु दूसरे पाठ में ऐसा निर्देश नहीं मिलता (ऋग्वेद की ऋक्संख्या पृ० ११ की टिप्पणी)। चरणव्यूह के टीकाकार महिदास ने बालखिल्य-सहित ऋक्संख्या और बालखिल्य-रहित ऋक्संख्या की पृथक्-पृथक् गणना की है (पृ० १७)। शाङ्खायनसंहिता में भी बालखिल्यों का अन्तर्भाव है—यह पूर्वाचार्यों ने कहा है। ऋग्वेद की 'खिलभूमिका' में बालखिल्य के विषय में विशद विचार किया गया है (वैदिक संशोधनमण्डल संस्क०, पूना; पृ० ९०४ विशेषतः द्रष्टव्य)।

इस गणना में 'प्रैष' मन्त्र का भी अन्तर्भाव है। ऋग्वेद में 'प्रैष'[५] मन्त्र कौन है, यह चिन्तनीय है। ऋग्वेद के परिशिष्टों में एक 'प्रैषाध्याय' मिलता है (वैदिक संशोधन मण्डल से प्रकाशित ऋग्वेद का चतुर्थ खण्ड, पृ० ९८३)। वस्तुतः यहाँ प्रैष का क्या अभिप्राय है—यह अज्ञात है।

'सौपर्ण' मन्त्र का तात्पर्य भी अस्पष्ट है। ऋग्वेद का ८।५९ सुपर्णसूक्त है। बृहद्देवता ३।११९ में सौपर्ण सूक्त का निर्देश है, ऐसा प्रतीत होता है। पुराणों में सौपर्णसूक्त का विशेषरूप से उल्लेख करने का अभिप्राय अज्ञात है तथा यह भी अस्पष्ट है कि यहाँ कौन मन्त्र विवक्षित है।[६]

उपर्युक्त श्लोकों में जिस मन्त्र-परिमाण का उल्लेख किया गया है उसके अर्थ पर विचार किया जा रहा है। श्लोकों में उक्त परिमाण[७] यह है—८००० + ६००

---

५. 'प्रैष'का सम्बन्ध यजुर्वेद से है, संभवतः ऋग्वेद की किसी किसी शाखा में प्रेषमन्त्रों का अन्तर्भाव था। यही कारण है कि ऋग्वेदीय आश्वलायन श्रौतसूत्र ५।४।३ में प्रैषमन्त्र का प्रसंग है। बृहद्देवता ३।३६ में भी प्रैषसूक्त निर्दिष्ट हुआ है। वाररुचनिरुक्तसमुच्चय पृ० ६१ में कहा गया है—"एकत्रिंशद्विधं मन्त्रं यो वेत्त्यृक्षु स मन्त्रवित्"। इससे सूचित होता है कि ऋग्वेद में ३१ प्रकार के मन्त्र हैं। 'प्रैष'मन्त्र प्रथम प्रकार का है। निश्चित ही ऋग्वेद की किसी शाखा में प्रैषमन्त्र अन्तर्भूत था—यह इससे सिद्ध होता है।

६. बृहद्देवता ३।११९ में 'सौपर्णेय ऋक्' निर्दिष्ट हुआ है। शान्ति० ३४८।२०-२२ की व्याख्या में नीलकण्ठ ने सौपर्णमन्त्र का उल्लेख किया हैं।

७. सहस्राणि ऋचामष्टौ षट्शतानि तथैव च।
एताः पञ्चदशान्याश्च दशान्या दशभिस्तथा।

+१५+१०+१०=८६३५। यह भी हो सकता है कि यहाँ जो "दशान्या दशभिः" कहा गया है उसका अर्थ १०×१०=१०० अभिप्रेत हो और तब मन्त्रपरिमाण ८७१५ होगा।

यह गणना किस शाखा के मन्त्रों की है—पुराणों में इसका कोई निश्चित संकेत नहीं मिलता। यह आश्चर्य का विषय है कि प्राचीन और अर्वाचीन जिन विद्वानों ने ऋग्गणना की है, उनकी किसी भी गणना से यह गणना अणुमात्र भी नहीं मिलती। इस गणना के पाठान्तर भी ऐसे नहीं मिलते हैं जिनसे अन्य परिमाणों के होने की सम्भावना हो। इसमें एक ही सम्भावना यह प्रतीत होती है कि इस गणना में एकाधिक स्थान में आया हुआ एक ही मन्त्र (स्वल्प पाठान्तर के रहने पर भी) एक बार ही गिना गया हो, जिससे मन्त्रसंख्या दशसहस्र से भी कम हो गई हो। इतना होने पर भी जब तक उस शाखा का नाम न ज्ञात हो जाए (जिससे यह गणना सम्बन्धित है), तब तक यह निर्णय नितरां सन्दिग्ध है। ऋग्वेद की सभी शाखाओं के मन्त्रों का परिमाण (पूर्वोक्त पद्धति के अनुसार) इन श्लोकों में कथित हुआ है-ऐसा भी सहसा नहीं कहा जा सकता। कुछ भी हो, इस संख्या की उपपत्ति चिन्त्य है।

ऋग्वेद-मन्त्रों की एक अन्य गणना भी मिलती है। शान्ति० २४६।१४ में कहा गया है—"दशेदम् ऋक्सहस्राणि मथित्वा"। यहाँ नीलकण्ठ कहते हैं—"दश किञ्चिदधिकानि ऋक्सहस्राणि"; और इसके बाद "तथा चोक्तं शाकलके" कहकर उन्होंने "ऋचां दश सहस्राणि...तत् पारायणमुच्यते" श्लोक उद्धृत किया है।

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि ब्रह्मपुराण में शान्ति० का २४६ वाँ अध्याय प्रायेण अविकल रूप से मिलता है (२३६ अ०) और यहाँ मुद्रित पाठ है—"दश वर्षसहस्राणि मथित्वा..."। स्पष्टतः यह पाठ भ्रष्ट है। इस श्लोक के जो पाठान्तर दिए गए हैं, उनसे भी शान्तिपर्वस्थ श्लोक का अनुमान किया जा सकता है।

इस गणना में ऋग्वेदीय मन्त्रपरिमाण पर विशद प्रकाश पड़ता है। पहले ही यह वक्तव्य है कि श्लोकस्थ दशसहस्र का अभिप्राय 'कुछ अधिक दशसहस्र' हो सकता है, जैसा कि पूर्वाचार्यों के शब्दव्यवहार से ज्ञात होता है।[८] दूसरी बात यह है कि नीलकण्ठ ने यहाँ "शाकलके" कहा है, अर्थात् यह वचन शाकलक (=शाकलशा-

---

बालखिल्याः सह प्रैषाः ससावर्णाः प्रकीर्तिताः॥ (वायु० ६१। ६१-६२)
सहस्राणि ऋचां चाष्टौ षट् शतानि तथैव च।
सबालखिल्याः सप्तैताः ससुपर्णाः। प्रकीर्तिताः॥ ब्रह्माण्ड०१।३५।७०-७१

८. निरुक्तसमुच्चय में सौ ऋचाओं की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा है (पृ० ८२) पर व्याख्यात मन्त्रों की प्रकृत संख्या १०२ है। भास्कररायकृत ललिता

खासम्बन्धी किसी ग्रन्थ) में है।[९] यह श्लोक शौनककृत अनुवाकानुक्रमणी (४३) में मिलता है। यह ग्रन्थ शाकलशाखा से सम्बन्ध रखता है, यह नवम श्लोक से ज्ञात होता है। नीलकण्ठोद्धृत पाठ में "पादैश्च" है, पर अनुवाकानुक्रमणी में "पादश्च" है; उसी प्रकार नीलकण्ठोद्धृत पाठ में "तत् पारायणमुच्यते" है,[१०] जबकि अनुक्रमणी में "पारणं संप्रकीर्तितम्" है,यद्यपि अर्थ में सर्वथा ऐक्य है।देवीपुराण १०७।१७ में भी यह श्लोक है (उत्तरार्द्ध में "मानमशीतिपादश्च तत्र पारण-मुच्यते" पाठ है)।

इस गणना के विषय में कुछ ज्ञातव्य हैं। सर्व प्रथम ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त एक पाद "भद्रं नो अपि वातय मनः" है, जो शाकलसंहिता में है (१०।२०।१)[११]। शौनक ने अनुवाकानुक्रमणी के अन्त में ऋग्वेद की ऋचाओं का अक्षरपरिमाण ४३२००० कहा है। यह अक्षरपरिमाण पूर्वोक्त मन्त्रगणना के अनुसार नहीं हो सकता, इसका विशदीकरण श्री युधिष्ठिर मीमांसक जी ने किया है (द्र० ऋग्वेद की ऋक्संख्या पृ० २)। यह गणना किस पद्धति से की गई है—यह इस श्लोक के पारण या पारायण शब्द से स्पष्ट हो जाता है। यह परिमाण ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में विद्यमान ऋचाओं का है। लौगाक्षिस्मृति के वचन (सर्वशाखोक्त) से यह तात्पर्य निर्गलित होता है (द्र० ऋग्वेद की ऋक्संख्या, पृ० ७)।

आचार्य महिदास ने भी १०५८० और १ पाद की उपपत्ति की है (द्र० चरण-व्यूह टीका पृ० २१-२२)। इस गणना में महिदास ने द्विपदा (७०) और संज्ञानसूक्त की १५ ऋचाओं को जोड़ा है। महिदास की यह पद्धति परीक्षणीय है, महिदास ने यहाँ अर्धर्चों की भी गणना की है।

अग्नि० २७१।२ में ऋग्वेद-परिमाण के प्रसंग में "शतानि दश मन्त्राणाम्"

सहस्रनाम-भाष्य (पृ० ९५) में '५१ संख्या से ५२ संख्या का तथा ५० संख्या से ५१ संख्या का ग्रहण' किया गया है।

९. शाकल्योच्चारणं शाकलकम् (ऋक्सर्वानुक्रमणीवृत्ति का आरम्भ)।

१०. देवीपुराण के इस अध्याय पर वैदिक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए। इसका लिपज़ीग संस्करण इस प्रसंग में दर्शनीय है।

११. यह संख्या सायणव्याख्यात शाकल शाखा (या शैशिरीया शाखा) के अनुसार है। सायण के अनुसार इस सूक्त में और भी अन्य मन्त्र हैं, परन्तु उद्गीथ कृत व्याख्या में विश सूक्त में केवल यही एक मन्त्र है (उद्गीथ कृत ऋग्वेद भाष्य, पृ० ५३ की सम्पादकीय टि० द्र०)।

कहा गया है। यहाँ विवक्षित संख्या १०० × १०=१००० होगी, परन्तु यह गणना अलीक है। सम्भवतः यहाँ प्रकृत पाठ "शतं शतानि मन्त्राणाम्" (या ऐसा अन्य कोई पाठ) होगा जिससे १०० × १००=१०००० मन्त्रपरिमाण होगा, जो शान्तिपर्वस्थ पूर्वोक्त श्लोक (२४६।१६) के अनुसार ही है। अग्नि० में इसी स्थल पर "ब्राह्मणं द्विसहस्रकम" कहा गया है, जिसका अर्थ होगा-ऋग्वेदीय ब्राह्मणों का परिमाण २००० श्लोक है। यह गणना किस रूप से की गई है—यह अज्ञात है। सम्भवतःयहाँ श्लोक का पाठ पूर्णतः भ्रष्ट है। अन्यान्य ग्रन्थों में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

यजुर्वेदीय मन्त्रपरिमाण—यजुर्वेदीय मन्त्रपरिमाण में कई विषय विचार्य होते हैं। ब्राह्मणमिश्रित कृष्णयजुः संहिता और ब्राह्मणहीन शुक्लयजुः संहिता का भेदज्ञानपूर्वक ही मन्त्रपरिमाण पर विचार करना चाहिए। पुनश्च मन्त्रों में भी ऋक्‌यजुः रूपद्विविध भेद उपलब्ध होता है। अतः यजुर्वेदीय मन्त्रपरिमाण सदैव ऋग्यजु-भेदपूर्वक ही भाषित होना चाहिए। किंच—जिस प्रकार ऋङ्मन्त्र निश्चितपरिमाणयुक्त होता है, याजुषमन्त्र उस प्रकार नहीं हैं, अर्थात् एक ही यजुर्मन्त्र (जिसको प्रायः कण्डिका कहा जाता है) में एकाधिक मन्त्र होते हैं और दृष्टिभेद के अनुसार कण्डिकान्तर्गत मन्त्रों की संख्या भी भिन्न भिन्न होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यजुर्वेदीय मन्त्रपरिमाण-सम्बन्धी विचार अत्यन्त दुरूह है और जब तक यह न ज्ञात हो जाए कि मन्त्रगणनाकार ने किस शाखा के विषय में किस दृष्टि से गणना की है, तब तक पुराणोक्त मन्त्रपरिमाणज्ञापक संख्या (चाहे उसका कोई भी अर्थ क्यों न किया जाए) का सार्थक्य नहीं दिखाया जा सकता। पाठभ्रष्टता भी इस असामर्थ्य का एक कारण है, यह ज्ञातव्य है।

शुक्लयजुर्वेदीय संहिता का परिमाण चरणव्यूह और पुराणों के अतिरिक्त प्रतिज्ञापरिशिष्टसूत्र (चतुर्थखण्ड), वासिष्ठी शिक्षा और माध्यन्दिनी शिक्षा में कहा गया है। इन ग्रन्थों के सन्दर्भों से पुराण और चरणव्यूह के पाठ अंशतः मिलते हैं, पर कहीं भी अन्तिम निर्णय कर सकना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

पुराणोक्त परिमाण का तात्पर्य—ऋग्वेद-परिमाण कहने के बाद याजुषमन्त्र-परिमाण का प्रसंग किया गया है। पुराणों में "द्वादशैव सहस्राणि छन्दः आध्वर्यवं स्मृतम्" कहा गया है (वायु० ६१।६४, ब्रह्माण्ड १।३५।७२) अर्थात् आध्वर्यव=यजुर्वेदीय छन्दः का परिमाण द्वादशसहस्र है। यहाँ चूंकि शाखा का नाम नहीं कहा गया इसलिये यह परिमाण किस दृष्टि से भाषित हुआ है, यह अनिर्णीत है। यहाँ जो 'छन्दः' पद है, उसका अर्थ 'मन्त्र' है; इससे 'याजुष मन्त्र

की छन्दोवत्ता पुराणानुमोदित हैं[१२], यह ज्ञात होता है। चरणव्यूह में अष्टादश या अष्टशत यजुः-सहस्र-परिमाण (तैत्तिरीयशाखाविचार में) कहा गया है, पर द्वादशसहस्र-परिमाण का उल्लेख नहीं मिलता। हो सकता है कि यहाँ का पाठ भ्रष्ट हो गया हो।

अष्टादश यजुः सहस्रपरिमाण पर तै० संहिता की (स्वाध्याय-मण्डल से प्रकाशित) भूमिका (पृ० ३१) में विचार किया गया है। मैत्रायणी संहिता (स्वाध्याय-मण्डल प्रकाशित) की भूमिका में (पृ० १२) द्वादशसहस्रपरिमाण का उल्लेख है, परन्तु उसकी कोई उपपत्ति नहीं की गई है। यहाँ जो श्लोक उद्धृत हैं, उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता अज्ञात है[१३]। अतः इस पर विचार कर कुछ निर्णय करना अशक्य है। काठकसंहिता-भूमिका (स्वाध्यायमण्डलसंस्क० पृ० १२) में मन्त्रब्राह्मणगत यजुः का १८००० परिमाण किस प्रकार उत्पन्न होता है—यह दिखाया गया है। इस श्लोक का उत्तरार्द्ध "यजुषां ब्राह्मणानां च तथा व्यासो व्यकल्पयत्" है। इसका अर्थ अस्पष्ट है। क्या इसका यह अर्थ है कि यजुर्वेद के मन्त्रब्राह्मण का समग्र परिमाण द्वादशसहस्रश्लोक है, अथवा मन्त्रों की तरह याजुष ब्राह्मणों का परिमाण भी द्वादश सहस्र है? मैत्रायणीसंहिता की भूमिका के अनुसार इसका अर्थ होगा—कृष्णयजुर्वेदाम्नाय के संहिताब्राह्मणगत यजुर्मन्त्र १८००० हैं। इस दृष्टि से यदि पुराण के "द्वादशैव सहस्राणि" के स्थान पर "अष्टादशसहस्राणि" पाठ कर दिया जाए, तो वह असमीचीन नहीं कहा जा सकता।

वायु० ६१।६६-६८ और ब्रह्माण्ड० १।३५।७५-७७ में यजुर्वेदपरिमाणसम्बन्धी कुछ विशिष्ट उल्लेख मिलते हैं। पहले ही यह जानना चाहिए कि इन श्लोकों के पहले जो "ऋग्ब्राह्मणयजुःस्मृतम्" कहा गया है, उसके साथ इन श्लोकों का सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता; वस्तुतः "ऋग्ब्राह्मणयजुः स्मृतम्" का विवक्षित अर्थ भी अज्ञात है। यह भी द्रष्टव्य है कि वायु० ६१।६६ और ब्रह्माण्ड० १।३५।७५ में "तथा हारिद्रवीयाणां" इत्यादि जो कहा गया है, इसमें 'तथा' पद का स्वारस्य भी चिन्त्य है।

'खिल' का अर्थ है—"परशाखीयम् अपेक्षावशात् स्वशाखायां पठयते" (शान्ति०

---

१२. स्वाध्यायमण्डल से प्रकाशित तै० संहिता भूमिका, पृ० १९-२० में याजुष छन्द पर विचार किया गया है।

१३. ये श्लोक अष्टावक्रकारिकान्तर्गत हैं, यह भूमिकालेखक ने कहा है। अष्टावक्रकारिका एक अप्रसिद्ध ग्रन्थ है। वैदिक ग्रन्थों की प्रचलित टीकाओं में इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता।

३।१८।१०, नीलकण्ठ-टीका)। यहाँ हारिद्रवों के खिल का अभिप्राय क्या है—यह अज्ञात है। कहीं कहीं हारिद्रवों के अवान्तर विभागों का उल्लेख मिलता है। परन्तु ये खिलपदवाच्य हैं या नहीं यह चिन्त्य है। माध्यन्दिनसंहिता के षड्विंश अध्यायोक्त मन्त्र भी 'खिल' कहलाता है।

'उपखिल' का अर्थ अज्ञात है। खिलवत् कोई अंश उपखिल हो सकता है।

तैत्तिरीय शाखा के 'परक्षुद्र' अंश का अभिप्राय भी अस्पष्ट है।

वायु० ६१।६७, ब्रह्माण्ड० १।३५।७६ में वाजसनेयक वेद का परिमाण दिया गया है। पहले 'वाजसनेयक वेद' का अभिप्राय स्पष्टतः जानना चाहिए। वाजसनेय द्वारा प्रणीत शुक्लयजुः संहिता का नाम 'वाजसनेयी संहिता' है। इनके कण्व-मध्यन्दिन आदि १५ शिष्य भी शुक्लयजुः संहिताकार हो चुके हैं; अतः इनकी संहिताएँ भी 'वाजसनेयी संहिता' ही हैं, परन्तु उनके साथ 'माध्यन्दिन' 'काण्व' आदि विशेषण भी युक्त रहते हैं। इन १५ वाजसनेयवेदसंहिताओं में भी मन्त्रसंख्याओं में कुछ न कुछ पार्थक्य है (यथा काण्वयजुः की मन्त्रसंख्या २०८६ है और माध्यन्दिन यजुः की मन्त्रसंख्या १९७५ है, द्र० काण्वसंहिता का आनन्दवनसंस्करण तथा अनुवाकसूत्राध्याय)। उसी प्रकार काण्वसंहिता में ३२८ अनुवाक हैं और माध्यन्दिन में ३०३ हैं (अन्य वाजसनेयसंहिताएँ इस समय अप्राप्य है)।[१४]

वायु०६१।६७, ब्रह्माण्ड० १।२५।२६ में कहा गया है—"द्वे सहस्रे शते न्यूने (शतन्यून्ये, ब्रह्माण्ड० पाठ) वेदे वाजसनेयके"। यहाँ वाजसनेयक वेद का परिमाण २०००-१००=१९०० कहा गया है। यह परिमाण वाजसनेयक वेद के ऋङ्मन्त्रों का ही परिमाण है, ऐसा यहाँ कहा गया है। वाजसनेयक वेद का ब्राह्मण (शतपथ) इस परिमाण का चतुर्गुण अधिक है, यह "ब्राह्मणं तु चतुर्गुणम्" वाक्य से स्पष्ट है।

चरणव्यूह द्वितीयखण्ड में इस प्रकार का एक मन्त्र है—"द्वे सहस्रे शते न्यूने मन्त्रे वाजसनेयके। ऋग्गणः परिसंख्यातंत तोऽन्यानि यजूंषि च॥"(यहाँ का पाठ ईषत् भ्रष्ट है)। महिदासीय टीका पृ० ३९ में भी यह श्लोक उद्धृत है, जिसका अन्तिम चरण है—"एतत् सर्वं सशुक्रियम्"। टीकाकार के अनुसार मन्त्रपरिमाण १९०० है, जिसमें शुक्रिय मन्त्र (३६ अध्यायगत २४ मन्त्र सहित) भी हैं। अग्नि० २७१।३-४ में यजु-

---

१४. यह ज्ञातव्य है कि १५ शुक्लयजुः शाखाएँ 'वाजसनेयी' हैं। जिसप्रकार माध्यन्दिन संहिता का विशेषण 'वाजसनेयी' दिया जाता है, उसी प्रकार काण्वसंहिता के लिये भी देना चाहिए। कभी कभी माध्यन्दिनसंहिता के लिये केवल वाजसनेयी संहिता लिखा जाता है, जो असमीचीन है। यजुर्वेदशाखा के वर्णन में यह विषय विवृत होगा।

मन्त्र का परिमाण कहा गया है। तृतीय श्लोक का अर्थ स्पष्ट है, जिससे १९०० मन्त्रपरिमाण ज्ञात होता है; परन्तु चतुर्थ श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ अस्पष्ट है। यहाँ 'विप्राणां' का स्वारस्य चिन्त्य है। हो सकता है कि यहाँ "मन्त्राणां' पाठ हो, पर तब भी वाक्य का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता। श्लोक का प्रतीयमान अर्थ है—'शाखागत मन्त्रों का परिमाण १०८६ है;' पर इसकी उपपत्ति चिन्तनीय है।

देवीपुराण १७०।३३ में जाबालादि शुक्लयाजुष-शाखाओं की गणना कर चरणव्यूहवत् 'द्वे सहस्रे' श्लोक पढ़ा गया है।

चरणव्यूह (पृ० ३९) टीका में यह श्लोक मिलता है। इसके अन्तिम चरण का पाठ है "एतत् सर्व सशुक्रियमम्"[१५] अर्थात् द्वे सहस्रे' आदि श्लोकोक्त गणना (१९०० परिमाण) शुक्रिय मन्त्रों को लेकर की गई है। शुक्रिय=वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता का ३६–४० अध्याय पर्यन्त अंश। यहाँ टीका में ऋक्संख्या १९२५ (पञ्चविंशत्युत्तरैकोनविंशतिः) भी कही गई है, जिसका अभिप्राय चिन्त्य है।

वायु० ६१।६८, ब्रह्माण्ड० १।३५।७७ में भी यजुर्वेदीय मन्त्र-परिमाण का प्रसंग है। इस श्लोक के अन्तिम चरण में कहा गया है कि याज्ञवल्क्यकृत वेद का यह परिमाण शुक्रिय और खिल के साथ है। यह याज्ञवल्क्यकृत मूल शुक्लयजुः संहिता (मूल वाजसनेयी संहिता) को लक्ष्य कर कहा गया है, यह स्पष्ट है। देवी-पुराण १०७।३४ में भी यह श्लोक है, पर यहाँ पाठ में पर्याप्त अन्तर है और यह पाठविभिन्नता अर्थनिर्णय में बाधिका ही है।

चरणव्यूह (पृ० ३१) में यह श्लोक है। दोनों के पाठों में परस्पर भेद है और अन्तिम चरण का पाठ है—"सबालखिल्यं सशुक्रियं ब्राह्मणं च चतुर्गुणम्।" पुरा-णोक्त 'खिल' का अर्थ है 'अग्निश्च.....इत्यादि २६ वाँ अध्यायगत मन्त्र' (टीका पृ० ३९) और मन्त्रपरिमाण है—८८२८ यजुः। यहाँ जो 'ब्राह्मणं च चतुर्गुणम्' कहा गया है, इसका अर्थ है—शतपथ ब्राह्मण इस परिमाण का चतुर्गुण है।[१६] यहाँ यह भी

---

१५. 'खिल' और 'शुक्रिय' का परिचय अनुवाकसूत्राध्याय के अन्त में दिया गया है। तदनुसार माध्यनिन्दसंहिता के २६-३५ अध्याय खिल हैं, जिनमें ३५ अनुवाक हैं और ३६-४० अध्याय शुक्रिय हैं, जिनमें ११ अनुवाक हैं। शुक्रिय-स्वरूप-सम्बन्धी मतभेद का कारण गवेषणीय है।

१६. "ब्राह्मणं च चतुर्गुणं" वाक्य अस्पष्टार्थक है। १५ वाजसनेयी संहिताओं में प्रत्येक का पृथक् पृथक् शतपथ है। आज भी काण्वशतपथ और माध्यन्दिन शतपथ मिलते हैं। यह ज्ञात होता है कि शंकराचार्य के काल में जाबाल आदि किसी अन्य वाजसनेयशाखा का ब्राह्मण (वह भी शतपथ पदवाच्य ही होगा,

द्रष्टव्य है कि "ब्राह्मणं च चतुर्गुणम्' पाठ पुराणों में "द्वे सहस्रे..." श्लोक के साथ है और चरणव्यूह में "अष्टौ शतानि" श्लोक (यह पुराण में भी है) के साथ है।

चरणव्यूहोक्त पाठ में 'सबालखिल्यं' पाठ है। यह पाठ भ्रष्ट है, क्योंकि महिदासीय टीका में बालखिल्यसम्बन्धी व्याख्यान उपलब्ध नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ 'सखिलम्' पाठ ही भ्रष्ट होकर 'बालखिल्यं' हो गया है।

इस श्लोक के तृतीय चरण में "एतत् प्रमाणं यजुषामृचां च" कहा गया है। इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि ऋङ्मन्त्र और यजुर्मन्त्रों को मिलाकर ८०००+८०० +८०+१ पाद रूप परिमाण कहा गया है। इसमें 'शुक्रिय' और 'खिल' भी सम्मिलित हैं। पर यह परिमाण कैसे उपपन्न होता है—यह अज्ञात है। स्वाध्यायमण्डल से प्रकाशित तै० संहिता-भूमिका (पृ० ३१) में यह श्लोक उद्धृत किया गया है; परन्तु इसकी उपपत्ति नहीं दिखाई गई है। प्रतिज्ञा-परिशिष्ट-सूत्र के चतुर्थ खण्ड में वाजसनेयों की मन्त्रसंख्या ८८८० कही गई है, जिसमें खिल और शुक्रिय दोनों ही हैं। इसमें यजुःमन्त्र के साथ ऋक्मन्त्र भी सम्मिलित हैं; यहाँ भी 'यजुषामृचां च" कहकर यह परिमाण स्वीकृत हुआ है।

साममन्त्रपरिमाण—सामवेदीय मन्त्रों के परिमाण के विषय में वायु-ब्रह्माण्ड० के इसी स्थल में कुछ निर्देश मिलते हैं। इस परिमाण के विषय में विचार करने से पहले यह ज्ञातव्य है कि साम शब्द का मूल अर्थ (वैदिक) गीति है, जो अभ्यास, विकार, विकर्षण, स्तोभ आदि से युक्त होती है। एक ऋक्मन्त्र (सामवेद में योनिभूत ऋक् मन्त्र हैं) के एकाधिक गान भी होते हैं (कौथुम शाखा के प्रथम मन्त्र "अग्न आयाहि वीतये" के एकाधिक गान हैं; द्रष्टव्य श्री सातवलेकर-सम्पादित ग्रामेगेयगानग्रन्थ का प्रथम मन्त्र)। 'साम' का आश्रय ऋक् मन्त्र है, इस दृष्टि से साम का लक्ष्य अर्थ ऋक्मन्त्र भी होता है,(क्वचित् ऐसा प्रयोग भी है)। ये गान कई प्रकार के होते हैं—इत्यादि विषय सामवेद प्रकरण में द्रष्टव्य हैं। सामवेद परिमाण का अर्थ है—सामशाखाविशेषगत मन्त्रों के गानों का परिमाण, न कि मन्त्रों

क्योंकि वाजसनेयक के मूल में याज्ञवल्क्यकृत एक मूल शतपथ है) भी ज्ञात था क्योंकि प्रश्न उपनिषद् (४।४।५) के भाष्य में शंकर ने 'वाजसनेयके' कह कर जो वाक्य (सधीः......) उद्धृत किया है, वह अविकल रूप से प्रचलित दोनों शतपथान्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषदों में नहीं मिलता। शंकर के विभिन्न भाष्यों में दोनों शतपथों के वचन उद्धृत हैं, अतः यह कोई तृतीय वाजसनेयक शतपथ है, यह अनुमान होता है।

का (यदि अन्यथा निर्देश न हो)—यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है। इस दृष्टि से 'सामवेद' शब्द के स्थान पर 'सामयोनिमन्त्रसंहिता' शब्द अधिक संगत है।

वायु० ६१।६३, ब्रह्माण्ड० १।३५।७१-७२ में "अष्टौ सामसहस्राणि सामानि च चतुर्दश" परिमाण कहा गया है। यह आरण्यगान और ऊहगान का परिमाण है। वायु० का 'सहोमं' पाठ भ्रष्ट है, प्रकृत पाठ 'सहोहं' होगा। ब्रह्माण्ड० का पाठ शुद्ध है। वायु० के 'आरण्यक' के स्थान पर ब्रह्माण्डवत् 'सारण्यकं' पाठ होगा। देवीपुराण १०७।४०-४१ में यह श्लोक है, पर यहाँ "अष्टौ सामसहस्राणि" के बाद "अष्टौ शतानि....." आदि श्लोक भी हैं, जिनमें 'बालखिल्य', 'सुपर्ण' और 'प्रैष्य' सामगण का उल्लेख है। यह पाठ भी कुछ भ्रष्ट प्रतीत होता है। चरणव्यूह (पृ० ४४) में "अष्टौ सामसहस्राणि.....ह्येतत् सामगणं स्मृतम्" श्लोक है। टीकाकार ने पृष्ठ ४४ में बालखिल्य आदि शब्दों का कोई तात्पर्य नहीं कहा, पर बाद में "इदानीम् सामसंख्यामाह" कहकर इन श्लोकों को किंचित् पाठभेद-सहित उद्धृत किया है। टीकाकार ने बालखिल्य और सुपर्णप्रेक्ष को 'सामशाखा-विशेष' कहा है और प्रत्येक का परिमाण स्पष्टतः दिखाया है। सामवेद में बाल-खिल्य मन्त्रों का संग्रह है, परन्तु बालखिल्यशाखा अन्यत्र स्मृत नहीं हुई है। संभवतः यहाँ टीका का पाठ भ्रष्ट हो गया है। सुपर्णप्रेक्षशाखा भी अन्यत्र अस्मृत है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इन श्लोकों में सामगान और सामशाखीय मन्त्रों के पृथक् पृथक् परिमाण कहे गए थे, परन्तु बाद में पाठ भ्रष्ट हो गया है।

वायु० ६१।६५-६६, ब्रह्माण्ड० १।३५।७३-७४ में इसके बाद "सग्राम्यारण्य-कम्" इत्यादि श्लोकों में सामगान का परिमाण कहा गया है। इस श्लोक से पहले याजुषछन्दःपरिमाण के विषय में कुछ कहा गया है (वायु० ६१।६४, ब्रह्माण्ड० १।३५।७२), अतः "सग्राम्यारण्यकम्" इत्यादि श्लोक में 'तत्' पद का अभिप्राय क्या है—यह स्पष्ट नहीं है; उसी प्रकार 'समन्त्रकरणं' का अभिप्राय भी स्पष्ट नहीं है। परवर्ती वाक्य (अतः परं.....) का अर्थ भी अस्पष्ट है। इसका लक्ष्य सामवेद का पूर्वार्चिक है, ऐसा ज्ञात होता है। इसके बाद जो "ग्राम्यारण्यं...." वाक्य कहा गया है, वह भी अस्पष्टार्थक है; पर ग्राम्य (ग्रामेगेय) और आरण्य (अरण्येगेय) गान का प्रसंग यहाँ है, यह स्पष्ट है।

अग्नि० २७१।७-८ में भी सामपरिमाण का प्रसङ्ग है। यहाँ कहा गया है—"मन्त्रा नवसहस्रकाः, स चतुःशतकाश्चैव ब्रह्मसंघट्टकाः स्मृताः, पञ्चविंशति-रेवात्र सामगानम्" अर्थात् ९०००+४००+२५=९४२५ साममन्त्र-परिमाण है। यह मन्त्रपरिमाण है, गान-परिमाण नहीं, यह यहाँ स्पष्टतः कहा गया है। यहाँ जो 'ब्रह्मसंघट्टकाः' पद है, उसका अर्थ चिन्त्य है। इसका अर्थ यदि 'मन्त्रसमुदाय'

किया जाए तो पुनः अन्त में 'सामगान' यह पद क्यों रखा गया है, ऐसा संशय हो सकता है।

सामगानपरिमाण का प्रसङ्ग अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है। शाबर भाष्य १०।५।२३ में सामगान (अङ्गरहस्य सहित) का परिमाण १००००+१४००= ११४०० कहा गया है। इसके बाद आग्नेय-पवमान-ऐन्द्रकाण्डस्थ सामगान के परिमाण (यथाक्रम १८०, ४००, २७) उक्त हुए हैं। इस प्रकार का एक पाठ चरणव्यूह में भी मिलता है (द्र० तृतीय परिच्छेद), जिसमें ८०१४ सामगान उल्लिखित हुए हैं। यह ऊह्य-रहस्य-गानपरिमाण सहित है। यह परिमाण किस सामशाखा का है, यह चरणव्यूह में कहा नहीं गया है।

अथर्ववेदपरिमाण—वायु-ब्रह्माण्ड० के उपर्युक्त स्थलों में अर्थववेद की कुछ शाखाओं के परिमाण के विषय में निर्देश मिलते हैं। वायु० ६१।६९ में चारणवैद्य-संहिता (मुद्रित पाठ 'चरणविद्या' है, वेंकट० में भी 'चरण-विद्या' पाठ है; ब्रह्माण्ड० १।३५।७८ में 'चारण-विद्या' पाठ है) का परिमाण दिया गया है। चारणवैद्य आथर्वणसंहिता है, यह ज्ञातव्य है (अथर्ववेदीय कौशिक सूक्त ६।३७ की केशव-कृत टीका तथा अथर्वपरिशिष्ट २२।२ में चारणवैद्य नाम मिलता है (वैदिक वाङमय का इतिहास भाग १, पृ० ३३६)।

वायु-ब्रह्माण्ड० के अनुसार यह परिमाण ६०२६ है। चारणवैद्यसंहिता वर्तमान काल में अनुपलब्ध है, अतः इस परिमाण की परीक्षा नहीं की जा सकती।

वायु० ६१।७० श्लोक के उत्तरार्ध का पाठ है "एतावदधिकं तेषां यजुः कामं विवक्ष्यति"। वेंकट० संस्क० का पाठ भी ऐसा ही है ('विवक्ष्यति' के स्थान में 'विवक्षति' है)। ब्रह्माण्ड० १।३५।७९ में "एतावदधिकं येषां यजुः किमपि वक्ष्यते" पाठ है। इन वाक्यों का न तो पूर्वापर-सम्बन्ध ही प्रतीत होता है और न कोई अर्थ ही ज्ञात होता है। हो सकता है कि "यजुः किमपि वक्ष्यते" पाठ ही साधु पाठ हो और इसके बाद जो "एकादश सहस्राणि दश चान्या दशोत्तराः" (ब्रह्माण्ड० १।३५ ७९ में 'ऋचश्चान्या दशोत्तराः पाठ है) कहा गया है, यह चारणवैद्यसंहितागत यजुर्मन्त्र-परिमाण का ज्ञापक हो। अन्य ग्रन्थों में चारणवैद्यसंहिता-परिमाण के विषय में कोई सामग्री नहीं मिलती है, अतः इस पर कुछ निर्णय नहीं किया जा सकता।

वायु-ब्रह्माण्ड० में इसके बाद के कुछ श्लोकों में अथर्ववेद के परिमाण के विषय में कई श्लोक मिलते हैं। इन श्लोकों पर विचार करने से पहले ही यह निश्चय करना होगा कि "एकादश सहस्राणि.." श्लोक का अन्वय इन श्लोकों के साथ किया जाएगा या नहीं। "अशीतित्रिशतानि" (वायु० ६१।७०) पाठ के स्थान में

ब्रह्माण्ड० १।३५।८० में "अशीति त्रिशत्" पाठ है। यतः यह अंश अन्यत्र नहीं मिलता, अतः प्रकृत पाठ का निर्धारण करना अशक्य है। 'अशीति त्रिशतानि' का अर्थ ८०+३०० होगा या ८०+३०० होगा, यह भी विचार्य है। इस परिमाण के विषय में "एतावद् भृगुविस्तारम्" कहा गया है (वायु० ६१।७१) अर्थात् यह परिमाण भृगु-सम्बन्धी अथर्ववेद का है। चूंकि आज ऐसा पृथक् अथर्ववेद नहीं मिलता, अतः परिमाणवाची शब्दों का अर्थनिर्णय भी दुष्कर ही है। ब्रह्माण्ड० में इस स्थल पर "एतावानृचि विस्तारः" पाठ है (१।३५।८१)। यह पाठ दुरवबोध है। यदि यहाँ "ऋचो विस्तारम्" ऐसा पाठ माना जाए (जिसमें छन्दोदोष होगा[१७]) तो भी उसका कोई अर्थ उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि इससे पहले के श्लोकों में ऋक्मन्त्रों का ही परिमाण कहा गया है।

इसके बाद ही "अन्यच्चार्थर्विकं बहु" कहा गया है (वायु० ६१।७१, ब्रह्माण्ड० १।३५।८१)। सम्भवतः पहले भृगुदृष्ट मन्त्रों का परिमाण कहा गया था और अब अथर्वदृष्ट मन्त्रों के विषय में कहा जा रहा है कि आर्थर्विक (=अथर्वदृष्ट मन्त्रजात) अनेक हैं। इससे यह भी ध्वनित होता है कि कभी भृगु और अथर्वा के रचे हुए मन्त्रों से युक्त कोई अथर्वसंहिता थी, जिस संहिता के मन्त्रों के परिमाण के विषय में ये श्लोक यहाँ कहे गए हैं।

"ऋचामथर्वणाम्" (वायु० ६१।७१, ब्रह्माण्ड० १।३५।८१) इत्यादि श्लोकों में अङ्गिरस् द्वारा संकलित अथर्व-मन्त्रों का परिमाण कहा गया है। चूंकि अथर्व-प्रोक्त समग्र मन्त्रों का स्वतन्त्र संकलन नहीं मिलता, इसलिये इस परिमाण की परीक्षा नहीं की जा सकती। यहाँ यह भी चिन्तनीय है कि "अन्यच् चार्थर्विकं बहु" का अन्वय "ऋचामथर्वणाम्.." इत्यादि श्लोकों के साथ इष्ट है या नहीं? यदि अन्वय माना जाए तो पुनः श्लोक में "अथर्वणाम्" पद का प्रयोग पुनरुक्त माना जाएगा। यह भी हो सकता है कि अथर्वप्रोक्त ऋक्मन्त्रों की संख्या ५००० ही यहाँ इष्ट हो और अङ्गिराः द्वारा प्रोक्त मन्त्रों की संख्या १०००-२०=९८० ही हो।

अग्नि० २७१।८-९ में अथर्वमन्त्रों का परिमाण दिया गया है। यहाँ "मन्त्राणामयुतं षष्टिशतम्" कहा गया है अर्थात् अथर्ववेदगत मन्त्रों की संख्या १००००+६०+१०० है। षष्टिशतम् का अर्थ ६०×१०० भी हो सकता है। यह गणना अन्यत्र नहीं मिलती। यह गणना किस पद्धति के अनुसार की गई है, यह भी अज्ञात है। इस

---

१७. अनुष्टुप्लक्षण में 'सर्वत्र लघु पञ्चमम्' यह नियम है, यद्यपि यह युक्ति बहुत दृढ़ नहीं है। अनुष्टुप् के अनेक प्रकार हैं, और प्रयोगों में अनेक अपवाद दृष्ट होते ही हैं।

श्लोक के पाठान्तर भी मुद्रित ग्रन्थ में नहीं दिए गए हैं। क्या यह गणना अथर्व-वेदीय नौ शाखाओं के मन्त्रों की है? (पुनरुक्त मन्त्रों को एक बार गिन कर)।

चरणव्यूह के चतुर्थ परिच्छेद में अथर्ववेदीय मन्त्रों का १२००० + ३००= १२३०० परिमाण दिया हुआ है। यह परिमाण भी अथर्ववेद की प्रचलित संहिताओं में नहीं घटता। भृगु-विस्तार की पूर्वोक्त गणना में १०००० + ३८० + १०००= ११३८० श्लोकसंख्या मिलती है। श्लोकों के सम्यक् पाठ के बिना इन विषयों का सम्यक् निर्णय नहीं हो सकता है।

देवीपुराण में अथर्वपरिमाण का जो उल्लेख था वह नष्ट हो चुका है। पिप्पला-दिशाखा के उल्लेख के बाद "तेषामध्ययनं शृणु" कहा गया है, परन्तु उसके बाद का ग्रन्थांश लुप्त हो गया है।

तृतीय अध्याय

प्रथम परिच्छेद

वेदशाखा का स्वरूप और प्रवचन

पुराणोक्तशाखा-सामग्री––वेद की शाखाओं के विषय में पर्याप्त सामग्री विष्णु०, वायु०, ब्रह्माण्ड० में मिलती है (विष्णु० ३।४-६ अ०, वायु० १।६०-६१ अ०, ब्रह्माण्ड० १।३४-३५ अ०)। भागवत १२।६-७ अ० में यह विवरण किञ्चित् अल्प है। कालक्रम की दृष्टि से भागवतीय विवरण बाद का है, यह पहले ही जान लेना चाहिए। अग्नि० २७१।१-१० में यह विवरण स्वल्पतर है। अन्य पुराणों में शाखाप्रकरण नहीं मिलता, यद्यपि कुछ शाखाओं के नाम लिंग०, स्कन्द०, ब्र० वै०, कूर्म० आदि में मिलते हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि यह विषय पुराणों में बाद में जोड़ा गया है। यह स्पष्ट है कि 'पञ्चलक्षण' से इस विषय का कोई भी संबंध नहीं है। दान, तीर्थयात्रा, पूजाविधि, वर्णाश्रमधर्म आदि नवीन पौराणिक विषयों से भी इस विषय का संबंध प्रतीत नहीं होता। अतः यह कहना उचित प्रतीत होता है कि वैदिक ब्राह्मणों ने इस विषय को किसी समय पुराणों में जोड़ दिया था। यह कोई सांप्रदायिक विषय नहीं है, अतः सांप्रदायिक प्रवृत्ति की प्रबलता से पहले यह विषय पुराणों में जोड़ा गया था––ऐसा कहना न्याय्य है।

शाखानामों का पाठ पुराणों में पर्याप्त विकृत हो चुका है। यतः पुराणोक्त अनेक शाखानाम पुराणातिरिक्त विभिन्न ग्रन्थों में नहीं मिलते, अतः शाखानामों का सम्यक् निर्णय करना असंभव है। प्रायः प्रत्येक नाम के पाठभेद मिलते हैं। इस विवरण में आवश्यक सभी पाठभेदों का संकलन कर दिया गया है, यद्यपि सर्वत्र शाखानामों का सम्यक् निर्णय करना संभव न हो सका।

पुराणगत शाखाप्रकरण के विषय––पुराणों में स्पष्टतः शाखा-प्रकरणगत विचार्य विषयों की रूपरेखा भी दी हुई है। शाखाविवरण के बाद कहा गया है कि शाखाओं की गणना, शाखा के भेद (शाखानाम), शाखाओं के कर्ता, शाखा-भेदहेतु––ये विषय यहाँ कहे गए हैं (विष्णु० ३।६।३१, वायु० ६१।७३-३४, ब्रह्माण्ड० १।३५।८३)। शाखाविवरण में वस्तुतः उपर्युक्त विषय ही विचार्य हैं।[1]

---

१. देवी पुराण अ० १०७ में चरणव्यूहवत् शाखा विवरण मिलता है। इस

पौराणिक शाखाविवरणों का प्रामाण्य--यह प्रश्न हो सकता है कि पुराणोक्त शाखाविवरणों का प्रामाण्य कहाँ तक है? उत्तर में वक्तव्य है कि यद्यपि शाखा-प्रकरण का पूर्णांग विवरण शास्त्रान्तर से पूर्णतः समर्थित नहीं होता, तथापि व्याकरणादि-शास्त्रों में इस विषय का पुराणानुकूल प्रतिपादन देखने से यह प्रतीत होता है कि पौराणिक विवरण बहुत कुछ समूल हैं।

श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने पौराणिक विवरणों को 'प्रायेण अविश्वसनीय' लिखा है —"तदेवं पुराणवर्णितं शाखाविभागमतं प्रेक्षावतां वेदविदुषां स्याद् उपेक्षणीयम्" (ऐतरेयालोचन, पृ० १२२)। शाखासम्बन्धी पौराणिक विवरण सर्वथा वास्तव सत्य हैं—ऐसी प्रतिज्ञा नहीं की जा सकती, किन्तु अन्य शास्त्रों से तुलना करने पर पौराणिक विवरणों की आंशिक सत्यता निश्चय ही प्रमाणित होती है। यथा—

(१) पाणिनीय तन्त्र में शाखाप्रवक्ताओं के नाम पुराणानुसार हैं यथा—अष्टा० ४।३।१०२, ४।३।१०४, ४।३ १०६, ४।३।१०७-१०९, ४।३।१२८-१२९, ६।२।३७ (गणपाठसहित) आदि स्थलों में शाखा और चरणों के जो नाम मिलते हैं, वे पुराणों में भी अधिकांशतः मिलते है। अष्टाध्यायीस्थ गणपाठीय शब्दों के रूप कहीं कहीं सन्दिग्ध हैं, अतः पाठभेदों के स्थलों में अन्तिम निर्णय करना कठिन है।

(२) पुराणातिरिक्त[2] ग्रन्थों में शाखासंबंधी जो सामान्य विवरण मिलते हैं, वे भी अंशतः पुराणानुसार हैं। अतः पौराणिक विवरणों को सर्वथा मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

अध्याय की पुष्पिका इस प्रकार है—"इति श्री देवीपुराणे वेदोत्पत्तिस्मरणीय-चरणव्यूहसमाप्तिर्नाम सप्ताधिकशततमोऽध्यायः"। इस अध्याय का पाठ पर्याप्त भ्रष्ट हो चुका है। वैदिकशाखा (सूत्रादि सहित) संबंधी विवरण मार्कण्डेय स्मृति (६७-७२ पृ०) तथा लौगाक्षिस्मृति (पृ० २४१-२४४) में मिलता है। इन स्थलों का पाठ भी अत्यन्त भ्रष्ट हो चुका है, अतः पुराणीय सन्दर्भ के स्पष्टीकरण के लिये ये स्थल उपकारक सिद्ध नहीं होते।

२. प्रपञ्चहृदय (द्वितीय प्रकरण), दिव्यावदान, राजवार्त्तिक (अकलङ्क-कृत), चरणव्यूह, बृहद्देवता (कतिपय शाखाकारों के नाम), ऋक्प्रातिशाख्य आदि प्रातिशाख्य, वेदों की अनुक्रमणियाँ, वेदों के परिशिष्ट ग्रन्थ। वैदिकवाङ्मय का इतिहास (प्रथम भाग) ग्रन्थ में इन ग्रन्थों के वचनों का उत्कृष्ट संग्रह किया गया है।

(३) पुराणों में शाखाकार ऋषियों के जो नाम कहे गए हैं, उन नामों के अनुसार संहिताग्रन्थ आज भी मिलते हैं। उसी प्रकार ब्राह्मणकारों के जो नाम पौराणिक ऋषि-सूची में हैं (ब्रह्माण्ड० १।३३अ०) उन नामों के अनुसार ब्राह्मणग्रन्थ आज भी मिल रहे हैं। इससे भी पूर्वोक्त अनुमान समर्थित होता है।

शाखाविवरण का वैदिक मूल—यह निश्चित है कि पुराणीय शाखाविवरण का पूर्ण मूल प्रचलित ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होता, पर चूंकि शाखानामों का साम्य मिलता है, इसलिये यह विवरण सर्वथा कल्पित नहीं माना जा सकता है। यथा—

(१) प्राचीन वैदिकग्रन्थों में पुराणोक्त शाखाविवरणों का मूल क्वचित् मिलता है। व्याडिकृत विकृतिवल्ली की टीका में कतिपय इतिहास-श्लोक उद्धृत हैं, जिनमें शाकल्य के पांच शाखाभेदप्रवर्तक शिष्य कहे गए हैं (द्र० ऋग्वेदपरिच्छेद)। विष्णु आदि पुराणों में भी शाकल्य के शिष्य स्मृत हुए हैं; उभयत्र नामों में कुछ साम्य भी हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि पौराणिक विवरण के मूल में अवश्य ही वैदिक परम्परा है।

(२) इतना होने पर भी शाखा-संबंधी पुराणगत विवरणों का यथावत् वैदिक मूल अल्प ही मिलता है। कौषीतकि आरण्यक (१४अ०) के वंशब्राह्मण में कहोल-शाङ्खायन आदि गुरुशिष्य-पारम्पर्यानुसार नाम पढ़े गए हैं, जिनमें से कुछ नाम पुराणों में भी मिलते हैं। इस प्रकार के वचन अन्यान्य ब्राह्मणग्रन्थों में भी क्वचित् मिलते हैं, यद्यपि ऐसे स्थलों में शाखासम्बन्धी कोई पूर्णाङ्ग विवरण नहीं मिलता है। वस्तुतः पुराणकारों ने जिस मूल से शाखाविवरण को लिया है, वह अन्वेष्टव्य है।

(३) श्री सत्यव्रत सामश्रमी का आक्षेप है कि विष्णु आदि पुराणों में शाङ्खायन-आश्वलायन के नाम नहीं हैं, अतः पुराणोक्तशाखा विवरण उपेक्षणीय है (ऐत० आलो० पृ० १२२), पर अग्नि० २७१।२ में इन दोनों शाखाओं के नाम स्पष्टतः मिलते हैं ('सांख्यायन' मुद्रित पाठ है)। भिन्न भिन्न स्रोतों से संग्रह करने के कारण पौराणिक शाखाविवरण बहुत कुछ अव्यवस्थित हैं, यह स्पष्टतः ज्ञात होता है; परन्तु इससे इन विवरणों की सर्वथा अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।

शाखाविचार मन्त्रात्मक संहिता से संबद्ध है, ब्राह्मणग्रन्थों से नहीं—यह निश्चित है कि पुराणोक्त शाखाप्रवचन संहिता से ही संबद्ध है, ब्राह्मण ग्रन्थों से नहीं; इस विषय में निम्नोक्त युक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(१) शाखाविभाग पैल-वैशम्पायन-जैमिनि-सुमन्तुकर्तृक अधीत मन्त्रसंहिताओं के ही हैं। यही कारण है कि शाखाप्रसङ्ग में 'संहिताभेदः' (विष्णु० ३।६।३) और 'संहिता यैः प्रवर्तिताः" (विष्णु० ३।४।२६) आदि प्रयोग मिलते हैं। पैलादि ने

व्यास से मन्त्रों का ही अध्ययन किया था, यह उस प्रकरण के "ऋचः" "यजूंषि", "सामानि" पदों से ही स्पष्टतः विज्ञात होता है (द्र० संहितापरिच्छेद)। शाखाप्रकरण में 'शाखा' और 'संहिता' शब्दों के सभी स्थलों में निर्विशेषरूप से व्यवहार होने से भी सिद्ध होता है कि इस प्रकरण में शाखा का तात्पर्य संहिता ही है।

(२) शाखाओं के लिये "संहितानां विकल्पकाः" (विष्णु० ३।६।१५) आदि वाक्य प्रयुक्त हुए हैं। संहिता मन्त्रात्मक है, यह पहले दिखाया गया है। इस विषय में "संहिता स्ते तदा मन्त्राः" "मन्त्रसंहननं कृतम्" आदि पौराणिक प्रयोग द्रष्टव्य हैं (द्र० संहितापरिच्छेद)। ब्राह्मणों का संहितावत् संहनन पुराणों में कहीं भी नहीं कहा गया है।

संहिताप्रवचन और ब्राह्मणप्रवचन में भेद—यह देखा जाता है कि पुराणों में ब्राह्मणग्रन्थों के क्रमिक प्रवचन का उल्लेख नहीं मिलता,[३] अर्थात् अमुक ब्राह्मण का प्रवचन पहले अमुक ऋषि ने किया, तत्पश्चात् उनके शिष्य ने उसका पुनः प्रवचन किया—इस प्रकार का संहिता-प्रवचनक्रमवत् उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थों के विषय में नहीं मिलता। इस विषय में यह संशय किया जा सकता है कि यदि संहितावत् ब्राह्मणों का भी प्रवचन पुराणकारों को इष्ट होता तो एक वेद की संहिताओं की तरह उसके ब्राह्मणों में भी शब्दसाम्य होता, परन्तु प्रत्यक्षतः देखा जाता है कि किसी एक वेद के ब्राह्मणों में विषय-साम्य होते हुए भी उनमें संहितावत् प्रचुर-शब्दसाम्य नहीं मिलता। शाकल-बास्कल में, काण्व-माध्यन्दिन में, तैत्तिरीय-मैत्रायणी-कठ में, राणायणीय-कौथुम-जैमिनीय में, शौनक-पैप्पलाद-संहिता में जैसा शब्दक्रम-साम्य है, उनके ब्राह्मणों में वैसा साम्य नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि प्रचलित ब्राह्मणग्रन्थ एक ही ब्राह्मण-ग्रन्थ के बहुधा प्रवचन के फलस्वरूप नहीं हैं, अपितु वे स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं।

हमारी दृष्टि में उपर्युक्त संशय व्यर्थ हैं; क्योंकि जब कोई ब्राह्मणग्रन्थ मूल में किसी एक आचार्य द्वारा प्रोक्त होता है और उसी का अन्य आचार्यों द्वारा भी बाद में प्रवचन किया जाता है, तब उत्तर काल में प्रोक्त ब्राह्मणग्रन्थों में शब्दक्रम-साम्य होना आवश्यक हो जाता है। प्रवचन-शैली का यही फल है। काण्व-शतपथ और माध्यन्दिनशतपथ इस नियम के उदाहरण हैं। शतपथ-ब्राह्मण मूल में याज्ञवल्क्य-

---

३. ब्राह्मणकारों की सूची ब्रह्माण्ड० १।३३ अ० में मिलती है। इन ऋषियों को लक्ष्यकर "ब्राह्मणानां प्रवक्तारः" कहा गया है (१।३३।१)। पर संहिता रूप शाखा के उल्लेख में यादृश गुरुशिष्यक्रम दिखाया गया है, ब्राह्मणप्रवक्ताओं के नामों के उल्लेख में तादृश क्रम की विवक्षा कहीं भी नहीं मिलती है।

कृत है (कर्तुं शतपथं चेदम्-शान्ति० ३१८।२३)। बाद में इस शतपथ का प्रवचन कण्व और मध्यन्दिन ने किया, अतः काण्व शतपथ और माध्यन्दिन शतपथ में पर्याप्त शब्दक्रम-साम्य मिलता है। जिन ब्राह्मणों का मूल प्रवचन भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा कृत है, उनमें अधिक शब्द साम्य नहीं हो सकता, यद्यपि प्रचुर अर्थ-साम्य हो ही सकता है।

वस्तुतः संहिता और ब्राह्मण इन दोनों की रचना 'प्रोक्त' शैली से होने के कारण संहितावत् ब्राह्मणग्रन्थों का भी प्रवचन हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थों के प्रवचनों के क्रमिक धारा का उल्लेख भी वैदिक ग्रन्थों में क्वचित् मिलता है,[४] परन्तु पुराणों में इस प्रवचन धारा का विशिष्ट विवरण नहीं मिलता। यदि शाखाक्रमानुसार ब्राह्मणग्रन्थ आज प्राप्त होते तो उपर्युक्त धारणा की सत्यता प्रमाणित होती।

शाखास्वरूप—यद्यपि वेदशाखा के स्वरूप के विषय में पुराणों में कोई लक्षण-वाक्य नहीं मिलता, तथापि कुछ ऐसे वाक्य मिलते हैं, जिनसे शाखास्वरूप पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है। यथा—

(१) मूल रोमहर्षणिका पुराणसंहिता को लेकर अकृतव्रण (नामान्तर-काश्यप) आदि उनके शिष्यों ने जिन पुराणसंहिताओं का निर्माण किया था, उन संहिताओं के पारस्परिक सादृश्य के विषय में वायु० ६१।५९ और ब्रह्माण्ड० १।३५।६७ में कहा गया है—

सर्वास्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः।
पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा॥

(ब्रह्माण्ड० में 'पृथग्भूताः' के स्थान पर 'वृथाभूताः' पाठ है, जो भ्रष्ट है)।

इस उपमा से स्पष्ट हो जाता है कि किसी एक वेद की शाखाओं में विषयों की एकता रहती है तथा शब्दक्रम एवं स्वर-वर्ण-पदादि में पाठान्तर रहते हैं। "पाठान्तरे पृथग्भूताः" कहने की सार्थकता यह भी है कि शाखाओं में बाहुल्येन समान पाठ ही रहता है और पाठ-भेद होने पर भी तात्पर्य में विरोध नहीं होता।[५]

---

४. सामविधान ब्राह्मण ३।६।३, बृहदारण्यक० ६।५ आदि में ब्राह्मण-प्रवचन की आचार्यपरम्परा का वर्णन मिलता है। यह वंश प्रवचनवंश है, यह अत्रत्य शांकरभाष्य से ज्ञात होता है (समस्त-प्रवचनवंशः—बृहदा० भाष्य)।

५. पूर्वमीमांसा में जो 'सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म' सिद्धान्त प्रचलित है, उसके साथ यह तथ्य तुलनीय है (शाबरभाष्य पृ० १९७, १९८, २००, २०७, ७७४)। यह न्याय पूर्वमीमांसा के २।४।९ सूत्र पर प्रतिष्ठित है (द्र० शाबर भाष्य)।

यह वाक्य सर्वथा संगत है, आज भी प्रत्यक्षतः उपलब्ध शाखाओं में यह लक्षण समन्वित होता है।[६]

इस लक्षण का एक अपवाद है। हम देखते हैं कि कृष्णशुक्लयजुर्वेद की शाखाओं में पारस्परिक अनैक्य बहुत हैं अर्थात् शुक्लयजुः की शाखाओं के साथ कृष्णयजुः की शाखाओं में उतना साम्य नहीं मिलता जितना ऋग्वेदीय शाकल-वाष्कल में, या अथर्ववेदीय शौनक-पिप्पलाद-शाखाओं में। सम्भवतः ब्राह्मणांश के संमिश्रण और याज्ञिक क्रिया की कालानुसार विपुलता और परिवर्तन के कारण ही दोनों प्रकार की यजुः-शाखाओं में इस प्रकार का अत्यधिक असादृश्य उत्पन्न हो गया है। इतना होने पर भी यह तो प्रत्यक्ष ही है कि कृष्णयजुः की शाखाओं में परस्पर बहुत समानता है और उसी प्रकार शुक्लयजुः की शाखाओं में भी समानता है। इस प्रसंग में यह भी कहना आवश्यक है कि कृष्णयजुः की शाखाओं में शुक्लयजुः की शाखाओं की अपेक्षा कम साम्य है (तुलना कर कोई भी यह देख सकता है) और इसका कारण ब्राह्मणांश का सम्मिश्रण ही प्रतीत होता है। याज्ञिक क्रिया की विचित्रता भी इस वैषम्य का एक कारण माना जा सकता है। इतना होने पर भी यह कहा जा सकता है कि दोनों प्रकार के यजुषों का एक ही मूल है, क्योंकि दोनों का आरम्भिक विषय समान है।

(२) पुराणों में शाखाओं के विवरण में 'तरुशाखा' की उपमा दी गई है:—

—"चतुर्धा तु ततो जातं वेदपादपकाननम्" (विष्णु० ३।४।१५),

—"सामवेदतरोः शाखाः" (विष्णु० ३।६।९, अग्नि० १५०।२८),

—"यजुर्वेदतरोः शाखाः" (विष्णु० ३।५।१, अग्नि० १५०।२७),

—"चक्रे वेदतरोः शाखाः (भाग० १।३।२१),

—"वेदास्ते शाखिनोऽभवन्" (भाग० १।४।२३),

—"वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यति स्म" (भाग० २।७।३६)।

इस उपमा का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि एक मूलभूत संहिता के आश्रय से अन्य संहिताओं का प्रणयन किया गया है, जो मूलभूत संहिता के प्रायः अनुरूप ही होते हैं। शाखाओं का यह मूलमूलिभाव पूर्वाचार्यों को अनुमत है।

(३) शाखा के लिये 'विकल्प' शब्द का प्रयोग पुराणों में प्रायः मिलता है (वायु० ५८।१७, ६१।२५, मत्स्य० १४४।१६, ब्रह्माण्ड० १।३५।८४, विष्णु० ३।६।१५)। अर्थतः ऐक्य दिखलाने के लिये ही 'विकल्प' शब्द प्रयुक्त हुआ है, ऐसा

---

६. शाखाओं में 'समान विषय में शब्दानुपूर्वी का भेद' किस प्रकार मिलता है, इसका उदाहरण निरुक्त १०।५ख० में द्रष्टव्य है। शाखाओं के शब्दसाम्य के विषय में पाणिनि का "अनुवादे चरणानाम् (२।४।३) सूत्र भी प्रमाण है।

प्रतीत होता है। प्रत्येक शाखा समान प्रमाण है तथा प्रत्येक सम्प्रदाय शाखानियत है, यह 'विकल्प' शब्द इन दोनो मतों का ज्ञापक भी है।[७]

इस 'विकल्प' शब्द से संबन्धित एक महत्त्वपूर्ण श्लोक यह है—"प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे स्मृताः" (विष्णु० ३।६।३२, वायु० ६१।७५, ब्रह्माण्ड० १।३५।८४)। इसकी व्याख्या में श्रीधर कहते हैं—"शाखानां पुरुषप्रणीतत्वेन वेदस्य पौरुषेयत्वं स्यादित्यत आह प्राजापत्येति। कल्पादौ प्रजापतिना दृष्टा श्रुतिः नित्यैव। इमे तु शाखाभेदाः तस्या एव विकल्पाः, तद्ग्रहणसौकर्यार्थम् अवान्तर-भेदाः न तु अपूर्वाः पुरुषकृताः इत्यर्थः"। पुराणकारों की दृष्टि में शाखा के पाठ देशकालभेद और याज्ञिकक्रियादिभेद से क्रमशः उत्पन्न नहीं हुए, बल्कि सृष्टि के आदि में जो प्राजापत्य विशाल श्रुति थी, उसके विभाग-विशेष ही विभिन्न शाखाएँ हैं। पूर्वमीमांसा की दृष्टि भी सर्वथा यही है, परन्तु यह अनैतिहासिक दृष्टि है। वस्तुतः देशकालादि-भेद से विभिन्न शाखाओं की क्रमिक उत्पत्ति हुई है। इस विषय में ऐतरेयालोचन (पृ० १२४) द्रष्टव्य है।

शाखा के विषय में विभिन्न आचार्यों के मत—वाचस्पत्य कोश में शाखा का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—"शाखा वेदैकदेशः"। पूर्वाचार्यों के मतों के अनुसार यह मत असमीचीन है। प्रत्येक शाखा पूर्ण वेद है, वेद का एकदेश नहीं। प्राचीन स्मृतिटीकाकार तथा निबन्धकारों की यही दृष्टि है। इस विषय में सोदा-हरण विचार ऐतरेयालोचन (पृ० १२२-१२६) में देखें।

शाखास्वरूप के विषय में आर्यविद्यासुधाकर में बहुत ही स्पष्ट रूप से कहा गया है कि अध्ययन-संप्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों के प्रवचनभेद ही शाखाभेद के कारण हैं।[८] श्री मधुसूदन सरस्वती ने ठीक ही कहा है कि प्रवचनभेद से प्रत्येक वेद की अनेक पृथक् शाखाओं की उत्पत्ति हुई है (प्रस्थानभेद, पृ० १४)। पूर्वाचार्यों का यह भी

---

७. वेद का 'स्वाध्याय' नाम इस सिद्धान्त का ज्ञापक है। संस्कार-प्रकाश में कहा गया है—अधीयत इत्यध्यायो वेदः—स्वस्याध्यायः स्वाध्यायः स्वपरम्परागता शाखेत्यर्थः (पृ० ५०४)। मनु० ३।२ गत 'वेद' शब्द का अर्थ शाखा ही है (कुल्लूकव्याख्या)।

८. प्रवचन पर विशद-विचार के लिये भारतीय संस्कृति का विकास, भाग प्रथम, पृ० २३८-२४२ द्रष्टव्य है। प्रवचन का अर्थ ब्राह्मणग्रन्थ भी होता है (पुष्पसूत्र ८।८ की अजातशत्रुकृत टीका)। यह एक प्रकार का व्याख्यान है, जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है। वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० १७६-१७९ में इस पर सोदाहरण विवेचन द्रष्टव्य है।

मत है कि स्वकुलागत शाखा का अध्ययन करना ही पूर्ण वेद का अध्ययन करना है। उज्ज्वलाकार महादेव ने हिरणकेशिधर्मसूत्रभाष्य में इस विषय को बहुत ही स्पष्ट रूप से समझाया है।[९]

शाखाप्रणयन-स्वरूप——पुराणों के कुछ प्रयोगों से शाखाप्रवचन का स्वरूप विज्ञात हो जाता है। यथा——

शाखा के साथ 'प्रवचन' शब्द का प्रयोग पूर्वाचार्यों को मान्य है। प्रवचन वह है जिसमें पूर्वप्रचलित शब्दों का ईषत् परिवर्तनमात्र किया जाता है, जैसा कि अन्यत्र दिखाया गया है। अस्पष्ट शब्द के स्थान पर विस्पष्ट शब्द का स्थापन करना प्रवचन का मुख्य अंग है। वेंकटमाधवकृत ऋग्भाष्यानुक्रमणी (पृ० ७७) में जो "अध्यवस्यति मन्त्रार्थान्. . ." इत्यादि कारिका है, उससे यह तथ्य ज्ञात होता है। एक शाखा में पठित अस्पष्टार्थक 'भ्रातृव्य' शब्द (माध्यन्दिनसंहिता १।१८) के स्थान पर शाखान्तरगत 'द्विषत्' शब्द का प्रयोग (काण्व० १।२८) भी इस मत का ज्ञापक है। प्रवचन से अर्थ की स्पष्टता होती है, यह मनु० ३।१८४ श्लोकगत प्रवचन शब्द के व्याख्यानों से ज्ञात होता है।

इस प्रकार 'कृत' (पद्म० २।५।४४)और 'प्रणयन' (लिङ्ग० १।३९।५५) शब्द भी पुराणों में व्यवहृत हुए हैं। यहाँ इन शब्दों का प्रयोग सामान्यार्थक है। वस्तुतः शाखाएँ 'कृत' नहीं हैं, 'प्रोक्त' हैं। अष्टाध्यायी के प्रोक्तप्रकरण और कृतप्रकरण[१०] (तद्धितीय) से भी यह तथ्य सिद्ध होता है।

---

९. परशाखाध्ययन की निन्दा स्मृतिकारों ने की है (लघ्वाश्वलायन २४। १९); पितृपरम्पराप्राप्त शाखा का त्याग अवैध माना गया है (मनु० ३।२ का मेधातिथि-भाष्य)।

१०. पाणिनि का सूत्र है——तेन प्रोक्तम्(अष्टा ४।३।१०१)। ग्रन्थों के प्रणयन के लिये उनके दो सूत्र हैं——अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (अष्टा० ४।३।८७) और कृते ग्रन्थे (अष्टा० ४।३।११६)। ग्रन्थसम्बन्धी इन सूत्रों के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि किसी व्यक्ति के चरित्र को लेकर या किसी एक विशिष्ट घटना को लेकर जो ग्रन्थ लिखा जाता है, उसका नामकरण या तो व्यक्ति या घटना के नाम के अनुसार होता है अथवा ग्रन्थकार के नाम के अनुसार। नवीन प्रणयन को लक्ष्यकर ही ये दो सूत्र प्रवृत्त हुए हैं। प्रोक्त ग्रन्थ इनसे भिन्न प्रकार के हैं। पूर्वाचार्यपरम्परागत शास्त्र का यत्किंचित्-भेदविशिष्ट प्रणयन ही प्रवचन है। प्रोक्ताधिकार (४।३।१०१-१११) में तित्तिरि आदि द्वारा प्रोक्त वैदिक संहिता-ब्राह्मणविशेष तथा कल्पविशेष मुख्यतः लिए जाते हैं।

शाखाप्रवचनप्रसंग में 'भेद' शब्द का व्यवहार भी पुराणों में मिलता है, यथा—"एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान्" (कूर्म० १।४९।५१)। 'भिद्' धातुघटित अन्यान्य क्रियापद भी इस दृष्टि से ही प्रयुक्त मिलते हैं। 'बिभेद' इस तिङन्तरूप का प्रयोग कूर्म० १।४९।५२ में मिलता है। इस प्रयोग से भी ज्ञात होता है कि शाखाओं में मूल-मूलिभाव है और प्रवचन-भेद से एक ही शाखा एकाधिक शाखाओं में परिणत होती है।

शाखाप्रणयन की शाश्वत धारा—पुराणकारों ने इस सत्य को सुरक्षित रखा है कि वेद का विभाग और शाखाप्रणयन चिरकाल से ही होता आ रहा है। पुराणों में शाखाविभाग का जो विवरण मिलता है, वह इस मन्वन्तर के व्यास द्वारा कृत है और इससे पहले भी वेद के विभाग किए गए थे—यह पुराणों में कहा गया है। व्यास को जो वेद मिला था (परम्परा से), उन्होंने उसके विभागादि किए—यह पुराणों में सर्वत्र कहा गया है।

चिरकाल से प्रचलित इस शाखाप्रणयन क्रिया के विषय में पुराणों में कुछ सारभूत बातें कही गई हैं, जो विचारणीय हैं, यथा—

१. कई पुराणों में कहा गया है कि स्वायम्भुव मन्वन्तर के द्वापर में प्रथम बार वेद का विभाग मनु द्वारा किया गया था (ब्रह्मा के आदेश से) और उसके बाद विभिन्न मन्वन्तरीय द्वापरों में ऐसे विभाग होते आ रहे हैं (विभिन्न व्यासों द्वारा)।[११]

२. पुराणकारों ने यह भी कहा है कि अतीतकाल में जो शाखाप्रणयन हुआ था, उसके विषय में कुछ स्पष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। वर्तमान वेद-विभाग को देखकर अतीतकाल में कृत वेदविभाग का अनुमान कर लेना चाहिए (विष्णु० ३।४।४, वायु० ६०।८-१०); इससे यह तथ्य निर्गलित होता है कि विभिन्नकालों में किए गए वेदविभाग सर्वथा एकरूप नहीं हैं। प्रसङ्गतः यह ज्ञातव्य है कि प्रत्येक शास्त्र कालानुसार ईषद्भिन्नस्वरूपवान् हो ही जाता है, यथा—प्राचीनस्मृतियों (मनु आदि) में जो विषय नहीं थे, वे अर्वाचीन स्मृतियों में आहृत हुए हैं (व्रत-तीर्थयात्रा आदि); प्राचीन पाणिनिव्याकरण के कई विषय (स्वर आदि) अर्वाचीन व्याकरणों में परित्यक्त हुए हैं (द्र० मुग्धबोध-संक्षिप्तसार आदि); कभी अथर्ववेद का अन्तर्भाव ऋग्वेद में किया गया था (यथास्थान इस पर विचार किया गया है)। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि शाखाप्रणयन में भी कालानुसार नाना प्रकार के परिवर्तन हुए हैं।

---

११. विभिन्न मन्वन्तरों में आविर्भूत वेदविभाजक व्यासों की सूची विष्णु० ३।३।११-१९, ब्रह्माण्ड० १।३५ अ०, लिङ्ग० १।७ अ० आदि में मिलती है।

३. पुराणकारों का यह भी सिद्धान्त है कि सभी मन्वन्तरों में शाखाभेद समान होते हैं (सर्वमन्वन्तरेष्वेव शाखाभेदाः समाः स्मृताः—विष्णु ३।६।३२, ब्रह्माण्ड० १।३५।८४, वायु, ६१।७४)। यह 'समान' 'सर्वथा एकरूप' नहीं, बल्कि 'याज्ञिक क्रिया का निष्पादन' रूप एक ही हेतु से शाखाभेद कृत हुए हैं—यह तात्पर्य 'सम' शब्द से ध्वनित होता है।

प्राचीनतम काल में वेदविभाग की सत्ता—ऐतिहासिक दृष्टि से उपर्युक्त सभी मत समीचीन हैं। वेद के अनेक अंश विभिन्न कालों में प्रणीत हुए हैं, वेद में ही इसका संकेत है (ऋग्० १।१।२, १०।९१।१३ आदि)। चूँकि प्रारम्भ से ही वेद अनुश्रव के रूप में रहा है, इसलिये विभिन्न परम्पराओं में वेदवाक्यों का पाठान्तर हो जाना सर्वथा सम्भव है। नवीन मन्त्रों का संयोजन, स्वदृष्टि के अनुसार अनावश्यक मन्त्रों का वर्जन, अस्पष्ट पद के स्थान में स्पष्टार्थक पद का स्थापन—आदि की गणना भी पाठान्तर के साथ करनी चाहिए। वर्तमान शाखा-विभाग से पहले कितने बार शाखाओं का प्रणयन हुआ, इसका वस्तुतः निर्णय नहीं हो सकता। पुराणकारों ने अपनी दृष्टि से 'मन्वन्तरानुसार शाखाप्रणयन' लिखा है, जो एक परम्परागत दृष्टि-मात्र है। ऐतिहासिक दृष्टि से पुराणों के इस कथन का यही अभिप्राय है कि चिर-काल से शाखाएँ बनती आ रही हैं।

व्यास से पहले भी शाखाभेद थे, इसका बलिष्ठ प्रमाण यह है कि ऐतरेय और शाङ्खायन शाखाद्वय का उल्लेख पौराणिक शाखागणना में नहीं मिलता;[१२] जबकि अन्यान्य शाखाएँ वैदिक ग्रन्थों में स्मृत हैं। इतिहासपुराणों में ही व्यास से पूर्वकाल में सशाख वेद की सत्ता का बहुधा निर्देश मिलता है, अतः 'व्यासपूर्व शाखाप्रणयन' का प्रख्यापक पौराणिक मत समीचीन ही है।

प्रचलित शाखाओं का प्रणयन—इस मन्वन्तर में प्रचलित शाखाओं का आरम्भ कृष्णद्वैपायन व्यास से ही (पुराणों में) माना गया है। महीधर (माध्यन्दिनसंहिता भाष्यारम्भ में), भट्टभास्कर (तैत्तिरीयभाष्यारम्भ में) आदि आचार्य भी व्यास से वेदपरम्परा का आरम्भ (इस युग में) मानते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यास

---

१२. अग्नि० २७१।२ में 'शाङ्खायन' नाम है। 'पौराणिक शाखागणना में नहीं मिलता' इस वाक्य का तात्पर्य यही है कि वायु-ब्रह्माण्ड-विष्णु-भागवत० के शाखाप्रकरण (जो अत्यन्त विशद है) में शाङ्खायन नाम संकलित नहीं हुआ है। निश्चित ही अग्नि० का मूल कोई अन्य परम्परा है, अन्यथा उसमें ऋग्वेद के केवल दो विभागों का उल्लेख न रहता। अग्नि-पुराण-दृष्ट विभाग किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता।

से पहले वेदों की कोई व्यवस्थित और सुप्रचलित परम्परा नहीं थी, वेद इतस्ततः विकीर्ण थे।[१३] व्यास ने ही प्रचलित वेदांशों का संकलन कर वेदों को याज्ञिक कर्मानुसार एक व्यवस्थित रूप दिया। व्यास के बाद उनके शिष्य अधीत शाखाओं का यथाक्रम प्रवचन करते रहे, जिससे शिष्यपरम्परा में अनेक शाखाएँ बनती गईं।

कालभेद से विभिन्न धाराओं में शाखाओं के प्रणयन होने के कारण शाखाओं की संख्या में मतभेद पाए जाते हैं। सभी शाखाएँ यदि एक साथ बनी होतीं तो शाखा-संख्या में मतभेद न होते। 'प्रधानशाखा', 'अप्रधानशाखा', 'मूलशाखा' आदि शब्द-व्यवहार ही प्रमाणित करता है कि प्रचलित शाखाएँ क्रमशः बनी हैं।

'व्यास द्वारा वेदविभाग' के विषय में एक जटिल प्रश्न उपस्थित होता है। व्यास-कृत वेदविभाग का सूचक कोई भी वाक्य वैदिकसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, निरुक्त, कल्प और पूर्वोत्तरमीमांसा में नहीं मिलता।[१४] यदि व्यास द्वारा ही वेदविभाग किया गया होता तो मुण्डक (१।१।५) और बृहदारण्यक (२।४।१०) सदृश प्राचीन ग्रन्थों में चारों वेदों का स्पष्ट उल्लेख न रहता। पुराणों में इस प्रश्न का समाधान भी दिया गया है कि कृष्णद्वैपायन व्यास से पहले भी कई बार वेद के विभाग किए जा चुके हैं। वस्तुतः व्यास के काल में वेद अव्यवस्थित और उत्सन्नप्राय स्थिति में था और व्यास ने याज्ञिक प्रक्रिया की दृष्टि से वेद का सुविभाजन किया था—ऐसा कहना ही समीचीन प्रतीत होता है।

इस मन्वन्तर में शाखानिर्माण का काल—वेदविभागकाल (अतः शाखारम्भ-काल भी) द्वापरान्त माना गया है। पुराणों में 'द्वापर' या कहीं कहीं 'द्वापरादि' शब्द प्रयुक्त हुआ है (विष्णु० ३।३।२०)। श्रीधर कहते हैं—"द्वापरादि का अर्थ है—'द्वापर है आदि जिसका' अर्थात् द्वापर का सन्ध्यांश। यतः शान्तनुसमकाल में सत्यवती से कृष्ण-द्वैपायन उत्पन्न हुए थे, अतः द्वापरादि का यही अर्थ उचित होता है।"

प्रचलित शाखाओं के अन्तःसाक्ष्य भी ज्ञापित करते हैं कि अनेक शाखाएँ महाभारत-युद्धकाल के बाद भी प्रोक्त होती रही हैं। यही कारण है कि महाभारतीय पात्रों के नाम वैदिक संहिताओं में मिलते हैं। काठकसंहिता १०।६ में उक्त धृतराष्ट्र

---

१३. ब्रह्मसूत्र के अणुभाष्य १।१।१८ में स्कन्दपुराण के वचन से यह दिखाया गया है कि वेदों के उच्छेद हो जाने पर व्यासरूपी विष्णु के द्वारा वेदों का उद्धार किया गया था (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० १८३; यह अणुभाष्य मध्वकृत है)।

१४. व्यास का नाम सामविधानब्राह्मण के वंशप्रकरण में तथा तैत्तिरीय आरण्यक १।९।२ में मिलता है; पर इन स्थलों में शाखाकर्तृत्व का प्रसंग नहीं है।

वैचित्र्यवीर्य आदि के नाम इस प्रसंग में स्मर्तव्य हैं। भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, (भाग १) ग्रन्थ का नवम अध्याय (वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित महाभारत काल के व्यक्ति) इस प्रसंग में आलोच्य है।

इस प्रसङ्ग में यह भी ज्ञातव्य है कि संहिताएँ चूंकि गुरुशिष्यपरम्परा में प्रोक्त होती थीं, इस लिये उनमें नवीन सामग्री के साथ प्राचीनकाल की सामग्री भी बहुधा शब्दशः सुरक्षित रही है।

शाखानिर्माण का क्रम—पुराणगत शाखाविवरणों से यह सिद्ध होता है कि शाखाओं का निर्माण क्रमानुसार हुआ है[१५]। शाखाओं का परस्पर सम्बन्ध भी है; यह सम्बन्ध भी किसी के साथ अधिक और किसी के साथ कम है। चूंकि गुरुशिष्य-परम्परा में शाखाओं की रचना की गई है, इसलिये गुरुशिष्यसम्बन्ध की निकटता और दूरता के अनुसार शाखाओं में भी परस्पर समता रहेगी, यह तर्क से सिद्ध होता है।

पुराणों की यह दृष्टि पूर्वाचार्यों को अनुमत है। जब पतञ्जलि कहते हैं—"अनुवदते कठः कलापस्य" (महाभाष्य २।४।३), तब यह भी सिद्ध होता है कि कठशाखा कलाप के बाद बनी और दोनों में पर्याप्त साम्य है। उसी प्रकार जब यह कहा जाता है—"नहि मैत्रायणीशाखा काठकस्य अत्यन्तविलक्षणा" (याज्ञवल्क्य स्मृति १।७ पर बालक्रीड़ा टीका) तब दोनों शाखाओं का साम्य और एकमूलिकता भी सिद्ध होती है। जब कहा जाता है—"ऋग्वेदे शैशिरीयाणां.......श्रृणुत शाकलाः" (अनुवाकानुक्रमणी ९) तब शैशिरीया और शाकला का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्टतः सिद्ध होता है। वर्गद्वय-वृत्तिधृत पुराण श्लोक (पृ० १६) से भी शाखाओं का मूलमूलिभाव सिद्ध होता है। कभी कभी एक शाखा के अन्तर्गत ही अन्य शाखा प्रोक्त होती थी। आचार्य दुर्ग का "हारिद्रवो नाम मैत्रायणीयानां शाखाभेदः" वाक्य इस तथ्य में बलिष्ठ प्रमाण है (१०।५ख०)।

शाखाप्रणयनहेतु—वेदविभाग दो प्रकार का हैं, प्रथम—'एक' वेद का चतुर्विभाग तथा द्वितीय—प्रत्येक वेद का शाखाभेद। वेद के चतुर्विभाग का मुख्य कारण याज्ञिककर्म का सम्पादन ही है। होता आदि ऋत्विजों के कर्मानुसार यह विभाग है, यह पहले कहा जा चुका है। शाखाभेद (=संहिताभेद) का मुख्य कारण यद्यपि पुरुषों का 'अल्पमेधस्त्व', 'क्षीणायुष्ट्व' (मेधा और आयुकी अल्पता एवं क्षयिष्णुता) आदि कहे गए हैं (भाग० २।७।३६, १।३।२१, १।४।२३-२४ आदि), तथापि

---

१५. प्रत्येक वेद के शाखाविवरणपरक परिच्छेदों में इस के उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

भेद का एक मुख्य कारण देशकालभेद से याज्ञिक प्रयोग और उच्चारणादि में परिवर्तन हो जाना भी है, ऐसा जानना चाहिए।

संहिताओं के प्रवचन (=नानाशाखाप्रणयन) द्वापरयुग में हुए थे, इस विषय में एक मननीय विवरण वायु० ५८।१०-१८ लिंग० १।३९।५५-६१, कूर्म० १।२९।४३-४७ तथा मत्स्य० १४४।९-१७ में मिलता है। इससे नानाशाखाप्रणयन के हेतु पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

उपर्युक्त स्थलों में कहा गया है कि 'दृष्टिविभ्रम के कारण ऋषिपुत्रों के द्वारा मन्त्रब्राह्मणविन्यासपूर्वक (अर्थात् इनके क्रम में परिवर्तन आदि कर) वेदों के भेद किए गए हैं। इस विभाजन के कारण स्वर और वर्ण के प्रयोग में भी परिवर्तन हो गया है। ऋग्यजुःसाम की संहिताओं का संहनन (पुनः सज्जीकरण, संग्रथन) श्रुतर्षियों द्वारा किया गया है। संहिताओं के इस प्रकार प्रवचन होने के कारण इनमें परस्पर समान अंश बहुत हैं, और कुछ असमान अंश भी हैं।

यहाँ यह भी कहा गया है कि पहले आध्वर्यव एक था, और बाद में उसके दो भेद हो गए। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका संकेत शुक्ल-कृष्ण भेद से है। इस प्रकार 'अथर्व ऋक् और साम' के भी विकल्प (=शाखा) उत्पन्न होते हैं।[१६] इस ग्रन्थ के संहितापरिच्छेद में इस विवरण पर विस्तृत विचार देखें।

शाखाकार व्यासशिष्य—वेदशाखा के प्रवचन व्यास के शिष्यों द्वारा हुए थे—यह मत पुराणों में सर्वत्र मिलता है (वायु० १।८०, ६१।७७, ब्रह्माण्ड० १।१। १५४, पद्म० ५।२।४३-४४, भाग० १।४।२३)। 'शिष्य' शब्द से व्यासपरम्परान्तर्गत अन्य आचार्यों का भी ग्रहण होना चाहिए। पुराणों में 'शिष्य' के साथ 'प्रशिष्य' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। शाखाकारों की संख्या अनेक थी, और इसीलिये "कर्तारश्चैव शाखानाम्" वाक्य पौराणिक वेदप्रकरण में मिलता है (वायु० ६१।७४; ब्रह्माण्ड० १।३५।८३; विष्णु० ३।६।३१)।

शाखाकार व्यास—पुराणों में एक यह भी मत मिलता है कि वेदव्यास ने ही शाखाओं का भी प्रवचन किया था। विष्णु० ३।२।५६, कूर्म० १।५२।१९-२०, पुरुषोत्तम० ४६।११ आदि में यह मत है। पर यह मत एकदेशी है और पूर्वाचार्य ने इस मत को नहीं माना है। व्यास से ही शाखाप्रणयन की मूल पद्धति का आरम्भ हुआ था और उनकी शिष्यपरम्परा में ही शाखाओं का क्रमिक प्रणयन हुआ था—यही उपर्युक्त मत का तात्पर्य है।

---

१६. लिङ्गपुराण की शिवतोषिणी टीका की सहायता से इस सन्दर्भ के कुछ शब्दों के अर्थ निश्चित किए गए है। यह सन्दर्भ कहीं कहीं क्लिष्टार्थक है।

शाखा के प्रकार––पुराणों में शाखाओं के कई प्रकार उल्लिखित हुए हैं, जिन पर विचार करना आवश्यक है। यथा––

अनुशाखा––श्रीधर ने इसको 'अवान्तरशाखा' कहा है (विष्णु० ३।४।२५)। अवान्तर शाखा का तात्पर्य चिन्तनीय है। मुद्रित कठसंहिता में "यजुषि काठके चरकसंहितायाम्" वाक्य मिलता है। इससे काठक का अवान्तरशाखात्व स्पष्ट हो जाता है।[१७] दुर्ग के "हारिद्रवो नाम मैत्रायणीयानां शाखाभेदः" (निरुक्तटीका १०।५ ख०) वाक्य से भी अवान्तर शाखाओं की सत्ता ज्ञात होती है। शाखाओं के अवान्तरभेदों का स्पष्टतः उल्लेख कहीं कहीं मिलता है, जैसे हारिद्रवीय शाखा के आसुरि, गार्ग्य आदि अवान्तर भेद वैदिक संप्रदायों में माने जाते हैं। (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० २९२)। उसी प्रकार तैत्तिरीय के दो भेद माने जाते हैं––औखेय और खाण्डिकेय[१८]; इनकी गणना भी अनुशाखा में की जा सकती है। 'कौथुमानां षड्भेदाः' इत्यादि जो वाक्य चरणव्यूह (सामवेद प्रक०) में मिलता है, वह भी अनुशाखा के उदाहरणस्थल हो सकता है।

प्रतिशाखा––विष्णु० ३।४।१८ और १२।६।५९ में यह शब्द है। महिदास ने चरणव्यूहटीका में 'प्रतिशाखाभ्यः' का अर्थ 'सर्वशाखाभ्यः किया है, जो अस्पष्टार्थक है। विष्णु० टीका में श्रीधर स्वामी ने इसका अर्थ 'अवान्तरशाखा' किया है। विष्णु० ३।४।२५ की व्याख्या में स्वामी 'अनुशाखा' का भी यही अर्थ करते हैं, अतः यह व्याख्यान सांशयिक है।

प्रधान शाखा––विष्णु० ३।५।१ की व्याख्या में श्रीधर स्वामी कहते हैं कि यहाँ २७ प्रधान शाखाएँ लक्षित हैं। प्रधान शाखाओं (ऋग्वेदीय) की सत्ता श्री सामश्रमी ने भी मानी है (ऐत० आलो०, पृ० १३२)। वे इनको 'मूलशाखा'

---

१७. 'अनुशाखा' शब्द के अर्थ-निर्धारण के लिये 'अनुब्राह्मण' शब्द पर दृष्टि डालनी चाहिए। सामवेदीय आर्षेय ब्राह्मण 'अनुब्राह्मण' कहलाता है (द्र० पुष्पिका "इत्यार्षेयं नाम... अनुब्राह्मणं वा समाप्तम्"। किसी किसी के अनुसार सामविधान, आर्षेय, दैवत, संहितोपनिषद् और वंश––ये पांच सामवेद के अनुब्राह्मण हैं (आर्षेय ब्राह्मण की बंगभाषामयभूमिका का आरम्भ)। "ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थोऽनुब्राह्मणम्"––ऐसा कहा जाता है (काशिका ४।२।६२)। इस सादृश्य का ज्ञापक धर्म क्या है, यह अज्ञात है। सायण कहते हैं––"ब्राह्मणं मन्त्रकाण्डस्थं विधिजातमितीरितम्। अनुब्राह्मणमन्यत् तु कथितं सार्थवादकम्" (तै० सं० १।८।१ भाष्य)।

१८. "तत्र तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति औखेयाः खाण्डिकेयाश्च" (चरणव्यूह, पृ० ३१)।

और अन्य शाखाओं को 'अनुशाखा' कहते हैं। मूल उपजीव्य शाखा प्रधानशाखा है, उनका यह तात्पर्य युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इसी प्रसंग में उन्होंने 'शाखाओं में प्राचीन अर्वाचीन भेद' दिखाया है।

चरण—शाखा प्रसंग में इस शब्द पर भी विचार करना आवश्यक है। पुराणों में इस शब्द से संबंधित सामग्री बहुत कम है। विष्णु० ३।११।६१ में यह शब्द है, जिसका अर्थ 'वेद की अवान्तर शाखा' है (द्र० श्रीधरी टीका)। वस्तुतः शाखाओं का अध्ययन करने वाले चरण कहलाते थे, जैसा कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र-टीका में कहा गया है—"चरणशब्दः शाखाध्यायिषु रूढः"। श्री ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने भी "चरणः शाखाध्येता" कहा है (४।१।६३ पाणिनि-सूत्र की तत्त्वबोधिनी टीका)। इस विषय पर ऐतरेयालोचन (पृ० १२५) में विशद विचार द्रष्टव्य है।[१९]

स्वशाखा:—भविष्य० में 'स्वशाखा' शब्द प्रयुक्त हुआ है (हेमाद्रिकृत चतुर्वर्गचिन्तामणि श्राद्ध प्रकरण, पृ० ७५९ में उद्धृत)। मुद्रित पुराण में यह अंश नहीं मिलता। स्वकुलक्रमागत शाखा स्वशाखा है—यह पूर्वाचार्य-सम्मत है। स्मृति-वाङमय में यह शब्द श्राद्धादि-कर्मप्रसंग में बहुधा मिलता है (गोभिलस्मृति १।३५)। स्वपरम्परा में आगत शाखा और सूत्र के अनुसार यज्ञादि कर्म अनुष्ठेय हैं—यह मत सर्वत्र मान्य है (चतुर्वर्गचिन्तामणि श्राद्ध प्रकरण, पृ० १४८४, श्राद्ध-क्रियाकौमुदी, पृ० १२५)। स्मृतिचन्द्रिका में स्पष्टतः कहा गया है कि स्वशाखा-गत मन्त्रों के अनुसार ही सूर्योपासना करनी चाहिए (भाग १, पृ० १३९)।

---

१९. 'चरण' शब्द पर शब्दकौस्तुभ में भट्टोजिदीक्षित ने कहा है—"चरणशब्दः कठकलापादिषु शाखाभेदेषु मुख्यः तदध्यायिषु पुरुषेषु गौणः" (३।४-३)। इनके मत में पुरुषवृत्ति चरणशब्द गौण है और शाखाभेदवाची चरणशब्द मुख्य है। काशिकाकार का मत है—चरणशब्दः शाखानिमित्तः पुरुषेषु वर्तते (२।४।३)। इससे स्पष्ट होता है कि 'चरण' शब्द का वाच्य अर्थ वैदिक आचार्य-कुल नहीं है। 'चरण' शब्द के अर्थों में इस प्रकार जो संशय उत्पन्न होता है उसका समाधान कैयट ने यों किया है,—"चरणशब्दोऽध्ययनवचनः इह तूपचारा दध्येतृषु वर्तते" (गोत्रं च चरणैः सह ५।३।६३ की प्रदीप व्याख्या)। नागेश ने २।४।३ की व्याख्या में "चरणशब्दोऽत्र शाखाध्येतृपरः" कहा है, जिससे सिद्ध होता है कि किसी हेतु से स्थलविशेष में ही चरण का अर्थ शाखाध्येता होता है, वस्तुतः उसका अर्थ शाखाध्ययन या प्रवचन है। पुराणों में इस विषय पर कोई निर्णायक वाक्य नहीं मिलता (द्र० भारतीय संस्कृति का विकास, वैदिकधारा, पृ० २४२-२४४)।

स्मृतिकारों ने आचार्य के लिये स्वशाखाज्ञान एक गुण माना है (संस्कार प्रकाश, पृ० ४०८ धृत व्यासस्मृतिवचन)।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।३।६।४ में 'एक शाखा के अध्ययनकारी' को 'श्रोत्रिय' कहा गया है; यह भी स्वशाखा का अध्ययन ही है, यदृच्छा से किसी एक शाखा का अध्ययन नहीं। बौधायन गृह्यसूत्र १।७।३ में भी "एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः" वाक्य मिलता है।

वेदशाखा की संख्या—चारों वेदों की शाखाओं की पूर्ण संख्या कितनी है, इस विषय में पुराणों में स्वल्प निर्देश मिलते हैं। पुरुषोत्तम० ४६।११ में कृष्णद्वैपायन-कृत शाखासहस्र का उल्लेख है। यह संख्या वस्तुतः सामान्य दृष्टि से भाषित हुई है, क्योंकि किसी भी गणना के अनुसार वेदों की सहस्र शाखाएँ नहीं होतीं। शाखाओं के बहुत्व को लक्ष्यकर 'सहस्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है,[२०] ऐसा कहा जा सकता है।

शाखासंख्या में मतभेद के कारण—चारों वेदों की शाखाओं की संख्या में मतभेद प्रायेण मिलते हैं। कभी कभी एक ही ग्रन्थकार शाखासंख्या में विकल्प का उल्लेख करते हैं, जैसा कि षड्गुरुशिष्य ने सर्वानुक्रमणी वृत्ति में अथर्वशाखा-संख्या के विषय में कहा है—"नवधाऽथर्वणोऽन्ये तु प्राहुः पञ्चदशाध्वकम्"। इन मतभेदों के कारणों पर विचार करना आवश्यक है।

ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न देशकाल और आचार्य-सम्प्रदायों में प्रणीत होने के कारण शाखासंख्या में मतभेद उत्पन्न होता है, जो सर्वथा न्याय्य है। किसी भी वेद की शाखाएं एक साथ नहीं बनी हैं, अतः जिस काल में जितनी शाखाएँ बनी थीं तत्कालीन आचार्य ने उतनी शाखाओं की संख्या ही कही है; इसी प्रकार जिन आचार्यों को जितनी शाखाओं की सत्ता ज्ञात थी, वे उतनी संख्या ही कहते हैं (चाहे प्रकृतशाखासंख्या ज्ञात संख्या से अधिक हो)। जहाँ आचार्यों को द्विविध शाखासंख्या ज्ञात थी, वहाँ दोनों प्रकार की संख्याएँ ही कही गई हैं। यह भी हो सकता है कि कहीं कहीं भ्रम से 'सौत्रशाखा' भी वेदशाखा के रूप में गणित हो गई हो। एक ही शाखा के एकाधिक सूत्र भी होते हैं और बाद में यदि उन सूत्रों को भी शाखाओं के रूप में स्थान मिल गया हो, तो यह कोई असंभव नहीं है। शाखाओं के नाश की बात भी प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। उदाहरणार्थ साम-

---

२० बहुत्वद्योतनार्थ सहस्रशब्द का प्रयोग प्रसिद्ध है। 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' आदि में प्रयुक्त सहस्र का तात्पर्य भी 'बहु' ही है। इसी प्रकार 'शत' शब्द भी अपरिमितता और बहुत्व अर्थ के द्योतन के लिये प्रयुक्त होता है।

शाखाओं के नाश की बात प्राचीन ग्रन्थों में है (द्र० सामवेदीय शाखा परिमाण प्रकरण), जिसके कारण सामशाखासंख्या में मतभेद स्वभावतः उत्पन्न हो सकते हैं।

ऋग्वेद की शाखासंख्या—कूर्म० में २१ शाखाएँ कही गई हैं (१।५२।१९-२०)।[२१] षड्गुरुशिष्यकृत सर्वानुक्रमणीवृत्ति, प्रपञ्चहृदय का वेदप्रकरण, अहिर्बुध्न्यसंहिता, मुक्तिकोपनिषद् और महाभाष्य (पस्पशाह्निक) में यह संख्या मिलती है (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० १८२-१८४)। शान्तिपर्व ३४२।९७ में "एकविंशतिसाहस्रम् ऋग्वेदम्" कहा गया है; यहाँ २१ शाखाओं का ही निर्देश प्रतीत होता है।[२२] सम्भवतः 'सहस्र' शब्द यहाँ 'लगभग' के अर्थ में या 'संख्या-बहुत्व' के द्योतन के लिये प्रयुक्त हुआ है।

कहीं कहीं संख्यान्तर का उल्लेख भी मिलता है। चरणव्यूह में ऋग्वेद की पांच शाखाओं का उल्लेख है (पृ० १३)। उसी प्रकार आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह में सप्त शाखाएँ कही गई हैं। मध्व ने ब्रह्मसूत्रानुभाष्य १।१।१८ में स्कन्दपुराण के दो श्लोक उद्धृत किए हैं, जिनमें ऋग्वेद की २४ शाखाएँ कही गई हैं। वाक्यपदीय १।६ की हरिकृत टीका में 'ऋग्वेद की १५ शाखाएँ हैं,' ऐसा एक मत दिखाया गया है।

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि पुराणोक्त शाखानामों की संख्या इन गणनाओं के अनुसार नहीं है। शाखासंख्या-संबद्ध मतभेद के कारण पर पहले विचार किया गया है।

यजुर्वेदशाखा की संख्या—कूर्म० १।५२।१९ में यजुर्वेद की सौ शाखाओं का उल्लेख है, परन्तु महाभाष्य, अहिर्बुध्न्य संहिता और प्रपञ्चहृदय के वेदप्रकरण में १०१ संख्या स्पष्टतः कही गई है। हो सकता है कि कूर्म० में 'शतेनैव' के स्थान पर 'शतं चैकं' पाठ हो या शतशब्द आसन्न संख्या की दृष्टि से प्रयुक्त हुआ हो और विवक्षित संख्या १०१ ही हो।

कहीं कहीं २७ यजुःशाखाएँ कही गई हैं (विष्णु० ३।५।१ तथा अग्नि० १५०। २७)। टीकाकार श्रीधर कहते हैं कि यहाँ २७ प्रधान शाखाएँ विवक्षित हैं। ये

---

२१ ऐतरेयालोचन पृ० १३२ में श्री सामश्रमी ने कहा है कि ऋग्वेद की दो ही प्राचीनतम शाखाएँ हैं—शाकला और माण्डूकेया। ये दो शाखाएँ क्रमशः २१ शाखाओं में परिणत हो गई हैं।

२२ यहाँ "ऋग्वेद इक्कीस हजार ऋचाओं से युक्त है" ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है, पर यह परिमाण ग्रन्थान्तर से समर्थित नहीं होता।

२७ शाखाएँ विकसित होते-होते क्रमशः ८६ में परिणत हो गई हैं—यह भी पूर्वाचार्यों का अनुमान है; शेष १५ शाखाएँ शुक्लयजुर्वेद की हैं और इस प्रकार ८६+१५=१०१ संख्या होती है, जो दोनों यजुर्वेदों की शाखाओं का पूर्ण योग है।

अग्नि० और विष्णु० के उपर्युक्त स्थलों में स्पष्टतः कहा गया है कि २० शाखाएँ वैशम्पायनकृत हैं। वैशम्पायन के शिष्यों की तीन धाराएँ थीं और प्रत्येक धारा में एक एक प्रधान थे। प्रत्येक धारा के ९ अवान्तर भेद थे, इस प्रकार ९+९+९=२७ ऐसा मानकर पुराणोक्त संख्या की उपपत्ति की जा सकती है (द्र० स्वाध्यायमण्डल से प्रकाशित काठकसंहिता की भूमिका, पृ० ६-७ और मैत्रायणीसंहिता की भूमिका, पृ० ८-१०)।

मुक्तिकोपनिषद् में १०९ संख्या कही गई है। उसी प्रकार आथर्वण चरणव्यूह परिशिष्ट में २४ संख्या का निर्देश है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ १० शुक्लयजुः और १४ कृष्णयजुः शाखाओं की सत्ता मानी गई हैं। शाखासंख्या संबन्धी मतभेद के कारणों पर पहले विचार किया गया है।

वैदिक सम्प्रदाय में यह प्रसिद्धि है कि कृष्णयजुः के पाँच कल्पसूत्रकार हैं, और प्रत्येक कल्प में कई शाखाएँ हैं (मैत्रायणी संहिता भूमिका, पृ० ६; स्वाध्यायमण्डल संस्करण)। विभिन्न कल्पों में औखेयादि २१ शाखाएँ, खाण्डिकेयादि २१ शाखाएँ, चरकादि १२ शाखाएँ, मानवादि १७ शाखाएँ और गार्ग्यादि १५ शाखाएँ हैं। ये सब मिलकर ८६ शाखाएँ होती हैं।

शुक्लयजर्वेद की शाखासंख्या सर्वत्र १५ ही कही गई है (पञ्चदश या दशपञ्च, भाग० १२।६।७४, वायु० ६१।२६, ब्रह्माण्ड० १।३५।३०, विष्णु० ३।५।२९)। चरणव्यूह (पृ० ३९) में भी यह मत है। ये १५ 'वाजसनेयी' कहलाती हैं (द्र० याजुष शाखा परिच्छेद)।

इन १५ शाखाओं के कल्पकार एक कात्यायन ही हैं।[२३] कात्यायनकृत सूत्रमन्त्रप्रकाशिका में कहा गया है—"शाखाभेदेऽपि कल्पैक्ये कर्मभेदो न भिद्यते" (श्लोक ७१)।

---

२३. याज्ञवल्क्यसुत किसी कात्यायन का उल्लेख नागर० १३१।४७-४९ में है। यहाँ कात्यायन को 'यज्ञविद्याविचक्षण' कहा गया है—कात्यायन के पुत्र वररुचि हैं, यह भी कहा गया है। संभवतः दोनों कात्यायन एक ही व्यक्ति हैं। कात्यायन- कृत मन्त्रभ्रान्तिहर या सूत्रमन्त्र-प्रकाशिका का उद्धरण मैत्रायणीसंहिता की भूमिका पृ० ६ में दिया गया है (स्वाध्यायमण्डल संस्क०)।

सामशाखा की संख्या—सामवेद सहस्रशाखायुक्त है, यह पुराणों में सर्वत्र कहा गया है (कूर्म० १।५२।२०, भाग० १२।६।७६, अग्नि० १५०।२८-२९, लिङ्ग० १।४३।५-६)। अन्यान्य ग्रन्थों में भी यह मत मिलता है। महाभाष्य (पस्पशाह्निक), प्रपञ्चहृदय का द्वितीय प्रकरण, आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह, मुक्तिकोपनिषद्, षड्गुरुशिष्यकृत सर्वानुक्रमणीवृत्ति आदि इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं।

कुछ ग्रन्थों में सामशाखानाश का उल्लेख मिलता है (शौनकीय परिशिष्ट, अथर्वपरिशिष्ट, चरणव्यूह का सामवेदखण्ड आदि)। यहाँ इन्द्र द्वारा शाखाओं का नाश किए जाने की घटना कही गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक सामवेदीय प्रवक्ताओं का नाश किसी प्राकृतिक दुर्घटना से कभी हुआ होगा जिसका अनुस्मरण इस कथा में मिलता है। इस नाश के कारण ही सामशाखाओं की संख्या ५० से भी कम हो गई है—यह उपर्युक्त ग्रन्थकारों का मत है, अतः ये ग्रन्थकार "शेषान् व्याख्यास्यामः", "अवशिष्टाः प्रचरन्ति"--ऐसे वाक्यों का प्रयोग करते हैं।

किसी किसी के मत में शाखाओं की यह संख्या (१०००) अयथार्थ है। यदि सामवेद की १००० शाखाएँ होतीं तो कम से कम कई सौ शाखाओं के नाम अवश्य मिलते (जैसा कि अन्य वेदों की शाखासंख्या के विषय में देखा जाता है), पर सामवेद की शाखाओं के सौ नाम भी नहीं मिलते हैं। विपरीत पक्ष में सामाचार्यों की गणना में १०, १३ आदि लघीयसी संख्या प्रयुक्त हुई है। खादिरगृह्य ३।२।१४ की रुद्रस्कन्दकृत टीका में १३ सामाचार्य और १० सामप्रवचनकर्ता स्मृत हुए हैं। सुब्रह्मण्यशास्त्रिकृत गोभिलगृह्यकर्मप्रकाशिका के नित्याह्निकप्रयोग में १३ सामगाचार्यों के प्रति तर्पणक्रिया का उल्लेख है और इसके बाद १० प्रवचनकार कहे गए हैं। जैमिनि-गृह्यसूत्र में १० प्रवचनकार स्मृत हुए हैं। जैमिनि-गृह्यसूत्र के तर्पणप्रकरण (१।१४) में भी १३ आचार्य स्मृत हैं (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० ३०८- ३१०)। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सामवेद की सहस्रशाखावत्ता का कुछ अन्य तात्पर्य है।

कुछ आचार्यों का मत है कि यहाँ सहस्रशाखारूप अर्थ न होकर 'सहस्र (बहुसंख्यक) गीत्युपाय' रूप अर्थ ही उचित है। श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने कहा है कि गीतिकौशल-बहुत्व के कारण सामवेद की बहुशाखावत्ता है, पर शाखासंख्या तो १३ ही है (ऐतरेयालोचन, पृ० १२७)। श्री काणे महोदय भी इस मत को मानते हैं (हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र, भाग २ पृ० ३५४ की ८६० संख्यक टिप्पणी)।

सामगानों की संख्या सहस्र (अगणित) हो सकती है। सामगानों के जितने नाम मिलते हैं (बृहत्, रथन्तर, वैराज, ज्येष्ठ, रैवत आदि), उनकी संख्या

निश्चयेन सहस्राधिक है और इस दृष्टि से बहुवाची 'सहस्र' शब्द का प्रयोग उपपन्न होता है।

इस विषय में एक अन्य दृष्टि विचारणीय है। यह प्रसिद्ध है कि साम का अर्थ गीतिविशेष है (द्र० सामवेद परिच्छेद), अतः साम की 'सहस्रशाखा' का अर्थ होगा 'गीतिविशेष का सहस्र प्रकार' (सहस्र=बहुसंख्यक)। इस दृष्टि से श्री सामश्रमी का मत सर्वथा उपपन्न होता है। शबरस्वामी ने भी "सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः" कहा है (९।२।२९)। यह सिद्धान्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है और बाद में शाखाग्रन्थों की संख्या के रूप में यह मत विपरिणत हो गया है, ऐसा प्रतीत होता है। जो कुछ भी हो, अभी यह विषय एक प्रकार से अनिर्णीत ही है।

अथर्ववेदशाखा की संख्या—कूर्म० १।५२।२० में इसकी ९ शाखाएँ कही गई हैं। आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह, प्रपञ्चहृदय, महाभाष्य (पस्पशाह्निक), और षड्गुरुशिष्यकृत सर्वानुक्रमणीवृत्ति में ९ और मतान्तर में ५० संख्या कही गई है। मुक्तिकोपनिषद् में भी ५० संख्या है। अहिर्बुध्न्य संहिता में ५ ही शाखाएँ कही गई हैं (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० ३२६-३२७)।

इस मतभेद पर कुछ विचार करना आवश्यक है। ५० संख्या के विषय में यह स्मर्तव्य है कि नागरखण्ड में अथर्ववेद की शतशाखावत्ता कही गई है (१७४। ५०-५१) और वहाँ यह भी कहा गया है कि शतशाख अथर्ववेद को बाद में नवशाख बनाया गया, जिस प्रकार इस वेद के शतकल्पों को पञ्चकल्पों के रूप में बनाया गया है। हो सकता है कि कभी ऐसी स्थिति थी जब ५० शाखाएँ ही निर्मित हुई थीं, जिसका उल्लेख मुक्तिकोपनिषद् आदि में किया गया है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता १२।९ में पांच शाखाएँ कही गई हैं; सम्भवतः पञ्च-कल्पों (नागरखण्डोक्त) के अनुसार ही ऐसा कहा गया है, अथवा यह भी हो सकता है कि संहिताकार को इतनी संख्या ही ज्ञात थी, या इतनी शाखाएँ ही पुराण-रचना काल में प्रचलित थीं।

शाखानाम की आनुपूर्वी—इस विषय में पहले ही यह जानना चाहिए कि शाखानाम सर्वत्र शाखाप्रवक्तृनाम के अनुसार होता है। यतः प्रोक्तप्रत्यय में कहीं कहीं कुछ न कुछ भेद उपलब्ध होता है, अतः प्रवक्तृनामों के अनुसार ही शाखाओं पर विचार करना सुकर होगा। पाणिनि-व्याकरण में यह विषय विवृत हुआ है। पौराणिक शाखा-विवरण में कथित अधिकांश ऋषिनामों का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट हो चुका है और प्रमाणान्तर से भी यथार्थ पाठ का निरूपण सर्वत्र नहीं किया जा सकता, अतः नामों को वर्णक्रमानुसार रखना उचित प्रतीत नहीं होता। पुरा-

णोक्त शाखाविवरण में गुरुशिष्यक्रम ही रखा गया है, अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में भी यथासम्भव उसी क्रम को अपनाया गया है।

यह भी ज्ञातव्य है कि नाम की जो आनुपूर्वी प्रमाणान्तर से अधिक संगत ज्ञात होती है उसका निर्देश पहले करने का प्रयास किया गया है। कहीं कहीं पुराण-पाठ का संशोधन कर ही हमने उसका उद्धरण दिया है, अतः नामविषयक संशय उत्पन्न होने पर आकरस्थल को ही देखना चाहिए। किंच पुराणों में नामों के जितने पा न्तर हैं, उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया, यद्यपि बहुत्र पाठान्तर दिए गए हैं। कहीं कहीं ऋषि-नाम के स्थान पर प्रोक्तप्रत्ययान्त नाम ही प्रयुक्त हुआ है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पाठभ्रष्टता के कारण सर्वत्र नामों में इसका विवेक करना भी अत्यन्त कठिन है। इतना होने पर भी हमने यथासम्भव शुद्ध ऋषिनामों का निर्देश करने का प्रयास किया है।

द्वितीय परिच्छेद

ऋग्वेदीय शाखाविवरण

पैल—वायु० ६०।२४-६१।४, ब्रह्माण्ड० १।३४।२४-३५।७, विष्णु० ३।४। १६-२६ और अग्नि० २७१।२-३ में ऋक्‌शाखा-प्रकरण है। प्रकरणारम्भ में पैल को व्यासशिष्य तथा प्रथम ऋक्‌शाखाप्रवर्तक (वर्तमान द्वापर में) कहा गया है। भाग० १२।६।५२ के अनुसार पैल-प्रोक्त शाखा का नाम 'बह्‌वृच' है। बह्‌वृच ऋग्वेद का सामान्य नाम भी है और एक आर्ष शाखाविशेष का नाम भी बह्‌वृच है। इस बह्‌वृच शाखा का उल्लेख शाङ्खायन श्रौतसूत्रभाष्य १।१७।१८ में है। भर्तृहरिकृत दीपिका-टीका में बह्‌वृच सूत्र भाष्य का जो निर्देश है, वह भी बह्‌वृच शाखा का ज्ञापक है।[1] पर यह बह्‌वृच शाखा पैलप्रोक्त ही है—ऐसा इन स्थलों से ज्ञात नहीं होता। पैलप्रोक्त शाखा उपलब्ध भी नहीं है, अतः इस विषय में निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता। प्रपञ्चहृदय, चरणव्यूह आदि में पैलशाखा का उल्लेख नहीं मिलता। चरणव्यूह-टीका में भागवत का ऋक्‌शाखाप्रकरण उद्धृत किया गया है (पृ० २-३)। टीकाकार महिदास ने भागवतश्लोकों की व्याख्या भी की है। यहाँ महिदास ने कहा है कि व्यास से पैल ने संहिता के साथ पदक्रम का भी अध्ययन किया था (पृ० ३)। महिदासकृत यह अर्थ श्रीधर-मध्वकृत[2] टीकाओं में नहीं मिलता। पैलकृत ऋग्वेदीय पदक्रमपाठ का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता, अतः महिदासकृत व्याख्या संदिग्ध है।

इतिहासपुराण में पैलसम्बन्धी कुछ विशिष्ट विवरण नहीं मिलता। आदिपर्व ६३।८९-९० में इनका व्यास से वेद और महाभारत का अध्ययन करना कथित हुआ है। शान्तिपर्व ४७।६ में तथा अन्यत्र भी पैल नाम मिलता है, परन्तु यह पैल

---

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० २२३-२२५ में इस विषय पर विचार द्रष्टव्य है; पाणिनिकालीन भारतवर्ष (पृ० ३१६) में भी स्वल्प विवरण है।

२. मध्वकृत यह टीका वंगाक्षर में गौडीय विश्ववैष्णव राजसभा द्वारा प्रकाशित हुई है।

कौन हैं, यह ज्ञात नहीं है। पुराणों में इनके इन्द्रप्रमति (या इन्द्रप्रमिति) और बाष्कल नामक दो शिष्य कहे गए हैं।

इन्द्रप्रमति (पैलशिष्य)—वायु० विष्णु० का पाठ ऐसा ही है। भागवत (गीताप्रेस) में मूलपाठ इन्द्रप्रमिति[3] दिया गया है: और इन्द्रप्रमति को पाठान्तर माना गया है। अनुशासन० ३०।५८-६४ में वागिन्द्र का पुत्र प्रमिति स्मृत हैं, संभवतः यह ही इन्द्रप्रमिति हैं। इनके 'वेदवेदाङ्गपारग' रूप विशेषण से इस मत की पुष्टि होती है। इनके पूर्वजों के साथ ऋग्वेद का संबंध भी था, यह अनुशासन० ३०।५९ से ज्ञात होता है। सम्भवतः 'इन्द्रप्रमिति' पाठ ही समीचीन है। इस पाठ में बहुसंमति भी है। ब्रह्माण्ड० का 'इन्द्रप्रमित्ति'[4] और अग्नि० १५०।२६ का 'इन्द्रः प्रमति' पाठ मुद्रणप्रमाद ही हैं। विष्णु० ६।८।४७ में कहा गया है कि वेदशिराः से प्रमति ने पुराण प्राप्त किया और प्रमति से जातूकर्ण्य को पुराण मिला। यह प्रमति भी इन्द्रप्रमिति हो सकता है।

पुराणों में शाखाकार इन्द्रप्रमिति के विषय में अन्य विवरण नहीं मिलता। इनके द्वारा प्रोक्त शाखा भी उपलब्ध नहीं है। महिदास ने कहा है कि इन्द्रप्रमिति ने पैल से पद-क्रमपाठ के साथ ऋक्संहिता का अध्ययन किया था और इन्द्रप्रमिति ने जटान्तपाठ का प्रणयन कर अपने शिष्यों को पढ़ाया था (चरणव्यूह टीका, पृ० ३)। यह व्याख्या उन्होंने भाग० १२।६।५५ श्लोक पर की है, पर श्रीधरादि टीकाकार ऐसी व्याख्या नहीं करते हैं। वस्तुतः महिदास की व्याख्या सन्दिग्ध है।

महिदास ने यह भी कहा है कि इन्द्रप्रमिति के बाष्कल, बोध्य, याज्ञवल्क्य, पराशर, अग्निमित्र और माण्डूकेय—ये छह शिष्य थे (भाग० १२।६।५५ की व्याख्या में)। वायु-ब्रह्माण्ड-विष्णु० में बाष्कल को पैलशिष्य माना गया है और बौध्य आदि को बाष्कल-शिष्य। भागवत के जिस पद्य की व्याख्या में टीकाकार ने पूर्वोक्त अर्थ निकाला है, वस्तुतः उसका अर्थ टीकानुरूप नहीं है। उसका अर्थ वायु-ब्रह्माण्ड-विष्णु० श्लोकार्थवत् ही है। हमारी दृष्टि में "बाष्कलाय च सोऽप्याह शिष्येभ्यः संहितां स्वकाम्" (भाग० १२।६।५४) का अर्थ है कि पैल ने बाष्कल को भी ('च') स्वसंहिता का अध्यापन किया और बाष्कल ('सः') ने भी स्वाधीत-

---

३. द्र० हिन्दी अनुवादसहित संस्करण एवं केवलमूलश्लोकात्मक संस्करण (२०२८ वैक्रमाब्द)।

४. यह ज्ञातव्य है कि इन्द्र के स्थान पर इंद्र पाठ भी कहीं कहीं मुद्रित हुआ है, यह लिपिकरप्रमाद या मुद्रणप्रमाद ही है। एतादृश पञ्चमवर्ण-घटित अन्यान्य शब्दों में भी अनुस्वार का प्रयोग अशुद्ध है।

संहिता स्वशिष्यों को पढ़ाई। भाग० १२।६।५५ में जो "इन्द्रप्रमितिरात्मवान्" कहा गया है, उसका संबंध माण्डूकेय के साथ है (अध्यापयत् संहितां स्वां माण्डूकेयम्, १२।६।५६), जिससे सिद्ध होता है कि इन्द्रप्रमिति का शिष्य माण्डूकेय है। यह मत वायु-ब्रह्माण्ड-विष्णु० को अनुमत है। यह व्याख्या स्वारसिक है और पुराणान्तर के अनुरूप है, अतः यही न्याय्य है।

बाष्कल---पैल के द्वितीय शिष्य बाष्कल हैं। वायु० ६०।२५, अग्नि० १५०। २६ और विष्णु० ३।४।१७ में बाष्कल के साथ बाष्कलि नाम भी पठित हुआ है। विष्णु-टीकाकार श्रीधर स्वामी ने बाष्कल को ही बाष्कलि कहा है।

बाष्कल शब्द में ष् है या स्-यह पहले विचार्य है। यहाँ प्रकृत पाठ 'ष्' घटित ही है क्योंकि शुक्लयजुः प्रतिज्ञासूत्रभाष्य (८), अनुवाकानुक्रमणी (२१ और ३६) आदि ग्रन्थों में ऐसा ही पाठ मिलता है।

वाष्कल को ही 'बाष्कलि' कहा गया है। व्यक्तिनाम के एतादृश द्विविध रूप के विषय में शास्त्रीय विधि ज्ञातव्य है। श्रीधर के अनुसार प्रकृत स्थल में स्वार्थ में 'इ' प्रत्यय हुआ है। इस प्रकार के प्रत्ययभेद अन्यत्र भी होते हैं। 'पाणिनि' के लिये 'पाणिन' शब्द (गोत्रप्रत्ययान्त) भी प्रयुक्त होता है ('पाणिनि' युवप्रत्ययान्त है)। एक ही व्यक्ति के लिये इस प्रकार का प्रयोग सहेतुक है। पूज्य व्यक्ति के सम्मान के लिये युवप्रत्ययान्त नाम से उनका स्मरण किया जाता है (वृद्धस्य च पूजायाम्, वार्त्तिक ४।१।१६३)। वार्त्तिककार कात्यायन (युवप्रत्ययान्त) को 'कात्य' भी कहा गया है (गोत्रप्रत्ययान्त प्रयोग)। महाभाष्य ३।२।३ में कात्य शब्द प्रयुक्त मिलता है। इसी दृष्टि से संग्रहकार दाक्षायण (व्याडि) को दाक्षि भी कहा जाता है। काशिका ४।१।१७ का "तत्र भवान् दाक्षायणः दाक्षि र्वा" वाक्य इस विषय में साक्षात् प्रमाण है।

पुराणादि में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं। विष्णु० ३।१।१३ में 'औत्तमि' रूप मनु-नाम का प्रयोग मिलता है। यहाँ औत्तमि पद से 'उत्तम' नाम लक्षित है। टीकाकार श्रीधर कहते हैं---"उत्तम एव औत्तमिः" (३।१।१२)। औत्तमि में स्वार्थ में 'इ' प्रत्यय हुआ है। इसी प्रकार अगस्त्य के लिये बहुत्र 'अगस्ति' पद भी प्रयुक्त होता है (विष्णु० ३।११।४३, भावप्रकाश ५।१७५)। कोशों में भी अगस्ति और अगस्त्य को पर्यायवाची कहा गया है (द्विरूपकोश २६; शब्दभेद-प्रकाश ३)। केवल 'अगस्ति' पद भी कुछ कोशों में ऋषिवाचक के रूप में मिलता है (मेदिनी १६।८५, अनेकार्थसंग्रह ३।२५५)[५]। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि

५. सिद्धान्त (वर्ष १४, अंक २१-२३) में प्रकाशित 'अगस्ति और अगस्त्य' शीर्षक लेख द्र०।

बाष्कल को वाष्कलि कहना शब्दशास्त्रसंमत है, परन्तु किस विशिष्ट उद्देश्य के लिये यहाँ यह प्रत्ययभेद किया गया है--यह अन्वेषणीय है। एक अन्य बाष्कलि भी है, जिस पर इस परिच्छेद के अन्त में विचार किया जाएगा।

बाष्कलशाखा कभी बहुत ही प्रसिद्ध थी। चरणव्यूहादि-ग्रंथों में इसके विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें मिलती हैं। 'ऋग्वेद के आठ भेदों में बाष्कल एक है', यह चरणव्यूह और उसकी टीका में स्पष्टतः कहा गया है (पृ० ५)। पुनश्च ऋग्वेद की पांच शाखाओं में बाष्कला नाम चरणव्यूह में मिलता है (पृ० १३)। वाष्कलादि पांच शाखाओं के वर्ग आदि का विवरण भी यहाँ मिलता है (पृ० १४-३०)। बाष्कल शाखा का अन्तिम मन्त्र और बाष्कल संहिता का वर्गक्रम आदि विषय पृ० २५-२६ में उल्लिखित हुए हैं। शाङ्खायन गृह्यसूत्र ४।५ से भी इस संहिता के अन्तिम मन्त्र का स्वरूप (तच्छंयोरावृणीमहे) ज्ञात होता है।

अनुवाकानुक्रमणी में बाष्कलसंहिता के क्रम के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है (२१)। शाकलसंहिता भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। अनुवाकानुक्रमणी के ३६वें श्लोक में कहा गया है कि बाष्कल में शाकल से ८ सूक्त अधिक हैं (शाकल में १११७ हैं और वाष्कल में ११२५)। बाष्कल संहिता में बालखिल्य सूक्त का क्रम किस रूप से है—यह चरणव्यूह टीका में द्रष्टव्य है (पृ० २५-२६)।

शाङ्खायन श्रौतसूत्र के आनर्तीय भाष्य में बाष्कलशाखीय नियम उपलब्ध होते हैं (१२।३।५; १।२।५)।

पुराणों में बाष्कल शाखा के विषय में विशिष्ट सामग्री[६] नहीं मिलती। लिंग० २।२३।२० में "ओं भूः" इत्यादि एक मन्त्र के लिये "नवाक्षरमयं मन्त्रं बाष्कलं परिकीर्तितम्" कहा गया है। यहाँ बाष्कल का अर्थ 'बाष्कलशाखा' हो सकता है। बाष्कलशाखा का जैसा स्वरूप चरणव्यूहटीकादि में कहा गया है, उससे यह कहा जा सकता है कि यह मन्त्र बाष्कलसंहिता में विद्यमान नहीं है। इस संहिता के ब्राह्मण में यह मन्त्र हो सकता है।

माण्डूकेय—वायु-ब्रह्माण्ड० में इनको इन्द्रप्रमिति का शिष्य कहा गया है। वायु० में 'मार्कण्डेय' पाठ है, पर यहाँ प्रकृत पाठ माण्डूकेय ही होना चाहिए, क्योंकि मार्कण्डेय कहीं भी ऋक्शाखाकार के रूप में स्मृत नहीं हैं, जबकि माण्डूकेय ऋग्वेदीय साहित्य में बहुत बार स्मृत हुए हैं। शाङ्खायन आरण्यक ७।२ में शौरवीर

---

६. वैदिक वाङ्मय का इतिहास-भाग १, पृ० १९६-१९७ में इस शाखा के विषय में विशद विवरण मिलता है।

माण्डूकेय और ऐतरेय आरण्यक ७।२ में शूरवीर माण्डूकेय के नाम हैं। उसी प्रकार ह्रस्व माण्डूकेय भी उल्लिखित हुए हैं (शाङ्खायन आरण्यक ७।१३)। भाग० में इनको इन्द्रप्रमिति का शिष्य माना गया है (१२।६।५६) पर विष्णु० में इनको इन्द्रप्रमतिसुत कहा गया है। सुत का शिष्यरूप वैदिक वाङ्मय में प्रसिद्ध है।[७]

चरणव्यूह में ऋग्वेद के आठ स्थानों के उदाहरण में महिदास 'शाङ्खायन-माण्डूक' का उल्लेख करते हैं। प्रतीत होता है कि माण्डूकेय और माण्डूक एक ही हैं[८] (केवल शब्द शास्त्रीय प्रत्यय में पार्थक्य है)। पुनश्च चरणव्यूह में ऋग्वेद की पञ्च शाखाओं की गणना में 'माण्डूकायना': पद उदाहृत हुआ है (पृ० १३)। इस संहिता के वर्गादि के विषय में इसी परिच्छेद (ऋग्वेद परिच्छेद) में स्थान स्थान पर निर्देश मिलते हैं।

ऋग्वेद शाखाकार शाकल्य को महिदास ने 'मण्डूकगणस्थ' कहा है (पृ० १५)। यह मत पुराणों के अनुसार संगत ही है; क्योंकि ब्रह्माण्ड० और वायु० में शाकल्य को माण्डूकेय की शिष्यपरम्परा में ही रखा गया है। विष्णु० में स्पष्टतः शाकल्य को माण्डूकेय का शिष्य नहीं कहा गया है (३।४।२० श्लोक), पर विष्णु० के पूर्वापर श्लोकों को देखने से यह भी अनुमित होता है कि ३।४।२० श्लोकोक्त संहिता माण्डूकेयप्रोक्त संहिता भी हो सकती है, अर्थात् शाकल्य को माण्डूकेयसंहिता का अध्येता भी युक्तियुक्तरूप से माना जा सकता है। यह अर्थ महिदास-स्वीकृत है।

बाष्कल के चार शिष्य—बाष्कल ने चार संहिताएँ रचकर चार शिष्यों को पढ़ाईं, यह वायु-ब्रह्माण्ड० में स्पष्टतः कहा गया है। विष्णु० में "बाष्कलिः चतुर्धा बिभेद" कहकर बौध्यादि चार आचार्यों के नाम कहे गए हैं। यहाँ बाष्कलि=बाष्कल है, जैसा कि पहले कहा गया है।

वायु-ब्रह्माण्ड-भागवत० में चार शिष्यों के नाम दिए गए हैं और विष्णु० ३।४।१७ में 'बौध्यादि' कहकर ३।४।१८ में चारों के नाम भी कहे गए हैं। इन आचार्यों के विभिन्न पुराणोक्त नामों में अत्यन्त सादृश्य है।

बौध्य—आचार्य का यही नाम ठीक प्रतीत होता है, अन्य 'बोध्य' आदि पाठ भ्रष्ट हैं। पाणिनि के कपिबोधादाङ्गिरसे (अष्टा० ४।१।१०७) सूत्र से आङ्गिरस

---

७. इस विषय में मनु० ३।३ का मेधातिथि-भाष्य द्रष्टव्य है। "इदं वा तज् ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वान्तेवासिने" (छान्दोग्य० ३।११।५) वाक्य वैदिक दृष्टि का ज्ञापक है।

८. पुराणों में मार्कण्डेय के लिये मार्कण्ड प्रयोग मिलता है, जो इस प्रसंग में स्मर्तव्य है (वामन० ३२।५, ३७।२३)।

गोत्रवान् बौध्य नाम की सिद्धि होती है। इस शाखाकार आचार्य का स्पष्टतः उल्लेख पुराणों के अन्य स्थलों में नहीं मिलता। चरणव्यूहादि में भी यह आचार्य निर्दिष्ट नहीं हुए हैं। बृहद्देवता ८।४८ श्लोक के चतुर्थ चरण में सम्भवतः बौध्य आचार्य के किसी मत का उल्लेख आया है। यद्यपि प्रचलित मुद्रित पाठ से ऐसा प्रतीत नहीं होता, तथापि इस चरण के पाठान्तरों से और 'मन्यते' क्रिया के स्वारस्य से बौध्य नाम ऊहित किया जा सकता है (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १,पृ० ११८)।

भाग० का बौध्य-पदघटित श्लोक चरणव्यूहटीका में उद्धृत है(पृ० ३), पर महिदास ने इसकी कोई व्याख्या नहीं की है। टीका में इतना ही कहा गया है कि बाष्कल, बौध्य, याज्ञवल्क्य, पराशर और अग्निमित्र इन्द्रप्रमिति के शिष्य हैं। वायु०-ब्रह्माण्ड० में इन सबों को इन्द्रप्रमिति का साक्षात् शिष्य नहीं माना गया है; इन दो पुराणों में बाष्कल को पैल का शिष्य कहा गया है और बौध्य आदि चार बाष्कल के शिष्य कहे गए हैं। विष्णु० का मत भी ऐसा ही है। यह भी ज्ञातव्य है कि भागवत के मूल श्लोक का अर्थ भी वायु-ब्रह्माण्ड-विष्णु० के अनुरूप ही है। तदनुसार बौध्य आदि चार बाष्कल के शिष्य और बाष्कल इन्द्रप्रमिति के शिष्य सिद्ध होते हैं। महिदास ने उपर्युक्त अर्थ कैसे किया है—यह समझ में नहीं आता। हो सकता है कि टीका का पाठ भ्रष्ट हो गया हो। भाग० १२।६।५४ में जो "सोऽप्याह" वाक्य है, महिदास के अनुसार वहाँ 'सः' का अर्थ इन्द्रप्रमिति है, जबकि स्पष्टतः उसका अर्थ पैल हो सकता है और इस प्रकार वायु-ब्रह्माण्ड० के साथ भाग० का विरोध समाप्त हो जाता है। बौध्य-बोध्य का पाठसांकर्य भी उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में दृष्ट होता है।

अग्निमाठर—यह प्रकृत नाम है (ब्रह्माण्ड० का 'अग्निमातर' पाठ भ्रष्ट है)। इसी प्रकार भागवत का 'अग्निमित्र' पाठ भी भ्रष्ट है। चरणव्यूहादि ग्रन्थ में स आचार्य के विषय में कुछ भी विवरण नहीं मिलता। ब्रह्माण्ड० १।३३।३ में बह्वृच ऋषियों की गणना में "सन्ध्यास्तिमाठरश्चैव"—ऐसा पाठ है, यहाँ 'अग्निमाठरश्चैव' पाठ की कल्पना आसानी से की जा सकती है।

पराशर—वायु० आदि में जो 'पाराशर' और 'पाराशरी' पाठ हैं, वे भ्रष्ट हैं, प्रकृत पाठ पराशर है। इस पराशरप्रोक्त शाखा के विषय में अन्यत्र कुछ भी सामग्री नहीं मिलती। एक पराशर-ब्राह्मण तन्त्रवार्त्तिक (पृ० १६४ चौखम्बा सं०) में उद्धृत है; हो सकता है कि यह इस शाखा से ही संबद्ध हो। महाभाष्य ४।२।६० में 'पाराशरकल्पिकः' उदाहरण दिया गया है। इससे भी पराशरशाखा की सत्ता अनुमित होती है।

इस पराशरशाखा के साथ वसिष्ठशाखा का कोई सबंध है या नहीं, यह अन्वेषणीय है। वसिष्ठ-कुल में पराशर उत्पन्न हुए थे—यह प्रसिद्ध है। ऋग्वेद के साथ वसिष्ठ का संबंध अन्यत्र दिखाया गया है। बह्वृचों द्वारा वसिष्ठ गृह्यसूत्र का स्वीकार किया जाना बहुत ही प्रसिद्ध बात है। कुमारिल ने तन्त्रवार्त्तिक १।३ ११ में स्पष्टतः ऐसा ही कहा है (वासिष्ठं बह्वृचैरेव)। एक प्रकार के चरणव्यूह में वसिष्ठशाखा के पदादिपरिमाणों का भी उल्लेख मिलता है।[९]

ब्रह्माण्ड० १।३३।३ गत बह्वृच ऋषियों की गणना में पराशर का नाम है। पाराशरचरणसंबन्धी विवरण के लिये पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३१५ द्र०।

याज्ञवल्क्य—वायु-ब्रह्माण्ड-विष्णु० और भागवत० में यह नाम है, यद्यपि यह आश्चर्य का विषय है कि याज्ञवल्क्यशाखा के विषय में कहीं भी अणुमात्र उल्लेख नहीं मिलता। याज्ञवल्क्य के साथ ऋग्वेद का संबन्ध कहीं भी नहीं कहा गया है। ब्रह्माण्ड० १।३३।३ में बह्वृच ऋषियों की गणना में याज्ञवल्क्य का नाम है। इससे याज्ञवल्क्यशाखा का अनुमान किया जा सकता है।[१०]

आश्वलायनगृह्य (ऋग्वेदीय) के तर्पणप्रकरण में शाकल्य आदि के साथ माण्डूकेय का भी उल्लेख है। देवी पुराण में ऋग्वेद की तीन शाखाओं के उल्लेख करने के समय "शाकला-यास्क-मण्डूकाः" कहा गया है।[११] श्री सत्यव्रत सामश्रमी कहते कि शाकला और माण्डूकेया-ये दो ही ऋग्वेद की प्राचीनतम शाखाएँ हैं, क्योंकि ऐतरेय आरण्यक में इन दोनों शाखाओं के प्रवक्ता आचार्यों के ही नाम मिलते हैं। ये दो शाखाएँ ही अध्येतृभेद से क्रमशः २१ शाखाओं में परिणत हो गई थीं (ऐतरेयालोचन, पृ० १३२)।

---

९. यह चरणव्यूह परिशिष्ट पञ्जाब विश्वविद्यालय के ओरियन्टल कालेज मैगज़ीन में मुद्रित हुआ है (नवम्बर १९३२; प्रस्तुत स्थल के लिये पृ० ३९ द्रष्टव्य है)।

१०. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० १९० में याज्ञवल्क्य के स्थान पर 'जातूकर्ण्य' पाठ स्वीकार किया गया है। अधिक प्राचीन सामग्री के मिलने के बाद ही इस विषय में कुछ निर्णय किया जा सकता है।

११. देवीपुराण का यह पाठ ऐत० आलो० पृ० १३२ में उद्धृत है। यह किस संस्करण का पाठ है, यह श्री सामश्रमीजी ने नहीं कहा। वंगवासी प्रेस से प्रकाशित देवी पुराण में "शाकला ब्रह्म माण्डुकाः" पाठ है (१०७।१५)। 'ब्रह्म' पाठ भी भ्रष्ट है, क्योंकि ब्रह्मनामघटित कोई भी आर्च शाखा ज्ञात नहीं है। 'यास्क' पाठ भी अशुद्ध है, जैसा कि श्री सामश्रमीजी ने यहाँ दिखाया है।

प्रचलित बृहद्देवता माण्डूकेय आम्नाय पर आधृत है, ऐसा अनुमान श्री भगवद्दत्त जी ने किया है (वैदिक वाङमय का इतिहास, भाग १, पृ० २२०-२२२)। उन्होंने माण्डूकेय-आम्नाय का परिमाण और बह्वृचत्व आदि पर भी विचार किया है (पृ० २२१-२२६)।

सत्यश्रवा—यह आचार्य वायु-ब्रह्माण्ड० के अनुसार माण्डूकेय के शिष्य हैं। वायु० का 'मार्कण्डेय' पाठ भ्रष्ट है—यह पहले दिखाया गया है। ब्रह्माण्ड० में 'स्र' है, जो 'श्र' होगा। विष्णु० और भाग० में यह नाम स्मृत नहीं है। चरणव्यूह, प्रपञ्चहृदय आदि में भी यह नाम नहीं मिलता।

सत्यहित—यह सत्यश्रवाः के शिष्य हैं (वायु-ब्रह्माण्ड० के अनुसार)। विष्णु-भाग० में यह नाम नहीं है। चरणव्यूहादि में भी यह नाम स्मृत नहीं है।

सत्यतर—सत्यहित का पुत्र। यह नाम केवल वायु० में है। ब्रह्माण्ड० में सत्यश्री को सत्यहित का पुत्र कहा गया है। वायु० में सत्यतर के स्थान में "सत्यं परं" पाठान्तर मिलता है, और इस पाठ में इन पदों को विशेषण के रूप में कल्पित किया जा सकता है। इस दृष्टि से वायु० और ब्रह्माण्ड० में मतभेद उत्पन्न नहीं होता। इस आचार्य के विषय में और कहीं कुछ भी विवरण नहीं मिलता।

सत्यश्री—इनको सत्यतर का पुत्र कहा गया है, पर उपर्युक्त दृष्टि से इनको सत्यहित का पुत्र भी माना जा सकता है। इस आचार्य के विषय में अन्यत्र कुछ भी सामग्री नहीं मिलती।

शाखाप्रवर्तक शाकल्य[१२]—सत्यश्री के तीन शाखाप्रवर्तक शिष्यों में शाकल्य का नाम सर्वप्रथम आता है (वायु-ब्रह्माण्ड० में)। विष्णु० में शाकल्य किसके शिष्य हैं, यह स्पष्टतः नहीं कहा गया, पर ३।४।२० में शाकल्य द्वारा जिस संहिता के अध्ययन की बात कही गई है वह इन्द्रप्रमिति-प्रोक्त संहिता है—ऐसा अनुमान होता है। टीकाकार श्रीधरस्वामी ने भी ऐसा ही कहा है। पर यह भी तुल्यरूप से कहा जा सकता है कि ३।४।१९ और २० श्लोक के पूर्वार्ध में माण्डूकेय की शिष्य-परम्परा में अधीत जिस संहिता का उल्लेख किया गया है, २० वें श्लोक के उत्तरार्द्ध में भी उसी संहिता की अनुवृत्ति है, जिसका अध्ययन शाकल्य ने किया था। ऐसा मानने पर शाकल्य को माण्डूकेय का शिष्य या प्रशिष्य मानना पड़ेगा। यह मत वायु-ब्रह्माण्ड० के सर्वथा विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्माण्ड० में शाकल्य की ऊर्ध्वतन गुरुपरम्परा में मार्कण्डेय का नाम पठित हुआ है और वायु० में भी ऐसा ही स्वीकृत

---

१२. इस नाम के शाबल्य, साकल्य आदि कई भ्रष्ट पाठ मिलते हैं—पर प्रकृत पाठ शाकल्य ही है।

है (वायु० का मुद्रित 'मार्कण्डेय' पाठ वस्तुतः 'माण्डूकेय' होगा, यह पहले दिखाया गया है)। भाग० में स्पष्टतः शाकल्य को माण्डूकेयपुत्र ही कहा गया है।

वायु-ब्रह्माण्ड० में शाकल्य का विशेषण देवमित्र है। यह भी हो सकता है कि देवमित्र ही नाम हो और शाकल्य अपत्य-प्रत्ययान्त पद हो। बृहदारण्यक० ३।९।१ में विदग्ध शाकल्य का नाम है, जहाँ शंकराचार्य ने विदग्ध को नाम के रूप में और शाकल्य को 'शकल के अपत्य' के रूप में ही दिखाया है। वेदमित्र (पाठान्तर) नाम भी संगत हो सकता है, क्योंकि कौषीतकि गृह्य २।५।५ में एक पाञ्चाल वेदमित्र उल्लिखित हुआ है। विष्णु० में वेदमित्र पाठ मिलता है। यहाँ कौन-सा पाठ समीचीन है, ऐसा प्रश्न हो सकता है। यद्यपि प्राचीन सामग्री के आधार पर ही ऐसे सांशयिक स्थलों का निराकरण करना उचित है, तथापि इतना अनुमान किया जा सकता है कि देवमित्र पाठ संगततर है, क्योंकि महाभाष्य (१।४।८३) में "शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः प्रावर्षत्" वाक्य उदाहृत हुआ है। हो सकता है कि इस विचित्र घटना के कारण ही आचार्य का नाम देवमित्र पड़ गया हो। ऋक्प्रातिशाख्य १।५१ में वेदमित्र आचार्य का मत स्मृत हुआ है, जहाँ शाकल्य ही लक्षित है।

भाग० में देवमित्र को शाकल्य से पृथक् माना गया है (१२।६।५६-५७)। यहाँ देवमित्र को माण्डूकेय का शिष्य और शाकल्य को माण्डूकेय का पुत्र कहा गया है। भाग० का यह मत विचारणीय है, क्योंकि पुराणों और चरणव्यूहादि ग्रन्थों में ऐसी परम्परा नहीं मिलती। भाग० में देवमित्र के शिष्य के रूप में सौभरि आदि कहे गए हैं (सौभर्यादिभ्यः)। शाखाकार सौभरि कहीं भी स्मृत नहीं है, यद्यपि विष्णु० ४।२।१९ में सौभरि को 'बह्वृच' कहा गया है। भाग० ९।६।४५ में भी यही विशेषण दिया गया है।

शाकल्य का एक महत्त्वपूर्ण विशेषण पदवित्तम है, जो वायु०-ब्रह्माण्ड० में मिलता है। इससे शाकल्यकृत पदपाठ (शाकल्यप्रोक्त-शाखासंबद्ध) की सत्ता ज्ञात होती है। यह पदपाठ अन्य ग्रन्थों में भी स्मृत हुआ है। अनुवाकानुक्रमणी (४५) में जो "शाकल्यदृष्टे पदलक्षमेकम्" इत्यादि श्लोक मिलता है, वह शाकल्यकृत पदपाठ को ही लक्ष्य कर कहा गया है, यह निश्चित है। निरुक्त ६।२८ ख० में भी शाकल्यकृत पदपाठ का उदाहरण मिलता है।

पाणिनि आदि के ग्रन्थों से भी शाकल्यकृत पदपाठ की सत्ता साक्षात् रूप से ज्ञात होती है। अष्टाध्यायी के १।१।१६–१८ सूत्रों में शाकल्यकृत पदपाठ के कुछ नियम स्मृत हुए हैं। शुक्ल यजुः-प्रातिशाख्य की उवटकृतव्याख्या में भी शाकल्यकृत-

पदपाठ का मत स्मृत हुआ है (४।१७७)[१३]। चरणव्यूहव्याख्याकार महिदास ने कहा है कि शाकल्य ने ऋग्वेद के संहिता-पद-क्रमपाठ के साथ जटा-दण्ड-पाठ का भी प्रणयन किया था (पृ० ३)। यह व्याख्या भाग० के १२।६।५७ श्लोक की है, परन्तु श्रीधरादिकृत टीकाओं में इस अर्थ का प्रतिपादन नहीं है, यह ज्ञातव्य है।

शाकल्यप्रोक्तसंहिता के विषय में कई ज्ञातव्य विषय हैं: चरणव्यूह में "ऋग्वेदस्याष्टौ स्थानानि भवन्ति" (पृ० ५) कहा गया है। टीकाकार महिदास ने अष्ट भेद के उदाहरणों में पहले ही 'शाकल-बाष्कलौ' कहा है। उसी प्रकार चरणव्यूह पृ० १३ में ऋग्वेद की पांच शाखाएँ कही गई हैं, जिनमें शाकला अन्यतम है। इस संहिता में ६४ अध्याय और १० मण्डल थे, यह भी चरणव्यूह में ही कहा गया है (पृ० १४)। इसी पृष्ठ में इस संहिता के वर्ग आदि के विषय में विशिष्ट उल्लेख मिलते हैं।

शाकल्य को मण्डूकगणस्थ माना गया है (चरणव्यूहटीका पृ० १५)। इस संहिता के पदों की संख्या (१५३७३४) यहाँ दी गई है। शाकल्यसंहिता के विषय में महिदास ने यह भी कहा है कि "समानीव...." मन्त्र इसका अन्तिम मन्त्र है (पृ० २५)। इसी पृष्ठ में इस संहिता के अनुवाकों के क्रम के विषय में विशिष्ट उदाहरण दिया गया है।

कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी इसी शाखा की है—यह इसके "अथ ऋग्वेदाम्नाये शाकलके" इस प्रारम्भिक वाक्य से ही ज्ञात होता है। शाकलक का अर्थ 'शाकल्योच्चारण' है (वेदार्थदीपिकारम्भ)।[१४]

---

१३. यह श्लोक (पुनरुक्तानि लुप्यन्ते इत्यादि) बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार गार्ग्य के पदपाठ में पुनरुक्त पदों का लोप नहीं होता। सामवेदीय प्रचलित पदपाठ में यह नियम पूर्णतः घट जाता है, अतः सामवेदीय पदपाठ की गार्ग्यकर्तृकता समीचीन ही है। शाकल (अर्थात् शाकल्य शिष्य) के अनुसार पुनरुक्तपदों का लोप होता है, यह वचन शाकल्यमत को भी लक्ष्य करता है—ऐसा कहा जा सकता है।

१४. प्रचलित सायणभाष्य शाकलशाखा पर है, ऐसा कहा जाता है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कहते हैं कि ऋक्संहिता का वर्तमान संस्करण शाकलशाखा का है। वस्तुतः शाकलों के अन्तर्गत एक शैशिरीय चरण था, उसी का यह शाखाग्रन्थ है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३१४)। श्री सत्यव्रत सामश्रमी कहते हैं—एवमपि सायणाचार्येण अवलम्बिता शैशिरीया (ऐतरेयालोचन, पृ० १३७)।

शाकल्य के शिष्य—वायु-विष्णु-ब्रह्माण्ड० में शाकल्य के मुद्गल आदि पांच शिष्य कहे गए हैं। ब्रह्माण्ड० में यद्यपि पञ्चशिष्यों का **निर्देश** है, परन्तु मुद्रित पाठ में छह नाम दृष्ट होते हैं। सम्भवतः 'सुतपाः' पद को विशेषण मानना होगा, जिससे नामसंख्या का साम्य निश्चित रहे। भाग० में शाकल्य के लिये "पञ्चधा व्यस्य संहिताम्" कहा गया है और मुद्गलादि पांच नाम गिनाए गए हैं। इसके बाद ही "जातूकर्ण्यश्च तच्छिष्यः" कहा गया है, जिससे जातूकर्ण्य भी शाकल्य के अन्यतम शिष्य सिद्ध होते हैं, परन्तु यहाँ का पाठ भ्रष्ट हो गया है, जैसा कि आगे दिखाया जाएगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भाग० में भी अन्य पुराणवत् पाँच शिष्य ही माने गए हैं।

इन चार पुराणों में शाकल्यशिष्यों के मुद्रित नामों में कुछ असमानता है। यथा—

१. मुद्गल नाम सर्वत्र है। २. गोलक के स्थान पर गोखल, गालव और गाखल्य पाठ हैं। ३. खालीय के स्थान पर खलीयान्, शालीय पाठ मिलते हैं, ४. मत्स्य के स्थान पर वत्स्य-वात्स्य पाठ मिलते हैं। ५. शौशरेय के स्थान पर शौशिरेय और शिशिर पाठ हैं। (नामक्रम मं प्रथम पाठ वायु० का है।[१५]

पुराणों के अतिरिक्त अन्यान्य ग्रन्थों में भी शाकल्य के शिष्यों के नाम मिलते हैं। शैशिरिशिक्षा के आरम्भिक श्लोकों में मुद्गल-गालव-गार्ग्य-शाकल्य-शैशिरि नाम हैं (द्र० वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० १८७)। इसी प्रकार विकृतिवल्ली की गंगाधरकृत टीका में शाकल्य के शिशिर आदि पांच गृहस्थ शिष्य कहे गए हैं (ऋग्वेद पर व्याख्यान, पृ० ३२)। विष्णुमित्रकृत वर्गद्वय-वृत्ति (पृ० १६) में "तथा पुराण उक्तम्" कहकर "मुद्गलो गोखुलः" इत्यादि एक श्लोक उद्धृत किया गया है। यह श्लोक प्रचलित पुराणीय शाखाप्रकरणों में अविकल रूप से नहीं मिलता। पूर्वार्ध का प्रारम्भिक अंश विष्णु०श्लोक के सदृश है (३।४।२२)। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्य पुराणों में भी ऐसा शाखाप्रकरण था, जो नष्ट हो गया है। इस उद्धृत श्लोक में जो 'शारीर' नाम है, वह 'शालीय' होगा, यद्यपि इस पद के पाठान्तर इस ऊहित पाठ के अनुगत नहीं हैं।

---

१५. इन नामों के प्रकृत पाठ के विषय में विभिन्न स्रोतों से सामग्री का आहरण कर पुष्कल विचार श्रीभगवद्दत्त जी ने किया है (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० १८५-१९४) और वे मुद्गल, गालव, शालीय, वात्स्य और शैशिरि —ये पांच नाम निश्चित कर चुके हैं। वर्तमान सामग्री के आधार पर ये नाम समीचीन ही प्रतीत होते हैं।

मुद्गल—शाखाकार मुद्गल के विषय में पुराणों में अन्यत्र कुछ भी विवरण नहीं मिलता। इतिहास-पुराण में बहुधा मुद्गल नाम आता है, पर उनमें कोई शाखाकार भी है, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

गालव—शाखाकार का विष्णु०धृत यही नाम संगत है, और अन्य अपपाठ हैं। गालव निश्चित ही ऋग्वेदीय शाखाकार थे और इसीलिये आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।३।५ और कौषीतकि गृह्यसूत्र ४।१० के तर्पण प्रकरण में उनका नाम स्मृत हुआ है। गालवकृत ऋग्वेदीय क्रमपाठ प्रसिद्ध है। ऋक्प्रातिशाख्य ११।६५ और निरुक्त ४।३ ख० से यह तथ्य ज्ञात होता है। शान्ति० ३४२।१०३-१०४ में क्रमपाठकार गालव पाञ्चाल को बाभ्रव्यगोत्र, योगी और शिक्षाकार भी कहा गया है। बाभ्रव्य=बभ्रु का पुत्र (प्रातिशाख्य की उवटकृत टीका) है। बृहद्देवता १।२४ ५।३९, ६।४३, ७।३८ में भी गालव के मत मिलते हैं, पर ये मत क्रमपाठ विषयक नहीं हैं। पाञ्चाल बाभ्रव्य कृत कामशास्त्र का उल्लेख वात्स्यायनीय कामसूत्र १।१।१० में मिलता है। यह आचार्य गालव ही हैं, यह विशेषणद्वय से स्पष्ट है।

इतिहास-पुराण में बहुशः गालव का नाम मिलता है, पर उन स्थलों में शाखाकार गालव ही विवक्षित हैं, ऐसा निःसन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता (गालव नाम के अपत्यप्रत्ययात होने के कारण)।

शालीय—विष्णु० का यह पाठ ही समीचीन है। निश्चित ही शालीय किसी आचार्य का नाम है, क्योंकि काशिकावृत्ति १।१।१ में आश्वलायन आदि आचार्यों के साथ यह नाम पठित हुआ है (उदाहरण के रूप में)। पुराणों में अन्यत्र इनके विषय में कुछ भी विवरण नहीं मिलता।

वात्स्य—विष्णु० का यह पाठ ही समीचीन है। महाभाष्य ४।२।१०४ में चरणसम्बन्धी उदाहरण में 'वात्सकम्' पद का प्रयोग किया गया है।[१६] शाखाकार वात्स्य के विषय में अन्य विवरण पुराणों में नहीं मिलता।

शिशिर—विष्णु० का यह पाठ ही समीचीन है। ऋक्प्रातिशाख्य के 'शैशिरीय' पद की व्याख्या में विष्णुमित्र कहते हैं- —"शैशिरीया संहिता शिशिरदृष्ट-

---

१६. श्री भगवद्दत्तजी ने ऐसा कहा है (वैदिक वाङमय का इतिहास, भाग १, पृ० १९३)। पर यह मत भ्रान्त प्रतीत होता है। इस स्थान के 'गार्गकम्' और 'वात्सकम्' उदाहरण गोत्रसंबद्ध हैं, चरणसंबद्ध नहीं। 'मौदकम्' और 'पैप्पलादकम्' ही चरणसंबद्ध उदाहरण हैं, जैसा कि नागेश के "मौदपैप्पलादौ शाखाध्येतृवाचिनौ" वाक्य से ज्ञात होता है।

त्वात्" (पृ० १६)। यहाँ शिशिर नाम के कई पाठान्तर (शिशिर, शैशिरि) दिए गए हैं। इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि 'शिशिर' शब्द से 'शैशिरीय' पद पाणिनि-पद्धति से सिद्ध नहीं हो सकता (छण् प्रत्यय इस शब्द से अननुशिष्ट है), अतः शैशिर या शैशिरि पाठ भी संगत हो सकता है। अनुवाकानुक्रमणी (९) की टीका में षड्गुरुशिष्य ने शिशिर-प्रोक्तता ही कही है। इसका अन्तिम निर्णय प्राचीन सामग्री के आधार पर ही हो सकता है।

शैशिरीयसंहिता कभी बहुत प्रसिद्ध थी। अनुवाकानुक्रमणी के नवमश्लोक में शैशिरीयसंहिता के अनुवाकों का परिमाण कहा गया है। षड्गुरुशिष्य ने शैशिरीय नाम का एक विचित्र कारण भी कहा है कि चूँकि यह शिशिर ऋतु में समाप्त होती थी, इसलिये यह शैशिरीय कही जाती है। यह काल्पनिक हेतु है, वस्तुतः प्रवक्ता के नाम के अनुसार ही संहिता का नाम होता है—यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। अनुवाकानुक्रमणी के उपर्युक्त श्लोक में शाकलों को संबोधित किया गया है, जिससे यह भी सिद्ध होता है कि शाकलों (=शाकल्यशिष्य अर्थात् शाकल्य-शिष्यप्रोक्त सभी संहिताएँ) के लिये यह अनुवाकानुक्रमणी उपयोगी है। इस ग्रन्थ में अनुवाक और सूक्तों का जैसा संबंध दिखाया गया है, वह शाकल्यशिष्या-प्रोक्त संहिताओं में विद्यमान है—यह इस श्लोक का तात्पर्य है।

व्याडिकृत विकृतिवल्ली में इस शाखा का निर्देश है। इस ग्रन्थ के चतुर्थ श्लोक में कहा गया है कि व्याडि ने शैशिरीय समाम्नाय से संबन्धित जटादि अष्टविकृतियों की रचना की थी। अन्य शाखाओं के विषय में अष्टविकृतिप्रणयन का उल्लेख प्रचलित ग्रन्थों में नहीं मिलता। व्याडि की यह उक्ति इस शाखा की महत्ता की ज्ञापिका है।

ऋक्प्रातिशाख्य (सप्तम श्लोक) में शैशिरीय संहिता का उल्लेख है। इससे इस प्रातिशाख्य का संबंध शैशिरीय शाखा से है, यह सिद्ध होता है।

शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी में प्रतिवर्ग जो मन्त्रसंख्या दी हुई है, वह शैशिरीय संहिता की है, यह "तान् पारणे शाकले शैशिरीये वदन्ति" (३६)—इस श्लोक से स्पष्टतः ज्ञात होता है। इस उक्ति से यह भी सिद्ध होता है कि शैशिरीय शाखा शाकल वर्ग के अन्तर्गत है। अनुवाकानुक्रमणीप्रोक्त मन्त्रपरिमाण (१०४१७) में बालखिल्य ऋचाएँ सम्मिलित नहीं हैं। छन्दःसंख्यापरिशिष्ट नामक जो परिशिष्ट उपलब्ध है, वह सम्भवतः शैशिरीयशाखा का है, क्योंकि इस ग्रन्थ में उक्त ऋग्गणना में बालखिल्य ऋचाएँ सम्मिलित की गई हैं।

शाकपूणि रथीतर[१७]—इनको वायु-ब्रह्माण्ड० में सत्यश्री का शिष्य कहा गया है। विष्णु० में सत्यश्री और उनके गुरु सत्यतर आदि का उल्लेख नहीं है। विष्णु० टीकाकार श्रीधर स्वामी ने शाकपूणि को इन्द्रप्रमति का शिष्य कहा है, जो पुराणपाठ की दृष्टि से असमीचीन नहीं है, यद्यपि पुराण में ऐसा स्पष्ट निर्देश नहीं है।

भाग० में शाकपूणि-नाम अनुल्लिखित है। इस विषय में भाग० का पाठ सर्वथा भ्रष्ट है, क्योंकि शाकपूणि आचार्य वैदिक वाङमय में बहुधा स्मृत हैं। हमारा अनुमान है कि भाग० का "जातूकर्ण्यश्च तच्छिष्यः" (१२।६।५८) पाठ "शाकपूणिः तत्सतीर्थ्यः" होगा, अर्थात् शाकल्य-सतीर्थ्य शाकपूणि ने निरुक्त और संहिताओं का प्रणयन किया। भाग० में जातूकर्ण्य के साथ निरुक्त का नाम है, जबकि कहीं भी निरुक्तकार जातूकर्ण्य स्मृत नहीं हैं; विपरीत पक्ष में शाकपूणि का निरुक्तकारत्व सर्वत्र प्रसिद्ध है। शाकपूणि के शिष्यों के नामों (वायु-ब्रह्माण्ड-विष्णु-दर्शित) के साथ जातूकर्ण्यशिष्यों के नाम ईषत् सादृश्ययुक्त देखे जाते हैं, नामसंख्या भी समान है, अतएव युक्तियुक्त दृष्टि से कहा जा सकता है कि भागवत० के इस स्थल का मुद्रित पाठ भ्रष्ट है।

शाकपूणि रथीतर निरुक्तकार थे, यह वायु० ६०।६५, ब्रह्माण्ड० १।३५।३, विष्णु० ३।४।२३ में स्पष्टतः कहा गया है। भाग० १२।६।५८ का पाठ यदि पूर्वदर्शित रीति से शुद्ध कर लिया जाए तो शाकपूणि का निरुक्तकारत्व भागवत-समंत भी होगा। निरुक्त में शाकपूणि का मत स्मृत हुआ है (४।३ ख०)। बृहद्-देवता से ज्ञात होता है कि यह देवतत्त्व-विद्वान् भी थे (द्र० ३।१३०, ५।८ तथा अन्यान्य श्लोक)।

शाकपूणि रथीतर के शिष्य—रथीतर के शिष्यों के विषय में पुराणपाठ विवादास्पद हैं। रथीतर-सतीर्थ्य शाकल्य के शिष्यों के कथन के बाद ब्रह्माण्ड० में कहा गया है—"तस्य शिष्यास्तु चत्वारः" (१।३५।४) और इसके बाद चार नाम पढ़े गए हैं। वायु० ६०।६६ में भी ऐसा ही कहा गया है और चार नाम पढ़े गए हैं (दोनों पुराणों में पठित नामों में असमानता भी है; परन्तु प्रकरण समान है; 'शतबलाक' नाम उभयत्र पठित है)। यहाँ 'तस्य' पद का लक्ष्य रथीतर ही है या नहीं, ऐसा

---

१७. शाकपूणि नाम के कई पाठान्तर पुराणों में मिलते हैं—शाकपूर्ण, शार्कणि शाकवैण आदि। रथीतर के स्थान पर भी रथन्तर, रथेतर आदि पाठान्तर मिलते हैं। बृहद्देवता १।२६, ३।४०, ७।१४५ में रथीतर पाठ है। उसी प्रकार शाकपूणि पाठ भी ३।१३०, ५।८ में है।

सन्देह हो सकता है, परन्तु विष्णु० के पाठ से यह संशय निराकृत हो जाता है क्योंकि यहाँ शाकपूणि रथीतर के ही चार शिष्य कहे गए हैं। विष्णु० में उल्लिखित चार नाम यद्यपि ब्रह्माण्ड-वायु० प्रोक्त नामों के सर्वथा समान नहीं हैं, परन्तु 'वलाक' और 'शतलकि' नामों का साम्य स्पष्टतः दृष्ट होता है।

यह आश्चर्य का विषय है कि भाग० १२।६।५८ में वलाक-पैज-वैताल-विरज-नामक चार आचार्यों को जातूकर्ण्य के शिष्य कहा गया है। इस श्लोक के 'तच्छिष्यः' पद का अर्थ 'शाकल्यशिष्य' है, यह टीकाकार श्रीधर ने भी कहा है। वायु-ब्रह्माण्डोक्त चार नामों के साथ इन नामों का साम्य भी है और विष्णु० पठित नामों के साथ भी साम्य लक्षित होता है। भागवत० में यह भ्रान्त मत कैसे अनुप्रविष्ट हो गया, यह चिन्त्य है। सम्भवतः यहाँ का पाठ भ्रष्ट हो गया हो।[१८] यहां यदि 'जातूकर्ण्य' के स्थान में 'शाकपूणि' पाठ हो और 'तच्छिष्यः' के स्थान पर 'सतीर्थ्य' पाठ हो तो यह पाठ वायु० आदि के अनुरूप होगा, यह निश्चित है। यह भी द्रष्टव्य है कि भागवत में वात्स्य, मुद्गल आदि शाकल्य शिष्यों के साथ जातूकर्ण्य को भी शाकल्यशिष्य कहा गया है, जबकि वायु० आदि में वात्स्यादि ही शाकल्य-शिष्य कहे गए हैं। वायु० आदि में जातूकर्ण्य नाम इस प्रसंग में नहीं मिलता। इस प्रकार भागवत० का प्रचलित पाठ सर्वथा पुराणान्तर-विरोधी सिद्ध होता है।

शाकपूणि रथीतर के शिष्यों के विषय में ब्रह्माण्ड० पाठ की अपेक्षा वायु० पाठ की कुछ विलक्षणता है। वायु०६०।६६ उत्तरार्द्ध से ६१।१ का पूर्वार्ध पर्यन्त अंश सब संस्करणों में नहीं मिलता। यहाँ लगभग १२ श्लोक हैं। वायु० के इस अधिक पाठ (जो ब्रह्माण्ड० में नहीं हैं) का पूर्वापरसम्बन्ध भी स्पष्ट नहीं है।

शाकपूणि के शिष्यों के नामों में पर्याप्त वैलक्षण्य है। भगवद्दत्त जी ने हस्तलेख आदि की सहायता से इन नामों के शुद्ध पाठ के निर्णयार्थ पर्याप्त विचार किया है (वैदिक वाङमय का इतिहास, भाग १, पृ० २२६-२३०) और तत्सम्बन्धी अन्यान्य विवरण भी दिए हैं। पुराणों में अन्यत्र इस विषय में कुछ भी सामग्री नहीं मिलती।

---

१८. यहाँ पाठभ्रष्टता का अर्थ मुद्रणप्रमाद नहीं है। वस्तुतः जिस परम्परा के आधार पर भागवतकार ने इस प्रकरण को लिखा है, उस परम्परा में ही यह विषय अस्पष्ट और विपर्यस्त रूप में परिणत हो गया था। सभी पुराणों की परम्परा समान नहीं है, अतः पुराणकर्ताओं के ज्ञान में भी भ्रान्ति की कल्पना (प्रमाण के आधार पर) की जा सकती है।

शाकपूणि के चतुर्थ शिष्य के नाम के विषय में कुछ ज्ञातव्य है। वायु० आदि में इनके नाम के नैगम-गज-विरज आदि पाठ मिलते हैं, पर विष्णु० में 'नैरुक्तकृत्' शब्द है, जहाँ श्रीधरस्वामी 'निरुक्तकृत्' को आचार्य का नाम कहते हैं (चतुर्थं निरुक्तकृत् नामेति केचित् पठन्ति--३।४।२४)। 'केचित् पठन्ति' का स्वारस्य मतान्तरदर्शन में ही है, जिससे यह अनुमान होता है कि इस आचार्य का नाम अज्ञात है, परन्तु यह निरुक्तविशेष के कर्त्ता थे, यह निश्चित है (किसी एक मत के अनुसार, जिससे पार्थक्य दिखाने के लिये 'केचित्' पद का प्रयोग श्रीधर ने किया है)।

शाकपूणि का यह निरुक्तकार शिष्य कौन है, यह अज्ञात है। शाकपूणि स्वयं निरुक्तकार थे। इस विषय में एक सम्भावना यह प्रतीत होती है कि शाकपूणि के शिष्यों के जो नाम पुराणों में मिलते हैं, उनमें शतवलाक्ष नाम की कल्पना की जा सकती है (शतबलाक रूप मुद्रित पाठ को देखकर)। शतबलाक्ष मौद्गल्य का नाम निरुक्त ११।६ ख० में स्मृत है। मुद्गलपुत्र होने के कारण मौद्गल्य शब्द प्रयुक्त हुआ है (सम्भवतः इस शतबलाक्ष को लक्ष्य कर ही)। 'निरुक्तकृत्' शब्द किसी का नाम नहीं हो सकता, अतः यह पूर्ण सम्भव है कि वायु-ब्रह्माण्ड० दर्शित और निरुक्तसमर्थित शतबलाक्ष ही यहाँ अभिप्रेत हो।

बाष्कलि भारद्वाज—यह शाखाप्रवर्तक आचार्य सत्यश्री के शिष्य हैं, यह वायु-ब्रह्माण्ड० में कहा गया है। विष्णु० ३।४।२५ में केवल बाष्कलि (मुद्रित पाठ बास्कलि) द्वारा तीन संहिताओं का प्रवचन कहा गया है। यह बाष्कलि कौन हैं, ऐसा प्रश्न हो सकता है, क्योंकि ३।४।१७ में भी एक बाष्कलि और उनके चार शिष्य कहे गए हैं। श्रीधर स्वामी ने "बाष्कलिः पैलशिष्यः" ऐसा कहकर यह भी कहा है कि पैलशिष्य बाष्कलि ने तीन संहिताओं का पुनः प्रवचन किया था।

भाग० १२।६।५९ में भी यह वाष्कलि स्मृत है। टीका में श्रीधरस्वामी कहते हैं—"पूर्वोक्तबाष्कलस्य पुत्रः"। यद्यपि ऐसा भी हो सकता है कि पैलशिष्य जो बाष्कल थे, उनका पुत्र भी पैलशिष्य हो, और उनके द्वारा शाखाओं का प्रवचन किया गया हो, परन्तु 'भारद्वाज' विशेषण देने का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि यह कोई अन्य बाष्कलि है। भागवत० में भारद्वाज विशेषण नहीं है, अतः अन्य बलवान् प्रमाण के विना यहाँ अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सकता है।

यह भी ज्ञातव्य है कि अन्यान्य पुराणों से 'एक ही बाष्कलि का दो बार संहिता-प्रवचन' सिद्ध नहीं होता। किंच वायु-ब्रह्माण्ड० में प्रदत्त 'भारद्वाज' विशेषण भी इस बाष्कलि के साथ नहीं दिया गया है, ऐसा देखकर श्रीधर स्वामी ने एक अन्य व्याख्या भी की है कि कोई अन्य शाकल्य-सतीर्थ्य बाष्कलि यहाँ अभिप्रेत है। यह व्याख्या

उचित ही है, क्योंकि बाष्कलि (भारद्वाज) और शाकल्य सतीर्थ्य थे (सत्यश्री के शिष्य होने के कारण), यह वायु० ब्रह्माण्ड० में स्पष्टतः कहा गया है।

इस बाष्कलि भारद्वाज के विषय में पुराणों में अन्य कोई विवरण नहीं मिलता। नाम से प्रतीत होता है कि यह बाष्कल के पुत्र और भरद्वाज गोत्रीय थे।

भागवत में इस बाष्कलि के विषय में (यहाँ भी भारद्वाज विशेषण नहीं दिया गया है) कहा गया है कि इन्होंने प्रतिशाखाओं से बालखिल्य-संहिता का निर्माण किया और इनके बलाक, पैंज, वेताल आदि चार शिष्य थे। ये चार नाम ईषत्-पाठ-साम्य के साथ वायु०, विष्णु० आदि में भी मिलते हैं।

बाष्कलि भारद्वाज के शिष्य—वायु-ब्रह्माण्ड-भागवत-विष्णु० में इनके तीन शिष्यों के नाम मिलते हैं। नामों की आनुपूर्वी तीनों स्थानों में कुछ न कुछ भिन्न है। पुराणों में इन आचार्यों के विषय में कुछ विवरण नहीं मिलता। काशिकादि ग्रन्थों में इन नामों के सदृश नाम स्मृत हुए हैं, जिन पर श्री भगवद्दत्तजी ने विचार किया है (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० २३०-२३१)।

बाष्कलि और बालखिल्य संहिता—केवल भाग० में कहा गया है कि बाष्कलि ने प्रतिशाखाओं से बालखिल्य-संहिता का निर्माण किया था (१२।६।५९)। यह बालखिल्यसंहिता वैदिक साहित्य में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, अतः इस पर कुछ विशद विचार किया जाता है।

ऐसा अनुमान होता है कि इस बालखिल्य संहिता के कुछ सूक्त प्रचलित शाकल-संहिता में अनुप्रविष्ट हो चुके हैं (८।४९-५९=सूक्त ११ सूक्त)। इन सूक्तों की मन्त्रसंख्या ८० और अक्षरसंख्या ३०४४ है। इन ८० मन्त्रों को जोड़ने से ही शाकल-संहिता की मन्त्रसंख्या १०५५२ होती है, अन्यथा १०४७२ ही होती है। महिदास भी ऐसा ही मानते हैं (चरणव्यूहटीका, पृ० १७)। बालखिल्य ऋचाओं को जोड़ने पर प्रचलित ऋग्वेद की वर्गसंख्या २००६ होती है।[१९]

बालखिल्य ऋचाएँ शैशिरिशाखा में सम्मिलित नहीं हैं, यह पहले कहा गया है। ये ऋचाएँ आश्वलायनी संहिता में हैं, यह प्रसिद्ध है। चरणव्यूहटीका के अनुसार इस संहिता में शाकला की अपेक्षा ११ बालखिल्य सूक्त ही अधिक हैं।

---

१९. ऋग्वेदीय ऋक्संख्या के निर्धारण में बालखिल्य-सूक्तों के सत्ता-असत्तारूप पक्ष-भेद के अनुसार परिमाण-भेद हो जाता है। 'ऋग्वेद की ऋक्संख्या' ग्रन्थ में यह विषय बहुत विशद रूप से विचारित हुआ है। बालखिल्य-संहिता के साथ इन बालखिल्य-मन्त्रों का क्या संबंध है, यह अभी निरूपणीय है।

शाङ्खायन-संहिता में बालखिल्य-सूक्त का १० वां सूक्त (८।५८) नहीं है। दशम सूक्त के प्रथम दो मन्त्र खिलरूप में शाङ्खायनसंहिता में मिलते हैं।[२०]

शाखाप्रकरण में अनुक्त शाखाएँ—अग्नि० २७१।२ में ऋग्वेदीय आश्वलायन शाखा का उल्लेख है। ऋग्वेदीय शाखाओं में यह बहुत प्रसिद्ध शाखा है, क्योंकि चरणव्यूह में ऋग्वेद की पांच शाखाओं की गगना में इसका भी उल्लेख किया गया है। व्याडिकृत अष्टविकृति की टीका में कुछ इतिहास-श्लोक उद्धृत हैं, जिनमें आश्वलायन को शाकल्य-शिष्य एवं शाखाभेदप्रवर्तक कहा गया है। आश्वलायनकृत यह शाखा आश्वलायनी कहलाती है। (ऐतरेयालोचन पृ० १२८-१२९)। आश्वलायनगृह्य के तर्पण प्रकरण में माण्डूकेयगण और शाङ्खायनगण के साथ आश्वलायनगण का भी उल्लेख है। श्री सामश्रमी महोदय का अनुमान है कि प्रचलित ऋक्शाखा 'आश्वलायनी' ही है, और यह आश्वलायन शाकल्यशिष्य हैं (ऐतरेयालोचन, पृ० १३२)।

आश्वलायनशाखा के विषय में श्रीसामश्रमीजी ने पर्याप्त विचार किया है (ऐतरेयालोचन पृ० १३२–१४६), जिसमें ये मत महत्त्वपूर्ण हैं—भाष्यकार सायण ने शैशिरीया या अन्य किसी शाकलशाखा पर भाष्य लिखा है (पृ० १३७); प्रचलित आश्वलायनी शाखा गुर्जरदेशीय श्रीमाल प्रदेश में प्रचलित है (पृ० १४१); यह संहिता अष्टतयी है, कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी इस पर आधारित है (पृ० १४१); पाँच शाकलशाखाओं में अध्यायादि-परिगणन प्रायः एक प्रकार का है (पृ० १४२); ऐतरेय ब्राह्मण शैशिरीय आदि पांच शाकलशाखाओं का है (पृ० १४६)। इस शाखा के विषय में पुराणों में कुछ विशिष्ट सामग्री नहीं मिलती।

शाङ्खायन—अग्नि० २७१।२ में इस ऋग्वेदीय शाखा का उल्लेख है। यह शाखा वैदिक साहित्य में अतिप्रसिद्ध है। इस शाखा के ब्राह्मण और आरण्यक मुद्रित हो चुके हैं।

चरणव्यूह में ऋग्वेदीय पाँच शाखाओं की गणना में शाङ्खायनी का उल्लेख है। यह शाखा शाकल वर्ग से पृथक् है, ऐसा श्री सामश्रमीजी का मत है (ऐतरेयालोचन, पृ० १३०)। आश्वलायनगृह्य के तर्पणप्रकरण में शाङ्खायनगण का उल्लेख है। यह शाखा ऋग्वेदीय तीन मूल शाखाओं में अन्यतम है, यह

---

२०. बालखिल्यसूक्त के विषय में वैदिक संशोधनमण्डल से प्रकाशित ऋग्वेद संहिता (चतुर्थ भाग) के खिल प्रकरण का Preface द्रष्टव्य है (पृ० ८९१-९०७); यहाँ ऋग्वेद के खिलों के विषय में विशद विवरण दिया गया है।

भी ऐत० आलो० (पृ० १३२) में कहा गया है। इस शाखा के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें इस ग्रन्थ में मिलती हैं (पृ० १३२-१३४)।

यास्क—देवीपुराण में इस शाखा का उल्लेख है (पृ० १३१), जैसा कि श्री सामश्रमी जी ने ऐतरेयालोचन (पृ० १३२) में उद्धृत दिखाया है। वंगवासी प्रेस से प्रकाशित संस्करण में 'यास्क' के स्थान पर 'ब्रह्म' पाठ है। चरणव्यूहादि किसी भी ग्रन्थ में इस शाखा का उल्लेख नहीं किया गया है। यहाँ 'यास्क' के स्थान पर 'शाङ्ख' (अर्थात् शाङ्खायन नाम का एक देश) पाठ होना चाहिए, ऐसा सामश्रमीजी का मत है (ऐतरेयालोचन पृ० १३२)। 'ब्रह्म'पद घटित कोई आर्च शाखा कहीं भी निर्दिष्ट नहीं हुई है, अतः प्राचीन सामग्री के मिलने पर ही इस विषय में कुछ निर्णय किया जा सकता है।

तृतीय परिच्छेद

यजुर्वेदीय शाखाविवरण

वैशम्पायन—व्यास से यजुः का अध्ययन कर यजुर्वेद-निर्माण का प्रसंग पुराणों में मिलता है। अग्नि० २७१।५ में 'वैशम्पायनिका संहिता' शब्द स्पष्टतः प्रयुक्त हुआ है। वायु० ६१।५ में 'वैशम्पायनगोत्र' शब्द है, सम्भवतः यह नाम गोत्रानुसारी है।[1] ब्रह्माण्ड० १।३५।८ में 'वैशम्पायन-शिष्य' पाठ है, जो भ्रष्ट है। इनके द्वारा ८६ यजुसंहिताओं का प्रवचन वायु० ६१।५ और ब्रह्माण्ड० १।३५।८ में कहा गया है। विष्णु० ३।५।१ में ८६ के स्थान पर २७ संख्या कही गई है। श्रीधर कहते हैं कि यह संख्या प्रधानशाखाओं की है। सम्भवतः पहले २७ शाखाएँ बनी थीं और बाद में क्रमशः ८६ शाखाएँ बनीं। शबर ने वैशम्पायन को सर्वशाखाध्यायी कहा है (पूर्वमीमांसा भाष्य १।१।३०)।

इनके शिष्यों के नाम चरक या चरकाध्वर्यु हैं (वायु० ६१।११, ब्रह्माण्ड० १।३६।१४)। कहीं कहीं 'वरकाध्वर्यु' पाठ मिलता है। वरण करने के कारण यह संज्ञा है—ऐसा ज्ञात होता है।[2] यजुर्वेद में अध्वर्युकर्म है, अतः यह नाम सार्थक ही है।

इस प्रसङ्ग में यह भी ज्ञातव्य है कि 'चरक' पद वैशम्पायन का भी बोधक है—"चरक इति वैशम्पायनस्य आख्या" (काशिका ४।३।१०४)। यहाँ यह अन्वेषणीय है कि शिष्यों के चरकाध्वर्यु (ब्रह्महत्याव्रतचीर्णता के कारण) होने के कारण बाद में वैशम्पायन का नाम चरक पड़ गया था, या वैशम्पायन ही किसी

---

१. वायु० का 'वैशम्पायनगोत्र' शब्द विचार्य है। इसका कोई पाठान्तर भी नहीं मिलता। क्या यहाँ 'वैशम्पायन-नामासौ' पाठ की कल्पना की जा सकती है? महाभारत में व्यासशिष्य वैशम्पायन का नाम एकाधिक स्थलों में आया है (आदि० १।२०-२१, ९८, तथा ६०।२२, अनुशासन० ६।३७) पर वैशम्पायन-गोत्र' शब्द कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है।

२. चरणव्यूह टीका, पृ० ३७ ("वरकाध्वर्यव इति पाठे वरणाद् यजुषां ग्रहणात्")।

कारणविशेष से (अर्थात् चङ्क्रमणवृत्ति के कारण) चरक कहलाते थे (पाणिनि-कालीन भारतवर्ष, पृ० ३००)। वेदमुक्ताफलविमर्श नामक ग्रन्थ में ब्रह्महत्याचीर्ण-कारी चरक-शिष्यों के कारण वैशम्पायन का चरक नाम पड़ गया था, ऐसा कहा गया है (स्वाध्यायमण्डलप्रकाशित काठकसंहिताभूमिका, पृ० ६)।

वैशम्पायनकृत शाखा का नाम चरकशाखा हो सकता है। इस शाखा के विषय में पुराणों में कुछ भी सामग्री नहीं मिलती। शतपथ० में चरकाध्वर्युमतों की विरूप समालोचना कहीं कहीं मिलती है (४।१।२।१९)।

कृष्णयजुः शाखा के तीन विभाग—कृष्णयजुष् की २७ शाखाओं के विषय में यह ज्ञातव्य है कि ये शाखाएँ तीन भागों में विभक्त थीं। वायु० ६१।७ और ब्रह्माण्ड० १।३५।११ में कहा गया है[3] कि तीन भेदों में प्रत्येक के नौ भेद होने पर (९+९+९=२७—इस प्रकार) २७ प्रधान शाखाएँ होंगी।

व्याकरण-महाभाष्य में प्राच्यादि विभाग के तीन आचार्यों के विषय में कहा गया है—"त्रयः प्राच्याः, त्रय उदीच्याः, त्रयो मध्यमाः" (४।२।१३८)। इन आचार्यों के नाम भी काशिका में मिलते हैं (४।३।१०४ धृत श्लोक), जैसा कि आगे दिखाया जाएगा।

ये तीन भेद उदीच्य, मध्यप्रदेश और प्राच्य हैं। इन तीन विभागों के प्रधान यथाक्रम श्यामायनि, आरुणि (ब्रह्माण्ड० में आसुरि पाठ है) और आलम्बि है। ये संहितावादी शिष्य चरक कहे जाते हैं (इत्येते चरकाः प्रोक्ताः[4]—वायु० ६१।१०, ब्रह्माण्ड० १।३५।१३)। इन तीन शिष्यों द्वारा प्रोक्त २७ प्रधान शाखाओं के विषय में स्वाध्याय मण्डल से प्रकाशित काठकसंहिता भूमिका (पृ० ७) और मैत्रायणी संहिताभूमिका (पृ० ८-१०) द्रष्टव्य हैं।

ये २७ शाखाएँ किस क्रम से ८६ शाखाओं में विकसित हुई थी इसका विवरण प्रचलित किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। ब्रह्माण्ड० १।३३।६ में यजुर्वेदीय ऋषिप्रसङ्ग

---

३. वायु० और ब्रह्माण्ड० के इन दो स्थलों के पाठ कुछ भ्रष्ट हो चुके हैं। मुद्रित पाठों के अर्थ अस्पष्ट हैं। दोनों पुराणों के पाठों को मिलाने से यह अर्थ भासित होता है। ब्रह्माण्ड० के श्लोक स्वाध्यायमण्डल से प्रकाशित काठकसंहिता भूमिका (पृ० ६) में उद्धृत हैं। इन उद्धृत श्लोकों का पाठ समीचीन है। भूमिकालेखक ने किस संस्करण से यह पाठ लिया है, यह नहीं कहा।

४. चरकगण पर्यटनवृत्तिशील थे, ऐसा 'मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजामः.....' इत्यादि बृहदारण्यक वाक्य (३।३।१) से ज्ञात होता है। शंकर कहते हैं—"चरकाः अध्ययनार्थं व्रतचरणाच् चरका अध्वर्यवो वा।"

में "षडशीतिः श्रुतर्षयः चरकाध्वर्यवः" कहा गया है। यह वचन सिद्ध करता है कि श्रुतर्षियों द्वारा ही ८६ शाखाओं का प्रवचन किया गया है।[5]

तीन विभागों के तीन आचार्य--श्यामायनि आदि तीन आचार्यों के विषय में पुराणों में विशद विवरण नहीं मिलता। व्याकरणादि में इन आचार्यों के विषय में सामान्य विवरण मिलता है। काशिका ४।३।१०४ में श्यामायणि, आरुणि और आलम्बि--ये वैशम्पायन (चरक) के शिष्य कहे गए हैं। मुद्रित 'श्यामायन' पाठ या तो प्रमादज है, या 'श्यामायन' ही 'श्यामायनि' है (अगस्त्य= अगस्ति की तरह)। मुद्रित 'अरुणि' भी वस्तुतः 'आरुणि' ही होगा।

श्यामायनि--उदीच्य यजुःशाखाप्रवर्त्तक। काशिका ४।३।१०४ में श्यामायन के साथ कठ और कलाप नाम भी हैं (उदीच्य चरकों की गणना में)। यदि श्यामायन पाठ को ही प्रकृत पाठ माना जाए तो यह मानना होगा कि श्यामायनि और श्यामायन एक व्यक्ति हैं, और यहाँ स्वार्थ में इ प्रत्यय हुआ है, जैसा बाष्कल-बाष्कलि आदि में दिखाई पड़ता है। एक ही परम्परा में रहने के कारण कठ और कलाप में पर्याप्त साम्य होगा और इनमें भी कलाप के बाद ही कठ ने प्रवचन किया होगा, जो "अनुवदते कठः कलापस्य" वाक्य से ज्ञात होता है (महाभाष्य २।४।३)।

आरुणि--मध्यदेशीय यजुःशाखा का प्रधान प्रवर्तक। काशिका ४।३।१०४ में आरुणि के साथ ऋचाभ और ताण्डच की भी गणना मध्यदेशीय चरकों में की गई है। ऋचाभ और ताण्ड्य के विषय में पुराणों में कोई विवरण नहीं मिलता। ब्रह्माण्ड० १।३५।१२ में 'आसुरि' पाठ है, पर काशिकादि से विरुद्ध होने के कारण इसे भ्रष्ट मानना चाहिए। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि आरुणि ऋग्वेदीय शाखाकार हैं, अतः वे याजुषशाखाकार कैसे हो सकते हैं? उत्तर में कहा जा सकता है कि एक नाम के दो आचार्य हो ही सकते हैं; किंच 'आरुणि' अपत्य-प्रत्ययान्त नाम है (अरुणस्य अपत्यम्), अतः कई आ णि हो सकते हैं। कठ नामक शाखा यजुर्वेद और ऋग्वेद में है (अष्टाध्यायी ७।४।३८ की पदमञ्जरी टीका)। ताण्डच शाखा सामवेद में है, और यजुर्वेदीय शाखा प्रकरण में स्मृत ताण्डच आचार्य

---

५. श्रुतर्षि ब्राह्मणों के प्रवक्ता हैं, अतः संहिता के प्रवक्ता के रूप में श्रुतर्षियों का उल्लेख करना असमीचीन है--ऐसा प्रश्न हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि कृष्णयाजुष संहिताओं में ब्राह्मणों के मिश्रण होने के कारण यह अनुमान किया जा सकता है कि इस क्षेत्र में श्रुतर्षियों का भी योग था। प्रवचन में नाना प्रकार के स्तर होते हैं, अतः अन्यत्र यदि कहीं श्रुतर्षिकर्तृक संहिता-प्रवचन किया गया है तो वह असंगत नहीं हो सकता।

द्वारा प्रोक्त शाखा भी ताण्ड्य पदवाच्य ही होगी। दो श्वेताश्वतर शाखाएँ भी हैं, जैसा कि श्वेताश्वतरशाखाप्रकरण में दिखाया जाएगा।[६] अतएव आरुणि शाखा के यजुर्वेदीयत्व में किसी प्रकार का संशय नहीं होना चाहिए।

आलम्बि—प्राच्य यजुःशाखा के प्रधान आचार्य। प्राग्देशीय चरकों की गणना में इनके साथ पलङ्ग और कमल के नाम भी काशिका ४।३।१०४ में मिलते हैं। आलम्बि का अर्थ है—अलम्ब का अपत्य (गणरत्नमहोदधि ४।३०५)। पुराणों में इन आचार्यों के विषय में अन्य विवरण नहीं मिलता।

चरक और चरकाध्वर्यु—याज्ञवल्क्य के जिन शिष्यों ने ब्रह्महत्या के अपनोदन के लिये यज्ञानुष्ठान किया था, वे चरकाध्वर्यु कहलाते हैं (भाग० १२।६।२३)। आध्वर्यव क्रिया के चरण (अनुष्ठान) से यह नाम पड़ा है, यह स्पष्ट है। वायु० ६१।१०-२३, ब्रह्माण्ड० १।३५।१३-२७, विष्णु० ३।५।१-१३ में चरक या चरकाध्वर्यु नाम के विषय में एक घटना कही गई है। इस प्रसंग में चरक पद का निर्वचन भी दिया हुआ है (विष्णु० ३।५।१३, ब्रह्माण्ड० १।३५।२६-२७, वायु० ६१।२३)। विष्णु० ३।५।१२-१३ से यह प्रतीत होता है कि यहाँ चरकाध्वर्युओं को तैत्तिरीयों से पृथक् कहा गया है। कोई ऐसा भी समझते हैं कि याज्ञवल्क्यातिरिक्त सभी वैशम्पायन-शिष्य चरकाध्वर्यु हैं (चरणव्यूह पृ० ३७)। चरकाध्वर्यु के स्थान में कहीं कहीं 'वरकाध्वर्यु' पाठ भी मिलता है (चरणव्यूह, पृ० ३७ में विष्णुपुराण-वाक्य का यह पाठान्तर निर्दिष्ट हुआ है)। चरकाध्वर्यु को चरक भी कहा जाता है (वायु० ६२।२३)।

चरक या चरकाध्वर्युओं का उल्लेख शतपथ० ३।८।२।२४, ४।१।२।१९ ४।२।३।१५, ८।१।३।७ आदि में मिलता है।

तित्तिरि और तैत्तिरीय शाखा—वायु-ब्रह्माण्ड-विष्णु० आदि में कहा गया है कि याज्ञवल्क्य द्वारा परित्यक्त (वान्त) यजुः को वैशम्पायन के कुछ शिष्यों ने तित्तिरिरूप धारण कर खा लिया और इसके कारण वे शिष्य 'तैत्तिरीय' कहलाए।

---

६. दो कठोपनिषदों की सत्ता भी स्वीकृत हो सकती है। छान्दोग्य० ६।३।२ भाष्य में शंकर कहते हैं—"आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इति हि काठके।" पर यह वाक्य कठोपनिषद् में नहीं मिलता। निश्चित ही यह अन्यवेदीय कठोपनिषद् की सत्ता का ज्ञापक है। क्या यह ऋग्वेदीय कठोपनिषद् का वचन हो सकता है? छान्दोग्य० के इसी स्थल पर शंकर ने कठोपनिषत् का एक अन्य वाक्य उद्धृत किया है, जो यथास्थान (२।२।१२) मिलता है। काठक = कठों का आम्नाय।

इन शिष्यों द्वारा प्रवर्तित शाखा तैत्तिरीय कहलाती है। महीधर ने भी इस कथा का उल्लेख किया है (माध्यन्दिनसंहिताभाष्यभूमिकारम्भ)।

यह कथा वस्तुतः रहस्य-गर्भक है।[७] सामश्रमी जी ने निरुक्तालोचन (पृ० १७९) में इस कथा का रहस्य यह दिखाया है कि आन्ध्रादि देशीय तित्तिर्यादिसंज्ञक ऋषियों के द्वारा मन्त्रों के साथ यज्ञकार्योपयोगी ब्राह्मणवाक्यों का पाठ कर इस संहिता का निर्माण किया गया है। जिस प्रकार पृथक्-पृथक् भुक्त अन्न-व्यंजन वान्त होने पर विमिश्र हो जाते हैं, उसी प्रकार तैत्तिरीयसंहिता में मन्त्र-ब्राह्मणों का मिश्रीकरण है। इसी स्थल पर 'वाजसनेय' नाम के अर्थ पर भी ग्रन्थकार ने विचार किया है, जो यथास्थान दिखाया जाएगा। श्री इन्दिरारमण शास्त्री ने मानवार्षभाष्य की उपक्रमणिका (पृ० २४-२६) में इस कथा के इस प्रकार के रहस्यों पर विचार किया है, पर निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि इस कथा का वास्तव तात्पर्य क्या है।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि कृष्ण और शुक्लयजुर्वेद को पृथक् दो वेद की तरह माना जाता है और इसलिये कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता की व्याख्या करने के बाद भी सायणाचार्य ने शुक्लयजुर्वेदीय काण्वसंहिता की व्याख्या की थी, अन्यथा यजुर्वेद का भाष्य अपूर्ण समझा जाता; स्वयं सायण ने काण्वसंहिताभाष्य-भूमिका में इस बात को स्पष्टतः कहा है (पृ० १०५)।

ऐसा प्रतीत होता है कि तित्तिरि एक आचार्यविशेष का नाम है। पाणिनि ने ४।३।१०२ सूत्र में इस आचार्य का स्मरण किया है। सभा० ४।११-१२ में सुमन्तु, जैमिनि, पैल आदि के साथ तित्तिरि और याज्ञवल्क्य का भी उल्लेख है। इस साहचर्य से यह तित्तिरि याज्ञवल्क्य-समकालिक एवं तैत्तिरीयशाखाप्रवक्ता ही प्रतीत होता है। शान्ति० ३३६।९ में वैशम्पायनपूर्वज तैत्तिरि (तथा आद्य कठ) का उल्लेख है। इस व्यावर्तक विशेषण से भी वैशम्पायनशिष्य तित्तिरि (तैत्तिरि पद स्वार्थ में इञ् प्रत्यय से बनता है) की सत्ता ज्ञात होती है। काण्डानुक्रमणिका में भी तित्तिरि आचार्य का उल्लेख है; यहाँ वैशम्पायन-यास्क-पैङ्गि-तित्तिरि-उख-आत्रेय—यह गुरुशिष्यपरम्परा दी गई है।

---

७. एक ऐसा अस्फुट अनुमान होता है कि कृष्णयजुः की शाखाओं में क्रमशः अवैदिक देवों का अनुप्रवेश होने लग गया था, जिसके कारण शुद्धिप्रेमी याज्ञवल्क्य ने उस धारा का त्याग कर विशुद्ध वैदिककर्मोपयोगी अन्य याजुषधारा का प्रवचन किया था। भारतीय संस्कृति का विकास, (वैदिकधारा, पृ० ६३) इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

जब तित्तिरि आचार्य की सत्ता सिद्ध हो गई, तब यह भी सिद्ध हुआ कि इस आचार्य द्वारा ही तैत्तिरीयशाखा का प्रवर्तन किया गया था। सम्भवतः शाखा-प्रवचन के क्षेत्र में इस आचार्य की कोई विशिष्ट शैली थी (जो तित्तिरि पक्षि-स्वभाव के अनुरूप थी) और इसी से बाद में तित्तिरि (तीतर) पक्षी की कथा गढ़ी गई होगी। आचार्य के 'तित्तिरि' नाम के कारण बाद में भी ऐसी कल्पना उत्पन्न हो सकती है। नामों की विचित्रता के कारण इस प्रकार की कल्पनाएँ पुराणों में जहाँ तहाँ मिल जाती हैं। व्यास की अरणि नामक पत्नी से शुक का जन्म हुआ था; बाद में अरणि को यज्ञाग्नि-उत्पादक काष्ठ समझकर शुक-जन्म की एक काल्पनिक कथा पुराणकारों ने गढ़ ली है, यह पर्जिटर महोदय ने दिखाया है (A. I. H. T. पृ० १३६)। इस ग्रन्थ में ऐसे अनेक दृष्टान्त दिए गए हैं, जिनमें नामों के विषय में ऐसी भ्रान्तियाँ दृष्ट होती हैं (अ० ११).।

तैत्तिरीयसंहिता की प्रशंसा में भागवत में 'सुपेशल' पद बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है (१२।६।६५)। टीकाकार श्रीधर ने कहा है कि अतिरम्यता और अवान्तर भेद होने के कारण इस विशेषण का प्रयोग किया गया है।[८] इस शाखा के विषय में जो विवरण स्वाध्यायमण्डल से प्रकाशित तैत्तिरीयसंहिता भूमिका (पृ० २६-३३) में दिया गया है, उससे यह मत प्रमाणित होता है। इस संहिता के विषय में कई ज्ञातव्य बातें प्रपञ्चहृदय और लौगाक्षिस्मृति में मिलती हैं।

भागवत का यह विशेषण वैदिक परम्परा में स्वीकृत हुआ है। कृष्णयजुः शाखाओं में तैत्तिरीय शाखा की महत्ता मानी जाती है। सम्भवतः तैत्तिरीयसंहिता ही प्रथम कृष्णयजुःशाखा है और बाद में काठक, मैत्रायणी आदि शाखाएँ बनीं। यह साफ ही देखा जाता है कि चरणव्यूह में पठित "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदः त्रिगुणं यत्र पठ्यते। यजुर्वेदः स विज्ञेयः अन्याः शाखान्तराः स्मृताः" (पृ० ४१) वाक्य तैत्तिरीयसंहिता में ही घटता है। तैत्तिरीयसंहिता की भूमिका (स्वाध्यायमण्डल संस्क०, पृ० २६-२८) में यह तथ्य प्रमाणित किया गया है। वस्तुतः कृष्णयजुर्वेद की ८६ शाखाएँ भी तैत्तिरीय कहलाती हैं, ऐसा वैदिक सम्प्रदाय है (तैत्तिरीयाः कृष्णयजुषश्च इति नार्थान्तरम्—स्वाध्यायमण्डल प्रकाशित काठक संहिता भूमिका, पृ० ९)।

तैत्तिरीयशाखासम्बन्धी परिमाण-विशेष का उल्लेख वायु० ६१।६६ और ब्रह्माण्ड० १।३५।७५ में मिलता है। वेदपरिमाण प्रकरण में इस पर विचार किया गया है।

---

८. लौगाक्षिस्मृति, पृ० २४३ में तैत्तिरीयक का विशेषण 'महाशाखाविशेष' दिया गया है, जो सुपेशल का समार्थक है।

चरणव्यूह में "तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति औखेयाः, खाण्डिकेयाश्च" (पृ० ३१) आदि कुछ विशिष्ट बातें इस शाखा के विषय में मिलती हैं। पुराणों में इस प्रकार के उल्लेख नहीं मिलते, अतः इस पर विचार करना अनावश्यक है।

शाखा प्रकरण में अनुक्त कृष्णयाजुष शाखा—कृष्णयजुःशाखा-प्रकरण में जितनी शाखाओं के नाम आए हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कुछ शाखाओं के नाम भी पुराणों में यत्र-तत्र मिल जाते हैं। यथा—

१. कठी—यह नाम अग्नि० २७१।४ में याजुषशाखानामगणना में मिलता है। यह कठशाखा २७ प्रधानशाखाओं में अन्यतम है। शाखाकार कठ का उल्लेख अष्टाध्यायी में भी है (कठचरकाल्लुक्, ४।३।१०७)। कठशाखा के विषय में स्वाध्यायमण्डल से प्रकाशित काठकसंहिता की भूमिका द्रष्टव्य है। ब्रह्म० १२१ अध्याय में कठ नामक किसी कवि का चरित आया है, पर यह शाखाकारक ऋषि ही हैं, ऐसा निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता।

२. मध्यकठी—अग्नि० २७१।४ में यह नाम है। इस नाम की कोई शाखा चरणव्यूहादि ग्रन्थों में निर्दिष्ट नहीं है। योगकठ, घोषकठ आदि देशभेद-प्रयुक्त कई कठशाखानाम उपर्युक्त काठकशाखा भूमिका पृ० ७ में मिलते हैं, पर यह नाम वहाँ भी संकलित नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यदेशीय तीन चरकों में अन्यतम कठ थे (काशिका ४।३।१०४), और इसीलिये कठपरम्परा में किसी एक शाखा का नाम मध्यकठ हो गया था।

३. श्वेताश्वतर--कूर्म० ११।१४।३८-३९ में इस शाखा के प्रवर्तक आचार्य श्वेताश्वतर और इस शाखा का सामान्य विवरण है। इस शाखा का मन्त्रोपनिषद् बहुत्र मुद्रित हुआ है। भगवद्दत्त जी ने अनुमान किया है कि इस शाखा के दो मन्त्रोपनिषद् थे, क्योंकि 'अस्यवामीय' सूक्त के भाष्यकार आत्मानन्द ने एक ऐसा श्वेताश्वतरवाक्य उद्धृत किया है, (१६वें मन्त्र के भाष्य में) जो उपलब्ध उपनिषद् में नहीं है (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २९६)। यह मत सत्य हो सकता है; क्योंकि श्वेताश्वतर उपनिषद् २।१४ के शांकरभाष्य में "परेषां पाठे तद्वत्सतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देहीति तत्रापि अयमेवार्थः" ऐसा कहा गया है।[१] यह वाक्य एक अन्य श्वेताश्वतर का ज्ञापक है, चाहे वह इसी शाखा का हो या

---

१. ऐसा कहना उचित नहीं है कि यहां शंकराचार्य उपनिषद् का पाठान्तर दिखा रहे हैं। परेषाम्, अन्येषाम्, एकेषाम् आदि पदों का प्रयोग समानीविषयसंबद्ध शाखान्तरीय पाठ दिखाने के लिये ही शंकरादि व्याख्याकारों के द्वारा बहुधा किया गया है, यह ज्ञातव्य है।

अन्य किसी शाखा का, पर इस अज्ञात उपनिषद् का नाम श्वेताश्वतर ही होना चाहिए।

४. **हारिद्रवीय**—वेदपरिमाण के प्रसंग में इस शाखा का निर्देश मिलता है (वायु० ६१।६६, ब्रह्माण्ड० १।३५।७५)। इस शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ के वाक्य सायणीय ऋग्वेदभाष्य ५।४०।८[10] और निरुक्त १०।५ ख० में उद्धृत हैं।[11]

५. **मैत्रायणी**—अग्नि० २७१।५ में इसका उल्लेख है। याज्ञवल्क्यस्मृति १।७ की बालक्रीडा टीका में कहा गया है—"न हि मैत्रायणीशाखा काठकस्यात्यन्तविलक्षणा।" इससे इन दोनों संहिताओं के अत्यन्त सादृश्य का ज्ञान होता है। कठ के द्वादश भेदों में मैत्रायणीशाखा अन्यतम है—ऐसा चरणव्यूह में कहा गया है (पृ० ३१)। चरणव्यूह में मैत्रायणीय के सात भेद कहे गए हैं। दुर्ग ने हारिद्रव को मैत्रायणीय का शाखाभेद माना है (निरुक्त १०।५ ख० टीका)।

इस शाखा से सम्बन्धित अन्यान्य तथ्य स्वाध्यायमण्डल से प्रकाशित मैत्रायणी संहिता की भूमिका तथा वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भाग १, पृ० २९६-२९८) में द्रष्टव्य हैं।

शुक्लयजुर्वेदप्रवर्तक याज्ञवल्क्य का परिचय—पुराणों में शुक्लयजुर्वेद का आरम्भ (इस मन्वन्तर में) याज्ञवल्क्य से माना गया है। याज्ञवल्क्य को ब्रह्मरातसुत कहा गया है (विष्णु० ३।५।३)। इसी अर्थ में वायु० ६१।२१ में ब्रह्मराति शब्द प्रयुक्त हुआ है (ब्रह्मरात शब्द से अपत्यार्थक इ-प्रत्यय; द्र० अष्टाध्यायी ४।१।९५)। इस स्थल पर वायु० में 'ब्रह्मरीति' पाठान्तर दिखाया गया है, जो भ्रष्ट है। भाग० १२।६।६४ में इनको देवरातसुत कहा गया है। विश्वामित्र के ब्रह्मवादी पुत्रों में एक देवरात था (अनुशासन० ४।५०)। यही शुनःशेफ है—यह ब्रह्माण्ड० २।६६।६६-६७ से पता चलता है। याज्ञवल्क्य को विश्वामित्रकुलोत्पन्न भी माना जाता है (वायु० ९१। ९८; ब्रह्माण्ड० २।६६।७०)। अतः विश्वामित्रसुत देवरात याज्ञवल्क्य के पिता हैं, ऐसा अनुमित होता है। याज्ञवल्क्य

---

१०. "स्वर्भानुमायया सूर्यस्यावृत्तिर्हारिद्रविके समाम्नाता..."इत्यादि वाक्य।

११. महाभाष्य ४।२।१०४ में जो 'हारिद्रविणः' उदाहरण है, वह इस हारिद्रवब्राह्मण को लक्ष्य कर ही दिया गया है। ब्राह्मणग्रन्थ निश्चय ही तन्मूलभूत संहिता की सत्ता का ज्ञापक होता है। इसी स्थल पर 'भाल्लविनः' और शाट्यायनिनः पद उदाहृत हुए हैं। ये दो ब्राह्मणग्रन्थाध्येताओं के वाचक पद हैं (द्र० प्रदीप)।

के कुल आदि संबन्धी विशद विचार वैदिक वाङमय का इतिहास। (भाग १, पृ० २५६-२६५) में द्रष्टव्य है।

याज्ञवल्क्य वाजसनेय पद का तात्पर्य—याज्ञवल्क्य को वाजसनेय कहा गया है (बृहदारण्यक० ८।६।३)। यह विशेषण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस नाम के ही आधार पर सभी शुक्लयजुर्वेदीय शाखाएँ वाजसनेयी कहलाती हैं। इस वाजसनेय शब्द से यह ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम वाजसनि था। सायण ने अन्नदाता के अर्थ में 'वाजसनि' शब्द की सिद्धि कर 'वाजसनि के पुत्र' के अर्थ में 'वाजसनेय' पद निष्पन्न किया है, जो याज्ञवल्क्य ही है (काण्वसंहिताभाष्य-भूमिका, पृ० १०४ चौखम्भा संस्क०)। बृहदारण्यकभाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं कि यज्ञ का वल्क(वक्ता) यज्ञवल्क है और उसका अपत्य याज्ञवल्क्य कहलाता है, जो दैवराति भी है (१।४।३)। कृष्णसूरिकृत वेद-निरूपण में भी यह मत मिलता है (स्वाध्यायमण्डल से प्रकाशित काण्वसंहिताभूमिका, पृ० १६)। इन प्रमाणों से देवरात और ब्रह्मरात की एकता भी सिद्ध होती है। याज्ञवल्क्य शब्द का काल्पनिक अर्थ भी बाद में किया गया है। विश्वरूप ने 'याज्ञवल्क्य' को ब्रह्मा का नाम मानकर उनके अपत्य के अर्थ में 'याज्ञवल्क्य' पद की सिद्धि की है (बालक्रीडाटीका १।१), जो चिन्तनीय है; प्रचलित किसी भी कोश में ब्रह्मा का यह नाम नहीं मिलता। ब्रह्मा का एक नाम 'यज्ञ' तो कहीं कहीं मिलता है (चरकसंहिता, चिकित्सास्थान १।५० की जेज्जटकृत टीका) पर 'यज्ञवल्क' नाम अश्रुत ही है। याज्ञवल्क्य को कहीं भी ब्रह्मा का पुत्र नहीं माना गया है।

वाजसनेयी पद की अन्य व्याख्या भी है। सामश्रमी जी के अनुसार वाज (=अन्न) की सनि (=लाभ) के लिये सम्पन्न=वाजसनेयी (निरुक्तालोचन, पृ० १७९)। इस शब्द का प्रकृत अर्थ शायद बाद में लुप्त हो गया था, अतः कई प्रकार की कल्पनाएँ की गई होंगी। प्रतिज्ञासूत्रभाष्य में अनन्तदेव ने वाजसन को शुक्ल-यजुर्वेद का नामान्तर कहा है—शुक्लं वाजसनं ज्ञेयम्। वैदिक वाङमय का इतिहास भाग १, पृ० २४९ में इससे संबन्धित विवरण द्रष्टव्य है। इस दृष्टि से यह भी कहना होगा कि वाजसन के प्रवर्तक होने के कारण याज्ञवल्क्य वाजसनेय कहलाते थे। पर ऐसी वृत्ति के लिये तद्धितप्रत्यय व्याकरणसंगत है या नहीं,[१२]—इस पर विचार करना चाहिए। किंच शुक्लयजुः को वाजसन कहने का तात्पर्य क्या

---

१२. युक्ति यह है कि वैदिक ग्रन्थों के नाम प्रवक्ता के नाम के अनुसार होते हैं परन्तु यहाँ रच्यमान ग्रन्थ के नाम के अनुसार आचार्य का नाम (विशेषण-भत नाम) होना कहा जा रहा है, अतः यह सांशयिक है।

होगा। क्या शुक्लयजुर्मन्त्र में अन्नदातृत्व का कोई सम्बन्ध है? सम्भवतः इस वेद से अन्न का सम्बन्ध माना जाता होगा, क्योंकि इसके प्रथम मन्त्र में अन्नवाची 'इट्' पद पठित है। (इषे त्वा); परन्तु यह दृष्टि भी सर्वथा संगत नही है, क्योंकि कृष्णयजुः का भी प्रथम मन्त्र' इट्' पद घटित है।

याज्ञवल्क्य वैशम्पायन का भागिनेय (भानजा) और शिष्य भी था। उन्होंने वैशम्पायन के लिये 'मातुल' पद का प्रयोग भी किया है (शान्ति० ३१८।१७, द्र० नीलकण्ठी टीका)। शतपथ० १४।९।४।३३ में याज्ञवल्क्य को उद्दालक का शिष्य कहा गया है।

याज्ञवल्क्य-शाकल्य-सम्बन्धी एक घटना नागर० (२७८ अ०) में कही गई है। यहाँ याज्ञवल्क्य को चारायण ऋषि के पुत्र के रूप में दिखाया गया है। यह चारायण शुनःशेपवंशीय है। यहाँ याज्ञवल्क्य का शाकल्यशिष्यत्वग्रहण, आनर्ताधिपति की पत्नी के साथ याज्ञवल्क्य का संभोग, याज्ञवल्क्य द्वारा प्रयुक्त मन्त्र की शक्ति, शाकल्य के साथ याज्ञवल्क्य का विवाद, और वेदत्याग, सूर्य से पुनः वेदलाभ तथा बाद में अपने गुरु को वेदार्थ सुनाना इत्यादि कथा कही गई है। याज्ञवल्क्य की कामुकता का ऐसा वर्णन अर्वाचीनकाल की कल्पना है, क्योंकि बृहदारण्यक-श्रुति में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

शतपथ० १४।७।२८ अ० और बृहदारण्यक० ३।९ अ० में विदग्ध शाकल्य का याज्ञवल्क्यकर्तृक पराजय वर्णित हुई है। (विदग्ध नाम है; शाकल्य=शकल का अपत्य, द्र० ३।९।१ का शांकरभाष्य)। याज्ञवल्क्य और वैशम्पायन का विवाद वायु० ६१।५-२२, ब्रह्माण्ड० १।३५।१४-३०, विष्णु० ३।५। १-२९, भागवत० १२।६।६१-७४ में उल्लिखित हुआ है। इन स्थलों में याज्ञवल्क्य के गर्वयुक्त चरित्र का स्पष्ट वर्णन मिलता है।

देवीभागवत ९।५ अ० में याज्ञवल्क्यकृत सरस्वतीस्तुति कही गई है। शान्ति (३१८ अ०) में भी याज्ञवल्क्य के स्मरण करने पर वाग्भूता सरस्वती देवी का प्राकट्य कहा गया है। सम्भवतः देवीभागवतगत स्तुति महाभारतस्थ घटना का अनुस्मरण कर ही लिखी गई है।

याज्ञवल्क्यकृत शुक्लयजुर्वेद प्रवर्तन की कथा—पुराणों (वायु० ६१।५-२२, ब्रह्माण्ड० १।३५।१४-३०, विष्णु० ३।५।१-२९, भाग० १२।६।६१-७४, नागर० २७८।१-१४१) तथा शान्तिपर्व (३१८ अ०) में यह कथा आई है। इस कथा में ही तैत्तिरीया और वाजसनेयी शाखा के निर्माण का भी प्रसंग है। इस कथा का तात्पर्य कुछ दुर्बोध है और विभिन्न विद्वान् विभिन्न रूप से इस कथा का तात्पर्य निर्धारित करते हैं (इन्दिरारमणशास्त्रिकृत मानवार्ष भाष्य का उपक्रम, पृ० २४-२६)।

इस कथा में कई विचार्य विषय हैं। याज्ञवल्क्यकृत वेदवमनक्रिया पर कृष्ण-यजुर्वेद प्रसंग में विवेचन किया गया है, अतः यहाँ वाजसनेयी शाखा के निर्माण पर ही विचार किया जा रहा है।

वायु-ब्रह्माण्ड० में 'अश्वरूपी याज्ञवल्क्य को सूर्यकर्तृक आदित्यमण्डलस्थ यजुः का दान' कहा गया है। वाजिरूपी याज्ञवल्क्य से प्रोक्त संहिता के अध्येता होने के कारण उनके शिष्य भी 'वाजिन्' कहे जाते हैं।

विष्णु० में सूर्य को ही वाजिरूपधर कहा गया है। नागर खण्ड में यह घटना और भी विस्तृत रूप में है। यहाँ सूर्याश्वकर्ण में स्थित होकर याज्ञवल्क्य द्वारा अंग, उपांग और परिशिष्ट के साथ चारों वेदों का अभ्यास करने का उल्लेख है।

भाग० में भी वाजिरूपी सूर्य का ही उल्लेख है। १२।६।७४ में 'वाजसन्यस्ताः' पद है, जिसकी व्याख्या में श्रीधर कहते हैं—"वाजेभ्यः केशरेभ्यः, वाजेन वेगेन वा संन्यस्ताः त्यक्ताः शाखा वाजसनीसंज्ञाः।" यहाँ यह विचार्य है कि पुराणप्रयुक्त 'वाजेन संन्यस्तः' (वाज से संन्यस्त) यह विग्रह है या 'वाजसनी' शब्द का प्रथमा-बहुवचन 'वाजसन्यः' है, और तब अन्वय होगा—'ता वाजसन्यः काण्वमाध्यन्दिनादयः।" भागवत का यह प्रकरण चरणव्यूहटीका पृ० ३४-३५ में उद्धृत है और यहाँ भी श्रीधर-स्वामी की व्याख्या ही अनुसृत हुई है। सम्भवतः 'वाजसन्यस्ताः' पद श्लिष्ट है। वाजसनेयी के स्थान पर वाजसनी कहना शब्दशास्त्रानुमोदित है या नहीं, यह अन्वेषणीय है।[१३]

भागवत में वाजसनेयीशाखा-गणना के निर्देश में "दश पञ्चशतैः" कहा गया है (१२।६।७४)। यहाँ शत का अभिप्राय यजुः की 'अपरिमितता' से है, उतनी शाखाओं से नहीं; क्योंकि कहीं भी इतनी शाखाओं का उल्लेख नहीं मिलता। श्रीधरस्वामी ने भी "शतैः अपरिमितैः यजुर्भिः" कहकर इस मत को ही पुष्ट किया है। चरणव्यूहटीकाकार महिदास ने भागवत-श्लोक की व्याख्या में (पृ० ३५) इस पर कुछ भी नहीं कहा —यह आश्चर्य का विषय है।

सूर्य से शुक्लयजुः-प्राप्तिरूप घटना का तात्पर्य—उपर्युक्त घटना निश्चित ही किसी ऐतिहासिक सत्य को लक्ष्य कर कही गई है, परन्तु वह घटना वस्तुतः क्या

---

१३. शुक्लयजुर्वेद के लिये 'वाजसन' शब्द प्रयुक्त मिलता है (अनन्तदेवकृत प्रतिज्ञासूत्रभाष्य १।३), अतः शाखारूप विशेष्य को लक्ष्य कर 'वाजसनी' पद साधु माना जा सकता है। यहाँ याज्ञवल्क्य को 'वाजसनि' का अपत्य कहा गया है। 'वाजसनेय' शब्द के इन विभिन्न व्याख्यानों से यह प्रतीत होता है कि इस शब्द का विवक्षित तात्पर्य उस समय अज्ञात हो गया था।

है, इसका परिज्ञान करना अत्यन्त कठिन है। गुरुत्याग करने के बाद याज्ञवल्क्य पुनः वेदाध्ययन करने के लिये किसी अन्य सम्प्रदाय में गए होंगे और इस नवीन संप्रदाय या आचार्य द्वारा अनुशिष्ट होकर उन्होंने तदनुरूप वेदसम्प्रदाय का प्रवर्तन किया होगा, यह सरलता से समझ में आ सकता है। सम्भवतः यजुर्वेद का कोई आदित्य सम्प्रदाय रहा होगा, जिस सम्प्रदाय में वेद का पठन-पाठन वैशम्पायनसमत परिपाटी से कुछ विलक्षण रूप से होता था। यह पद्धति अंशतः वैशम्पायन-विरोधी भी थी और इसीलिये याज्ञवल्क्य उस धारा के प्रति अनुरागवश आकृष्ट हुए और उन्होंने गुरु से पृथक् एक नवीन धारा का प्रवर्तन किया। हम समझते हैं कि इस अज्ञातधारा (वैशम्पायन से पृथक्) का नाम 'आदित्यसम्प्रदाय' था, जिसमें सूर्य-पूजा आदि का प्राधान्य था। याज्ञवल्क्य को भी इस सम्प्रदाय के अनुसार सूर्योपासना करनी पड़ी और तब उनको उस सम्प्रदाय में रक्षित वेदविद्या मिली। इस ऐतिहासिक घटना को ही बाद में विभिन्न रूपों से चित्रित किया गया है। शान्ति० ३१८।२ में प्रयुक्त "आर्षेण विधिना चरता अवनतेन मया" वाक्य से यह अर्थ ध्वनित होता है।

आदित्य सम्प्रदाय और ब्रह्मसम्प्रदाय––स्वाध्यायमण्डल से प्रकाशित काण्व-संहिताभूमिका (पृ० १७) में जाबालसंहिता (१ अ०) के वचन के आधार पर वेद के द्विविध सम्प्रदाय कहे गए हैं। प्रथम––ब्रह्म सम्प्रदाय, जिसका सम्बन्ध व्यास-परम्परा से है; द्वितीय––आदित्य सम्प्रदाय, जो कृत्स्नकर्मप्रकाशक है और जो 'अयातयाम' संज्ञक है।[१४] इस ग्रन्थ के अनुसार वेदशाखाविभाग निम्नोक्त प्रकार का होता है :––

वेदनाम	ब्रह्मसम्प्रदाय के अनुसार	आदित्यसम्प्रदाय के अनुसार
ऋग्वेद	आश्वलायनी आदि २० शाखाएँ	शाङ्खायनी (वाष्कला कौषीतकी वा)
यजुर्वेद	कृष्णयजुर्वेद की ८६ शाखाएँ	काण्वादि १५ शाखाएँ
सामवेद	जैमिनीय-राणायनीयादि शाखाएँ	कौथुमी शाखा
अथर्ववेद	पिप्पलादशाखा	शौनकीय-शाखा

---

१४. एक ही शास्त्र के द्विविध सम्प्रदाय-भेद के लिये भागवत सम्प्रदाय भी उदाहार्य है। श्रीधर स्वामी कहते हैं––द्वेधा हि श्रीमद्भागवत-सम्प्रदायप्रवृत्तिः। एकतः संक्षेपतः श्रीनारायणाद् ब्रह्मनारदादिद्वारेण। अन्यतस्तु विस्तरतः शेषात् सनत्कुमारसांख्यायनादिद्वारेण (भाग० ३।१।१ टीका)।

यहाँ यह भी कहा गया है कि ब्रह्मसम्प्रदाय की ऋषिपरम्परा 'ब्रह्मा-वसिष्ठ-शक्ति-पराशर-व्यास' इस क्रम से हैं। व्यास के शिष्य पैल-वैशम्पायन-जैमिनि-सुमन्तु यथाक्रम ऋगादि चारों वेदों के प्रवर्तक हुए हैं।

आदित्यसम्प्रदाय में आदित्य से याज्ञवल्क्य, उनसे शाङ्खायन[१५] (ऋग्वेद का), कण्व और मध्यन्दिन (यजुर्वेद का), सामश्रवाः और कौथुमि (सामवेद का) तथा शौनक (अथर्ववेद का) चतुर्वेद के प्रवर्तक हुए हैं।[१६]

वाजसनेय का मूल कोई आदित्यसम्प्रदाय है—ऐसा कहा जाता है। 'द्वयान्येव यजूंषि आदित्यानाम् आङ्गिरसानाम्' यह वैदिकजनप्रसिद्ध वचन भी इस मत का ज्ञापक है। इन दोनों का निर्देश माध्यन्दिन शतपथ ४।४।५।१९-२० में भी मिलता है। इस आदित्यसम्प्रदाय से ही याज्ञवल्क्य को शुक्लयजुर्वेद मिला था, और बाद में सूर्य से मिलने की कथा गढ़ ली गई होगी—ऐसा अनुमान होता है।

यजुः की शुक्ल-कृष्ण-रूप द्विविधता—शुक्ल और कृष्णयजुः[१७] में भेदक तत्त्व क्या है, यह विवृत हो रहा है। इस विषय में सायणाचार्य ने अपना स्पष्ट निर्णय इस प्रकार दिया है—"आध्वर्यव होत्र आदि कर्म के अव्यवस्थितरूप से पठित होने के कारण इस कृष्ण यजुर्वेद में अध्येता की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, अतः यह यजुः-भाग कृष्ण कहलाता है और जिस भाग में प्रकरण व्यवस्थित हैं, वह शुक्ल यजुः कहलाता है" (काण्व संहिताभाष्यभूमिका के आरम्भिक श्लोक १०-१२)। महीधर ने माध्यन्दिनसंहिता-भाष्य की भूमिका में "बुद्धि मालिन्य-हेतुत्वात् कृष्णानि" कहा है।

---

१५. साङ्खायन, साङ्ख्यायन, शाङ्ख्यायन और शाङ्खायन—ये चार नाम विभिन्न मुद्रित ग्रन्थों में मिलते हैं। प्रकृत पाठ का निर्णय करना दुरूह है, यद्यपि शाङ्खायन पाठ ही अधिक समीचीन माना जाता है (वैदिक परम्परा में)।

१६. विभिन्न शास्त्रों में उनकी एकाधिक परम्पराओं का उल्लेख मिलता है। छन्दः शास्त्र और व्याकरणशास्त्र की अनेक परम्पराओं के विषय में वैदिक छन्दोमीमांसा ग्रन्थ (पृ० ५३-६०) द्रष्टव्य है।

१७. यह आश्चर्य का विषय है कि शुक्ल यजुः शब्द का प्रयोग शतपथ० जैसे प्राचीन ग्रन्थ में मिलता है, पर कृष्ण यजुः शब्द इतने प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता। पौराणिक सिद्धान्त के अनुसार शुक्ल यजुः के पहले कृष्णयजुः की सत्ता सिद्ध होती है। अतः यह कहना पड़ता है कि 'कृष्ण यजुः' नाम पहले नहीं था, याज्ञवल्क्य द्वारा 'शुक्ल यजुः' नाम के प्रवर्तित होने के कारण बाद में उससे भिन्न यजुः के लिये 'कृष्ण' नाम दिया गया है।

अनन्तदेव ने प्रतिज्ञासूत्रभाष्य (१।३) में दो श्लोक उद्धृत किए हैं, जिनका भाव यह है कि शुक्लयजुः का नाम 'वाजसन' है और कृष्ण का नाम 'तैत्तिरीयक' है। कृष्ण में बुद्धिमालिन्य-जनित अव्यवस्थित प्रकरण हैं, और शुक्लयजुः में प्रकरण सुव्यवस्थित हैं (वैदिक वाङमय का इतिहास, भाग १, पृ० २४९ में एतत्-संबन्धी विवरण द्र०)।

मन्त्रभ्रान्तिहर नामक ग्रन्थ में शुक्लयजुर्वेद को सत्त्वप्रधान और यातयाम-विवर्जित कहा गया है।[१८] प्रकरण की व्यवस्थितता ही सत्त्वप्रधान कहने का हेतु जान पड़ता है। यातयाम का तात्पर्य तैत्तिरीयसंहिता भूमिका (पृ० ३२ स्वाध्याय-मण्डल) में विवृत हुआ है। ऋषिछन्ददेवतादि के विषय में अनियम होना यातयामता का प्रधान हेतु है, यह यहाँ प्रतिपादित किया गया है। इस दोष के कथंचित् निराकरण के लिये इस संहिता का आर्षेयपाठक्रम भी प्रचलित है—यह भी यहाँ कहा गया है। द्विवेदगङ्गबृहदारण्यक भाष्य[१९] में कहते हैं कि मन्त्र-ब्राह्मणमिश्रीकरण से 'कृष्ण' और अमिश्रीकरण (शुद्ध) होने से 'शुक्ल'—ऐसा कहा जाता है। इस मत को और भी स्पष्ट कर कहा जा सकता है कि कृष्णयजुः संहिताओं में इष्टि-अग्निष्टोमादि का अलग-अलग ज्ञान दुष्कर है और इसीलिये अन्धकार की उपमा मान कर 'कृष्ण' शब्द का प्रयोग इस परम्परा के लिये किया जाता है। वाजसनेयक यजुर्वेद (शुक्ल) में व्यवस्थित प्रकरण रहने के कारण कर्मों का पृथक् ज्ञान होता है, वे स्पष्ट प्रकाशित होते हैं; अतः प्रकाश की उपमा से यह सम्प्रदाय शुक्ल कहलाता है। भट्ट यज्ञेश्वर ने आर्यविद्यासुधाकर ग्रन्थ में स्पष्टतः ऐसा ही कहा है (पृ० ४६)।

इस विषय में एक अन्य मत चरणव्यूहटीकाकार महिदास ने दिया है। वे कहते हैं कि जिस वेद के उपक्रम में चतुर्दशीयुक्त पूर्णिमा का ग्रहण स्वीकृत है, वह शुक्लयजुः है और प्रतिपदयुक्त पूर्णिमा का ग्रहण जिस वेद के उपक्रम में स्वीकृत है, वह कृष्ण यजुः है (पृ० ३९)। चरणव्यूहटीकाकार का यह मत अन्यत्र नहीं मिलता।

---

१८. स्वाध्याय मण्डल से प्रकाशित तैत्तिरीय-मैत्रायणी-काठक-संहिताओं की भूमिकाओं में यह विषय विवृत हुआ है। इन भूमिकाओं में मन्त्रभ्रान्तिहर ग्रन्थ के वाक्य उद्धृत हुए हैं।

१९. "यजुषां शौक्ल्यकार्ष्ण्यविवेकः" शीर्षक लेख में यह भाष्य उद्धृत है। यह लेख सारस्वती सुषमा में प्रकाशित है, पर लेख के प्रतिमुद्रण में वर्ष-अंक का उल्लेख न रहने के कारण वर्ष-अंक का उल्लेख नहीं किया जा सका।

इस विषय में एक अन्य मत का प्रतिपादन श्री युधिष्ठिर मीमांसक जी ने "यजुषां शौक्ल्यकार्ष्ण्यविवेक:" शीर्षक लेख में किया है। उनका मत है कि वाजसनेयों की परम्परा में पौर्णमासेष्टि का प्राथम्य है, अतः वे 'शुक्ल' कहलाते हैं; उसी प्रकार तैत्तिरीयों के सम्प्रदाय में दर्शेष्टि का प्राथम्य है, और इसीलिये वे 'कृष्ण' कहलाते हैं। यह मत भी अन्यत्र कहीं नहीं मिलता, यद्यपि इस मत को सर्वथा असमीचीन नहीं कहा जा सकता।

अयातयाम का तात्पर्य—याज्ञवल्क्य द्वारा प्राप्त मन्त्रों का विशेषण 'अयातयाम' दिया गया है (विष्णु० ३।५।२७, भाग० १२।६।७३)। टीकाकार श्रीधर स्वामी के अनुसार इसका अर्थ है—'अन्यों द्वारा अनभ्यस्त'। याज्ञवल्क्य की प्रार्थना भी यही थी कि मुझे वे यजुर्मन्त्र मिलने चाहिए जो मेरे गुरु के पास नहीं हैं।

परीक्षा करने पर स्वामिप्रदर्शित अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता। शुक्लयजुः में सैकड़ों ऐसे मन्त्र हैं, जो कृष्णयजुः में भी हैं। तैत्तिरीयसंहिता की भूमिका (पृ० ३०, स्वाध्यायमण्डल) में यातयाम पर विचार किया गया है और यह सिद्धान्तित किया गया है कि ऋष्यादि का अनियम ही यातयामता दोष है। यह समाधान अस्पष्ट है। ऐसा अनुमान करना संगततर होगा कि याज्ञवल्क्यकृत आदिम शुक्लयजुः संहिता में केवल वे ही मन्त्र थे, जो कृष्णयजुः में नहीं हैं और बाद में शिष्यों ने आवश्यकतावश अन्य मन्त्रों को भी जोड़ दिया था, जिससे प्रचलित शुक्लयजुः संहिताओं में कृष्णयजुः के मन्त्र भी प्राप्त होते हैं। यातयाम का प्रकृत अर्थ और शुक्लकृष्ण का तात्पर्य प्राचीनतम सामग्री के मिलने पर ही यथार्थतः ज्ञात हो सकते हैं।[२०]

याज्ञवल्क्य के १५ शिष्य—इनके नाम वायु० ६१।२४-२६ और ब्रह्माण्ड० १।३५।२७-३० में मिलते हैं। विष्णु० में १५ संख्या कहकर उनको "काण्वाद्याः" कहा गया है (३।५।२९)। भाग० १२।६।७४ में "काण्वमाध्यन्दिनादयः" कहा गया है तथा १५ शाखाएँ भी कही गई हैं। यहाँ 'दशपञ्चशत' कहा गया है; शत का तात्पर्य पहले बताया जा चुका है। अग्नि० १५०।२८ में "काण्वाः वाजसनेयाद्याः

---

२०. प्रचलित याज्ञिक परम्परा में इस दोष की निवृत्ति के लिये यह कहा जाता है कि शुक्लयजुर्वेदीय मन्त्रों का उच्चारण कृष्णयजुः से कुछ विलक्षण होता है (आनुपूर्वी में साम्य होने पर भी)। मन्त्रों के विनियोग आदि में भी इन दोनों वेदों में परस्पर अत्यन्त वैलक्षण्य है और इसी दृष्टि से कहा जाता है कि कृष्णयजुर्मन्त्र से शुक्लयजुर्मन्त्र पृथक् है। परन्तु यह उत्तर सन्तोषप्रद नहीं है।

याज्ञवल्क्यादिभिः स्मृताः" कहा गया है, यद्यपि पञ्चदशसंख्या का उल्लेख नहीं किया गया है। माध्यन्दिन संहिताभाष्यकार महीधर भी इस मत के अनुयायी हैं।

ये १५ शिष्य 'वाजिन्' कहलाते हैं (विष्णु० ३।५।२९) जिसका अर्थ है वाजिरूप सूर्य से प्रोक्त संहिता का अध्येता (द्र० श्रीधरीटीका), प्रत्येक शिष्य 'वाजसनेयिन्' भी कहलाता है (आर्यविद्यासुधाकर, पृ० ३८)। इस दृष्टि से शुक्ल यजुर्वेद की प्रत्येक संहिता 'वाजसनेयी' (वाजसनेय द्वारा प्रोक्ता) है ।[२१]

कहीं कहीं शिष्य संख्या १७ कही गई हैं। 'वाजसनेया नाम सप्तदश भेदा भवन्ति' चरणव्यूह का यह पाठ माध्यन्दिनसंहिता भूमिका (पृ० ६ स्वाध्यायमण्डल) में उद्धृत है। मुद्रित चरणव्यूह में 'पञ्चदश' पाठ मिलता है (पृ० ३२; सम्भवतः यह कोई अन्य संस्करण है)। श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने निरुक्तालोचन (पृ० १७९) में ऐसा ही कहा है। सम्भवतः बाद में और दो शाखाएँ भी इस परम्परा में रची गई थीं, (कात्यायनादिकर्तृक), जिसके कारण यह संख्या-वृद्धि हुई है।

याज्ञवल्क्य के शिष्यों के नामों में एक प्रमाद प्रायः दृष्ट होता है। 'कण्व' के स्थान पर 'काण्व' और 'मध्यन्दिन' के स्थान पर 'माध्यन्दिन' इस प्रकार के पाठ भी मिलते हैं। पुराणादि के वैज्ञानिक संस्करण का अभाव ही इस प्रमाद का मुख्य कारण है। वस्तुतः आचार्यों के प्रकृत नाम कण्व, मध्यन्दिन इत्यादि हैं, इनके द्वारा प्रोक्त या इनसे सम्बन्धित इत्यादि अर्थों में काण्व, माध्यन्दिन आदि पद बनते हैं और कभी कभी अभेदोपचार से या भ्रम से कण्व आदि के स्थान पर 'काण्व' आदिका प्रयोग किया गया है।[२२] कहीं कहीं पूर्वाचार्यों ने कण्व, मध्यन्दिन (जिनमें तद्धित-प्रत्यय नहीं है) आदि शब्द ही स्पष्टतः लिखे हैं।[२३] शब्दशास्त्रीय

---

२१. वाजसनेयक कहने से १५ शुक्लयाजुषशाखाओं का ग्रहण हो सकता है, अतः विशेषार्थक माध्यन्दिन, काण्व आदि विशेषण देने आवश्यक हैं। यह तथ्य शुक्लयजुः सर्वानुक्रमणी के "माध्यन्दिनीये वाजसनेयके..." वाक्य की अनन्तदेव-कृत व्याख्या में दिया हुआ है (पृ० १)।

२२. कभी कभी कोई शब्द देखने में गोत्रापत्यप्रत्ययान्त जान पड़ता है, परन्तु तत्त्वतः वह व्यक्तिनाम होता है। बृहदा० ३।६ ब्रा० गत 'गार्गी' शब्द वस्तुतः स्त्री का नाम है, अपत्यप्रत्ययान्त (गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री गार्गी) नहीं है—यह शांकर भाष्य (गार्गी नामतो वाचक्नवी वचक्नोर्दुहिता) से ज्ञात होता है।

२३. मध्यन्दिनेन महर्षिणा (महीधर कृत माध्यन्दिनसंहिता भाष्य पृ० २); कण्वसम्बन्धश्च वेदस्य पूर्वमेव प्रदर्शितः (सायणकृतकाण्वसंहिताभाष्य भूमिका, पृ० १०९); पुराणों के विभिन्न संस्करणों में 'कण्व-मध्यन्दिन' ऐसा पाठ भी मिलता

अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय का अच्छेद्य साहचर्य संहित-ब्राह्मण नामों के साथ देखा जाता है, जिसके कारण मूल आचार्य के नाम के परिज्ञान में कभी-कभी विचारकों को भ्रम भी हो सकता है, जिसका निराकरण प्राचीन व्याख्यान से करना चाहिए।

शुक्लयजुर्वेद की इन १५ शाखाओं के विषय में पुराणों में अधिक सामग्री नहीं मिलती। जिन शाखाओं के विषय में कुछ सामग्री मिलती है, उनका विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

माध्यन्दिन—मध्यन्दिनप्रोक्त यह शाखा शुक्लयाजुष-सम्प्रदाय में बहुत ही प्रतिष्ठित है। अग्नि आदि पुराणों में काण्वमाध्यन्दिन का ही उल्लेख किया गया है (अन्य नामों का शब्दतः उल्लेख नहीं किया गया), जिससे इन दोनों की विशिष्टता अनुमित होती है।

ऐसा भी एक मत प्रचलित है कि शुक्ल यजुर्वेद का मूल माध्यन्दिन शाखा है। इस शाखा को १५ वाजसनेय शाखाओं में 'मुख्य' और 'सर्वसाधारण' कहा गया है (यजुः सर्वानुक्रमणी का ह़ोलीरभाष्य)। सम्भवतः 'जावाल' आदि शाखाएँ इस शाखा के आधार पर ही बनी हैं, जिसके कारण ऐसा कहा गया है। माध्यन्दिनी शाखा का सर्वसाधारणत्व वसिष्ठ को भी अनुमत है (माध्यन्दिशाखा-विषय-नाम का हस्तलेख, सम्भवतः यह ग्रन्थ का वास्तविक नाम नहीं; Government Oriental Library, मद्रास का सूचीपत्र, भाग ३, पृ० ३४२६ ग्रन्थसंख्या २४४६)। इस संहिता के विषय में "माध्यन्दिनी संहिता मूल यजुर्वेद हैं" शीर्षक लेख (श्री युधिष्ठिर मीमांसककृत) द्रष्टव्य है (दयानन्द सन्देश फरवरी १९४२ का अंक)।

इस संहिता में १९७५ कण्डिकाएँ हैं, और एक एक कण्डिका में कई मन्त्र हैं। वासिष्ठी शिक्षा के अन्त में मन्त्रों की संख्या दी गई है। यहाँ ऋक् और यजुर्मन्त्रों की संख्या में विकल्प भी दिखाया गया है, जो अस्पष्टार्थक है। अनुवाकसूत्राध्याय में इस संहिता के अनुवाकों की संख्या ३०३ दी हुई है (१-३ श्लोक)। माध्यन्दिननाम से सम्बन्धित दो शिक्षाग्रन्थ मुद्रित हैं (काशी से प्रकाशित 'शिक्षासंग्रह' में); इनमें माध्यन्दिनसंहिता के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें मिलती हैं।

काण्व शाखा से माध्यन्दिन शाखा का कुछ वैशिष्ट्य है। जहाँ माध्यन्दिन ९।४० में सर्वनाम पद का व्यवहार हुआ है (एष वोऽमी राजा) वहाँ काण्व ११।११

है, परन्तु अन्य नामों में यह सावधानी रखी गई है या नहीं—यह अन्वेषणीय है।

में "एष वः कुरवो राजा" रूप पाठ (एक प्रकार का ऊहित रूप) मिलता है।[२४] माध्यन्दिनशाखीय शतपथ ब्राह्मण भी काण्वशाखीय शतपथ ब्राह्मण से विशिष्ट है, क्योंकि इसमें अपेक्षित उद्गातृकर्म और होतृकर्म कहे गए हैं। काण्व शतपथ ब्राह्मण कहीं कहीं व्युत्क्रम भी है—यह वैदिक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है (द्र० विद्याधरशर्मकृत माध्यन्दिनशतपथभूमिका, पृ० १-४ अच्युतग्रन्थमाला संस्क०)

पुराणों में शाखा प्रकरण के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी इस शाखा का सामान्य निर्देश मिलता है, यथा—धर्मारण्य ४०।४६-४८ आदि में।

काण्व—इस शाखा के प्रवक्ता कण्व बौधायन के पुत्र हैं।[२५] माध्यन्दिन संहिता और काण्वसंहिता के उच्चारण में कहीं कहीं वैलक्षण्य है। काण्वशाखी ऋग्वेदी की तरह मन्त्रों को पढ़ते हैं; 'पुरुष' का उच्चारण माध्यन्दिन में 'पुरुख' होता है, पर काण्व में 'पुरुष' ही होता है। इस संहिता में ४० अध्याय, ३२८ अनुवाक और २०८६ मन्त्र हैं। काण्वशाखीय ब्राह्मणों द्वारा इसका जो संशोधित संस्करण आनन्दवन से प्रकाशित हुआ है, वह अत्यन्त उत्कृष्ट संस्करण है। वाजसनेय वेद की यह प्रथम शाखा है, यह महार्णव के वचन से स्पष्ट है (यह महार्णव ग्रन्थ अमुद्रित है; इसके वचन चरणव्यूह टीका पृ० ३३ में उद्धृत हैं)।

इस शाखा की मुख्यता चरणव्यूह में उद्धृत कारिका (तत्रापि मुख्या विज्ञेया शाखा या काण्वसंज्ञका) में कही गई है। वाजसनेय वेद की यह प्रथम शाखा है, यह भी चरणव्यूहटीका में कहा गया है (पृ० ३४)। परन्तु अन्यत्र स्पष्टतः ऐसा निर्देश नहीं मिलता, यद्यपि 'कण्वमध्यन्दिन'—ऐसा कण्व शब्द का पूर्व निपात पुराणों में अनेकत्र दृष्ट होता है (भाग० १२।६।७४ और विष्णु० ३।५।२९ में काण्वाद्याः पाठ मिलता है)।[२६]

---

२४. ब्रह्मसूत्र की टीकाओं में माध्यन्दिनशतपथ और काण्वशतपथ के समानविषयक वाक्यों की तुलना कर वाक्यार्थों का निश्चय करने की पद्धति देखी जाती है (द्र० १।२।२७, १।४।१३ सूत्रीय हरि दीक्षित कृत ब्रह्मसूत्र वृत्ति)। शाखान्तरीय वाक्यों की एकवाक्यता पूर्वाचार्यसंमत है (३।३।२६ सूत्र की हरि दीक्षित कृत वृत्ति)।

२५. काण्व संहिता की भूमिका (स्वाध्याय मण्डल) में इस शाखा के विषय में कई ज्ञातव्य बातें मिलती हैं। यहाँ आदित्यपुराण-वचन के आधार पर कण्व का बौधायन-पुत्रत्व कहा गया है।

२६. काण्वशाखीय बृहदारण्यक पर शंकरकृत भाष्य है। संभवतः शंकर के बाद ही काण्वशाखीय बृहदारण्यक की अत्यन्त प्रसिद्धि दार्शनिक सम्प्रदाय में हुई

इस काण्व संहिता में "एष वः कुरवो राजैषा पञ्चाला राजा" वाक्य मिलता है (११।११)। इसी स्थल में माध्यन्दिनसंहिता में "एष वोऽमी राजा" पाठ है (९।४०)। इससे कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यह शाखा कुरुपञ्चाल प्रदेश में प्रोक्त हुई थी। पर यह अनुमान उचित प्रतीत नहीं होता।

काण्वी शाखा का उल्लेख पञ्चरात्रागमान्तर्गत जयाख्यसंहिता १।१०९ में है। इस अध्याय के १०९–११६ तक के श्लोकों से यह भी विज्ञात होता है कि पञ्चरात्र सम्प्रदाय के कर्मकाण्ड में काण्वशाखा का अनुप्रवेश था। इस वैशिष्ट्य का कारण गवेषणीय है।

वैयाकरण शाकटायन काण्ववंश के हैं। अनन्तदेव ने शुक्लयजुः प्रातिशाख्य ४।१९ के भाष्य में पुराणमतानुसार ऐसा कहा है (द्र० संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ११६)। यह पुराणमत उपलब्ध पुराणों में अभी तक नहीं मिला।

पुराणों में पूजादि के प्रसंग में कण्वशाखा का उल्लेख मिलता है। ब्रह्म-वैवर्त २।८।४४, २।४२।७०, ४।९७।५३ में काण्वशाखोक्त ध्यान-स्तोत्र आदि कहे गए हैं। देवी भागवत ९।४।९१ में काण्वशाखोक्त कवच का उल्लेख है। इस विषय में पहले आलोचना की गई है।

इन दोनों शाखाओं के अतिरिक्त अन्य शाखाओं के विषय में पुराणों में कुछ भी विशिष्ट सामग्री नहीं मिलती। जाबालशाखा का नाम शाखानामों में मिलता है। जाबाल उपनिषद् पुराणों में स्मृत है (द्र० उपनिषद्-परिच्छेद)।

कात्यायन—शुक्लयजुर्वेद की १५ शाखाओं में यह नाम स्मृत नहीं है, पर कात्यायन ने भी शुक्लयाजुषसंहिता का प्रवचन किया था, यह निश्चित है, क्योंकि कात्यायन-शतपथ का अंशविशेष प्राप्त हो चुका है (वैदिक वाङमय का इतिहास भाग १, पृ० २७७-२७८)। पुराणों में कात्यायन को याज्ञवल्क्य का पुत्र कहा गया है। इनको वेदसूत्रकारक भी कहा गया है (नागर० १२९।७१)। कात्यायन श्रौतसूत्र के रहने के कारण कात्यायनशाखा का अस्तित्व भी अनुमित होता है।

थी। शंकर से प्राचीन भर्तृप्रपञ्च का भाष्य माध्यन्दिनीय बृहदारण्यक पर है (काण्वसंहिता भूमिका, पृ० १८, स्वाध्याय मण्डल)।

चतुर्थ परिच्छेद

सामवेदीय शाखाविवरण

जैमिनि—शाखाप्रसंग में जैमिनि को व्यास का प्रथम सामशाखाप्रवर्तक शिष्य (इस मन्वन्तर में) माना गया है। पुराण-इतिहास में जैमिनि के विशेषण के रूप में सामग, सामवित्, उद्गाता (=सामगायक) आदि पद मिलते हैं (भाग० १२।६।७५ तथा अन्यत्र)। नका नाम जैमिनिगृह्य-सूत्रतर्पणप्रकरण १।१४ में स्मृत है। वायु-ब्रह्माण्ड० में जैमिनि, सुमन्तु आदि आचार्यगु शिष्यानुक्रम में पढ़े गए हैं, परन्तु अग्नि० १५०।२८।२९ में व्यासशिष्य जैमिनि, सुमन्तु और सुकर्मा द्वारा एक एक संहिता का अध्ययन किया जाना कहा गया है। प्रतीत होता है कि यहाँ सामान्य रूप से शाखाध्ययन की बात कही गई है, भेदपूर्वक निर्देश नहीं किया गया। परम्परा-सम्बन्ध से इस प्रकार का उल्लेख पुराणों में अन्यत्र भी मिलता है; व्यास को ही सर्वशाखाप्रणेता के रूप में कहीं कहीं कहा जाना इस रीति का प्रमुख उदाहरण है।[1]

चरणव्यह के सामवेद प्रकरण में व्यासशिष्य जैमिनि का उल्लेख नहीं मिलता, यहाँ राणायनीयों के ९ भेदों में जैमिनीय का उल्लेख है (पृ० ४३)। उसी प्रकार वायु० में सामग लाङ्गलि के शिष्यों में एक जैमिनि का नाम मिलता है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस समस्या का समाधान करना सम्भव नहीं है। हो सकता है कि नामों के पाठ भ्रष्ट हो गए हों। सामशाखाकारों के नामों में इस प्रकार की अनेक समस्याएँ हैं, यथा—सामगाचार्यों में व्यास का नाम सामतर्पण में (राणायन-सात्यमुग्र के बाद) स्मृत है (सामवेद संहिता भूमिका, पृ० ६ स्वाध्यायमण्डल), पर व्यासीय सामशाखा का सामान्य उल्लेख भी कहीं नहीं मिलता। पराशर ब्राह्मण

---

१. विभिन्न संप्रदायों में गुरुशिष्यपरम्परागत नामों के क्रम में प्रायेण विभिन्नता लक्षित होती है। शंकराचार्य सदृश आधुनिक आचार्य की गुरुपरम्परा के नामों में भी विभिन्न ग्रन्थों में पर्याप्त विभिन्नता है (द्र० गोपीनाथ कविराज कृत वेदान्त-दर्शन-भूमिकान्तर्गत शंकरगुरुप्रकरण ; यह भूमिका भाष्यरत्नप्रभानुवाद की भूमिका के रूप में अच्युत ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुई है)।

(तन्त्रवार्त्तिक पृ० ९६४ चौखम्बा) का निर्देश रहने पर भी व्यासकृत सामशाखा का या सामग के रूप में व्यास का उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

सामवेद की एक जैमिनीय संहिता मुद्रित हो चुकी है। (W. Caland महोदय कर्तृक सम्पादित, तदनन्तर डा० रघुवीरकर्तृक सम्पादित)। इसके मन्त्रों की संख्या १७८७ है। जैमिनीयों के सामगान कौथुमियों से लगभग १००० अधिक हैं (कौथुमगान २७२२ हैं और जैमिनीयगान ३६८१ हैं, जबकि कौथुमशाखा के मन्त्र जैमिनीय से अधिक हैं)। यह संहिता व्यासशिष्य जैमिनि द्वारा ही प्रोक्त है या नहीं, इस विषय में एकपक्षीय निर्णय करना असम्भव है। जैमिनीय कौथुमसंहिता के पाठभेदों का संकलन सामवेदसंहिता के अंतिमांश (पृ० १५१-१६१ स्वाध्याय-मण्डल) में द्रष्टव्य है। जैमिनि-गृह्यसूत्र की भूमिका में W. Caland महोदय ने सामवेद की शाखा से संबद्ध साहित्यिक सामग्री का सविस्तर विवरण दिया है, जिसमें जैमिनिशाखा के साहित्य पर पुष्कल विचार किया गया है।

सुमन्तु—वायु-ब्रह्माण्ड० के अनुसार जैमिनि का प्रथम सामग शिष्य सुमन्तु है। विष्णु० ३।६।२ और भाग० १२।६।७५ में इन्हें जैमिनि का पुत्र माना गया है। सम्भवतः वायु-ब्रह्माण्ड० को भी यह अनुमत होगा, क्योंकि वैदिक ग्रन्थों में शिष्य के रूप में पुत्र का उल्लेख बहुधा मिलता है।[२] ज्येष्ठपुत्र या पुत्रसामान्य प्रति अनुशासन करने की विधि भी अनेक स्थलों पर मिलती है।

सुमन्तु-कृत शाखा के विषय में पुराणों में कुछ भी सामग्री नही मिलती। अथर्ववेदशाखा का प्रथम प्रवर्तक भी कोई व्यासशिष्य सुमन्तु है, जिसका नाम तर्पण में वैशम्पायन, पैल और जैमिनि के साथ लिया जाता है, पर ये दो भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। धर्मशास्त्रकार सुमन्तु भी प्रसिद्ध हैं (हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र, भाग १, विभाग २९) शाखाकार सुमन्तु और स्मृतिकार सुमन्तु की एकता के लिये कोई भी प्रमाण नहीं मिलता।

सुत्वा (सुत्वन्—प्रातिपदिक)—यह सुमन्तु का पुत्र और शिष्य है।[३] भाग०

---

२. "अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह" (मुण्डक० १।१।१)। पिता द्वारा पुत्र के प्रति वेदानुशासन का उल्लेख बृहदारण्यक ५।२।१, ६।२।१ और ४ से भी ज्ञात होता है। मेधातिथि ने स्पष्टतः कहा है—"यस्य पिता विद्यते स एव तस्याचार्यः। अभावे पितुरशक्तौ वा अन्यस्याधिकारः" (मनु० ३।३ व्याख्या)।

३. शिष्य के लिये तनय शब्द का प्रयोग पुराणों में मिलता है। भाग० ३।१।१५ गत 'प्राकृतनयम्' की व्याख्या में श्रीधर कहते हैं—"पूर्वशिष्यं नीतिशास्त्रे"।

१२।६।७५ में 'सुन्वान्' पाठ है, जिनको स्पष्टतः सुमन्तु-सुत कहा गया है। भागवत का यह प्रकरण चरणव्यूह टीका में उद्धृत है (सामवेद प्रकरण), जहाँ 'सुमन्वान्' पाठ है (पृ० ४५)। भागवत में यह भी कहा गया है कि जैमिनि ने सुमन्तु और सुन्वान् को एक एक संहिता का अध्यापन किया। वायु-ब्रह्माण्ड० में इस मत का कोई संकेत नहीं मिलता। विष्णु० में सुत्वा का नाम स्मृत नहीं है। चरणव्यूहादि ग्रन्थों में भी यह नाम नहीं मिलता।

सुकर्मा—वायु-ब्रह्माण्ड० के अनुसार यह सुत्वा का पुत्र है। विष्णु० में इनको सुमन्तु-पुत्र कहा गया है और यह भी कहा गया है कि जैमिनि से सुमन्तु और सुकर्मा (पिता और पुत्र) ने एक एक संहिता का अध्ययन किया। सुत्वा का नाम विष्णु० में न रहने के कारण इस प्रकार का मतभेद उत्पन्न हो गया है, जिसका निरूपण (प्राचीन वैदिक ग्रन्थों के अभाव के कारण) अभी नहीं किया जा सकता। भागवत० में सुकर्मा को जैमिनिशिष्य कहा गया है। यह परम्परा-सम्बन्ध से भी उपपन्न हो सकता है या यह भी हो सकता है कि सुमन्तु के साथ सुकर्मा ने भी व्यास से अध्ययन किया हो। संभवतः अग्नि० १५०।२८-२९ में यही कहा गया है। इस मतभेद का समन्वय करना कठिन है।

सुकर्मा ने सामवेद की सहस्रशाखाओं का निर्माण किया था, यह कई पुराणों में कहा गया है। इसी भाव को लक्ष्य कर इनको सहस्रशाखाध्येता कहा गया है (वायु० ६१।२८, अग्नि० १५०।२९, ब्रह्माण्ड० १।३५।३२, विष्णु० ३।६।२, भाग० १२।६।७६)। चूँकि उस समय ग्रन्थ-रचना की परिपाटी नहीं थी, इसलिये शब्दानुपूर्वी-ग्रहण को ही संहिताप्रणयन कहा जा सकता है। संभवतः एक एक अध्ययन का सम्बन्ध एक एक शिष्य से था और प्रत्येक अध्ययन एक एक संहिता का रूप ले लेता था। सामवेद की सहस्रशाखावत्ता के विषय में पहले विचार किया जा चुका है।

चरणव्यूहादि में यह भी कहा गया है कि इन्द्र द्वारा सहस्रशाखा वाले सामवेद की कुछ शाखाओं का नाश किया गया था; इस मत पर हम पहले विचार कर चुके हैं।

सुकर्मा के शिष्य—पौराणिक शाखाप्रकरण में इनके दो या तीन शिष्य कहे गए हैं, यथा—

१. पौष्यिञ्जि—इस नाम के कई पाठभेद पुराणों में मिलते हैं पौष्यजि,

---

ज्येष्ठपुत्र के प्रति उपदेश देने का एक उदाहरण छान्दोग्य० ३।११।४ में मिलता है। ३।११।५ में एतत्संबन्धी विधिवाक्य है।

पौष्यञ्जी, पौष्यञ्जि आदि। चरणव्यूहादि में यह नाम नहीं है। सामविधान ब्राह्मण ३।९।३ में एक ऋषिवंश दिया हुआ है, जिसमें जैमिनि के बाद 'पौष्पिण्डय' नाम है, इस दृष्टि से 'पौष्पिण्ड' पाठ (पौष्पिण्ड्य की प्रकृति) भी कल्पित किया जा सकता है। वर्तमान सामग्री के आधार पर प्रकृत पाठ का निर्णय नहीं किया जा सकता है।

पौष्यिञ्जिकर्तृक ५०० सामसंहिताप्रवचनों का उल्लेख वायु-ब्रह्माण्ड० में मिलता है। इन ५०० संहिताओं के ५०० अध्येता उदीच्य सामग कहलाते हैं, यह भी वायु-ब्रह्माण्ड० में कहा गया है। विष्णु० ३।६।४ में इस विषय पर जो श्लोक है, उसमें "पञ्चदश" मुद्रित पाठ है, जो 'पञ्चशतं' होगा।[४] भाग० १२।६।७८ की टीका में श्रीधरस्वामी ने विष्णु० के इन श्लोकों (३।६।४-५) को उद्धृत किया है, जहाँ 'पञ्चशतं' पाठ ही है (उद्धृत श्लोक में 'तस्य' है, और मूल में 'तेभ्यः' है ३।६।४)।

भाग० १२।६।७८ के अनुसार पौष्यञ्जि और आवन्त्य (ये भी सुकर्मा के शिष्य हैं) के ५०० शिष्य थे, जो 'उदीच्यसामग' पदवाच्य थे। भाग० १२।६।७९ में यह भी कहा गया है कि पौष्यञ्जि के लाङ्गलि आदि पांच शिष्यों ने १००-१०० संहिताओं का अध्ययन किया। इस उक्ति से भी इस आचार्य के द्वारा ५०० संहिताओं का प्रवचन सिद्ध होता है।

२. **हिरण्यनाभ कौसल्य**--कहीं कहीं 'हिरण्यनाभि' 'हिरण्यनभ' आदि पाठ मिलते हैं, पर बहुसंमति से तथा इनके कृतनामक शिष्य के चरितसम्बन्धी पौराणिक स्थलों को देखने से प्रकृत पाठ' 'हिरण्यनाभ' ही संगत प्रतीत होता है। उसी प्रकार कौसल्य (=कोसल देशीय) के स्थान पर कौशिल्य, कौशिक्य आदि पाठ मिलते हैं। 'कौशल्य' पाठ भी संगत हो सकता है, यदि देश का नाम कोशल (कोसल के स्थान पर) माना जाय। प्रश्न उपनिषद् ६।१ में जिस हिरण्यनाभ कौसल्य (राजपुत्र) का उल्लेख है वह यही है—ऐसा प्रतीत होता है। शंकर कहते हैं—"कोसलायां[५] भवः कौसल्यः"। राजपुत्र कहने का तात्पर्य यह है कि वे क्षत्रिय थे।

A.I.H.T. में श्री पर्जिटर ने विष्णु० के 'पञ्चदश' पाठ को एक मतान्तर के रूप में माना है (पृ० ३२४), पर यह कथन भ्रान्त है। वहाँ प्रकृत पाठ 'पञ्चशतं' ही होगा।

५. 'कोसला' शब्द अयोध्यावाची है (शब्दकल्पद्रुमगत 'कोषला' शब्द द्र०)। कोसल-कोशल-कोषल एक ही हैं। स्त्रीलिङ्ग रूप की तरह पुंलिङ्ग रूप

वायु-ब्रह्माण्ड० में इनको पञ्चशत-संहिताध्येता कहा गया है। इनके ५०० शिष्य 'प्राच्यसामग' कहलाते हैं। ब्रह्माण्ड० में 'सत्याग्नि पञ्च'' पाठ है (१।३५ ३९) जो ''शतानि पञ्च'' होगा।

विष्णु० में हिरण्यनाभ के ही ५०० उदीच्यसामग और ५०० प्राच्यसामग शिष्य कहे गए हैं (३।६।४-५)। इसकी टीका में श्रीधर स्वामी ने स्पष्टत: इस बात को कहा है। उन्होंने इस मत के साथ वायु-ब्रह्माण्ड० के मत के विरोध का उल्लेख टीका में नहीं किया है, यद्यपि अन्य प्रसङ्ग में वे वायु० और ब्रह्माण्ड० के श्लोकों को उद्धृत करते हैं (पृ० ३५५, ३६९ ८१२, ८१३, ८१७, जीवानन्द संस्क०)। इस पर आगे विचार द्रष्टव्य है।

हिरण्यनाभ के विषय में कई ज्ञातव्य बातें पुराणों में मिलती हैं। विष्णु० के वंशानुचरित प्रकरण में कहा गया है कि पौरव वंश में कृत नामक नृप हुए थे, जिनको हिरण्यनभ ने योगविद्या का अध्यापन किया था (यह हिरण्यनभ ही हिरण्यनाभ है)। इस कृत ने २४ प्राच्य सामसंहिताओं का निर्माण किया था। (४।१९।१३)। वायु० ६१।४४ और ब्रह्माण्ड० १।३५।४९-५० में भी हिरण्यनाभ के शिष्य कृत-नृप और उनके २४ शिष्य उल्लिखित हैं। भाग० १२।६।८० में भी यह विवरण मिलता है और १२।६।७७ में कौसल्य विशेषण भी दिया हुआ है। चरणव्यूह में भागवत० का शाखा-प्रकरण उद्धृत है (द्र० सामप्रकरण), जहाँ कौसल्य का अर्थ कोसलपुत्र किया गया है (पृ० ४६)। मत्स्य० ४९।७५-७६ में सन्नतिमान् नृप के पुत्र कृत को हिरण्यनाभी कौशल्य का शिष्य कहा गया है। हरिवंश० १।३०। ४२-४४ में भी ऐसा ही कहा गया है। सन्नतिमत् (मान्) के लिये 'सन्नति' शब्द भी कहीं कहीं प्रयुक्त हुआ है। कौशल्य के स्थान पर 'कौशल' पद भी दृष्ट होता है।

हिरण्यनाभ इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न ए थे। विष्णु० ४।४।४८ में रामचन्द्र के पुत्र कुश के वंश में इनका जन्म कहा गया है। विष्णु० के अनुसार यह महायोगीश्वर जैमिनि के शिष्य थे और इनसे याज्ञवल्क्य को योगविद्या मिली थी।[६]

भी प्रचलित हैं। संभवतः जनपद दृष्टि से पुलिङ्ग और नगरी दृष्टि से स्त्रीलिङ्ग प्रयुक्त होता है। गया (तीर्थ) के स्थान पर 'गय' शब्द भी (लिङ्गभेद से) पुराणों में प्रयुक्त होता है।

६. याज्ञवक्ल्य योगी थे—यह बृहदारण्यकस्थ याज्ञवल्क्य चरित से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है (३।४ अध्याय)। याज्ञवल्क्य की दृष्टि तर्क-उपपत्ति-प्रधान है— "तर्कप्रधानं हि याज्ञवल्कीयं काण्डम्" (बृहदा० ४।५ ब्रा० का शांकरभाष्यारम्भ)।

टीकाकार श्रीधर स्वामी यहाँ मौन हैं। भाग० ९।१२।३-४ में भी यह प्रसंग मिलता है जहाँ हिरण्यनाभ (कुशवंशीय) को योगाचार्य और जैमिनिशिष्य कहा गया है। इनसे याज्ञवल्क्य को अध्यात्मज्ञान मिला था। यह भी द्रष्टव्य है कि यहाँ याज्ञवल्क्य का विशेषण 'कौसल्य' दिया गया है।

ब्रह्माण्ड० और वायु० में भी हिरण्यनाभ सम्बन्धी विवरण मिलता है। ब्रह्माण्ड० २।६३।२०७-२०८ में हिरण्यनाभ कौसल्य को पौष्यञ्जि का शिष्य और ५०० प्राच्यसामशाखाओं का अध्येता कहा गया है। यह भी कहा गया है कि इनसे याज्ञवल्क्य को योगविद्या मिली थी। यहाँ जो 'पौष्यञ्जि का शिष्य' कहा गया है, वह विचारणीय है, क्योंकि शाखाप्रकरण में इस मत का अणुमात्र प्रतिपादन भी नहीं मिलता। क्या 'शिष्य' के स्थान पर 'सतीर्थ्य' पा हो सकता है? इस पाठ में कोई भी विरोध उत्पन्न नहीं होता। हिरण्यनाभ को जैमिनि-शिष्य कहने का अभिप्राय सम्भवतः परम्परा-सम्बन्ध से ही है, क्योंकि शाखाप्रकरण में कहीं भी हिरण्यनाभ को जैमिनि-शिष्य के रूप से नहीं कहा गया है।

वायु०८८।२०७-२०८ में भी यह विवरण मिलता है। यहाँ हिरण्यनाभ कौशल्य पाठ है और इनको लक्ष्यकर "पौत्रस्य जैमिनेः शिष्यः स्मृतः सर्वेषु शर्मसु" कहा गया है (८८।२०७)। इसका अर्थ यदि "जैमिनि के पौत्र का शिष्य हिरण्य नाभ है" ऐसा माना जाय तो यह इस दृष्टि से संगत हो सकता है कि जैमिनि का पौत्र सुकर्मा है" और हिरण्यनाभ सुकर्मा के शिष्य हैं। विष्णु० के अनुसार ऐसा कहना सर्वथा समीचीन है। वायु० ८८।२०८ में यह भी कहा गया है कि इन्होंने जैमिनि-पौत्र (अर्थात् सुकर्मा) से ५०० संहिताओं का अध्ययन किया और इन से याज्ञवल्क्य को योगविद्या मिली थी। वायु० ८८।२०७ में जो "स्मृतः सर्वेषु शर्मसु" पाठ है, वह भ्रष्ट है, और प्रकृत पाठ होगा "स्मृतः प्राच्येषु सामसु" जैसा कि इसी प्रकरण में ब्रह्माण्ड० में पा त आ है।

वायु० ९९।१९० में हिरण्यनाभि का विशेषण 'कौथुम' दिया गया है। कृत इनका शिष्य कहा गया है, जिनके द्वारा '२४ प्राच्य सामसंहिताध्ययन' का उल्लेख भी यहाँ किया गया है (९९।१८९-१९१)।

यहाँ जिस याज्ञवल्क्य का नाम आया है, वह कौन याज्ञवल्क्य है, यह विचार्य है। यह याज्ञवल्क्य वाजसनेय है—ऐसा इन स्थलों में कहा नहीं गया है। एक योगी याज्ञवल्क्य प्रसिद्ध हैं, जिनका 'योगियाज्ञवल्क्य' ग्रन्थ प्रचलित है। स्मृति-

---

याज्ञवक्ल्य-काण्ड उपपत्तिप्रधान है, यह तथ्य बृहदा० ३।१ ब्रा० शांकरभाष्य के आरम्भ में कहा गया है।

कार याज्ञवल्क्य भी योगीन्द्र कहे जाते हैं (याज्ञवल्क्यस्मृति १।२)। याज्ञल्क्यस्मृति में ही तत्प्रोक्त योगशास्त्र का उल्लेख मिलता है (३।११०)। 'बृहत् योगियाज्ञवल्क्य' नामक एक अप्रकाशित ग्रन्थ भी है (हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र, भाग १, पृ० १९०)। उपलब्ध सामग्री के आधार पर उपर्युक्त प्रश्न के विषय में अन्तिम निर्णय करना असमीचीन होगा।

३. **आवन्त्य**—इस सुकर्मशिष्य का नाम केवल भाग० १२।६।८० में मिलता है। विष्णु० में भी यह नाम स्मृत नहीं है, और न यह नाम चरणव्यहादि में मिलता है, अतः भागवत-वचन का मूल अन्वेष्टव्य है।

भाग० में कहा गया है "शेषा आवन्त्य उक्तवान्" (१२।६।८०)। श्रीधर कहते हैं कि शेष अर्थात् जो अवशिष्ट शाखाएँ थीं, उनको आवन्त्य ने स्वशिष्यों को पढ़ाया। यहाँ शेष का अर्थ विचार्य है। पौष्यञ्जि-शिष्यों ने ५०० संहिताओं का और कृत ने २४ प्राच्यसामसंहिताओं का अध्ययन किया, इस प्रकार १००० में से ५२४ घटाने पर जो ४७६ शाखाएँ अवशिष्ट रहती हैं, उनका प्रवचन आवन्त्य ने किया—ऐसा भागवत० के अनुसार कहा जा सकता है। इस मत के साथ अन्य पुराणों का कुछ भी संबंध नहीं है, यह पहले ही जान लेना चाहिए।

उदीच्य-प्राच्यसामग—पुराणों में इस विषय में मतभेद मिलते हैं। यथा—विष्णु० के अनुसार हिरण्यनाभ के ही ५०० उदीच्यसामग और ५०० प्राच्यसामग शिष्य हैं। श्रीधर ने टीका में इस मत को स्पष्टरूप से कहा है। वायु० के अनुसार पौष्यञ्जि के ५०० उदीच्यसामग शिष्य हैं (यहाँ 'उदीच्यसामान्याः' पाठ है, जो ईषत् भ्रष्ट है, प्रकृत पाठ 'उदीच्यसामगाः' ऐसा होगा) और हिरण्यनाभ के ५०० संहिताध्येता प्राच्यसामग शिष्य हैं। यह ब्रह्माण्ड० को भी अनुमत है।

भागवत० में इस विषय में अन्य प्रकार की कल्पना है। पहला विचित्र तथ्य यह है कि हिरण्यनाभ और पौष्यञ्जि के साथ आवन्त्य नामक एक अश्रुतपूर्व आचार्य का नाम यहाँ पढ़ा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत० के अनुसार पौष्यञ्जि और आवन्त्य के ५०० उदीच्यसामग शिष्य हैं और हिरणयनाभ के ५०० प्राच्यसामग शिष्य हैं। परन्तु श्रीधर लिखते हैं—"तान् उदीच्यान् सतः कालतः कांश्चित् प्राच्यांश्च प्रचक्षते" अर्थात् उदीच्य शिष्यों में से कुछ बाद में प्राच्य सामग कहलाने लगे। पर यह अर्थ अस्पष्ट है और अन्य स्रोतों से इस मत का समर्थन नहीं मिलता। चरणव्यूहटीका के सामवेदप्रकरण में भागवत० के (१२।६।७५-८०) श्लोक उद्धृत हैं, परन्तु इस उद्धरण में भी एक अन्य जटिलता है। भाग० १२।६।७८ में जहाँ "प्राच्यान् प्रचक्षते" कहा गया है, वहाँ इस टीका में उद्धृत पाठ "उदीच्यान्"

(पृ० ४५) है, और व्याख्या भी तदनुरूप ही की गई है। वस्तुतः सहस्रशाखा-विभागसम्बन्धी भागवत-श्लोक अस्पष्टार्थक है।

यह आश्चर्य का विषय है कि चरणव्यूह में यद्यपि सामवेद के सहस्रभेद कहे गए हैं, तथापि इस उदीच्य-प्राच्य-विभाग का संकेत भी इस प्रामाणिक ग्रन्थ में नहीं मिलता है। सामाचार्यों की अन्य प्रकार की द्विविध गणना (आचार्य और प्रवचनकार के रूप में)—गोभिलगृह्यकर्मप्रकाशिका, (नित्याह्निकप्रयोग में) और द्रस्कन्दकृत खादिरगृह्यसूत्र ३।२।१४ की टीका में मिलती है। पर यहाँ भी उदीच्यादि विभाग नहीं कहा गया है। वस्तुतः इस विभाजन के मूल का अन्वेषण करना चाहिए।

कृत और उनके शिष्य—हिरण्यनाभ के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। अब उनके शिष्य कृत-नृप के विषय में पुराणगत विवरण पर विचार किया जा रहा है। कहीं कहीं कृत के स्थान पर 'कृति' या 'कत' पाठ भी मिलता है, जो भ्रष्ट पाठ है।

विष्णु० ४।१९।१३ के अनुसार कृत हिरण्यनाभ के उदीच्य सामग शिष्यों में अन्यतम हैं। यह सन्नतिमान् का पुत्र है।[7] ब्रह्माण्ड० और वायु० के अनुसार यह प्राच्यसामग है, क्योंकि हिरण्यनाभ के शिष्य प्राच्यसामग कहलाते हैं।

वायु० ६१।४८, ब्रह्माण्ड० १।३५।५४ में इनको सामगश्रेष्ठ कहा गया है। इनके २४ शिष्य भी प्राच्यसामग कहलाते हैं (हरिवंश० १।३०।४२-४४, विष्णु० ४।१९।१३)। ये शिष्य 'कार्त' भी कहलाते हैं (मत्स्य० ४९।७५—७६)। कार्त=कृतशिष्य। वायु०६१।४७ में "इति क्रान्तास्तु सामगाः" पाठ है (कृत के शिष्यों के नामों के अनन्तर)। यहाँ 'कार्तास्तु' पाठ होना चाहिए, मुद्रित पाठ भ्रष्ट है। ये शिष्य (बहुवचन में) 'कार्तयः' भी कहे जाते हैं (हरिवंश० १।२०।४४); यह 'कार्ति' का बहुवचन है। कार्ति=कृत का शिष्य।

कृत के विषय में एक विशिष्ट विचारणीय विषय यह है कि जिनके विषय में इतनी सामग्री पुराणों में मिलती है और जिन को 'श्रेष्ठसामग' रूप विशेषण से पुराणकारों ने विभूषित किया है, उनका नाम वंशब्राह्मण में या संहिताकारों की सूची में नहीं मिलता। अष्टाध्यायी ६।२।३७ के कार्त्तकौजपादिगण में जो 'कार्त' शब्द है, वह इस कृत का ज्ञापक है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

---

७. हरिवंश० १।२०।४२ में 'सन्नति' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। एक ही व्यक्ति के ऐसे नामभेद पौराणिक ग्रन्थों में बहुशः दृष्ट होते हैं। यहाँ 'नामैकदेश ग्रहणन्याय' का आश्रय लिया गया है।

कृत के शिष्य—भाग० १२।६।८० वायु० ६१।४४, ब्रह्माण्ड० १।३५। ५१-५४, विष्णु० ४।१९।१३, मत्स्य० ४९।७५-७६, हरिवंश० १।३०।४२-४४ में कृत के २४ सामग शिष्य कहे गए हैं। वायु० ६१।४७ में "इति क्रान्तास्तु सामगाः' पाठ है, जो 'इति कार्तास्तु सामगाः' होगा—यह पहले कहा गया है।

ये शिष्य प्राच्यसामग कहलाते हैं। इस विषय की विवेचना पहले की जा चुकी है।

इन २४ सामगों के नाम वायु-ब्रह्माण्ड० में मिलते हैं, अन्यत्र केवल संख्या का निर्देश ही है। ये नाम पर्याप्त भ्रष्ट हो चुके हैं। वायु० के पाठ में २४ नाम गिने जा सकते हैं, पर ब्रह्माण्ड० का पाठ इतना विकृत हो गया है कि २४ नामों की गणना करना भी दुरुह है। चरणव्यूह में यह प्रकरण नहीं मिलता, अतः नामों की तुलना भी नहीं की जा सकती।

इतना होने पर भी यह कहा जा सकता है कि प्रपञ्चहृदय-चरणव्यूहादि ग्रन्थों में राणायनीय, कौथुम आदि के जिन भेदों के उल्लेख मिलते हैं, उनके कुछ नामों के साथ पुराणोक्त नामों की कुछ समानता कहीं कहीं मिल जाती है। यथा—पुराणोक्त 'कालिक 'को सामवेदीय' 'कलबशाखा' समझा जा सकता है, इस शाखा का ब्राह्मण आपस्तम्ब श्रौत २०।९।९, निदानसूत्र ६।७, पुष्पसूत्र ८।८।१८४ में स्मृत हैं'। (वैदिक वाङमय का इतिहास, भाग २, पृ० ३३)। उसी प्रकार गौतम शाखा (जो प्रपञ्चहृदय में स्मृत है) भ्रष्ट पाठ के सहित पुराणोक्त सूची में मिल जाती है। 'शाली'-'वैशाल'-नाम के साथ 'शार्दूल' शाखानाम की तुलना की जा सकती है। 'शैलालिशाखा नाम का भी यह भ्रष्ट पाठ हो सकता है। चूंकि, आप० श्रौत ६।४।७ पर शैलालि ब्राह्मण उद्धृत है, अतः सामवेद की शैलालिशाखा होनी चाहिए। हैमाद्रि ने श्राद्धकल्प परिभाषा प्रकरण (प्र० १०७८-७९) में इस शाखा का स्मरण किया है। 'कापीय' नाम निश्चित ही सामवेदीय 'कापेय शाखा का भ्रष्ट पाठ है। इस शाखा का ब्राह्मण सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र १।४ और ९।८ में उद्धृत मिलता है। (वैदिक वाङमय का इतिहास भाग २, पृ० ३३) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३।१।२१ में शौनक कापेय स्मृत है। पञ्चविंश ब्राह्मण २०।१२।५ में भी कापेयों का निर्देश है। इन प्रमाणों से सामवेदीय कापेयशाखा

---

८. प्रपञ्चहृदय में "गौः तलवकारालि" ऐसा पाठ है। यहाँ 'गौतम तलवकार' या 'गौतम-वार्कलि' या इस प्रकार का अन्य कोई पाठ ऊहित किया जा सकता है। श्री भगवद्दत्त ने 'गौतम-वार्कलि'-पाठ की संभावना व्यक्त की है (वैदिक वाङमय का इतिहास, भाग० १, पृ० ३०८)।

की सत्ता निश्चित होती है। इस प्रकार सूची में उल्लिखित पराशर (वायु० का पाठ) या पाराशर्य (ब्रह्माण्ड० का पाठ) शब्द सामवेदीय पराशर शाखा का ज्ञापक है। इस शाखा के ब्राह्मण का नाम तन्त्रवार्त्तिक में मिलता है (पृ० ९६४ चौखम्बा)। पुराणों में पठित 'तालक' (वायु० का पाठ) या 'तलक' (ब्रह्माण्ड० का पाठ) को 'तलवकार' शाखा से संभवतः संबन्धित किया जा सकता है।

यह तलवकार जैमिनि के शिष्य हैं—ऐसी प्रसिद्धि वैदिक परम्परा में है, अतएव कृतशिष्य-नामों में इनका नाम कैसे पठित हो गया, ऐसा प्रश्न हो सकता है। उसी प्रकार अन्यान्य नामों की पहचान के विषय में भी प्रश्न किया जा सकता है कि वे नाम कृत के शिष्य के रूप में जब चरणव्यूहादि में नहीं कहे गए हैं तो कल्पना के बल पर ऐसी पहचान करना क्या असमीचीन नहीं है? उत्तर यह है कि पुराणों में जिस गुरुशिष्यपरम्परा में जिन शाखाकार आचार्यों के नाम पढ़े गए हैं, उस रूप में चरणव्यूहादि ग्रन्थों में वे नाम सर्वत्र कथित नहीं हुए हैं। इस प्रकार यह सहजतः समझा जा सकता है कि पुराणोक्त परम्परागत नामों के क्रम में बहुत कुछ कल्पना का हाथ है, क्यों कि ब्राह्मण-प्रतिशाख्यादि वाङ्मय के साथ वह सर्वथा मिलती नहीं है। इस दृष्टि से आचार्यनामों के क्रम पर जोर न देकर नामसाम्य के बल पर यहाँ पहचान करने की चेष्टा की गई है, यद्यपि यही कहना ठीक है कि उपलब्ध सामग्री के बल पर कुछ भी अन्तिम रूप से निर्णीत नहीं हो सकता।

पौष्यञ्जि के शिष्य—पुराणों में पौष्यञ्जि के ४ या ५ शिष्य कहे गए हैं। यथा—

१. **लौगाक्षि**—यही प्रकृत नाम है। विभिन्न पुराणों में तथा अन्यत्र इसके 'लोकाक्षिन्' 'लौगाक्षिन्' 'लोगाक्षि', 'लौक्षाकि' आदि पाठ मिलते हैं। लौगाक्षि नामक स्मृति के कारण यही आनुपूर्वी समीचीन प्रतीत होती है। पाणिनि के गणपाठ (६।२।३७) में लौगाक्ष पद है, यह भी ज्ञातव्य है।

२. **कुथुमि**—यह विष्णु० का पाठ है। ब्रह्माण्ड० में 'कुसुमि' पाठ है। सम्भवतः कुसुम पाठ ही बाद में भ्रष्ट होकर कुथुम बन गया है। इस कुसुम (=पुष्प) शाखा से सम्बन्धित होने के कारण सामवेदीय प्रातिशाख्य-विशेष का नाम पुष्पसूत्र पड़ा है—ऐसा अनुमित होता है; पर यह अनुमान अत्यन्त सन्दिग्ध है। अग्नि० में साम की दो शाखाएँ स्मृत हैं, उनमें प्रथम कौथुमशाखा है (२७१।६)। चरणव्यूह में राणायनीय के भेद में कौथुम नाम मिलता है। आथर्वण चरणव्यूह परिशिष्ट में भी 'कौथुमाः' पाठ है (सामवेद की अवशिष्ट शाखा-गणना के प्रसङ्ग में)। यहाँ कौथुम के छह भेद भी कहे गए हैं। गोभिलगृह्यकर्म प्रकाशिका के नित्याह्निक प्रयोग में भी कुथुमि आचार्य स्मृत हैं। सामतर्पण में कुथुम नाम पढ़ा गया है

(१३ सामाचार्यों की गणना में; सामवेद संहिता भूमिका, पृ० ६, स्वाध्याय मण्डल)।

३. **कुशीदि**—यह ब्रह्माण्ड० का पाठ है। अन्यत्र 'कुशीतिन, 'कुसीद' आदि पाठ मिलते हैं। पुराणों में इस शाखा के विषय में कुछ भी विवरण नहीं मिलता।

४. **लाङ्गलि**—'लाङ्गलि', 'लाङ्गलिन्' आदि पाठ भी मिलते हैं। चरण-व्यूह में 'लाङ्गलायन' नाम मिलता है। आथर्वणपरिशिष्ट चरणव्यूह में लाङ्ग-लिक पाठ है। भागवत० में 'माङ्गलि' पाठान्तर भी मिलता है, पर प्रकृत पाठ इनका लवर्णघटित ही होगा।

५. **कुक्षि-कुल्य**—केवल भाग० १२।६।७९ में ये नाम मिलते हैं। अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता।

लौगाक्षि के शिष्य—वायु-ब्रह्माण्ड० में इनके नाम मिलते हैं, पर पाठ अत्यन्त भ्रष्ट हो चुका है। पाठभ्रष्टता के कारण चरणव्यूहादि से इन नामों की तुलना करना भी कठिन है। भागवत० में ये नाम नहीं आए हैं।

वायु-ब्रह्माण्ड० के पाठ में 'ताण्डिपुत्र' नाम मिलता है, संभवतः यह ताण्ड्य-शाखाकार को लक्ष्य करता है। यह शाखा बहुत प्रसिद्ध है। ताण्ड्यशाखा का स्मरण शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में किया है (३।३।२४, ३।३।२७)।[९] वैदिक सम्प्रदाय में प्रसिद्धि है कि छान्दोग्य उपनिषद् इस शाखा से संबद्ध है। इसी प्रकार यहाँ 'सात्यपुत्र' नाम मिलता है; हो सकता है कि यहाँ प्रकृत पाठ सात्यमुग्र हो। राणायनीयों के भेदों में सात्यमुग्र नाम है। मुद्रित चरणव्यूह में यद्यपि 'सात्य मुद्गलाः' पाठ है (पृ० ४३), पर अन्य संस्करणों में 'सात्यमुग्राः' पाठ मिलता है (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० ३१४)। पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में सात्यमुग्रि-राणायनियों के उच्चारणविशेष का निर्देश किया है (छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीयाः ह्रस्वानि पठन्ति, नवाह्निकभाग, पृ० ९९, अर्ध ए-ओ के प्रसङ्ग में)। आपिशलिशिक्षा में भी यह मत मिलता है (६।९)। मूलचारी आदि अन्यान्य नामों की पहचान करना सम्भव नहीं है।

---

९. यह ज्ञातव्य है कि शंकर ने 'ताण्डिनाम्' पद का प्रयोग ३।३।२४, ३।३।२६, ३।३।३६ शारीरक भाष्य में किया है। इन स्थलों में उद्धृत वाक्य छान्दोग्य उपनिषद् और मन्त्र ब्राह्मण में मिलते हैं। अर्वाचीन ताण्ड्य ब्राह्मण के लिये ४।३।१०५ पाणिनिसूत्र विहित णिनि प्रत्यय करना सर्वथा चिन्त्य है (संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भा० १, पृ० २४२ टि०)।

लौगाक्षि के शिष्यों में राणायनीय नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है, जो वायु० में पठित है। ब्रह्माण्ड० में 'नाडायनीय' पाठ है, जो भ्रष्ट प्रतीत होता है। चरण-व्यूह में इसका उल्लेख है (पृ० ४३; इन्द्रकर्तृकशाखानाश के बाद अवशिष्ट शाखा नामोल्लेख के प्रसंग में)। अग्नि० २७१।६ में सामवेद की दो शाखाओं के नाम हैं, कौथुमा और अथर्वणायनी। यहाँ वस्तुतः 'राणायनी' पाठ होना चाहिए। इस उल्लेख से भी इस शाखा की प्रसिद्धि ज्ञात होती है। शंकरकृत शारीरकभाष्य ३।३।२३ में राणायनीय-खिल उद्धृत है। सात्यमुग्रि-राणायनीयों के उच्चारण विशेष का उल्लेख पहले किया गया है। जैमिनीयगृह्यसूत्र की भूमिका (W. Caland कृत) में इस शाखा से संबद्ध साहित्यिक सामग्री का विवरण दिया गया है।

कुथुमि के शिष्य—वायु-ब्रह्माण्ड० में तीन नाम मिलते हैं। भागवत० में यह परम्परा स्मृत नहीं है। विष्णु० में इतना ही कहा गया है कि लोकाक्षि, कुथुमि कुसीदि और लाङ्गलि के शिष्य-प्रशिष्यों में अनेक संहिताभेद हुए हैं (३।६।६)। वायु-ब्रह्माण्ड० में बहुत ही पाठ-भ्रष्टता है, अतः इन शाखाकारों का कुछ भी विवरण नहीं दिया जा सकता। चरणव्यूह में कौथुमों के छह भेद कहे गए हैं (पृ० ४४), पर पुराणों में 'त्रिविधाः कौथुमाः' कहा गया है। इन छह नामों के साथ पुराणगत नामों का साम्य नहीं है, अतः पारस्परिक तुलना नहीं की जा सकती।

लाङ्गलि के शिष्य—वायु-ब्रह्माण्ड० के अतिरिक्त अन्यत्र यह परम्परा नहीं मिलती। चरणव्यूह भी इस विषय में मौन है। इस स्थल में पुराण में 'भालुकि' नाम मिलता है। सम्भवतः यह 'भाल्लवि' है। भाल्लविशाखा-सम्बन्धी विवरण वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भाग १, पृ० ३२०-३२१) में द्रष्टव्य है। इस इतिहास के द्वितीय भाग पृ० ३० में इस शाखा के ब्राह्मण के विषय में सामग्री संकलित की गई है। शंकर और सुरेश्वरकर्तृक इस शाखा के संहिता-ब्राह्मण के उद्धरण देने के कारण इस शाखा की प्रसिद्धि ज्ञात होती है।[१०] अन्यान्य नामों की पहचान करना दुरूह है। पुराणों में इनके विषय में कुछ विवरण भी नहीं मिलता।

पराशर के शिष्य—यह पराशर कुथुमिशिष्य हैं। विष्णु०-भागवत० में यह परम्परा नहीं मिलती।

आसुरायण—इस परम्परा में यह नाम मिलता है। एक प्रकार के चरणव्यूह में आसुरायणाः नाम मिलता है (वैदिकवाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० ३१४)।

---

१०. तै० आ० भाष्य में सायण ने भी स्थान स्थान पर भाल्लविशाखा के वाक्यों का उद्धरण दिया है (पृ० ७७७ इत्यादि)।

प्राचीनयोगपुत्र—यह भी इस परम्परा में हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (जो सामवेदीय है) में पौलुषि-सत्ययज्ञ का संबोधन "प्राचीनयोग्य' दिया गया है (५। १३।१)। संभवतः प्राचीनयोगपुत्र ही प्राचीनयोग्य है। पुराणों में इनके विषय में अन्य उल्लेख नहीं मिलता।

पतञ्जलि—यह इस परम्परा के अन्तिम आचार्य हैं। यह पतञ्जलि कौन है, यह अज्ञात है। छन्दोगश्रौत-प्रयोग-प्रदीपिका के आरम्भ में तालवृन्तनिवासी ने पातञ्जल आचार्य का स्मरण किया है, अतः सामवेद में पतञ्जलिकृत शाखा का अस्तित्व निश्चित होता है (वैदिकवाङमय का इतिहास, भाग १, पृ० ३१२)। सामवेदीय निदानसूत्रकार पतञ्जलि और यह पतञ्जलि एक ही व्यक्ति हैं या नहीं, यह अभी निर्णीत नहीं हो सका है। योगसूत्रकार पतञ्जलि और शाखाकार पतञ्जलि एक ही हैं—ऐसा भी किसी किसी का मत है।[११]

पूर्वोक्त आचार्यों के अतिरिक्त वायु० में शृङ्गिन् और उनके शिष्यों के नाम भी इस प्रकरण में मिलते हैं। पाठभ्रष्टता के कारण इन नामों की पहचान करना असम्भव है।

---

११. इस पक्ष के समर्थन में जो युक्तियाँ हैं, उनके परिज्ञान लिये मेरे द्वारा सम्पादित पातञ्जल योगदर्शन की भूमिका (द्वितीय प्रकरण) देखनी चाहिए।

पञ्चम परिच्छेद

अथर्ववेदीय शाखाविवरण

सविस्तर चार पुराणों में अथर्वशाखाओं का विवरण मिलता है। (वायु० ६१। ४९-५५, ब्रह्माण्ड० १।१३।५५-६२, विष्णु० ३।६।९-१५ और भाग० १२। ७।१-४)। अग्नि० २७१।८-९ में छह शाखाकारों के नाम हैं। अन्य पुराणों में कुछ शाखाकारों का संक्षिप्त उल्लेख मिलता है, जैसा कि यथास्थान दिखाया जाएगा।

सुमन्तु—इस मन्वन्तर के द्वापरान्त में व्यास ने सुमन्तु को अथर्ववेद का अध्यापन किया था। यह उल्लेख सार्वत्रिक है। आदिपर्व ६३।८९ में भी व्यासशिष्य सुमन्तु आदि के नाम हैं। चरणव्यूह में यह नाम नहीं मिलता। पुराणों में सुमन्तु का एक ही शिष्य कहा गया है, पर अग्नि० १५०।३० में 'पैप्पलादि सहस्रों शिष्यों' का उल्लेख है। यह उल्लेख परम्परा-सम्बन्ध से ही संगत हो सकता है।

भाग० १।४।२२ में सुमन्तु का विशेषण 'दारुण' है जो उनकी अभिचारकर्म-पटुता का ज्ञापक है। इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि अथर्ववेद का विशेषण "द्वि-शरीरशिराः" दिया गया है (वायु० ६५।२७, ब्रह्माण्ड० २।१।२६)। पहले इस पर विचार किया गया है कि अभिचार और तद्विरोधी शान्तिपुष्टि—ये दो भाग इस पद से लक्षित हैं ; यह भी हो सकता है कि अथर्ववेद में अलौकिक ब्रह्मज्ञान के साथ साथ लौकिक पुरुषार्थज्ञान भी मिलता है, और इस दृष्टि से अथर्व को "द्वि-शरीर-शिराः" कहा गया है। अथर्वा और अङ्गिराः इन दो ऋषियों द्वारा दृष्ट मन्त्र इस वेद में है, यह भी एक प्रसिद्धि है (बृहदारण्यक० २।४।१० शांकरभाष्य)। ये दो ऋषि दो शिर हैं और पूर्वोक्त दो विरुद्ध विषय दो शरीर हैं—ऐसी व्याख्या भी की जा सकती है। वस्तुतः "द्विशरीरशिराः" विशेषण का तात्पर्य गवेषणीय है।

---

१. चरणव्यूह-टीका में भागवत के ऋगादि वेदशाखाविवरणपरक श्लोक उदाहृत और व्याख्यात हुए हैं, पर अथर्ववेदप्रकरण में भागवत-श्लोक उदाहृत नहीं हुए हैं, यह ज्ञातव्य है।

सुमन्तु के विषय में अन्य विवरण पुराणों में नहीं मिलते। धर्मशास्त्रकार सुमन्तु का नाम प्रसिद्ध है (द्र० हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र, भाग १, २९ प्रकरण)। तर्पण में जैमिनि-वैशम्पायन-पैल के साथ सुमन्तु का स्मरण किया गया है। इस विषय में आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।४-४ द्रष्टव्य है। दोनों सुमन्तु की एकता के लिये कोई भी प्रमाण पुराणों में नहीं मिलता।

सुमन्तुशिष्य कबन्ध—यह नाम सार्वत्रिक है। भाग० १२।७।१ में सुमन्तु स्वशिष्य को पढ़ाया, यह कहा गया है, पर शिष्य का नाम नहीं लिया गया है। ब्रह्माण्ड० १।३५।५६ में "कबन्धाय पुनः कृष्णं" कहा गया है, यह 'कृष्ण' कोई शाखा नाम नहीं है; वस्तुतः यहाँ प्रकृतपाठ "कृत्स्नं" है (तुल० वायु० ६१।४९)।

सुमन्तु द्वारा कबन्ध के अध्यापन के विषय में "अथर्वाणं द्विधा कृत्वा" वाक्य मिलता है (वायु०-ब्रह्माण्ड० में)। यह 'द्विधा कृत्वा' वाक्य विचार्य है। क्या इसका यह तात्पर्य है कि व्यास से लब्ध अथर्वमन्त्रों को दो प्रकार के भागों में (अभिचार और शान्तिपुष्टिरूप में) विभक्त कर सुमन्तु ने कबन्ध को पढ़ाया? भाग० १।४।२२ में "अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुः" कहा गया है। अतः यह कहना संगत हो सकता है कि अथर्वदृष्ट और अङ्गिरोदृष्ट मन्त्रों को पृथक् कर ही सुमन्तु ने कबन्ध को पढ़ाया। चूंकि यहाँ सुमन्तु का एक ही शिष्य (कबन्ध) माना गया है, इसलिये पूर्वोक्त अर्थ संगत हो सकता है।

वायु० में कहा गया है कि कबन्ध स्वाधीत संहिता को यथाक्रम जानते हैं (६१।४९)। इसका 'क्रमानुसार जानना' अर्थ करना निरर्थक है, क्योंकि उस काल में अध्ययन सर्वथा क्रमानुसार ही होता था। इसका तात्पर्य अथर्ववेद के क्रमपाठ से ही है। आदि पर्व के शकुन्तलोपाख्यान में पदक्रमयुक्त अथर्ववेद-संहिता का उल्लेख मिलता है (७०।४०) अतः अथर्ववेद का क्रमपाठ पर्याप्त प्राचीन है, यह निश्चित है। इस स्थल पर ब्रह्माण्ड० में यथाश्रुतम्" पठित है (श्रुतमनतिक्रम्य=यथाश्रुतम्)। यह पाठ भी संगत है।

बृहदारण्यक० ३।७ में कबन्ध आथर्वण का उल्लेख है। शांकरभाष्य में "कबन्धो नामतः, अथर्वणोऽपत्यमाथर्वणः"[२] कहा गया है। यह अथर्वा कौन है यह निश्चित

---

२. यह आवश्यक नहीं है कि अथर्ववेदसंग्राहक अथर्वा का अपत्य (औरस पुत्र) ही यह कबन्ध हो। 'तस्यापत्यम्' (अष्टा० ४।१।९२) सूत्रोक्त अपत्य के विषय में वासुदेव दीक्षित का यह वाक्य इस प्रसंग में द्रष्टव्य है—"अपत्यशब्दो हि नात्मजपर्यायः, किन्तु पुत्रपौत्रादिसन्ततिपर्यायः न पतन्ति पितरो नरके येन तदपत्यमिति 'पंक्तिविंशति' इतिसूत्रे भाष्ये व्युत्पादितत्वात्" (बालमनो-

नहीं है, अतः दोनों कबन्धों की एकता सन्दिग्ध है। जैमिनीय ब्राह्मण ३।३१९ में भी कबन्ध आथर्वण का उल्लेख है, यह ज्ञातव्य है।

कबन्ध के दो शिष्य पुराणों में कहे गए हैं। इनके विषय में पुराणों में कुछ विशिष्ट विवरण नहीं मिलता।

पथ्य—कबन्ध ने स्वाधीत अथर्ववेद के दो भाग कर पथ्य और देवदर्श (इस नाम के कई पाठान्तर हैं) को एक एक भाग पढ़ाया, यह वायु-ब्रह्माण्ड० में कहा गया है।

यहाँ यह जो 'दो भाग कर एक भाग का अध्यापन करना' कहा गया है, इसका तात्पर्य विवेचनीय है। यदि ये दो भाग एक दूसरे से सम्पूर्ण पृथक् हों तो इस आचार्य से इस वेद की दो पृथक्-पृथक् धाराएँ चलीं, यह मानना होगा। यतः इस विषय में अन्य वैदिक ग्रन्थ मौन हैं, अतः इतने मात्र से कोई निर्णय निश्चित रूप से नहीं किया जा सकता। यह अर्थ भी हो सकता है कि कबन्ध ने दो बार किञ्चिद् भेद-विशिष्ट प्रवचन दो शिष्यों के लिये किया और इन दो प्रवचनों के दो प्रवर्तक आचार्य हुए। इस व्याख्या के अनुसार इन दोनों धाराओं में पर्याप्त ऐक्य रह सकता है। वस्तुतः 'भिन्न भिन्न शिष्यों के लिये किंचित् पृथक् रूप से शास्त्र का प्रवचन' रूप सिद्धान्त सर्वथा संगत ही है। 'संहिताओं के प्रवचन' के विषय में पुराणों में जो विवरण दिया गया है, उससे यह मत सर्वथा सत्य ही सिद्ध होता है। संहिता-परिच्छेद में इस पर विशद विचार किया गया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 'पथ्य' नाम चरणव्यूह में नहीं मिलता; पुराणों में यह सर्वत्र मिलता है।

देवदर्श—यह विष्णु० का पाठ है। ब्रह्माण्ड० का भी यही पाठ है। इसके कई पाठान्तर हैं—वेददर्शी (चरणव्यूह), वेदस्पर्श (वायु०), वेददर्श (भाग०)। कबन्ध से अथर्ववेद का जो भाग इनको मिला, उसके चार भाग इन्होंने किए। इनके चार शिष्य थे। पुराणों में कबन्ध के इन दोनों शिष्यों के विषय में अन्य विवरण नहीं मिलता।

शाखाकार का 'देवदर्श' नाम अधिक संगत है, यह विभिन्न ग्रन्थों से जाना जाता है (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० ३३६)।

देवदर्श के चार शिष्य—इन शिष्यों के नामों में पाठभेद मिलते हैं और पिप्पलाद के अतिरिक्त अन्य किसी के विषय में पुराणों में कुछ भी विवरण नहीं मिलता। इन शिष्यों के नाम ये हैं :—

रमा, भाग २, पृ० २९२-२९३)। अन्यान्य वैयाकरण भी इस दृष्टि को मानते हैं।

१. **मोद**—यह ब्रह्माण्ड०-वायु० का पाठ है और वायु० में 'मौद्ग' पाठान्तर दिया हुआ है। विष्णु० में 'मौद्ग' और भाग० में 'मोदोष' है। आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह में 'मौदाः' पाठ है। चरणव्यूह में इस नाम का पाठ भ्रष्ट हो चुका है। अथर्वपरिशिष्ट २।४ में मोदशाखीय पुरोहित का उल्लेख है।[३]

२. **ब्रह्मबल**—ब्रह्माण्ड० और वायु० का यह पाठ है और वायु० में ब्रह्म-बलि पाठान्तर दिया गया है। विष्णु० और भाग० में 'ब्रह्मबलि' पाठ है।

३. **शौष्कायनि**—यह वायु० का पाठ है और पाठान्तर है 'शौक्वायनि'। ब्रह्माण्ड० में शौक्लायनि पाठ है जो भाग० में 'शौल्कायनि' के रूप में है। अग्नि० में 'श्लोकायनि' नाम है। 'शौक्तायनि' पाठ विष्णु० में है। चरणव्यूह आदि में इस नाम का कुछ भी निर्देश नहीं मिलता, अतः प्रकृत पाठ का निर्णय करना कठिन है।

४. **पिप्पलाद**—देवदर्श का यह शिष्य बहुत ही प्रसिद्ध है और पुराणों में, इसके विषय में विशिष्ट विवरण मिलता है। इनके नाम में विवाद प्रायः नहीं है, केवल भागवत में 'पिप्पलायनि' पाठ है। पिप्पलाद को पिप्पलायनि क्यों कहा गया, इस पर विचार किया जाना चाहिए। हो सकता है कि पिप्पलाद के अर्थ में 'पिप्प-लायन' नाम भी प्रचलित रहा हो (पिप्पल है अयन=आश्रय=खाद्यपदार्थ जिसका, वह) और पिप्पलायन को ही पिप्पलायनि कहा जाता हो (जैसे बाष्कल=बाष्कलि, अगस्त्य=अगस्ति, उत्तम=औत्तमि, द्र० ऋग्वेद शाखान्तर्गत बाष्कल नाम)। पिप्पलाद नाम के लिये 'पिप्पलाशन' पद ब्रह्म० ११०।१२३ में मिलता है, जिससे पिप्पलाद नाम में एतादृश परिवर्तन का होना असंगत नहीं जान पड़ता। अग्नि० १५०।३० में 'पैप्पल' नाम है (पैप्पलादीन् सहस्रशः)। पिप्पलाद का यह संक्षिप्त नाम है, या यहाँ पाठ-भ्रंश है, ऐसा समझना चाहिए।

पिप्पलाद के विषय में नागर० १७४ अ० में एक कथा है। याज्ञवल्क्य की भगिनी कंसारी ने गर्भवती होकर स्वपुत्र को जब पिप्पलवृक्ष के पास छोड़ दिया तब बालक के प्रति आकाशवाणी हुई कि तुम याज्ञवल्क्य के वीर्य से दैवयोग से उत्पन्न हुए हो। वस्तुतः तुम बृहस्पति हो और उतथ्यशाप के कारण मनुष्य रूप में तुम्हारा जन्म हुआ है। नृपकार्य-सिद्धि के लिये शतशाख और शतकल्प गूढार्थक

---

३. महाभाष्य ४।२।१०४ में 'मौदकम्' उदाहरण है। चरण को लक्ष्यकर मौदक और पैप्पलादक उदाहरण दिया गया है। नागेश कहते हैं—"मोदपैप्पलादौ शाखाध्येतृवाचिनौ" (उद्द्योत)। महाभाष्य ४।१।८६ तथा ४।३।१०१ में 'मौदक' का उदाहरण है। ये उल्लेख इस शाखा की प्रसिद्धि के ज्ञापक हैं।

जो अथर्ववेद है, उसको नौ शाखाओं में और पांच कल्पों में विभक्त करना तुम्हारा कर्त्तव्य होगा (१७४।४८-५१)

इस वर्णन से यह सिद्ध होता है कि अथर्ववेद का एक महत्त्वपूर्ण संस्कार पिप्पलाद ने किया था। पहले अथर्ववेद की सौ शाखाएँ थीं, यह भी इससे जाना जाता है। अथर्ववेद के सौ कल्प कौन कौन थे, यह अज्ञात है। इस वेद की नौ शाखाएँ तो प्रसिद्ध हैं (नवधा आथर्वणो वेदः—महाभाष्य, पस्पशाह्निक, पृ० ६५)। पञ्चकल्प का विशद विवरण अथर्ववेद प्रकरण में दिया गया है।

पिप्पलाद शाखा बहुत ही प्रसिद्ध थी। वेंकटमाधव की "पैप्पलादमथर्वणाम्" वाक्य से इसकी प्रसिद्धि जानी जाती है (ऋग्वेदानुक्रमणी ८।१।१२)। इस संहिता का प्रथम मन्त्र (शंनो देवीः) पुराणों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। अनेक विनियोगों में यह मन्त्र उल्लिखित हुआ है। महाभाष्य में भी 'पैप्पलादकम्' पद कई स्थलों में उदाहृत हुआ है (४।३।१०१, ४।१।८६, ४।२।१०४)।[४]

पुराणों में 'प्रत्यङ्गिरा सूक्त' उल्लिखित है (विष्णु० १।१५।१३६, वायु० ६५।२७, हरिवंश० १।३।६५)। इस प्रत्यङ्गिरा सूक्त के विषय में भास्कर राय ने कहा है—"शौनकशाखा के आथर्वण मन्त्रकाण्ड में इस सूक्त की ३२ ऋचाएँ हैं और पिप्पलाद शाखा में ४८। नारदतन्त्र में इस सूक्त का प्रयोग कहा गया है" (ललितासहस्रनामभाष्य, पृ० २१४)। इस पर विशेष विवरण ऋग्वेद-परिच्छेद में द्रष्टव्य है।

पथ्य के तीन शिष्य—पथ्य के तीन शिष्य सर्वत्र कहे गए हैं—जाजलि, कुमुदादि और शौनक। जाजलि और कुमुदादि के विषय में पुराणों में कुछ भी विवरण नहीं मिलता, पर शौनक के विषय में कुछ विवरण मिलता है। कुमुदादि के स्थान पर भाग० १२।७।३ में कुमुद पाठ है।

शौनक—सर्वत्र यह पाठ है पर भागवत में शुनक नाम है। भागवत में कोई पाठान्तर भी नहीं दिखाया गया है। चूंकि शौनक=शुनक का अपत्य है (द्र० मुण्डक १।१।३ पर शांकरभाष्य) इसलिये लक्षणा से शौनक को भी शुनक कहा जा सकता है। शौनक भृगुवंशी शुनक के पुत्र हैं, यह अनुशासन० ३०।६५ में स्पष्टतः कहा

---

४. पिप्पलादसंहिता का एक नूतन (बहुलांश में पूर्ण) हस्तलेख प्राप्त हुआ है। विशेष विवरण के लिये पं० दुर्गा मोहन भट्टाचार्य का Palm-leaf Manuscript of the Paippalāda Saṁhitā : Textual Importance of the New Fnds लेख द्रष्टव्य है (Adyar Library Bulletin Vol. XXV, parts 1-4).

गया है। शुनक को शौनक का पूर्व पितामह भी कहा गया है (आदिपर्व ५।१०) सम्भवतः 'शौनक' शब्द में जो अपत्य प्रत्यय है, उस अपत्य का अर्थ पुत्र न होकर 'तद्गोत्रोत्पन्न' (न पतन्ति पितरे नरके येन तद् अपत्यम्, बालमनोरमा, भाग२, पृ० २९२-२९३) रूप अर्थ है। इस दृष्टि से शौनक के लिये 'शुनक' शब्द लाक्षणिक प्रयोग में उपपन्न हो सकता है।

प्राचीन ऋषि-नामों में इस प्रकार के परिवर्तन प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः दिखाई देते हैं। 'पौष्करसादि' के लिये 'पुष्करसादि' का प्रयोग आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।६। १९।७) में है। पाणिनिव्याकरण में पूजा (प्रशंसा) को प्रकटित करने के लिये गोत्र की युवसंज्ञा मानी जाती है, जिससे गार्ग्य के लिये 'गार्ग्यायण' पद का प्रयोग होता है। उसी प्रकार युवप्रत्यय की गोत्रसंज्ञा होती है (कुत्सा-अर्थ में) और गार्ग्य ही गार्ग्यायण-पदवाच्य होता है (अष्टा० ५।१।१६३ सूत्र पर वार्त्तिक द्रष्टव्य)। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शुनकगोत्रोत्पन्न व्यक्ति के लिये शुनक कहने की भी प्रथा थी।

पुराणों में बह्वृच शौनक का उल्लेख है (भाग० १।४।१)। यह शौनक अथर्ववेद-प्रवक्ता हैं या नहीं—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भाग० में शुनक को अङ्गिराः कहा गया है (अङ्गिरसः शुनकस्य, १२।७।३)। शौनक ने अङ्गिराः से विद्या प्राप्त की थी (मुण्डक० १।१।३), अतः वे 'अङ्गिराः' कहलाते थे, ऐसा कहा जा सकता है।[५]

शौनक के दो शिष्य—पुराणों में शौनक के बभ्रु और सैन्धवायन नामक दो शिष्य कहे गए हैं। इनके विषय में कोई विशिष्ट विवरण नहीं मिलता।

सैन्धवायन—इनके शिष्य सैन्धव कहलाते हैं, यह विष्णु० ३।६।१४ टीका में स्पष्टतः कहा गया है। भाग० १२।७।३ में सैन्धवायन आदि शिष्य कहे गए हैं। चूंकि सावर्णि नाम अन्यत्र नहीं मिलता, अतः यह भी हो सकता है कि भाग० का पाठ भ्रष्ट हो और 'सावर्ण्यादि' पाठ के स्थान में 'सैन्धवादि' पाठ हो गया हो।

---

५. इस दृष्टि से यह शौनक अथर्वाङ्गिरोवेद के प्रवक्ता हो सकते हैं। शौनक गोत्रापत्यप्रत्ययान्त नाम है, अतः कुछ भी निश्चय कर कहना कठिन है। अनुश्रुति के अनुसार शाकल और शुनकों का घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। शुनकगोत्रीय किसी शौनक ने ऋग्वेद की किसी शाखा का प्रवचन किया हो, यह संभव हो सकता है। अथर्वसंहिताप्रवक्ता शौनक और यह ऋग्वेदी शौनक एक ही व्यक्ति हैं, इस मत के लिये दृढ़ प्रमाणों की आवश्यकता है।

विष्णु० ३।६।१४ से यह भी ज्ञात होता है कि सैन्धवायन ने भी वेद का विभाग किया था।

वायु० ६१।५४ के मुद्रित पाठ के अनुसार अर्थ होगा 'सैन्धव ने मुञ्जकेश को पढ़ाया था'। पर वस्तुतः ऐसा अर्थ पुराणविवरण के अनुसार नहीं हो सकता, क्योंकि सैन्धवायन शिष्य का नाम है और मुञ्जकेश (=बभ्रु) सैन्धवायन का सतीर्थ्य है। वस्तुतः वायु० का पाठ यहाँ भ्रष्ट है और "सैन्धवो मुञ्जकेशाय" के स्थान पर "सैन्धवाः मुञ्जकेशाश्च" या इस प्रकार का कोई पाठ होना चाहिए।

यहाँ ब्रह्माण्ड० का पाठ बहुत कुछ ठीक है और तदनुसार पुराणवाक्य का अर्थ होगा—सैन्धव सैन्धवायन के शिष्य हैं और मुञ्जकेश्य मुञ्जकेश (=बभ्रु) के शिष्य हैं (यहाँ प्रकृत पाठ "सैन्धवाः मुञ्जकेशाश्च" होना चाहिए)। प्रकृत पाठ विष्णु० ३।६।१४) में है (द्र० श्रीधरी टीका)।

सैन्धवायन के शिष्य 'सैन्धवाः' कैसे कहलाते हैं, यह प्रश्न हो सकता है। उत्तर में वक्तव्य है कि जिस प्रकार यास्कायनि के छात्र 'यास्कीयाः' कहलाते हैं, या कात्यायन के छात्र 'कातीयाः' कहलाते हैं (छ प्रत्यय के स्थान में अण् प्रत्यय होकर) उसी प्रकार यहाँ भी संगति कर लेनी चाहिए।

३. **बभ्रु**—बभ्रु के शिष्य 'मुञ्जकेशाः' कहलाते हैं, अतः बभ्रु का नामान्तर मुञ्जकेश है—यह श्रीधरस्वामी ने कहा है (विष्णु० ३।६।१४)। इस दृष्टि से वायु० ६१।५४ के "सैन्धवो मुञ्जकेशाय" पाठ के स्थान पर "सैन्धवाः मुञ्जकेशाश्च" पाठ होगा, तथा ब्रह्माण्ड० १।३५।६१ के पाठ को इस प्रकार शोधित करना होगा; तब उसका अर्थ होगा—'बभ्रु के मुञ्जकेश नामक अनेक शिष्य'। यहाँ बहुत्व विवक्षित है, यह विष्णु० की टीका से जाना जाता है। यदि वायु-ब्रह्माण्ड० के पाठों का संशोधन न किया जाए तो पुराणों का परस्पर विरोध होगा और कोई भी समन्वय सम्भव नहीं हो सकेगा, यह निश्चित है। अग्नि० में बभ्रु नाम नहीं है, परन्तु मुञ्जकेश का नाम है, अतः मुञ्जकेश एक आथर्वण है—यह निश्चित है। प्रमाणान्तर से वह बभ्रु ही है, यह जाना जाता है।

भाग० में बभ्रु को अङ्गिराः का शिष्य कहा गया है। यह अङ्गिराः शुनक है, यह यहाँ स्पष्ट है। शुनक अङ्गिरोगोत्र में उत्पन्न है, अतः ऐसा कहना उचित है। अन्य पुराणों में शुनक के स्थान में शौनक नाम है। इसकी उपपत्ति पहले की जा चुकी है।

शाखाप्रकरण में अनुक्त शाखा—वायु० ६१।६९ में 'चारण-विद्याणां प्रमाणम्' वाक्य है (पाठान्तर—विद्यानां प्रमाणम्)। ब्रह्माण्ड० १।३५।७८ में वायु० का पाठान्तर ही पठित हुआ है। इस वाक्य का लक्ष्य अथर्ववेदीय 'चारणवैद्य' शाखा

है, ऐसा स्पष्ट अनुमान होता है। इस शाखा के विषय में पुराणों में अन्य विवरण नहीं मिलता। कौशिक सूत्र ६।३७ की व्याख्या और अथर्व परिशिष्ट २२।२ में इस शाखा का उल्लेख है (वैदिक वाङमय का इतिहास, भाग १, पृ० ३३६)।

चतुर्थ अध्याय

प्रथम परिच्छेद

वेदमन्त्रों की व्याख्या

यतः वेदप्रामाण्यवादी आचार्यों द्वारा ही प्रचलित पुराण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है, अतः पुराणों में स्थान स्थान पर ऐसे श्लोक उपलब्ध होते हैं जो किसी वेद-मन्त्र को लक्ष्य कर लिखे गए हैं—यह स्पष्टतया प्रतीत होता है। किसी वैदिक मन्त्र के तात्पर्य को अपने मत के अनुकूल दिखाने के लिये पुराणकारों ने उन स्थलों को लिखा है—ऐसा ज्ञात होता है। कहीं वैदिक-शब्द-बहुल शैली को देखने से या कहीं श्लोक- प्रतिपादित विषय के वैदिक होने के कारण पुराणकार का पूर्वोक्त आशय स्पष्ट हो जाता है।

ये व्याख्याएँ कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। पुराणों में लक्षित वैदिक मन्त्रों का अर्थ या तात्पर्य पुराणकारों ने अपनी दृष्टि के अनुसार ही दिखाया है—ऐसा सामान्यतः कहा जा सकता है। पूर्वाचार्य वेदवाक्य से किस रूप में स्वाभिमत अर्थ को प्रतिपादित करते थे—यह एक विचारणीय विषय है। कई प्राचीन आचार्यों ने स्पष्टतः कुछ पुराणवाक्यों को वेदोपबृंहक (वेदव्याख्याकारक) रूप में माना है और स्वसम्प्रदायानुकूल अर्थ को वेदमन्त्रों से किसी न किसी प्रकार निकाला है। उनकी दृष्टि में इतिहास-पुराण वेद के उपबृंहक हैं। इस विषय में "इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति" (आदिपर्व १।२६७-२६८)—यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसी प्रकार के वचन शिव० ७।१।४०, वायु० १।२०१ आदि में भी मिलते हैं। स्मृतिचन्द्रिका (भाग १, पृष्ठ ३) में इसको बृहस्पति-वचन कहा गया है। लघुव्यासस्मृति (पृ० ३२०, जीवानन्द संस्क०) में "वेदार्थमुपबृंहयेत्" पाठ है।

साम्प्रदायिक वेदव्याख्या—ये पुराणोक्त व्याख्यास्थल प्रायेण साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से लिखे गए हैं। कहीं कहीं साम्प्रदायिक व्याख्याएँ पूर्णतः काल्पनिक और हास्यजनक प्रतीत होती हैं, जैसा कि यथास्थान दिखाया जाएगा। वादि-राजस्वामिकृत युक्तिमल्लिका ग्रन्थ में ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों की मध्वपरक व्याख्या की गई है (गुणसौरभ ४९८-७२० श्लोक)। साम्प्रदायिक विचारकों की दृष्टि कैसी अज्ञतापूर्ण होती है—यह स्थल इसका असाधारण उदाहरण है। मध्व-

बलदेव-कृत ब्रह्मसूत्रभाष्यों में स्वसम्प्रदाय-सम्मत दृष्टि की वैदिकता को सिद्ध करने के लिये 'कुशकाशावलम्बन' करने के उदाहरण यत्र-तत्र दिखाई पड़ते हैं। 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छान्दोग्य० ६।८।७) वाक्य में 'अतत्त्वमसि' पदच्छेद कर जीवब्रह्मभेद-पक्ष को उपपन्न करने का हास्यकर प्रयास भी इस प्रसंग में देखने योग्य है (द्र० मध्वकृत छान्दोग्य० भाष्य)।

वैष्णवों की तरह शैवों में भी यह दृष्टि विद्यमान है ; ब्रह्मसूत्र का श्रीकण्ठ-भाष्य और उसकी शिवार्कमणिदीपिकाटीका में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। ऋग्वेदीय "य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्" (१०।८१।१) मन्त्र की (शैवदृष्टि के अनुसार) व्याख्या ब्रह्मसूत्र (१।२।९)-भाष्य-टीका में मिलती है। कठोपनिषद् १।३।९ में पठित 'अध्वन्' शब्द की शैवशास्त्रीय षडध्वपरक व्याख्या ब्रह्मसूत्र ४।४।२२ भाष्य में द्रष्टव्य है। शाक्तदार्शनिकों में भी यह दृष्टि है। इस प्रकार भास्कररायकृत ललितासहस्रनामभाष्य (पृ० ९७, १६२), ब्रह्मसूत्र का शक्तिभाष्य (पञ्चानन तर्करत्न-कृत) आदि ग्रन्थों में वेदमन्त्रों की देवीपरक व्याख्या दर्शनीय है।

साम्प्रदायिक दृष्टि का तात्पर्य है—वेदपृथक् तन्त्रादि के मतों के अनुसार वेदमन्त्र की व्याख्या करने की प्रवृत्ति। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि तन्त्र-आगम में प्रसिद्ध देवों के स्वरूप की वैदिकता (वेदमन्त्र-प्रतिपाद्यता) दिखाने का कारण क्या है? हम समझते हैं कि यतः वैदिक संप्रदाय सर्वजनमान्य सार्वभौम और अधिक शक्तिशाली था, अतः अवैदिक सम्प्रदाय (वैदिकानुगृहीत) यह दिखाना चाहते थे कि वेद भी उनके मतों का कथंचित् प्रतिपादन करते हैं। बाद में जब वैदिक सम्प्रदाय में ही तन्त्रादि का अत्यधिक अनुप्रवेश हो गया, तब वैदिक धारा के विद्वान् भी तान्त्रिक दृष्टि के अनुसार शिवादिपरक वेदव्याख्या करने लगे। इन लोगों का यह भी मत था कि वेद और आगम मूलतः एक ही स्रोत से उत्पन्न हुए हैं, अतएव दोनों ही एकार्थपरक हैं। इस विषय में श्रीकण्ठाचार्य का यह वाक्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है—"वयं तु वेदशिवागमयो र्भेदं न पश्यामः। वेदेऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः तस्य तत्कर्तृकत्वात्। अतः शिवागमो द्विविधः—त्रैवर्णिक-विषयः, सर्वविषयश्चेति। वेदास्त्रैवर्णिकविषयाः, सर्वविषयश्चान्यः, उभयोरेक एव शिवः कर्ता, अतः कर्तृसामान्यात् उभयमपि एकार्थपरं प्रमाणमेव" (ब्रह्मसूत्रभाष्य २।२।३७)। यह दृष्टि मूलतः ऐतिहासिक नहीं है। वैदिक सम्प्रदाय में आगम के सादर अनुप्रवेश के कारण बाद में यह धारण उत्पन्न हुई होगी।

वेदमन्त्रव्याख्या की प्राचीनता—प्राचीनकाल से ही वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करने की पद्धति चली आ रही है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वेद-मन्त्रों की व्याख्याएँ

मिलती हैं। प्रायेण वे व्याख्याएँ विशिष्ट शब्दों की ही हैं। आरण्यक और उपनिषद् में भी कहीं कहीं मन्त्रों की व्याख्या उपलब्ध होती है।[1] वैदिक ग्रन्थों के अतिरिक्त स्मृतियों में भी यह शैली देखी जाती है। याज्ञवल्क्यस्मृति के अनेक वचन बृहदारण्यक उपनिषद् की व्याख्या करते हैं—यह स्पष्टतः ज्ञात होता है (द्र० बृहदारण्यक० ६।२।२५ और याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१९२-१९४)। शान्तिपर्व में ऐसे अनेक श्लोक मिलते हैं, जिनमें स्पष्टतया वैदिक शब्दों की व्याख्या की गई है—ऐसा प्रतीत होता है। पुराणकारों ने भी इस शैली को अपनाया है और उन्होंने अपनी दृष्टि के अनुसार मन्त्र में आए हुए पदों का अर्थ दिखाया है। यह व्याख्या पूर्णाङ्ग नहीं होती, केवल मन्त्रपदों में कुछ परिवर्तन या नवीन शब्दों का संयोजन कर स्वाभीष्ट देव में मन्त्र को लगाया जाता है।

वेदव्याख्या की अकृत्रिम पद्धति की दृष्टि से इस पौराणिक व्याख्या का क्या मूल्य है—इसका विचार करना यहाँ अप्रासंगिक होगा। निबन्धकारों की दृष्टि में पौराणिक मत प्रमाण-रूप से स्वीकृत होते हैं; परन्तु निबन्धग्रन्थों में पुराणगत वेदव्याख्यान का कोई प्रसङ्ग उपलब्ध नहीं होता। प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि स्मृति में प्रतिपादित सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में पुराणगत दृष्टि प्रायेण प्रमाण मानी जाती है। कुल्लूक ने मनुस्मृति ११।७५ की व्याख्या में भविष्यपुराण-वचन के आधार पर मनु की विवक्षा (अभिप्राय) को स्पष्ट किया है।

पौराणिक व्याख्या के स्थल और पाठ—इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि पुराण में दो एक स्थलों को छोड़कर (यथा ब्रह्म० १६१।४१) यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि अमुक वेदांश की व्याख्या या विवरण अमुक श्लोकों में किया जा रहा है; पर ध्यान देने से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि उन स्थलों में वस्तुतः वैदिक वचनों की ही व्याख्या की जा रही है। यह व्याख्या पूर्ण वैदिक वाक्य या वाक्यगत सभी विशिष्ट पदों की ही हो—ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

कहीं कहीं पुराणों में मुद्रणप्रमाद इतना अधिक मिलता है कि पौराणिक व्याख्यागत सभी शब्द अविकल रूप से मौलिक पाठ ही हैं, ऐसा कहना सांशयिक हो जाता है। यथा—मुण्डक उप० २।२।४ के "प्रणवो धनुः" श्लोक की व्याख्या में मार्क० ४२।७ में "प्राणो धनुः" पाठ मुद्रणप्रमादजनित प्रतीत होता है। अन्य पुराणों में इस स्थल की व्याख्या के प्रसंग में 'प्रणव' शब्द ही पठित हुआ है (लिंग० १।९१।४९, भाग० ७।१५।४२)।

---

१. वेदवाणी (वर्ष ८, अंक ९) में प्रकाशित श्री सुधीरकुमार गुप्त का लेख 'आरण्यकों की वेदभाष्यशैली' में आरण्यकगत व्याख्या के उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

कभी कभी मुद्रणप्रमाद के कारण अर्थविपर्यय की भी सम्भावना रहती है। कठ० १।३।९ में "सोऽध्वनः पारमाप्नोति······' कहा गया है। गरुड० १।४४।८ में यह अंश पूर्णतः उद्धृत हुआ है, पर वहाँ "सोऽध्वनः" के स्थान पर "स्वर्धुन्याः" पाठ मुद्रित हुआ है; स्वर्धुनी का अर्थ गंगा है, अतः "वह गंगा के पार में पहुँचता है, जो विष्णु का परमपद है"—ऐसा अर्थ (वस्तुतः अनर्थ) भी हो सकता है।

व्याख्येय मन्त्र—इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि अर्वाचीन उपनिषदों के शतशः श्लोकबद्ध वचन स्वल्प पाठान्तर से या अविकलरूप से या किञ्चित् व्याख्या के साथ पुराणों में मिलते हैं। यहाँ पुराणकारों ने इन साम्प्रदायिक नवीन उपनिषदों से स्वाभिमत वचनों का संकलन-मात्र पुराणों में किया है—ऐसा प्रतीत होता है और इसीलिये ऐसे उदाहरण विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इस ग्रन्थ में उपनिषद्-वचनों की व्याख्या के उदाहरण बहुत अल्प दिए गए हैं; क्योंकि ऐसे उदाहरण संख्या में बहुत हैं। अर्वाचीन उपनिषद् और पुराणों के पौर्वापर्य का निर्धारण करना बहुत ही कठिन है। यहाँ इसके निरूपण करने की आवश्यकता भी नहीं है। यह कहना संगत ही है कि प्रायः सभी प्राचीन उपनिषद् साम्प्रदायिक पुराणों से प्राचीनतर हैं। व्रजतापनी आदि कुछ साम्प्रदायिक उपनिषद् (जिनमें साम्प्रदायिक संकुचित दृष्टि ही प्रबलतम है) पुराणों से भी अर्वाचीन माने जा सकते हैं।

इस ग्रन्थ में वैदिक संहिता के प्रायः सभी मन्त्रों के (जिनकी व्याख्या पुराणों में मिलती है) उदाहरण दिए गए हैं। मन्त्रों के निर्देश में सर्वत्र ऋग्वेदीय स्थल ही प्रमुख माने गए हैं और ऋग्वेद में मन्त्र के जो देवता आदि हैं, उनके अनुसार ही पुराणगत व्याख्या की समीक्षा की गई है। अन्य वेदों के मन्त्रों के लिये तत्तत् वेदों के आकर स्थल दिए गए हैं तथा कहीं कहीं उस वेद की अनुक्रमणी आदि के अनुसार जो मन्त्र-तात्पर्य सिद्ध होता है, उस तात्पर्य से पौराणिक दृष्टि की तुलना भी की गई है (आवश्यकता होने पर)।

इस परिच्छेद में उन व्याख्यानों को ही उद्धृत किया गया है, जिनमें व्याख्यान-व्याख्येयभाव अधिक स्पष्ट है। उपनिषद् के वचनों पर आधृत ऐसे अनेक श्लोक पुराणों में मिलते हैं, जो उपनिषदर्थ को स्पष्ट तो करते हैं, पर वे स्थूल अर्थ-स्पष्टीकरण के लिए लिखे गए हैं, ऐसा स्पष्टतः प्रतीत नहीं होता। यथा—कूर्म० १।९।६१ में "ब्रह्माणं विदधे पूर्वं वेदांश्च प्रददौ····" कहा गया है; यह श्वेताश्वत के "यो ब्रह्माणं विदधाति·······"(६।१८) वाक्य पर ही आधृत है; यहाँ 'प्रहिणोति' के स्थान पर 'प्रददौ" है; पर ऐसे स्थलों को व्याख्या में न गिनना ही उचित है।

पौराणिक व्याख्याओं का वर्गीकरण—पुराणों में वैदिक मन्त्रों की व्याख्याएं अनेक दृष्टियों से की गई हैं। एक ही मन्त्र की व्याख्याएँ (विभिन्न पुराणों में) न्यूनाधिक रूप से पृथक् और विसदृश हैं, यह भी देखा जाता है। अतः व्याख्यात स्थलों के उदाहरण देने के पहले व्याख्यानों का वर्गीकरण कर लेना आवश्यक है। पुराणगत व्याख्याओं को छह भागों में बाँटा जा सकता है, यथा—

१. वह व्याख्या, जिसमें मन्त्रगत सामान्य पदों में साधारण परिवर्तन कर दिया गया है, परन्तु मन्त्र का अर्थ और भाव अपरिवर्तित है।

२. वह व्याख्या, जिसमें मन्त्र के विशिष्ट पदों के स्थान पर अन्य पद दिए गए हैं या विशद व्याख्या की गई है, परन्तु मन्त्र का भाव अपरिवर्तित है (क्वचित् साम्प्रदायिक दृष्टि का आभास भी इस व्याख्या में देखा जा सकता है)।

३. वह व्याख्या, जो मूल वैदिक दृष्टि का बहुत कुछ अनुवर्तन करती है, एवं मन्त्रार्थ को प्रायेण अविकृत रखती है, पर जिसमें मन्त्रलक्ष्य या मन्त्रविषय को साम्प्रदायिक दृष्टि से अंशतः परिवर्तित किया गया है।

४. वह व्याख्या, जो मूलभाव की विरोधी और पूर्णतः साम्प्रदायिक है।

५. वह व्याख्या, जिसमें बहुदेवतापरक या अनिश्चितदेवता-वाले मन्त्रों को किसी एक निश्चित देवता पर लगाया गया है।

६. वह व्याख्या, जिसमें मन्त्रोक्त पदार्थ के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का भी समावेश किया गया है या जिसमें मूल वैदिक वाक्य का कुछ अंश छोड़ दिया गया है।[2]

प्रथम प्रकार की व्याख्या—पुराणों में कुछ ऐसे श्लोक मिलते हैं, जिनमें वैदिक मन्त्रों की (सामान्य परिवर्तन के साथ या क्लिष्ट पदों के स्थान में सरल शब्दों के प्रयोग के साथ व्याख्या की गई है। ईदृश स्थलों में मन्त्रों का मूल भाव समान रहता है, परन्तु कहीं कहीं मन्त्रों का लक्ष्य साम्प्रदायिक दृष्टि के अनुसार किञ्चित् बदल दिया जाता है। इतना होने पर भी मन्त्रों का वैदिक भाव प्रायेण अविकृत रहता है। निम्नोक्त उदाहरणों से यह बात प्रमाणित होगी:—

१. कुमारिका० ४०।१०६ में "त्रियम्बकं त्वां च यजामहे वयं......

---

२. व्याख्याविचारपरायण यह परिच्छेद (तथा आगामी परिच्छेद) वैदिक सामग्री की पूर्ति की दृष्टि से लिखा गया है। सभी विचारित उदाहरणों पर सामान्यदृष्टि से विचार किया गया है, पूर्णाङ्ग विचार के लिए कोई भी प्रयास यहाँ नहीं किया गया। इस परिच्छेद में मन्त्रों की व्याख्या ही उदाहृत होगी। ब्राह्मण गत के गद्य वचनों के उदाहरण पृथक् परिच्छेद में संकलित होंगे।

त्र्यम्बक मृत्युमार्गात्" कहा गया है। यहाँ यह श्लोक शिवपरक है। वैदिक शब्द 'सुगन्धि' के स्थान पर पुराण में 'सुपुण्यगन्ध' पद है। उर्वारुक (खरबूजा) के साथ 'पक्व' विशेषण अधिक जोड़ा गया है, जो आवश्यक है। उसी प्रकार वैदिक 'बन्धन' शब्द के साथ पुराण में 'उग्र' पद भी जोड़ दिया गया है। और वैदिक 'मुक्षीय' के स्थान पर पुराण में 'रक्षस्व' पद है; तथैव 'मृत्यु' के स्थान पर 'मृत्युमार्ग' है।

२. मुण्डक उपनिषद् २।२।४ में "प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्य मुच्यते" कहा गया है। मार्क० ४२।७-८ में यह मन्त्र है, जहाँ 'लक्ष्य' के स्थान पर 'वेध्य' पद है। लिङ्ग० २।९२।४९-५० में भी यह मन्त्र लक्षित हुआ है, पर यहाँ "ब्रह्म लक्षणमुच्यते" पाठ है। प्रतीत होता है यहाँ "तल् लक्ष्यम्" पाठ था, जो बाद में भ्रष्ट हो गया है; यहाँ 'लक्षण' पद का प्रयोग असमीचीन ही प्रतीत होता है।

३. वेद के प्रसिद्ध पुरुषसूक्त में "स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्" (माध्यन्दिन० ३१।१) कहा गया है। ऋग्० १।९०।१ में "स भूमिं विश्वतो वृत्त्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्" पठित हुआ है। विष्णु० १।१२।५८ में "सर्वव्यापी भुवः स्पर्शाद् अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्" कहा गया है, जो प्रथम प्रकार की व्याख्या का स्पष्ट उदाहरण है। प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि पुरुषसूक्त के अनेक मन्त्र ब्रह्म० १६१।४१-५०, वेंकटाचल० ३५।२८-७०, पद्म० ५।४। ११६-१२४, ६।२५४।६२-८३ आदि में स्वल्प पाठान्तर के साथ मिलते हैं। ये सब स्थल शब्दतः प्रथम प्रकार की व्याख्या के प्रमुख उदाहरण हैं (इनमें कहीं-कहीं साम्प्रदायिक दृष्टि का अनुप्रवेश है)। इन श्लोकों में कहीं कहीं द्वितीय प्रकार की व्याख्या भी उपलब्ध होती है—यह ज्ञातव्य है।

४. पद्म० ६।२७२।२०९-२११ में गायत्री मन्त्र को अनुष्टुप् छन्द में किञ्चित् परिवर्तन के साथ कहा गया है। 'प्रचोदयात्' के स्थान पर 'प्रभाति' है; इसमें अन्तर्भावित णिच् है (तदनुसार अर्थ होगा—'धी का प्रकाश कराते हैं')। पुराण में इस श्लोक का लक्ष्य यशोदा-नन्दन कृष्ण हैं। इसी स्थल पर (६।२७२।११३-११४) वेदपुरुष-महापुरुष-शारीरपुरुष-छन्दःपुरुष-पदघटित जो श्लोक है, वह आरण्यकीय वाक्य की व्याख्या ही है (द्र० आगामी परिच्छेद)।

५. माध्यन्दिन० यजुः ३१।१८ में "वेदाहमेतं......अयनाय" मन्त्र है। प्रभास क्षेत्र० ६।३९ में ईषत् परिवर्तन के साथ यह मन्त्र सोमेश्वर शिव को लक्ष्य कर कहा गया है। वेद में यह मन्त्र आदित्यविषयक है, यह यजुः सर्वानुक्रमणी (पृ० २६६) और महीधरभाष्य से जाना जाता है।

६. शिव० (विशेषतः ७।६ ७।३२ अध्याय) में ऐसे अनेक श्लोक हैं, जो

श्वेताश्वतरादि उपनिषदों के वचनों की छाया हैं। ऐसे श्लोक एक प्रकार की व्याख्या ही हैं। यहां ये श्लोक शैवसम्प्रदाय की दृष्टि के अनुसार प्रयुक्त हुए हैं। उसी प्रकार योगपरक कुछ पुराणवचन कठ-श्वेताश्वतरादि के वचनों की छायामात्र हैं, जहाँ प्रतिपाद्य विषय की एकरूपता है, यथा—श्वेताश्व० २।१३ में "लघुत्वमा-रोग्य..." श्लोक है, जो मार्क० ३९।६३ में पाठभेद के साथ मिलता है। ऐसे स्थल मन्त्रव्याख्या के रूप में गिने जा सकते हैं। उसी प्रकार अग्नि० २१६।२८ में "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहमनन्त ओम्" कहा गया है। यह स्पष्टतः माध्यन्दिन० ४०।१७ के "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्" मन्त्र की छाया है।

द्वितीय प्रकार की व्याख्या—प्रथम प्रकार की व्याख्या में सामान्य पदों का परिवर्तन और क्वचित् पर्यायवाची सरल शब्दों का प्रयोग किए जाते हैं, पर यह वह व्याख्या है, जिसमें वैदिक पदों के विशद अर्थ और लक्षण दिए गए हैं तथा कहीं कहीं साम्प्रदायिक दृष्टि का आभास मिल जाता है। यथा—

१-२. ईशोपनिषद् (प्रथम मन्त्र) या माध्यन्दिन० ४०।१ में "ईशावा-स्यमिदं..." मन्त्र है। भाग० ८।१।१० में 'ईट्' पद के स्थान पर 'आत्मा' पद प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार मुण्डक० २।२।८ के "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" मन्त्र के "तस्मिन् दृष्टे परावरे" के स्थान पर भाग० में "दृष्ट एवात्मनीश्वरे" वाक्य है (१।२।२१) ; 'परावर' पद कुछ अस्पष्टार्थक है, पर आत्मा और ईश्वर पद स्पष्टार्थक एवं हृदयग्राही हैं।

३. ऋग्वेद में "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्" (१।१६४।२९) मन्त्र है। पुराणों में यह मन्त्र ईषत् व्याख्या के साथ मिलता है (अर्वाचीन उपनिषदों में भी यह मन्त्र साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक दृष्टियों से व्यवहृत हुआ है; द्र० श्वेताश्वतर० ४।८)। पुराणों में "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्" के स्थान पर "यदक्षरं वेदगुह्यं वाक्य मिलता है (पद्म० ६।२५५।६६)। सायण ने ऋग्वेद भाष्य में 'ऋचः' का अर्थ किया है—"ऋक्सम्बन्धिनि ऋग्वेदगम्ये" ; पुराण में उससे भी स्पष्ट रीति से "वेदगुह्ये अक्षरे" कहा गया है।

४. भाग० ७।१५।४२ में "धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम्" कहा गया है। यह "प्रणवो धनुः...." (मुण्डक० २।२।४) वाक्य की व्याख्या है। भागवतकार ने 'पठन्ति' का प्रयोग कर यह ज्ञापित किया है कि यह पद्य समूलक (किसी अन्य वचन पर आधृत) है। ध्यान देना चाहिए कि उपनिषद् में शर को 'आत्मा' कहा गया है ; यह आत्मा प्रत्यगात्मा है या परमा-त्मा, इसका स्पष्ट निर्देश पुराणों में ही मिलता है। पुराणों में शर को जीव कहकर रूपक को असन्दिग्ध कर दिया गया है।

५. बृहदारण्यक० ४।४।१२ में "आत्मानं चेद्.....शरीरमनुसंज्वरेत्" कहा गया है। भाग० ७।१५।४० में यह श्लोक व्याख्यात है,[3] जहाँ औपनिषद भाव अधिक स्पष्ट है। यहां 'धूताशय' रूप विशेषण से और 'परं ज्ञानं' पद के संयोजन से श्रौत अर्थ अधिक विशद हो गया है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जहाँ श्रुति में 'अनुसञ्ज्वरेत्' कहा गया है [अनुसंज्वरेत्=भ्रंशेत् (शंकर), फलितार्थ यह है कि शरीरकृत सुख-दुःख में अपने को वस्तुतः सुख-दुःखवान् मानना] वहाँ भाग० में "देहं पुष्णाति लम्पटः" कहा गया है। यहाँ श्रुति के अस्पष्टार्थक पद के स्थान पर स्पष्टार्थक शब्द दिया गया है, यह स्वीकार्य है।

६. ऋग्वेद में "द्वा सुपर्णा" (१।१६४।२०) मन्त्र है। यह अथर्ववेद ९।९।२०, श्वेताश्वतर० ४।६ तथा अन्यत्र भी मिलता है। निरुक्त १४।३० ख में यह व्याख्यात है। भाग० ११।११।६ में इसकी स्पष्टपदयुक्त व्याख्या है।[4] दोनों ही स्थलों पर भाव समान है।

७. द्वितीय प्रकार की व्याख्या का उत्कृष्ट उदाहरण भाग० का "विष्णोर्नु ......" श्लोक (२।७।४०) है। यह ऋग्० १।१५४।१ (विष्णोर्नुकं वीर्याणि ......") मन्त्र की व्याख्या है, जो श्रीधर को भी अनुमत है। (यह मन्त्र अथर्व० ७।२६।१, माध्यन्दिनसंहिता ५।१८ और तै० सं० १।२।१३।२ में है)। भागवत-श्लोक में 'कवि' आदि पद अधिक हैं और इन पदों से वेदवाक्यगत भाव अधिक विशद हो जाता है। मन्त्र के उत्तरार्ध का अर्थ क्लिष्ट है, जो भागवत० में अधिक विशद है।[5]

८. द्वितीय प्रकार में उस व्याख्या का भी समावेश किया गया है, जिसमें विशद व्याख्या के साथ साथ मन्त्रों में आए हुए विशिष्ट पदों के लक्षण भी कहे गए हैं। इस रीति के बहुत कम उदाहरण पुराणों में मिलते हैं। मार्कण्डेय० ९९। ५२-५८ में मुण्डक० १।२।४ के "काली कराली....." आदि अग्निजिह्वापरक

---

३. आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः॥

४. सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥

५. विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।
चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरु कम्पयानम्॥

मन्त्र की विशद व्याख्या है, जिसमें काली-कराली आदि शब्दों के गूढ़ तात्पर्य (लक्षण) भी कहे गए हैं। शंकरादिभाष्यकार इन शब्दों के विवक्षित अर्थ के विषय में मौन हैं। भाष्यों की टीकाओं से भी इस विषय में कोई सूचना नहीं मिलती। मार्कण्डेय० ९९।५२-५८ में इस मन्त्र की अद्भुत व्याख्या है। पुराण में यह व्याख्या अग्निपरक है। यहाँ काली आदि शब्दों के अर्थ दिखाए गए हैं, यथा—

काली	=	कालनिष्ठाकारी
कराली	=	महाप्रलयकारण
मनोजवा	=	लघिमागुणलक्षणा
सुलोहिता	=	भूतों के लिये काम करने वाली
सूधूम्रवर्णा	=	प्राणिरोगदायिका
स्फुलिङ्गिनी	=	सब पुद्गलों की उत्पत्तिकारिणी (पद्गल=देहवान् जीव)।

विश्व (श्रुति में विश्वरुची)=प्राणियों को सुख देने वाली।[६]

९. अग्निपुराणस्थ गायत्री व्याख्या (२१६।१-१८) गायत्री मन्त्र (ऋग् ३।६२।१०) की एक सुविशद व्याख्या है। यह मन्त्र साम० १४६२, माध्यन्दिनसंहिता ३।३५, २२।९, ३०।२, ३६।३; तै० सं० १।५।६।४, ४।१।११।१, तै० आ० १।११।२ इत्यादि में भी मिलता है। गायत्रीमन्त्रगत 'सवितृ-वरेण्य-भर्ग-देव-धीमहि' पदों की सनिर्वचन व्याख्या पुराण में की गई है। यहाँ सविता को भगवान् विष्णु कहा गया है (अग्नि० २१६।७-९) और भर्ग को आदित्यान्तर्गत तेज: माना गया है। यह व्याख्या वैष्णवदृष्टि के अनुसार है, और तत्त्वत: यह वेद की विरोधिनी भी नहीं है।

१०. द्वितीय प्रकार का एक अतिविशद उदाहरण लिङ्ग० में मिलता है। ऋगादि वेदों में "त्र्यम्बकं यजामहे...." मन्त्र है (ऋग्० ७।५९।१२, माध्यन्दिन० ३।६०)। इस मन्त्र की प्रथम प्रकार की व्याख्या कुमारिका० ४०।१०६ में है— यह पहले कहा जा चुका है। शैवशास्त्रीय पद्धति के अनुसार इस मन्त्र की अत्यन्त

---

६. ऐसा अनुमान होता है कि यह व्याख्या तान्त्रिक रीति के अनुसार है। वैदिक वाक्यों की ऐसी व्याख्याएँ भास्कर कृत ललितासहस्रनामभाष्य (पृ० ७७) में भी मिलती हैं। अथर्ववेद के "अष्टचका नवद्वारा..."मन्त्र (१०।२।३१) की तान्त्रिक व्याख्या इस ग्रंथ में विद्यमान है। इस विषय में सौन्दर्य लहरी की भास्करकृत टीका एवं लक्ष्मीधरकृत टीका के साथ भावनोपनिषद् द्रष्टव्य है।

विशद व्याख्या लिङ्ग० के दो स्थलों पर मिलती है। वैदिक पदों की जो व्याख्या यहाँ मिलती है, उसे संक्षेपतः दिखाया जा रहा है—

	लिंग० १।३५।१६-३५	लिंग० २।५४।१७-३१
त्र्यम्बक	त्रिलोक, त्रिमण्डल, त्रिगुण, त्रितत्त्व आदि	त्रिलोक, त्रिवेद, अ-उ-म, त्रिगुण इत्यादि।
सुगन्धि	पुष्प में गन्धवत् सूक्ष्म होने के कारण सुगन्धि	पुष्पितवृक्ष का गन्ध जिस प्रकार दूर तक जाता है, उसी प्रकार शिव का गन्ध भी इत्यादि।
पुष्टिवर्धन	प्रकृति आदि के वर्धन में हेतु होने के कारण।	जिस वीर्य से अण्ड बना, उस वीर्य की महत्ता के कारण।
उर्वारुकमिव	×	यहाँ 'पक्व' विशेषण दिया गया है, जिससे उपमा की ध्वनि स्पष्टतर हो जाती है।
मृत्योः	मृत्युपाश	

तृतीय प्रकार की व्याख्या—इस व्याख्या-प्रकार में मन्त्रार्थ प्रायेण अविकृत रहता है, पर मन्त्रविशेष या मन्त्रलक्ष्य का साम्प्रदायिक दृष्टि के अनुसार अंशतः या पूर्णतः परिवर्तन कर दिया गया है। ये स्थल साम्प्रदायिक व्याख्या की आरम्भिक प्रवृत्ति के ज्ञापक हैं। प्रारम्भिक स्तर में सर्व प्रथम साम्प्रदायिक आचार्य मन्त्र के लक्ष्य को अपने इष्टदेवता पर घटाकर यह सिद्ध करने की चेष्टा करते थे कि वेदमन्त्र भी उनके सम्प्रदाय के अधिदेव का गुणगान करते हैं। बाद में चलकर यह दृष्टि साम्प्रदायिक अन्धता में परिणत हो गई थी, जैसा कि आगे चतुर्थ प्रकार की व्याख्या में दिखाया जाएगा। सम्प्रदाय के अधिदेव का वाचक शब्द वेद में रहने से ही यह सिद्ध नहीं होता कि वेद में उस सम्प्रदाय की मान्यता भी स्वीकृत है—यह ज्ञातव्य है। पाशुपतदर्शन इस विषय का एक प्रसिद्ध उदाहरण है। देववाचक 'पशुपति' शब्द अथर्व० ११।२।२८, माध्यन्दिन० १६।२८, पारस्करगृह्य० ३।८, आश्वलायनगृह्य ४।९।१७ आदि में मिलता है। प्रायेण यह शब्द रुद्राभिधायक है। पर पाशुपतदर्शन में पशुपति का जो पारिभाषिक अर्थ है, वह वेद में सर्वथा अनुक्त है। वेद में पारिभाषिक अर्थ अनुक्त है, इस तथ्य को म० म० गोपीनाथ कविराज महोदय भी स्वीकार करते हैं (शांकरभाष्यरत्नप्रभा-हिन्दी अनुवाद की भूमिका, पृ० ६३; अच्युत, वर्ष ३, अंक ४, में प्रकाशित)।

१. सूर्यपरक "वेदाहमेतम्" (माध्यन्दिन० ३१।१८) मन्त्र शिवलिंग का प्रशंसापरक है (आंशिक परिवर्तन कर) जिसका उदाहरण पहले दिया गया है (द्र० प्रभासक्षेत्र, ६।३९)। यह मन्त्र सूर्यपरक है—ऐसा इस मन्त्र की वेददीप-टीका से ज्ञात होता है।

२. तै० आ० ३।१२।९।१ में "ऋग्भिः पूर्वाह्णे....." मन्त्र है, जो सूर्यपरक है। विष्णु० २।११।१०-११ में यह मन्त्र व्याख्यात है। यह व्याख्या प्रथम प्रकार की है, पर ११ वें श्लोक में 'यह त्रयी विष्णु का अंग है और विष्णु-शक्ति सदा आदित्य में अवस्थान करती है'—यह विशेष बात कही गई है। यहाँ वैष्णवदृष्टि का प्रारम्भिक अनुप्रवेश है, यह स्पष्ट है।

३–४ हिरण्यगर्भसूक्त (ऋग्० १०।१२१) की कृष्णपरक व्याख्या पद्म० ६।२९२।१९०-२०३ में है। वैष्णव दर्शन में कृष्ण को साक्षात् विष्णु माना जाता है, तथा उस दृष्टि के अनुसार जगत्स्रष्टा हिरण्यगर्भ विष्णु का ही रूपविशेष है; यही कारण है कि कृष्ण की स्तुति हिरण्यगर्भसूक्त से की गई है। पुरुषसूक्त से भी कृष्ण या साम्प्रदायिक विष्णु की स्तुति की जाती है, और इसी हेतु से पुरुषसूक्त के पौराणिक रूपान्तर कृष्णपरक या विष्णुपरक ही हैं।

५. श्वेताश्वतर उप० ४।५ का "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां···" मन्त्र लिङ्ग० १।३।१३-१४ में व्याख्यात हुआ है, जिसमें प्रायेण वैदिक पद ही व्यवहृत हुए हैं। इस अजा (प्रकृति) को यहाँ "शैवी" (१।३।१२), और "अजेन समधि-ष्ठिता" कहा गया है (१।३।१४)। यह अधिष्ठान-दृष्टि उपनिषद् में प्रस्फुट नहीं है। श्वेताश्वतर प्राचीन योगसम्प्रदाय का ग्रन्थ है और शैवदर्शन का बीज भी इसमें है। उपनिषद् में "सरूपाः" पद है, पर पुराण में "सरूपिणीम्" (मुद्रित पाठ स्वरूपिणीम्) है, जिससे यह भी अनुमित होता है कि मूल पाठ का सम्भवतः कोई पाठान्तर भी था।[७] वैष्णवों ने भी अपनी दृष्टि के अनुसार इस मन्त्र की व्याख्या की है। भाग० ३।२६।५ में "गुणैर्विचित्रा सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः" इत्यादि कहा गया है। यहाँ 'गुण' से शुक्ल-लोहित-कृष्ण (उपनिषदुक्त) लक्षित हैं, और शुक्लादि पद से सत्त्वादि तीन गुण विवक्षित हैं। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि "प्रजाः" का विशेषण "सरूपाः" दिया गया है, जिससे इसका मूलपाठ "सरूपाः" था, यह अनुमित हाता है। प्रसंगतः ज्ञातव्य है कि वायु० २०। २८ में यह मन्त्र उद्धृत है, जहाँ मुद्रित पाठ "स्वरूपाम्" है और

---

७. तै० आ० १०।१० "सरूपाम्" पाठ ही है। तै० आ० का यह अंश शैव-सम्प्रदाय में प्रचलित था, ऐसा कहना अधिकतर संगत है।

पाठान्तर है--'सरूपा':'। पुराणसंहिता २५।७-९ में सामान्यतया यह मन्त्र व्याख्यात है।

६. विष्णुपरक "तद्विष्णोः....." मन्त्र (ऋग्० १।२२।२०) की ध्रुवनक्षत्र-परक व्याख्या विष्णु० २।८।९८ में है। यहाँ मन्त्रों के शब्द अविकल रखे गए हैं, केवल "सदा पश्यन्ति सूरयः" के स्थान पर "योगिनां तन्मयात्मनां विवेकज्ञानदृष्टम्" कहा गया है। वैष्णवों की दृष्टि से यह मन्त्र अनेक स्थानों पर पुराणों में उद्धृत हुआ है (विष्णु० १।२।१६, ब्रह्म० २३३।६३-६५, पद्म० ६।२५५।५७ आदि) जिनमें साम्प्रदायिक अन्धता नहीं है (वेद में भी यह मन्त्र विष्णुपरक है)।

७. पुराणों में पुरुषसूक्त के व्याख्यायुक्त अंशों में विष्णु, सृष्टिकर्ता प्रजापति, नारायण और कृष्ण ही लक्षित हुए हैं। इन स्थानों पर वैष्णव सम्प्रदाय की प्रारम्भिक दृष्टि स्पष्टतः लक्षित होती है (ब्रह्म० १६१।४१-५०, भाग० २।५।३५-४२, २।६।१५-३०, पुरुषोत्तम० २४।५-२४, वेंकटाचल० ३५।२८-७०, पद्म० ५।४।११६-१२४ और ६।२५४।६२-८३)।

चतुर्थ प्रकार की व्याख्या—साम्प्रदायिक दृष्टि के अतिरेक की अवस्था में वेदवाक्यों की ऐसी भी व्याख्या की जाती थी, जिसमें अपनी निरंकुश रुचि से ही साम्प्रदायिक विद्वान् मन्त्रगत शब्दों की व्याख्या करते थे। वे यह भी नहीं देखते थे कि उस व्याख्या में प्राचीन व्याख्यानग्रन्थ का स्वारस्य रहता है या नहीं। कभी कभी ऐसी व्याख्या बहुत हास्यकर भी होती थी। पुराणों के अतिरिक्त अन्यत्र भी ऐसी व्याख्या मिलती है। यथा-स्मृतिमुक्ताफल में आह्निक-विवरणप्रसंग (पृ० ३०१) में बौवायन का एक वाक्य उद्धृत किया गया है, जिसके साथ तैत्तिरीय उपनिषद् १।११ का "भूत्यै न प्रमदितव्यम्" वाक्य भी आया है। ग्रन्थकार ने यहाँ 'भूति' का अर्थ 'त्रिपुण्डकारक भस्म' माना है, जो प्राचीन व्याख्यानों का विरोधी ही है।[८] यह साम्प्रदायिक अन्धप्रवृत्ति का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

१. ऋग्वेद में "ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै....."(१।१५४।६) मन्त्र है जिसकी व्याख्या पद्म० ६।२५५।७०-७३० में है। यहाँ शाङ्‌र्गी विष्णु के लोक का वर्णन पुराणकार ने किया है। जिस रूप से यह व्याख्या की गई है, वह वैष्णव-सम्प्रदाय की अन्ध मनोवृत्ति की ही ज्ञापिका है।

२. ऋग्वेद का "अपाम सोमम्..." (८।४८।३) मन्त्र लिङ्गपुराण

---

८. भूतिर्विभूतिस्तस्यै भूत्यै भूत्यर्थान्मङ्गलयुक्तात् कर्मणो न प्रमदितव्यम् (तै० उप० १।११ का शांकरभाष्य)। भूत्यै भूतेरैश्वर्यात् (तैत्तिरीयोपनिषद्-दीपिका)

२।१८।७ में मिलता है। यहाँ उद्धरणमात्र है और इस मन्त्र को शिववर्णन के लिये उद्धृत किया गया है। शिवतोषिणीटीका में इसकी शिवपरक व्याख्या है, जो सर्वथा मनगढ़न्त है।

पञ्चमप्रकार की व्याख्या—पुराणों में वेदमन्त्र की व्याख्या सर्वथा अनुक्रमणी आदि के अनुसार नहीं है। अनुक्रमणी में जिन देवताओं का निर्देश मिलता है, पुराणों में उनसे विलक्षण देवताओ का निर्देश भी मिलता है। कुछ मन्त्रों के एकाधिक देवता भी वैदिक ग्रन्थों में कहे गए हैं ऐसे मन्त्रों की व्याख्या (किसी एक निश्चित देवता को लक्ष्यकर) भी पुराणों में है। पुराणकार ने इन मन्त्रों की व्याख्या किस हेतु से और किस दृष्टि से की है—यह एक विचारणीय विषय है। हम कतिपय उदाहरण देकर इस विषय पर प्रकाश डालेंगे।

सर्वप्रथम यह ज्ञातव्य है कि साम्प्रदायिक पुराणों में अपने संप्रदाय के इष्ट देव की मन्त्रप्रतिपाद्यता का प्रतिपादन करने का आग्रह दिखाई पड़ता है। पहले भी इस विषय के अनेक उदाहरण दिए जा चुके हैं। यहाँ एक अन्य उदाहरण पर विचार किया जा रहा है।

ऋग्० ४।५८।३ में "चत्वारि शृङ्गाः....." (४।५८।३) मन्त्र है। अनुक्रमणी के अनुसार अग्नि-सूर्य-अप्-गो-घृत—ये पांच इस सूक्त के देवता हैं। इस प्रकार यह एक अनिश्चित -देवताक मन्त्र है।[९]

भाग० ८।१६।३१ में इस मन्त्र की यज्ञपरक व्याख्या है। यहाँ यज्ञरूपी विष्णु को प्रणाम किया गया है (द्र० श्रीधरी)। उसी प्रकार काशी० ७३।९३-९६ में शिवविवरणप्रसङ्ग में यह मन्त्र व्याख्यात हुआ है। पद्म० ४।९३।१९-२१ में यह मन्त्र आंशिक रूप से व्याख्यात हुआ है (किञ्चित् असमानता भी है; यहाँ

---

९. इस मन्त्र की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। महाभाष्य में पतञ्जलि ने इसकी शब्दपरक व्याख्या की है, (पस्पशाह्निक पृ० ३७)। मीमांसा सूत्र १।२ ४६ की टीका में यागस्तुति के रूप में यह मन्त्र व्याख्यात हुआ है। इस याज्ञिक व्याख्या में भी कुमारिल और शबर का परस्पर मतभेद है। "चत्वारि शृङ्गाः" के अर्थ में कुमारिल चार 'याम' लेते हैं और शबरस्वामी होता आदि चार ऋत्विजों को लेते हैं; इस प्रकार अन्य शब्दों के अर्थ में भी मतभेद है। निरुक्त १३।७ ख० में इस मन्त्र की यज्ञपरक व्याख्या है। गोपथ० १।२।१६ में इसकी याज्ञिक व्याख्या मिलती है, जो यास्कीय व्याख्या का मूल प्रतीत होती है। सायण ने ऋग्वेदभाष्य में मीमांसापक्षीय व्याख्या दिखाकर शाब्दिकों की व्याख्या भी दिखाई है। माध्यन्दिनसंहिता १७।९१ में भी यह मन्त्र विद्यमान है (द्र० उवट-महीधरव्याख्या)।

'चतुष्पाद' शब्द है जबकि वेद में 'त्रयः पादाः' है)। यहाँ धर्मस्वरूप यम की स्तुति में ये श्लोक कहे गए हैं।

ईदृश स्थलों में पुराणकारों की व्याख्या स्वसम्प्रदायानुसारी ही हैं, यह स्पष्ट है।

षष्ठ प्रकार की व्याख्या—पहले ही कहा गया है कि पुराणगत वेदमन्त्रों की व्याख्या वस्तुतः व्याख्या नहीं है। इन स्थलों में पुराणकार वेदवाक्यों का आश्रय लेकर अपने मनोभाव को 'वैदिक' सिद्ध करना चाहते हैं। चूंकि वैदिक शब्द के प्रयोग करने पर स्वमत की वैदिकता सिद्ध करना सरल होता है, इसलिये पुराणकार वैदिक वचनों का आंशिक परिवर्तन कर या स्वाभिप्रायसिद्धि के लिये अस्पष्ट वैदिक शब्द के स्थान पर स्पष्टार्थक शब्द देकर स्वाभिमत देवादि की वैदिकता सिद्ध करते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इन पौराणिक व्याख्यानों में किसी वैदिक वाक्य की पूर्ण शाब्दिक व्याख्या कहीं भी नहीं मिल सकती। कहीं-कहीं पौराणिक व्याख्या में उन भावों को भी सम्मिलित कर लिया गया है, जो वस्तुतः मन्त्रों में नहीं हैं। पुराणकारों ने अपने वक्तव्य को पूर्ण और रोचक बनाने के लिये ऐसा किया है—ऐसा स्पष्टतः प्रतीत होता है।

पुराणगत जिन व्याख्याओं में मन्त्रों में आए हुए पदों का त्याग कर दिया गया है, उन सब का उदाहरण देना अनावश्यक है, क्योंकि इस परिवर्तन से कुछ भी विशिष्ट तात्पर्य सिद्ध नहीं होता। पुरुषसूक्त की जितनी व्याख्याएँ पुराणों में मिलती हैं (विष्णु० १।१२।५८-६६, ब्रह्म० १६१।४६-५०, भाग० २।५।३५, २।६।१५-३०)' उनमें इस सूक्त के अंशविशेषों का परित्याग किया गया है, ऐसा दिखाई पड़ता है।

कहीं कहीं मन्त्रानुक्त भाव का समावेश भी पुराणगत व्याख्यानों में मिलता है, यथा:—

१. तै० ब्रा० ३।१२।९।१ में "ऋग्भिः पूर्वाह्णे······" मन्त्र है। प्रभास क्षेत्र० ६।३९ में इस मन्त्र की सूर्यपरक व्याख्या है, जो उचित ही है। मूल मन्त्र में अथर्ववेद का नाम नहीं है, परन्तु पुराण के उपर्युक्त व्याख्यापरक श्लोक में "अथर्वस्थो निशागमे" भी कहा गया है। ध्यान देना चाहिए कि विष्णु० २।११। १०-११ में भी इस मन्त्र की व्याख्या है, पर वहाँ भी अथर्व शब्द नहीं है।

२. ऋग्वेद १०।८५।४१ में "सोमो ददद् गन्धर्वाय·····" मन्त्र है। मन्त्र में सोमादिकर्तृक प्रदत्त पदार्थों के नाम नहीं लिए गए हैं। गरुड० १।९५।१९ में यह मन्त्र व्याख्यात है,[10] जहाँ सोमादि प्रदत्त शौच-वाणी-मेध्यता का उल्लेख है (मूलतः यह श्लोक याज्ञवल्क्यस्मृति (१।७१) है।

---

१०. सोमः शौचं ददौ तासां गन्धर्वाश्च शुभां गिरम्।

३. माध्यन्दिन० ३१।१८ में प्रसिद्ध "वेदाहमेतम्" मन्त्र है। गरुड० १।२२८।६ में इसकी व्याख्या के प्रसङ्ग में चिद्रूप विशेषण अधिक जोड़ दिया गया है। मन्त्र में केवल "तमेव विदित्वा" कहा गया है। यह वेदन किस प्रकार का है, इस विषय में मन्त्र मौन है, परन्तु गरुडपुराणकार ने स्पष्टतः "सोहमस्मीति" कहकर स्वदृष्टि के अनुसार इस वेदन को स्पष्ट किया है।

४. कठ उप० १।३।४-५ के "आत्मानं रथिनम् ····" मन्त्र की व्याख्या भाग० ७।१५।४१-४२ में है।[११] उपनिषद् में अनुक्त दशविध प्राणों का उल्लेख भी भागवत० में मिलता है। प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि सांख्यकारिका में पञ्चप्राण का अन्तर्भाव करणवृत्ति में ही किया जाता है—"सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च" (२९ कारिका)। कोई कोई बुद्धि (=सत्त्व) में प्राणों का अन्तर्भाव करते हैं—"सत्त्वात् समानो व्यानश्च इति यज्ञविदो विदुः (अश्वमेध० २४।१२)। उपनिषद् में न रहने पर भी स्पष्टीकरण की दृष्टि से भागवत० में प्राण का उल्लेख किया गया है, जो उचित ही है।

अन्त में तात्पर्यप्रदर्शक एक व्याख्या का उदाहरण दिया जा रहा है। ऋग्वेदीय अक्षसूक्त (१०।३४) की विशद व्याख्या ब्रह्म० में मिलती है (१७१।२९-३७)। यहाँ इस व्याख्यान के अन्त में "वेदेऽपि दूषितं कर्म" कहा गया है (१७१।३८), जिससे यह भी ध्वनित होता है कि इस व्याख्या का व्याख्येय मूल वेद में है, जैसा ऊपर दिखाया गया है। यहाँ वस्तुतः सूक्त के पदों को लेकर व्याख्या नहीं की गई, पर सूक्तगत पदों को ध्यान में रखकर सूक्त के भाव को खोला गया है। यहाँ वैदिक भाव अविकृत है, अतः इसको भी व्याख्या-कोटि में रखा जा सकता है।

पावकः सर्वदा मेध्यो मेध्या वै योषितो ह्यतः॥ यह मुद्रित पाठ ईषत् भ्रष्ट है, प्रकृत पाठ 'पावकः सर्वमेध्यत्वं' होगा, जैसा कि स्मृति में पठित हुआ है।

११. आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम्।
वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं सत्त्वं बृहद्बन्धुरमीशसृष्टम्॥४१॥
अक्षं दश प्राणमधर्मधर्मौ चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम्।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम्॥४२॥

यह ज्ञातव्य है कि ४२ वें श्लोक का उत्तरार्ध मुण्डक० २।२।४ पर आधृत है।

द्वितीय परिच्छेद

ब्राह्मणवचनों की व्याख्या

गद्यमय ब्राह्मणवचनों की व्याख्या पुराणों में अल्प है। विधिनिषेध-प्रधान ब्राह्मणों में मतों का ही प्राधान्य है और पुराणों में 'इति श्रुतिः' आदि कहकर इन मतों का ही बहुधा उल्लेख किया गया है। (द्र० चतुर्थ अध्याय, पञ्चम परिच्छेद)। ब्राह्मणवाक्यों को व्याख्येय मानकर उनकी शब्दार्थविशदीकरणात्मक व्याख्या करने की प्रवृत्ति पुराणों में क्वचित् ही मिलती है। ब्राह्मणोक्त मतों का उपन्यास करते समय कहीं कहीं मत का विशदीकरण भी किया गया है, जिसको कथञ्चित् व्याख्या के रूप में माना जा सकता है।

पहले ही यह ज्ञातव्य है कि पुराणों की यह व्याख्या प्रतिज्ञापूर्वक नहीं है,[1] अपितु शब्दार्थसन्दर्भ को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि यहाँ अमुक ब्राह्मण-वाक्य लक्षित हुआ है। यह लक्षित वाक्य एकाधिक ब्राह्मणग्रन्थों का भी हो सकता है, अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रदत्त आकरस्थलों का निर्देश उदाहरणार्थ ही समझना चाहिए।

पुराणोक्त ब्राह्मणवाक्य-व्याख्या के तीन प्रकार हो सकते हैं। यथा—

१. **ब्राह्मणवाक्य की सामान्यव्याख्या**—इस व्याख्या में ब्राह्मणग्रन्थ के शब्द यथासम्भव पुराण में व्यवहृत होते हैं (अमौलिक पदों में ही परिवर्तन दृष्ट होता है) तथा वैदिक भाव सर्वथा अक्षुण्ण रहता है।

२. **ब्राह्मणवाक्यों की विशिष्ट व्याख्याः**—इस व्याख्या में आंशिक परिवर्तन किया गया है (यद्यपि मूलभाव अपरिवर्तित रहता है) तथा कहीं कहीं विशिष्ट व्याख्यान भी मिलते हैं।

३. **साम्प्रदायिक दृष्टि के अनुसार व्याख्यान।**

प्रथम प्रकार की व्याख्या—ब्राह्मणोक्त वाक्यों के शब्दों का ही उल्लेख कर

---

१. ब्राह्मणग्रन्थनामपूर्वक व्याख्या क्वचित् ही मिलती है। भाग० ८।१९। ३८-४० में "बृह्‌वृचै र्गीतम्" कहकर ऐतरेय ब्राह्मण २।३।६ की संक्षिप्त व्याख्या की गई है; यह नामपूर्वक व्याख्या का एक उदाहरण है।

तथा अमौलिक शब्दों में ईषत् परिवर्तन कर (मूलभाव को अक्षुण्ण रखकर) जो व्याख्या की गई है, वह इस वर्ग में आती है। ब्राह्मणवाक्यानुरूप पुराण-वाक्य प्रायेण मिलते हैं[2] किन्तु उन्हें व्याख्या के रूप में मानना उचित नहीं है। पुराण-वाक्यों में जहाँ विशदीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, वे स्थल ही यहाँ उदाहार्य हैं। यथा :—

१. बृहदारण्यक० ४।४।२२ में कहा गया है—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"। अग्नि० ३७६।३६ में इसकी व्याख्या इस प्रकार है—"वेदानुवचनं यज्ञा ब्रह्मचर्यं तपो दमः। श्रद्धोपवासः सत्यत्वमात्मनो ज्ञानहेतवः"।[3] यहाँ 'विविदिषन्ति' पद को लक्ष्य कर 'ज्ञानहेतवः' पद दिया गया है। 'अनाशक' (अभोजन) के लिये 'श्रद्धोपवास' (=श्रद्धायुक्त उपवास) पद सार्थक ही है। मूल में 'दान' है, उसके लिये पुराण में उपयुक्त पद नहीं है, 'ब्रह्मचर्य और दम' ये दो पद व्याख्या के रूप में अधिक जोड़े गए हैं, जिनमें 'दान' का उचित अन्तर्भाव भी किया जा सकता है।

२. इसी स्थान पर बृहदा० २।४।५ में "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" वाक्य की व्याख्या मिलती है। अग्नि० ३७६।३७ में कहा गया है—"स त्वाश्रमैर्निदिध्यास्यः समस्तैरेवमेव तु। द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः"। यद्यपि पदक्रम में कुछ भेद है तथापि इस वाक्य में उपनिषद्वाक्य की व्याख्या है, यह निश्चित है।

३. छान्दोग्य० ५।१०।१-२ में जिस देवयानमार्ग का वर्णन है, उसकी व्याख्या अग्नि० ३७६।३८-४० में (और उसी प्रकार छान्दोग्य० ५।१०।३ में वर्णित पितृयान मार्ग की व्याख्या अग्नि० ३७६।४०-४३ में) मिलती है। पुराणोक्त क्रम श्रुतिवत् ही है। श्रुति के अमानवपुरुष के स्थान पर पुराण में 'मानसपुरुष' पठित हुआ

---

२. "प्राणा वै रुद्राः" (जै० उप० ब्रा० ४।२।६) और "ये रुद्रास्ते खलु प्राणा ये प्राणास्ते तदात्मकाः" (लिंग० ।२२।२४)—ईदृश स्थल भी एक प्रकार की व्याख्या ही हैं; इस परिच्छेद में ऐसे वाक्यों का अन्तर्भाव नहीं किया गया है। कहीं कहीं सिद्धान्त की व्याख्या भी मिलती है। छान्दोग्य० ६।४।१ में "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" कहा गया है; वायु० में इसकी व्याख्या है—"प्रकृतिं सत्यमित्याहु विकारोऽनृतमुच्यते" (१०२।१०७)।

३. अग्निपुराण के वर्णाश्रमधर्मगत एवं व्यवहारप्रकरणगत अनेक श्लोक याज्ञवक्यस्मृति में मिलते हैं (क्वचित् पाठान्तर भी दृष्ट होते हैं)।

है, जो चिन्तनीय है (अग्नि के वंगीय-संस्करण और जीवानन्द संस्करण में भी 'मानसपुरुष' पाठ ही है)।

४. शाङ्खायन आरण्यक ८।४ में कहा गया है—"एतमुहैव बृहद्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते एतम् अग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः"। पद्म० ६।२७२।११७-११८ में इसकी व्याख्या इस प्रकार है—"उक्थे महति मीमांस्ये यत् तद् ब्रह्म प्रकाशते। तथैव चाध्वरे चैतद् एतदेव महाव्रते॥"

५. छान्दोग्य० १।६।६ में कहा गा है—"य एष अन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेशः आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः"। पद्म० में इसकी व्याख्या यह है—"हिरण्मयाख्यः पुरुषः हिरण्यश्मश्रुकेशवान्। आप्रणखात् सर्वं हिरण्यं सविता च हिरण्यभाक्॥" (६।२७२।२०८-२०९)।

६. कहीं कहीं प्रथम प्रकार की व्याख्या में कुछ विशिष्टता भी मिल जाती है। विष्णु० २।१२।३३ में शिशुमार के विषय में कहा गया है—"पुच्छेऽग्निश्च महेन्द्रश्च कश्यपोऽथ ततो ध्रुवः। तारका शिशुमारस्य नास्तमेति चतुष्टयम्"। तै० आरण्यक २।१९ में इस श्लोक का मूल है—"अग्निः पुच्छस्य प्रथमं काण्डं तत इन्द्रः प्रजापतिः अभयं चतुर्थम्"। यह वाक्य शिशुमारविषयक है, यह सायणभाष्य से भी स्पष्ट हो जाता है। ध्यान देना चाहिए कि मूल श्रुतिवाक्य में 'कश्यप' पद नहीं है 'प्रजापति' पद है, पर पुराण में 'कश्यप' पद इसलिये व्यवहृत हुआ है कि कश्यप प्रजापति-विशेष है तथा इस वाक्य से पहले ही (आरण्यक में) "तेजसा कश्यपस्य" वाक्य प्रयुक्त हुआ है। मूल श्रुति में 'अभय' पद है, जिसका अर्थ है 'भयरहित परब्रह्म'। पुराण में उसके लिये 'ध्रुव' पद व्यवहृत हुआ है, जो समीचीन ही है।

द्वितीय प्रकार की व्याख्या—आंशिक परिवर्तन-परिवर्धन-आदिपूर्वक व्याख्या के लिये निम्नोक्त उदाहरण द्रष्टव्य हैं। इस प्रकार में उपबृंहितव्याख्यास्थल भी उदाहृत होंगे।

१. बृहदारण्यक० ५।८ में 'वाग्रूप धेनु' का वर्णन है (वाचं धेनुमुपासीत ....मनो वत्सः)। मार्क० २९।६-११ में इसकी विशद व्याख्या है। यहाँ देवों द्वारा उपभुक्त स्तनों के विवरण में श्रुत्युक्त मत से पुराण की व्याख्या कुछ भिन्न है; मुनि का उल्लेख उपनिषद् में नहीं है परन्तु पुराण में है।[४]

---

४. यह स्थल धर्मारण्य० ६।५-१० में भी व्याख्यात है। दोनों पुराणों के श्लोक प्रायेण समान हैं। एक महत्त्वपूर्ण पाठान्तर इस प्रसंग में आलोच्य है। मार्क० २९।८ में जहाँ "साक्षया नापचीयते" पाठ है, वहाँ धर्मारण्य० ६।७ में "पद-

२. मुण्डक० १।१।४-५ में परा-अपरा-रूप द्विविध विद्या और उसके लक्षण कहे गए हैं। ब्रह्म० २३३।६१-६३ में 'आथर्वणी श्रुति' कहकर (मुण्डक उपनिषद् अथर्ववेदीय है ; ब्रह्मा देवानामित्याद्याथर्वणोपनिषत्—शंकरभाष्यारम्भ ; नारायण विरचित मुण्डकोपनिषद्-दीपिका में भी इसको आथर्वण माना गया है, द्र०-मंगलाचरण श्लोक) इसकी व्याख्या की गई है, जहाँ "परया त्वक्षरप्राप्तिर्ऋग्वेदादिमयाऽपरां" यह विवरण-वाक्य है। यह संक्षिप्त व्याख्या है, क्योंकि मुण्डक श्रुति में चारों वेदों के साथ षट् अंगों के नाम भी कण्ठतः कहे गए हैं, जबकि पुराण में केवल 'ऋग्वेदादि' शब्द है।

मुण्डक० के वाक्य की व्याख्या अग्नि० ११५-१८ में भी है। यहाँ वेद और वेदांग की गणना के बाद मीमांसा, धर्मशास्त्र, पुराण, न्याय, वैद्यक, गान्धर्व, धनुर्वेद और अर्थशास्त्र के नाम भी लिए गए हैं ; स्पष्टतः यह व्याख्या परिवर्धनात्मक है। इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि मुण्डक० के किसी किसी पाठ में मीमांसादि की भी गणना थी, जैसा कि इस उपनिषद् की दीपिका टीका में कहा गया है—"इतिहासादीनि पञ्च आचार्येर्न व्याख्यातानि तेन प्रक्षिप्तानीति गम्यते" (१।१।५)।

३. सन्ध्याकर्म के विवरण में मन्देह राक्षसों का उल्लेख तै० आ० २।२ में मिलता है। यहाँ कहा गया है कि सन्ध्याकाल में गायत्रीयुक्त जल से ये राक्षस शान्त होते हैं। इन राक्षसों के कर्मों का विस्तृत वर्णन वायु० ५०।१६३-१६५ में मिलता है, जहाँ तै० आरण्यकवाक्य की व्याख्या भी मिलती है। प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि ऐसे वर्णन लघुहारीत स्मृति (जीवानन्द संस्करण भाग १, पृ० १९३), बृहत् पराशर स्मृति (पृ० ६४) और बृद्धगौतम स्मृति (पृ० ५६०) में भी मिलते हैं।

४. भाग० ८।१९।३९-४० में "बह्वृचै र्गीतम्" कहकर सत्यानृतसम्बन्धी एक विशिष्ट सिद्धान्त का उल्लेख है। इस मत का मूल ऐतरेय आरण्यक २।३।६ में मिलता है ; यह आरण्यक ऋग्वेदीय है, अतएव "बह्वृचैर्गीतम्" कहना समीचीन ही है। आरण्यक का "ओमिति सत्यम् नेत्यनृतम्.... उद्वर्तते तस्मादनृतं न वदेत्" वाक्य यहाँ संक्षेपतः व्याख्यात है, अतः इसको द्वितीय प्रकार की व्याख्या में गिना जा सकता है। श्रुति की पूर्ण दृष्टि भागवत० में प्रतिबिम्बित नहीं हुई है, यह ज्ञातव्य है।

५. तै० उप० १।३ में "अथाधिविद्यम् आचार्यः पूर्वरूपम् ....." इत्यादि-

---

क्रमजटाघनैः" पठित हुआ है। शिव० ५।१०।४३-४५ में भी अंशतः यह व्याख्या मिलती है।

वाक्य है। भाग० ११।१०।१२ में इसकी व्याख्या मिलती है। उपनिषदुक्त पूर्व-रूप आदि शब्दों के विशिष्ट अर्थ (आद्य अरणि आदि) भागवत० में कहे गए हैं।

तृतीय प्रकार की व्याख्या—यह वह व्याख्या है जिसमें साम्प्रदायिक प्रवृत्ति का अनुप्रवेश (ईषत् या अधिक मात्रा में) हुआ है। पहले ही कहा गया है कि साम्प्रदायिक प्रवृत्ति के अनुसार जो व्याख्या की जाती है, उसमें स्वसम्प्रदायाधि-देव की प्रधानता रहती है, जैसा कि निम्नोक्त उदाहरणों से प्रमाणित होता है।

१. ब्राह्मणग्रन्थों में "त्र्य्येव विद्या तपति" वाक्य मिलता है (शतपथ० १०।५।२।२)। तै० आरण्यक १०।१३ से ज्ञात होता है कि यह वाक्य आदित्य-परक है। इस वाक्य की विष्णु-परक व्याख्या विष्णु० २।११।७-९ में मिलती है, जहाँ 'ऋग्यजुः साम' को विष्णु की शक्ति माना गया है। 'सूर्य ऋग्यजुः सामात्मक रूप से त्रयी-संज्ञक विश्व को तपाता है', यह व्याख्या ब्रह्म० ३२।१४-१६ में मिलती है, जो इस वाक्य की प्रकृत आधिदैविक व्याख्या है। मार्क० १०२। १५ में भी इस वाक्य की असाम्प्रदायिक व्याख्या मिलती है।

२. आदित्यस्थ पुरुष को लक्ष्यकर कहा गया है—"अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेशः आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः" (छान्दोग्य० १।६।६)। इस वाक्य की व्याख्या (कृष्णस्तुति के रूप में) पद्म० ६। २७२।२०८-२०९) में मिलती है।[5]

३. परा-अपरा-विद्या का उल्लेख मुण्डक० १।१।४-५ में है। अग्नि० १।१५-१७ में इस स्थल की विशद व्याख्या है, परन्तु यहाँ विद्या को 'विष्णु का रूप' कहा गया है (द्वे विद्ये भगवान् विष्णुः)।

४. पद्म० ६।२७२।११३ में श्रीकृष्णस्तुति में वेदपुरुष, महापुरुष, शरीरपुरुष और छन्दःपुरुष शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[6] यह श्लोक वस्तुतः शाङ्खायन आरण्यक ८।३ (चत्वारः पुरुषाः.....) पर आधृत है, परन्तु पुराण में शुद्ध वैष्णवसाम्प्र-दायिक दृष्टि से ही यह श्लोक प्रयुक्त हुआ है। इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि

---

५. व्याख्या की दृष्टि से यह प्रथम प्रकार की व्याख्या ही है जैसा कि पुराण-वचनों से ज्ञात होता है—

हिरण्मयाख्यः पुरुषो हिरण्यश्मश्रुकेशवान्।
आप्रणखात् सर्वं हिरण्यं सविता च हिरण्यभाक्॥

६. व्याख्यान दृष्टि में यह प्रथम प्रकार की व्याख्या है॥

त्वं वेदपुरुषो ब्रह्मन् महापुरुष एव च:
शरीरपुरुषस्त्वाद्यः शुद्धः पुरुष एव च॥

पुराण के पाठ में जहाँ "शुद्धः पुरुषः" है, वहाँ "छन्दः पुरुषः" पाठ होगा, पुराण-श्लोक का पाठान्तर भी इसका संकेत कर रहा है।[७]

---

७. अर्वाचीन आचार्यों की साम्प्रदायिक अन्धदृष्टिमय ब्राह्मणवाक्य-व्याख्यान का एक उदाहरण दिया जा रहा है। ललितासहस्रनामभाष्य में भास्कर ने बृहदारण्यक के "योऽन्यां देवतामुपास्ते....." वाक्य की व्याख्या में "योऽन्यां" पद को योनि शब्द का सप्तम्यन्त रूप मानकर व्याख्या की है (पृ० ९३-९४)। ब्राह्मणवाक्य की इतनी अज्ञतापूर्ण व्याख्या पुराणों में भी नहीं मिलती। काण्वशास्त्रीय बृहदारण्यक उपनिषद् सस्वर है, ऐसी स्थिति में भी इस प्रकार की अज्ञतापूर्ण व्याख्या की जा सकती है (अर्थात् 'यः अन्याम्' को 'योन्याम्' मानना) तो अन्य स्थलों में कितनी हास्यकर व्याख्याएँ की गई होंगी, यह सहजतः अनुमित हो सकता है।

तृतीय परिच्छेद

वैदिक शब्दों का अर्थ और निर्वचन

पुराणों में वैदिक शब्दार्थ और निर्वचन के विषय में ज्ञातव्य सामग्री मिलती है, यद्यपि पुराणगत यह विवरण बहुत ही अल्प है। मन्त्रब्राह्मण की व्याख्या के प्रसङ्ग में अनेक वैदिक शब्दों के अर्थ पुराणकारों ने दिए हैं, जिनको 'पुराणोक्त अर्थ' माना जा सकता है। इस प्रकार शब्दों के निर्वचन भी यत्र-तत्र मिलते हैं, जो ब्राह्मणादि के मतों के अनुरूप भी हैं। इस परिच्छेद में इस विषय पर सोदाहरण विवेचन किया जा रहा है। यह विवेचन सामान्य दृष्टि से ही किया जा रहा है, यह ज्ञातव्य है।

वैदिक शब्दार्थ के उदाहरण—पुराणों में कहीं कहीं वैदिक शब्दों के अर्थ कहे गए हैं, जिनकी वेदमूलकता के विषय में विचार करना आवश्यक है।

पुराणों में कुछ शब्दों की वैदिकता स्पष्टतः कही गई है, जैसी पद्म० ६।२४६।४, ब्र० वै० १।२२।५।५-६ में दिखाई पड़ती है। कहीं कहीं 'वेदोक्त' 'श्रुति' आदि शब्द भी व्यवहृत हुए हैं (लिङ्ग० १।९२।१४३, कुमारिका० ४५।२८)। जिन शब्दों की वैदिकता प्रसिद्ध है (यथा रुद्र, वैश्वानर[1] आदि) उनके पुराणदर्शित अर्थ भी यहाँ विचारित हुए हैं, चाहे उन स्थलों में वेद-सम्बन्धी कोई संकेत उपलब्ध हो या न हो। इस परिच्छेद में वेद का अभिप्राय संहिता और ब्राह्मणों से है; अर्वाचीन उपनिषदों से पुराणवचनों की तुलना करना अनावश्यक है, क्योंकि ये उपनिषद् साम्प्रदायिक दृष्टि से ही रचित हुए हैं और एक प्रकार से वे पुराण-जातीय ही हैं।

---

१. गीता १५।१४ में कहा गया है—"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्"।। इसका मूल शत० १४।८ १०।१ में है—"अयमग्निर्वैश्वानरः योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते"। गीता के शंकर आदि भाष्यकारों ने इस वचन का निर्देश गीताव्याख्या के प्रसंग में किया है।

समूल वैदिक शब्दार्थ—पुराणों में कुछ ऐसे श्रौत शब्दार्थों के उल्लेख मिलते हैं, जो वस्तुतः समूल हैं, यथा—

१. **अध्न्या**—'यह गोनाम है, ऐसा श्रुति में कहा गया है' ऐसा निर्देश पुराणों में मिलता है (कुमारिका० ४५।२८ आदि); शान्तिपर्व २६२।४७ में भी ऐसा उल्लेख विद्यमान है।

गो का यह नाम वेदसंमत है। माध्यन्दिन संहिता में गो का अध्न्या नाम कण्ठतः कहा गया है (८।४३)। निघण्टु में भी यह नाम है (२।११)। गो-अर्थ में इस पद के प्रयोग देवराजयज्वकृतव्याख्या में उदाहृत हुए हैं।

२. **ऋत-सत्य**—लिङ्ग० २।२२।८ में "ऋतमक्षरमुच्यते, सत्यमक्षरमित्युक्तम्", कहा गया है। इसका प्रत्यक्ष मूल ब्राह्मणों में मिलता है—"सत्यं वा ऋतम्" (शतपथ० ७।३।१।२३), "ऋतमिति सत्यमित्येतत्" (शतपथ० ६।७।३।११)। 'ऋत' को जब ब्रह्म कहा जाता है (शतपथ० ४।१।४।१०) तब 'ऋत' और 'अक्षर' पर्यायवाची ही सिद्ध होते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में "सत्यं वा ऋतम्" भी कहा गया है (शतपथ० ७।३।१।२३, तै० ब्रा० ३।८।३।४)। जब अक्षर ऋत है, तब सत्य भी ऋत है, अतः यह ब्राह्मणवचन पुराणमत का मूल सिद्ध होता है।

३. **मरीचि**—वेद में मरीचि तेजोविशेष का वाचक है, और इस शब्द से ही ऋषिनाम-भूत मरीचि शब्द बनता है, यह ब्र० वै० १।२२।६ में कहा गया है।

वैदिक ग्रन्थों में मरीचि को तेजोविशेष के रूप में बहुधा कहा गया है। मरीचि एक प्रकार का मरुत् है, यह 'मरीचि मरुतामस्मि" इस गीतावचन (१०।२१) से ज्ञात होता है। इस मरुत् को लक्ष्य कर "मरुतो रश्मयः" (ताण्ड्य० १४।१२।९) वाक्य ब्राह्मणों में कहा गया है। तै० ब्रा० १।१।३।१२ का "मरुतोऽद्भिरग्निमतमयन्" वाक्य भी मरुत् के साथ अग्नि का (सुतरां मरीचि का भी) निकटतम सम्बन्ध ज्ञापित करता है। विद्युत् और मरुत् का सम्बन्ध ऋग्वेद० १।२३।१२ से ज्ञात होता है। ऋग्वेद० ५।५७।४ में 'मरुतः' का विशेषण 'वातत्विषः' दिया गया है, यह भी पूर्वोक्त मत का ज्ञापक है।

४. **वृत्र**—वृत्र के विषय में भाग० ६।७।१८ में कहा गया है—"स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः"। यह पापवाची 'वृत्र' शब्द ब्राह्मणों में प्राप्त होता है—"पाप्मा वै वृत्रः" (शतपथ० ११।१।५।७, १३।४।१।१३)। भागवतकार का उक्त 'प्रोक्त' शब्द एतादृश ब्राह्मणवचन को लक्ष्य करता है, यह निःसन्देह है।

५. **रुद्र**—पुराणों में कहीं कहीं रुद्र का अर्थ 'प्राण' कहा गया है—"ये रुद्रास्ते खलु प्राणाः" (लिङ्ग० १।२२।२४)। यह अर्थ स्पष्टतः ब्राह्मणों में कहा

गया है—"प्राणा वै रुद्राः (जै० उप० ब्रा० ४।२।६)। लिङ्ग० के इसी स्थल में (१।२२।२३-२४) एकादश रुद्रों की सत्ता कही गई है। ये प्राण (रुद्रपदवाच्य) एकादश हैं, यह भी शत० ११।६।३।७ में कहा गया है।

६. **ऋतु**—ऋतु का प्रयोग 'पितर' और 'देव' के अर्थ में होता है, ऐसी वैदिकी श्रुति है—यह पुराणों में कहा गया है (ब्रह्माण्ड० १।१३।४।)। यह शब्दार्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है, जैसा कि यथास्थान दिखाया गया है।

निर्मूल शब्दार्थ—पुराणों में कुछ ऐसे भी शब्दार्थ निर्दिष्ट हुए हैं, जिनका मूल संहिता-ब्राह्मणों में नहीं मिलता। प्रतीत होता है कि ऐसे निर्देश अर्वाचीन काल में साम्प्रदायिक मत की सिद्धि के लिये कल्पित किए गए हैं। अर्वाचीन उपनिषदों में भी एतादृश निर्देश मिलते हैं, जिनका वेदवत् प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। निम्नोक्त उदाहरणों से यह बात प्रमाणित होगी—

वेद में 'कर्दम' शब्द छायावाची है, और कर्दम नाम 'कर्दमाज् जातः' इस अर्थ के कारण दिया गया है, यह ब्र० वै० १।२२।५-६ में कहा गया है। पर वैदिक ग्रन्थों में कर्दम-नाम-सम्बन्धी ऐसा कोई विवरण नहीं मिलता। इसी प्रकार पुलह शब्द के विषय में ब्र० वै० १।२२।१४ में कहा गया है कि वेद में तपोवाची 'पुल' शब्द है और 'ह' का अर्थ 'स्फुट' है, इस प्रकार पुल+ह=पुलह शब्द निष्पन्न होता है। प्रचलित वैदिक ग्रन्थों में ऐसा कहीं भी नहीं कहा गया है। पुलस्ति या पुलस्तिन् शब्द तै० सं० ४।५।९।१ माध्यन्दिन संहिता १६।४३ और काठक-संहिता १७।१५ में है, पर तपोवाची 'पुल' शब्द की सत्ता कहीं भी नहीं कही गई। 'ह' का पूर्वप्रदर्शित अर्थ भी निरुक्तादि वैदिकग्रन्थों में नहीं मिलता।

लिङ्ग० १।९२।१४३ में अविमुक्त शब्द की व्याख्या में पापवाचक अवि शब्द को वैदिक कहा गया है और 'अवि से मुक्त' इस अर्थ में अविमुक्त पद की सिद्धि दर्शाई गई है। ब्राह्मणों में अविमुक्त शब्द है (शतपथ० ३।४।१।४), पर काशीवाचक-रूप में नहीं। अवि शब्द भी बहुधा ब्राह्मणग्रन्थों में प्रयुक्त हुआ है [द्र० वैदिक पदानुक्रमकोश (ब्राह्मणभाग) में अवि शब्द], पर इन ग्रन्थों में अवि का पाप रूप अर्थ संगत नहीं होता।[२]

वैदिक 'रुद्र' शब्द के निर्वचन में वायवीय संहिता (शिवपुराणान्तर्गत) का एक वचन ललितासहस्रनामभाष्य (पृ० ८०) में उद्धृत है, जहाँ 'रु' का अर्थ दुःख

---

२. शिव० १।१६।२९-३० में 'पूजा' शब्द का वेदसंमत अर्थ दिखाकर कहा गया है—"पूजाशब्दार्थ एवं हि विश्रुतो लोकवेदयोः"। किसी भी वैदिक ग्रन्थ में यह विचार नहीं मिलता।

या दुःखहेतु माना गया है (रुर्दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति)। वैदिक ग्रन्थों में 'रु' शब्द का यह अर्थ अप्राप्य है।

साम्प्रदायिक दृष्टि के अनुसार भी शब्दार्थनिर्देश उपलब्ध होता है। ब्रह्म० २३३।३९-४० में जो कहा गया है कि 'परमात्मा का विष्णु नाम वेदवेदान्तोक्त है'— यह दृष्टि वैष्णवदर्शन के अनुसार है। उसी प्रकार पद्म० ६।७९।७४ में कहा गया है कि योगेश्वर विष्णु सर्ववेद में गीत होते हैं। विष्णु० का यह योगेश्वररूप वैष्णवदर्शनानुसार है, क्योंकि प्राचीनतम वैदिक ग्रन्थों में विष्णु का यह रूप प्रत्यक्षतः नहीं कहा गया है।

वेदगत शब्दों के पौराणिक पर्याय—इस अध्याय के प्रथम और द्वितीय परिच्छेद में पौराणिक वेदव्याख्यानों के अनेक उदाहरण दिए गए हैं। उन परिच्छेदों में व्याख्या के प्रकार और दृष्टिकोण पर ही विचार किया गया है। उन व्याख्यास्थलों में अनेक वैदिक शब्दों के पर्यायशब्द (पुराणव्यवहृत) भी मिलते हैं, जिन की सूची यहाँ दी जा रही है। यहाँ प्रमुख शब्दों का ही सङ्कलन किया गया है।

इस सूची को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कहीं-कहीं पुराणों में अस्पष्टार्थक शब्दों के स्थान पर स्पष्टार्थक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उसी प्रकार कुछ स्थलों पर ऐसे पर्याय पद दिए गए हैं, जहाँ एकाधिक तात्पर्य की सम्भावना थी। स्वदृष्टिकोण के अनुसार भी कहीं कहीं लक्ष्य अर्थ भाषित हुआ है, यह अनस्वीकार्य है।

इस सूची में तिङन्त पद अविकृतरूप से उदाहृत हुए हैं तथा स्पष्टार्थ के लिये कहीं कहीं सविभक्तिक पद गृहीत हुए हैं। यथा—

वैदिक शब्द	**पौराणिक शब्द**
अग्नि	पावक, वह्नि
अजायत	अभ्यजायत
अतिरोहति	अत्यगात्
अत्ति	खादति
अनुसञ्ज्वरेत्	पुष्णाति
अन्तरिक्ष	गगन
अभय	ध्रुव
अस्तमये	अह्नःक्षये
आत्महन्	आत्मघात
आत्मा (शरो ह्यात्मा)	जीव
इन्द्र	महेन्द्र

वैदिक शब्द	**पौराणिक शब्द**
ईट्	आत्मा
ऋचः अक्षरे (ऋग्वेदगम्येऽक्षरे)	वेदगुह्यमक्षरम्
गायत्रिया	गायत्र्या
जहाति	त्यजति
दशाङ्गुल	वितस्ति
परावरे (तस्मिन्)	आत्मनीश्वरे
पुरुष	अमृत
पुरुष	पुरुषोत्तम
प्रजापति	प्रजाध्यक्ष
प्रणव	प्राण (भ्रष्ट पाठ भी हो सकता है)
बह्वी	बहुधा
ब्रह्म	परम
मुक्षीय	रक्षस्व
मृतात्	मृत्युमार्गात्
यथापूर्वं	पूर्ववत्
रक्षांसि	दैत्याः
वर्णप्रसाद	वर्णप्रभा
विश्वाय दृशे	भुवनालोकि
वृषभ	वृषरूप
वेध्य	लक्ष्य
शरीर	देह
शीर्ष	शीर्ष्ण
सयुजा	सदृशौ
सालावृक	वृक
सूर्य	तपन
सृजमाना	जनित्री
स्वरसौष्ठव	स्वरसौम्यता
स्वः	स्वर्लोक

पुराणोक्त निर्वचन[३]—पुराणों में शब्दनिर्वचन की प्रवृत्ति उपलब्ध होती

---

३. **निर्वचन का स्वरूप क्या है, निर्वचन के याथार्थ्य का आधार क्या है**

है। न केवल लौकिक शब्द अपितु वैदिक शब्दों के निर्वचन भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। पुराणोक्त निर्वचनों के साथ वैदिक ग्रन्थोक्त निर्वचनों की संक्षिप्त तुलना यहाँ की जा रही है।

निर्वचन के विषय में यह ज्ञातव्य है कि कुछ स्थलों पर पुराणकारों ने कण्ठतः निर्वचन की वैदिकता का उल्लेख किया है (वामन० ६०।७६)। कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ "इति प्राहुः" "इति स्मृतम्" इत्यादि वाक्यों का प्रयोग कर निर्वचन के मूल की ओर इंगित किया गया है। कुछ ऐसे भी स्थल हैं, जहाँ इस प्रकार का कोई भी संकेत उपलब्ध नहीं होता। चूँकि उन शब्दों के निर्वचन (बहुलया उसी अर्थ में) वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं, इसलिये उन निर्वचनों की तुलना वैदिक निर्वचनों के साथ की गई है।

पुराणोक्त निर्वचनों का स्वरूप--निर्वचन-प्रदर्शन के लिये पुराणों में 'निर्वचन्ति' प्रयोग कदाचित् ही मिलता है (काशी० ३०।१०३)। निर्वचन किस पद्धति के अनुसार करना चाहिए, इस विषय में पुराणों में कोई विशिष्ट सामग्री नहीं मिलती। वायु० ५९।१३४ में "तथा निर्वचनं ब्रूयाद् वाक्यार्थस्यावधारणम्" कहा गया है, जो ब्राह्मणग्रन्थीय निर्वचन को लक्ष्य कर ही भाषित हुआ है (क्योंकि पुराण के इस सन्दर्भ में ब्राह्मण का विवरण है)। यह दृष्टि निरुक्त शास्त्र द्वारा अनुमोदित है।[४] पुराणों में निर्वचनस्थलों में 'निरुच्यते' पद भी प्रयुक्त हुआ है (मत्स्य० १४५।२७)। उसी प्रकार 'नामनिर्वृत्ति' पद भी क्वचित् व्यवहृत हुआ है (मत्स्य० १४५।८३)। वायु० ६९।२३४ में उक्त 'निर्वचनक्रम' पद भी इस प्रसंग में विचार्य है।

पुराणोक्त निर्वचन के प्रसङ्ग में अनेक विशिष्ट प्रकृतियों के नाम भी मिलते हैं। वायु० ६५।११५ में उक्त 'कश्यप' पद के निर्वचन में मद्यवाची कश्य शब्द का निर्देश इसका एक उदाहरण है। यह शब्द ब्राह्मणों में अप्रसिद्ध है।[५] उसी प्रकार अनेक प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध धातुओं का ज्ञान भी निर्वचनों के अध्ययन से हो जाता

आदि विषयों की आलोचना करना यहाँ अप्रासंगिक है। जिस अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग होता है, वह अर्थ इस शब्द से कैसे निकलता है, यह दिखाना निर्वचन का उद्देश्य है--निरुक्त ग्रन्थ से ऐसा ज्ञात होता है।

४. तुल० अर्थनित्यः परीक्षेत (निरुक्त २।१ ख०)।

५. कश्यप शब्द का निर्वचन तै० आ० १।८।८ में है--"कश्यपः पश्यको भवति, यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्।" प्रकृतस्थल में पुराण और ब्राह्मण में उक्त निर्वचन परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं।

है। उदाहरणार्थ केवल वायु० के निम्नोक्त स्थलों को देखना चाहिए—५९।३३, ५९।१०१, १००।१८२-१८३, ६९।२३३-२३४ (यहाँ श्लोकसंख्या २४४ मुद्रित हुई है), ६४।१२-१७। इसके अतिरिक्त भुवनकोशप्रकरण में पठित वर्ष, रवि आदि शब्दों तथा सृष्टिप्रकरण में पठित असुर-देवादि शब्द के निर्वचन द्रष्टव्य हैं।

पुराणों की तरह महाभारत में भी यत्र-तत्र निर्वचन मिलते हैं। उद्योगपर्व का ७० वाँ अध्याय इस विषय का एक प्रसिद्ध उदाहरण है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पुराणों के साथ महाभारत तथा उपपुराणों के वाक्य भी उदाहृत होंगे। उपपुराणों में भी शब्दनिर्वचन मिलते हैं। देवीपुराण का ३७ तम अध्याय (देवीनाम-निर्वचनाध्याय) इसका एक उदाहरण है।

इन पुराणोक्त निर्वचनों का अनुस्मरण पूर्वाचार्यों के ग्रंथों में बहुधा मिलता है। शंकराचार्यकृत विष्णुसहस्रनामभाष्य में (यह भाष्य आद्यशंकराचार्यकृत है, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता), भास्कररायकृत ललितासहस्रनामभाष्य में, नीलकण्ठकृत शिवसहस्रनामभाष्य में तथा मध्वादिकृत विभिन्न टीकाओं में बहुशः पौराणिक निर्वचन मिलते हैं। निरुक्तशास्त्र की दृष्टि से इन निर्वचनों की प्रामाणिककता पर विचार करना इस प्रकरण का उद्देश्य नहीं है, अतः इस पर अधिक विचार न कर निबन्धगत दृष्टिकोण से कुछ उदाहरण मात्र संकलित किए जा रहे हैं।

समूलनिर्वचन—ब्राह्मण और निरुक्तशास्त्र में यादृश निर्वचन दिखाया गया है, तादृश निर्वचन पुराणों में बहुत्र मिलते हैं। यद्यपि ऐसे निर्वचनों में पुराणों की दृष्टि सर्वथा वेदवत् ही नहीं होती, तथापि निर्वचन का प्रकार वैदिकग्रन्थोक्त प्रकार का सदृश होता है, यह तथ्य निम्नोक्त उदाहरणों से प्रमाणित होगा—

असुर—वायु० ९।५ में (प्राणवाची) 'असु से जात' इस अर्थ में असुर शब्द का निर्वचन दिखाया गया है। यह निर्वचन तै० ब्रा० २।३।८।२ में मिलता है—"तेन असुना असुरानसृजत्, तदसुराणामसुरत्वम्।" निरुक्त ३।८ ख० में भी इस मत का अनुस्मरण है।

रुद्र—रुद् धातु से रुद्र का निर्वचन पुराणों में बहुधा मिलता है। भाग० ३।१२।८ का "यदरोदीः. . . . . अतः रुद्र इति" वाक्य इसका उदाहरण है। यहाँ "त्वम् अरोदीः" रूप कर्तृवाच्य में 'रुद्र' का निर्वचन दिखाया गया है।

यह मत शत० ६।१।३।१० में मिलता है—"यदरोदीत् तस्माद्रुद्रः"

पुत्र—वामन० ६०।७६ में "पुंनाम्नः नरकात् त्राति पुत्रः"—यह निर्वचन मिलता है। यह मत लिङ्ग० १।५।३१ में भी है। गोपथ० १।१।२ में "पुंनाम नरकमनेकशततारं तस्मात् त्राति" कहा गया है। इस पुराण में इस निर्वचन के

विषय में 'वैदिकी श्रुतिः' पद भी प्रयुक्त हुआ है—यह ज्ञातव्य है। 'पुत्'- यह नरक की आख्या है, यह मत बौधायनगृह्यपरिभाषा में भी मिलता है (१।२।५)।

ब्रह्म—विष्णु० ३।३।२१ में 'बृहत्वाद् बृंहणत्वाच् च' कह कर इसका निर्वचन किया गया है। श्रीधर ने यहाँ एक श्रुतिवचन उद्धृत किया है—"यस्मादुच्चार्यमाण एव बृहति बृंहति"।[६] यहाँ पुराण का विविध निर्वचन श्रुत्युक्त विविध निर्वचन के अनुसार ही है।

विष्णु—विष्णु० ३।१।४६ में "विशेर्धातोः प्रवेशनात्" कहकर इसका निर्वचन दिखाया गया है। कौषीतकि ब्रा० ८।२ में इस निर्वचन का आभास मिलता है।

पुरुष—इस शब्द के कई निर्वचन मिलते हैं और इसका "पुरं शेते" रूप निर्वचन सर्वत्र प्रसिद्ध है (शान्ति० २१०।३७)।

शत० १४।५।५।१८ का "पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः" वचन इस निर्वचन का मूल है, यह स्पष्ट है। "पुरि शेते"-यह आनुपूर्वी भी शत० १३।६।२।१ में मिल जाती है।

आंशिकसाम्यमूलक निर्वचन—पुराणों में कुछ इस प्रकार के निर्वचन भी हैं, जिनका वेदगत निर्वचन के साथ आंशिक साम्य है। आंशिक कहने का तात्पर्य यह है कि वाच्यार्थ आदि में कुछ भेद हैं। प्रसङ्गतः यह भी ज्ञातव्य है कि प्रचलित वैदिक ग्रन्थों के आधार पर ही ऐसा कहा जा रहा है। यह पूर्ण सम्भव है कि किसी अज्ञात वैदिक ग्रन्थ में पुराणवत् निर्वचन ही विद्यमान हो।

१. **यजुः**—यजुः का निर्वचन इस प्रकार कहा गया है—"यजनात् स यजुर्वेदः" (ब्रह्माण्ड० १।३४।२२)। कहीं कहीं 'याजनाद्' पाठ भी मिलता है। (द्र० यजुर्वेद परिच्छेद)।

शतपथ० में "यजुरित्येष हीदं सर्वं युनक्ति" (१०।५।२।१०) कहा गया है। यहाँ धातु की समानता है, पर अर्थदृष्टि में वैलक्षण्य है।

२. **गायत्री**—देवीपुराण ३७।५४ में "गायनात् गमनाद् वापि गायत्री" कहा गया है (यह ललितासहस्रनामभाष्य, पृष्ठ १०९ में उद्धृत है)। गायनसम्बन्धी निर्वचन का मूल तो ब्राह्मणों में मिल जाता है (शत० ६।१।१।१५, दैवत० ३।२), पर गमनघटित निर्वचन नहीं मिलता। निरुक्त ७।१२ ख० में 'त्रिगमना वा

---

६. अथर्वशिरः उपनिषद् में कहा गया है—"यस्माद् परमपरं परायणं च बृहद् बृहत्या बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म" (ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् पृ० १४५)। श्रीधरस्वामिधृतवाक्य से इस वाक्य की तुलना करनी चाहिए।

विपरीता' कहकर गमनघटित निर्वचन दिखाया गया है। सम्भवतः इस त्रिगमन को लक्ष्य कर ही 'गमन' शब्द का प्रयोग पुराणों में किया गया हो।

३. **रुद्र**—भाग० ३।१२।८ के सन्दर्भ में 'जो रोदन करता है, वह 'रुद्र' है, यह निर्वचन प्राप्त होता है। जै० उप० ब्रा० ४।२।६ में 'प्राणा वै रुद्राः प्राणा हीदं सर्वं रोदयन्ति' कहा गया है। यहाँ 'जो रोदन कराते हैं, वे रुद्र हैं, यह अर्थ निर्गलित होता है। शत० ११।६।३।७ में भी "तद् यद् रोदयन्ति तस्मात् रुद्राः" कहा गया है।

४. **शरीर**—पुराण में "श्रयन्ति यस्मात् तन्मात्राः" कह कर इसका निर्वचन दिखाया गया है (मत्स्य० ३।२२)। शत० ६।१।१।४ में भी यह मत है, पर वहाँ तन्मात्रा का निर्देश नहीं है। यहाँ "अथ यत् सर्वमस्मिन् प्रश्रयन्ति" कहा गया है। पुराणोक्त निर्वचन में वैदिकदृष्टि (प्राणघटित) की अपेक्षा सांख्यीय दार्शनिक दृष्टि ही प्रबल है।[७]

५. **असुर**—'असु-जात' इस अर्थ में इस शब्द का निर्वचन पहले दिखाया गया है। जै० उप० ब्रा० ३।५५।३ में "असुषु रमते"-यह निर्वचन दिया गया है, जो पुराणों में शब्दतः नहीं मिलता।

पुराणोक्त निर्वचन की विशदता—यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्तादि की तुलना में पुराणों के वैदिक-शब्दनिर्वचन अल्प प्रामाणिक हैं, तथापि कहीं कहीं पुराणोक्त निर्वचन अर्थदृष्ट्या संगत ही होते हैं। 'आचार्य' शब्द का निर्वचन इसका प्रमुख उदाहरण है। निरुक्त १।४ ख० में इसके तीन निर्वचन "आचारं ग्राहयति आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिम्" दिएगए हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।१।१।१४ में भी "यस्माद् धर्मानाचिनोति" कहकर निरुक्त का अनुगमन किया गया है। वायु० ५९।३० में इस शब्द के तीन निर्वचन कहे गए हैं। इनमें एक है—"स्वयमाचरते यस्मात्"। यह निर्वचन निरुक्तादि में नहीं मिलता, पर अर्थ की दृष्टि से इसकी संगति अनपलाप्य है।

वेदानुक्त निर्वचन—कुछ इस प्रकार के निर्वचन मिलते हैं, जो वैदिकदृष्टि के अविरुद्ध हैं, यद्यपि वेद में उन निर्वचनों का अनुकूल वचन नहीं मिलता। यथा—

१. 'ओम्' के निर्वचन में "अवनादोम्" कहा गया है (कूर्म० १।४।६३)। गोपथ० १।१।२६ में 'एकीयमत' के रूप में 'अव' धातु को स्वीकार किया गया है,

---

७. गर्भोपनिषद् ५ में "शरीरमिति कस्माद् अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते" कह कर ज्ञान-दर्शन-कोष्ठ-रूप त्रिविध अग्नि का उल्लेख किया गया है। शब्दशास्त्रीय धातु-प्रत्यय में समता होने पर भी दृष्टिकोण का पार्थक्य स्पष्टतः दृष्ट होता है।

पर 'आप' धातु से ओम् की व्युत्पत्ति को अधिक संगत कहा गया है। पुराणगत निर्वचन व्याकरणानुसारी है, जैसा कि उणादिसूत्र में कहा गया है—"अवतेष्टिलोपश्च" (श्वेतवनवासिवृत्ति १।२८)।

२. वृत्र के निर्वचन में भाग० ६।९।१८ में "येनावृता इमे लोकाः" कहा गया है। इस निर्वचन के मूलभूत श्रुतिवाक्य का उद्धरण श्रीधर ने दिया है। शत० १।१।३।४ में जो "स.....सर्वं वृत्त्वा शिश्ये" कहा गया है, वह भी इसका अनुकूल ही है। पर शत० १।६।३।९ का "स यद् वर्तमानः समभवत् तस्मात् वृत्रः" वाक्य पुराणानूकूल नहीं है, यद्यपि पुराण का निर्वचन वेदविरुद्ध नहीं है (केवल दृष्टि की भिन्नता है)।

३. पुराणों में आदित्य का निर्वचन मिलता है—"आदित्यश्चादिभूतत्वात्" (मत्स्य० २।३१)। यद्यपि यह निर्वचन असंगत और वेदविरुद्ध नहीं है, तथापि वैदिक ग्रन्थों में इसका अनुस्मरण नहीं है। तै० ब्रा० ३।९।२१।२ तथा शतपथ २।१।२।१८ में 'आदित्य' का निर्वचन है, जो 'आ+दद्' धातु घटित है।

निर्मूल निर्वचन—पुराणों में कुछ इस प्रकार के निर्वचन हैं, जिनका वैदिक मूल (अंशतः भी) उपलब्ध नहीं होता। इन निर्वचनों को देखने से ही ज्ञात होता है कि ये साम्प्रदायिक दृष्टि से कल्पित किए गए हैं। अर्वाचीन काल में काल्पनिक रीति से शब्दनिर्वचन की पद्धति चल पड़ी थी, जिसके अनुसार किसी न किसी सम्भव या असम्भव उपाय से अभिमत अर्थ की सिद्धि की जाती थी। 'पाषण्ड' शब्द की व्युत्पत्ति इस विषय का प्रसिद्ध उदाहरण है। ललितासहस्रनाम-भाष्य में उद्धृत एक नवीन वचन में इस शब्द की व्युत्पत्ति में कहा गया है कि 'पा' का अर्थ है वैदिक धर्म और 'पा' का खण्डनकारी पाखण्ड है'।[८] 'पाषण्ड' शब्द में खकार है या षकार, इसको जानने के लिये भी निर्वचनकार का आग्रह नहीं था। वैदिक धर्म का वाचक 'पा' शब्द किसी भी वैदिक ग्रन्थ या वेदाङ्ग में उक्त नहीं हुआ है।

१. राधा—ब्रह्मवैवर्त० ४।१३।१०२ में कहा गया है—"राधा शब्दस्य व्युत्पत्तिः सामवेदे निरूपिता" और इसके बाद "रेफ,-आ-ध-आ" इन चार वर्णों के अर्थों को दिखाकर 'राधा' का निर्वचन दिखाया गया है। सामवेद की किसी भी संहिता या ब्राह्मण में ईदृश निर्वचन नहीं मिलता।[९]

---

८. "पा शब्देन तु वेदार्थः खण्डाः स्युस्तस्य खण्डकाः इति तु निरुक्तिः" (पृ० ९७ में उद्धृत)। यह किसी पुराण या तत्सजातीय अन्य ग्रन्थ का वचन ज्ञात होता है।

९. यह सम्भव हो सकता है कि किसी अर्वाचीन उपनिषद् में (जिसकी साम-

२. **रुद्र**—शिव० ६।९।१४ में 'रुद्र' का निर्वचन "रु दुःखं तद् द्रावयति" कह कर दिखाया गया है। प्रचलित वैदिक ग्रन्थों में यह भाव नहीं मिलता। ऐसे निर्वचन वैदिकभाव को लक्ष्य न रख कर साम्प्रदायिक मनोभावों की सिद्धि के लिये ही कल्पित किए गए हैं।

वैदिक-शब्दबहुल पुराणवाक्य—वैदिक-शब्दबहुल पुराण-वाक्य कहीं कहीं मिलते हैं। पुराणों के ऐसे स्थलों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पुराणपद का प्रयोग वेदवाक्य को लक्ष्य कर ही किया गया है। यथा—भाग० ६।४। २६ में जो कहा गया है—"हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः", वह वेदोक्त "हंसः शुचिषत्" (ऋग्० ४।४०।५०) वाक्य पर आधृत है, यह स्पष्टतः प्रतीत होता है। यह बात पृथक् है कि पुराण का अभिप्राय वेदवत् न हो, जैसा कि प्रथम-द्वितीय परिच्छेदों में दिखाया गया है।

पुराणों में वैदिक-शब्द-बहुल स्तुतियाँ यत्र-तत्र मिलती हैं। वायु० २४।९०-१६५ में जो शिवस्तोत्र है, उसके विषय में "नामभिः छान्दसैश्चैव" कहा गया है। रुद्राध्याय आदि में शिव-रुद्र के जो विशेषण हैं, प्रायेण उनका प्रयोग इस स्तुति में किया गया है, यह स्पष्ट है। पुराणकार वैदिक रुद्र को ही 'शिव' समझते थे (स्वदृष्टि में), यह सुप्रमाणित है। यही कारण है कि शिवस्तुति में पुराणों में बहुधा 'त्रयीमय' आदि पद व्यवहृत हुए हैं। हरिवंश० (विष्णुपर्व ७२ अध्याय) में भी वैदिक-शब्द बहुल रुद्र-स्तुति है (द्र० नीलकण्ठी टीका)। छान्दस नामयुक्त शिवस्तुति लिङ्ग० १।२१ अध्याय में भी विद्यमान है।

नारदीय० (उत्तरार्ध (७३।२९-१४१) में एक वेदपादात्मक शिवस्तोत्र है। इस स्तोत्र के प्रत्येक पद्य के अन्तिम चरण में वैदिक मन्त्र का कोई न कोई पाद प्रयुक्त हुआ है। पुराणोद्धृत प्रत्येक वैदिक वाक्यांश शिवपरक ही है—ऐसा नहीं कहा जा सकता ; परन्तु लेखक ने ऐसा दिखाने की चेष्टा की है। इस स्तुति का पाठ कहीं कहीं भ्रष्ट हो गया है।

वेदीयता साम्प्रदायिक दृष्टि से मानी जाती हो) ऐसा कोई निर्वचन मिल जाए। सामरहस्योपनिषद्, राधोपनिषद् आदि उपनिषदों में ऐसी सामग्री है, यह किसी किसी विद्वान् का अभिप्राय है (सनातनधर्मालोक, षष्ठ भाग, पृ० ५२२-५२३ द्रष्टव्य है)।

चतुर्थ परिच्छेद

वेद का प्रतिपाद्य विषय और तात्पर्य

वेद का प्रतिपाद्य विषय तथा वेद का मुख्य तात्पर्य—ये दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय हैं। पुराणों में स्थान स्थान पर इन विषयों के कुछ संकेत मिलते हैं, जिन पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

प्रतिपाद्यविषयनिर्धारण की दुरूहता—प्रतिपाद्य विषय के निर्धारण से पहले यह ज्ञातव्य है कि वेद-पद का अभिधेय पुराणों में सर्वत्र समान नहीं है, अर्थात् कहीं वेद का अर्थ उपनिषद्वर्जित कर्मकाण्डात्मक वेदभाग है और कहीं ज्ञान-काण्डप्रतिपादक उपनिषद् भी वेद में अन्तर्भुक्त कर लिया जाता है। उपनिषद् को वस्तुतः वेदभागविशेष ही माना जाता है। यह परम्परागत दृष्टि है। वेदान्त-सूत्र १।१।४ की सभी व्याख्याओं में यह दृष्टि स्वीकृत हुई है। कभी कभी वेद का अर्थ 'वैदिक परम्परा' भी होता है, जैसा कि पहले दिखाया गया है।

इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि वेदप्रतिपाद्य विषय का निर्धारण कहीं कहीं साम्प्रदायिक दृष्टि के अनुसार भी किया गया है और कहीं कहीं असंकीर्ण वैदिक दृष्टि का भी दर्शन मिल जाता है; शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से भी वेद-तात्पर्य का निर्णय पुराणों में दृष्ट होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त विषय के निर्धा-रण में उस परिस्थिति का भी ध्यान रखना आवश्यक है, जिसके अनुसार कोई मत निर्धारित किया गया है।

वेदप्रतिपाद्य यज्ञ—इतिहासपुराणों में सर्वत्र यह मत मिलता है[1]। कई पुराणों में यह जो 'ऋचो यजूंषि सामानि निर्ममे यज्ञसिद्धये" (ब्रह्म० १।४९, ब्रह्माण्ड० १।५।८८, अग्नि० १७।१३) कहा गया है, वह इस मत का ही ज्ञापक है।

---

१. वेदैर्यज्ञाः समुत्पन्नाः (वन० १५०।२८); यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे (गीता ४।३२; ब्रह्म वेद); त्रय्या च विद्यया यजन्ते विततैर्यज्ञैः (भाग० १०। ४०।५); ऋग्यजुःसामनिष्पाद्यं यज्ञकर्म (विष्णु० २।१४।२१; त्रयी यथा यज्ञ-वितानमर्थम् (भाग० ३।१।३३); वेदाः प्रोक्ताः यज्ञार्थम् (प्रभासक्षेत्र० १६५। १०); वेदमयः पुरुषो यज्ञसंज्ञितः (मत्स्य० १६७।१२)।

पुराणों का यह मत वैदिक ग्रन्थ तथा सूत्रादि में भी मिलता है।[२] तथा स्मृति-दर्शनादि अन्यान्य वेदमूलक शास्त्रों में भी यह मत स्पष्टतः स्वीकृत हुआ है।[३]

यज्ञप्रतिपादक वेद—जब यह कहा जाता है कि यज्ञ ही वेद का प्रतिपाद्य है, तब वेद का अर्थ उपनिषद्भागवर्जित संहिता-ब्राह्मणांश ही होता है। वस्तुतः श्रौतयज्ञ में उपयुक्त ऋक्-यजुः-साम-रूप त्रिविध मन्त्र ही वेदपद का अर्थ है (मन्त्रों में ब्राह्मणों का गौणरूप से अन्तर्भाव यज्ञ-कार्यसिद्धि के लिये किया जाता है), ब्रह्म-प्रतिपादक उपनिषद्भाग यहाँ लक्षित नहीं है। आत्मज्ञानप्रतिपादक वेदवाक्य का विनियोग कर्म में नहीं हो सकता, यह ईशावास्योपनिषद् के भाष्य के आरम्भ में शङ्कराचार्य ने कहा है—"ईशावास्यादयो मन्त्राः कर्मसु अविनियुक्ताः, तेषामकर्मशेषस्य आत्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात्"। प्रत्यक्षतः देखा जाता है कि यज्ञ-कर्म प्रतिपादक संहिता-ब्राह्मणों में आत्मज्ञानपरक अंश क्वचित् ही है और इसी लिये यज्ञनिष्पत्ति को लक्ष्यकर वेद के लिये त्रयी शब्द का व्यवहार पुराणों में मिलता है। संहितात्मक वेद में विशद्ध आत्मज्ञानपरक अंश अत्यल्प है, यह यास्क के "अल्पश आध्यात्मिकाः (निरुक्त ७।१ख०) वचन से भी ज्ञात होता है।

संहिता-ब्राह्मण की कर्मकाण्डात्मकता पूर्वाचार्यों द्वारा अनुमोदित है। सायण ने कहा है कि वेद में दो काण्ड हैं, जो पृथक्रूप से यज्ञ और ब्रह्म के प्रतिपादक हैं (सामवेदभाष्यभूमिका, पृ० ६४)। काण्वसंहिताभाष्यभूमिका में उन्होंने उदाहरण देकर इस विषय को समझाया भी है (तस्मिंश्च वेदे.....प्रतिपाद्यते, पृ० १०९)।

यज्ञ का स्वरूप—उपर्युक्त यज्ञ सर्वथा द्रव्ययज्ञ है,[४] क्योंकि पुराणों में यज्ञ का

---

२. चत्वारो वै वेदास्तैर्यज्ञस्तायते (गोपथ० १।४।२४) ; यज्ञो वेदेषु प्रतिष्ठितः (गोपथ० १।१।३८) ; यज्ञं विमाय कवयो मनीषा ऋक्सामाभ्यां प्रवर्तयन्ति (ऋग्० १०।११४।६) ; वेद का 'यजुः' यह नाम भी इस सिद्धान्त का गमक है (द्र० विष्णु० ३।४।१ टीका) ; यज्ञं व्याख्यास्यामः स त्रिभिर्वेदैः विधीयते (सत्याषाढ श्रौतसूत्र १।१) ; मन्त्रब्राह्मणे यज्ञस्य प्रमाणम् (आपस्तम्ब-परिभाषा ३३)।

३. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः (याजुषज्योतिष ३) ; वेदास्तावद् यज्ञ-कर्मप्रवृत्ताः (सिद्धान्तशिरोमणि कालमानाध्याय ९ श्लोक) ; यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः (न्यायभाष्य ४।१।६१) ; दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् (मनु० १।२३)।

४. यह ज्ञातव्य है कि आध्यात्मिक यज्ञ का संकेत भी इतिहास-पुराणों में

जो लक्षण दिया गया है (वायु० ५९।४२, ब्रह्माण्ड० १।३२।४७) उसमें पशुद्रव्य-हविः-ऋत्विक्-दक्षिणाः का ही उल्लेख (त्रिविध मन्त्रों के साथ) किया गया है। वेद से उत्पन्न यज्ञ के दशविध रूप विष्णु० ३।४।१ में कहे गए हैं ; इस श्लोक से भी यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। पुराणों में स्थान स्थान पर 'यज्ञ में पशु-, ओषधि का नियोग' (वायु० ९।४५), 'पश्वौषधि से यज्ञक्रिया' (विष्णु० १।५।४९), 'यज्ञीय अग्नि का विस्तृत विवरण' (मत्स्य० ५१ अ०), 'ओषधि की यज्ञार्थसृष्टि (वराह० ८।३०) आदि आदि विषयों के जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे भी इस मत की पुष्टि होती है।

यज्ञ की वेदप्रतिपाद्यता के विषय में पुराणकार दृढ़निश्चयी थे और इसी-लिये पुराणों में "वेदे नाशमनुप्राप्ते यज्ञो नाशं गमिष्यति" (वायु० ६०।६)—इस प्रकार के वाक्य प्रयुक्त हुए हैं। पुराणों में यह भी स्पष्टतः कहा गया है कि वेद का चतुर्धा विभाग यज्ञक्रिया के अनुसार किया गया है, (भाग० १।४।१९, वायु० ६०।१७, कूर्म० १।५२।१६, विष्णु० ३।४।१-२) ; यह उल्लेख भी उपर्युक्त विषय में एक बलिष्ठ प्रमाण है।

'यज्ञ-वराह' का जो वर्णन पुराणों में मिलता है, वह भी सिद्ध करता है कि यज्ञ ही वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है तथा आदिकाल से ही श्रौतधर्म के रूप में यज्ञक्रिया प्रवर्तमान रही है। इस वराह को वेदोद्धारक भी माना गया है। इस वर्णन के कुछ स्थल यहाँ दिए जा रहे हैं।—ब्रह्म० २१३।३२-३९, वायु० ६।१६-२३, ब्रह्माण्ड० १।५।१६-२३, मत्स्य० २४८।६६-७४, भागवत० ३।१३।३५-३९, विष्णु० १।४।३२-३६, हरिवंश० १।४१।२९-३८, वेंकटाचल० ३६।४-८, प्रभासक्षेत्र० २७७। १-६, अवन्तीक्षेत्र० ५२।४२-४७ आदि। इस विवरण का मूल विष्णु-धर्मसूत्र के आरम्भ में है।

वेद और कर्ममार्ग—यह यज्ञक्रिया प्रवृत्तिमार्ग कहलाती है, जो ब्रह्म० २३३। ४१ के "ऋग्यजुः सामभिर्मार्गैः प्रवृत्तैरिज्यते ह्यसौ" वाक्य से ज्ञात होता है। वेद कर्ममार्ग-प्रवर्तक है, यह इस वाक्य का गूढ़ अर्थ है। यह दृष्टि पूर्वमीमांसा द्वारा

बहुत मिलता है, पर यह आध्यात्मिक यज्ञविवरण भी यह सिद्ध करता है कि बाह्य यज्ञ का स्वतः सिद्ध पृथक् अस्तित्व था, जिसकी उपमा प्राणादि के व्यापार के साथ देकर आध्यात्मिक यज्ञ का विवरण दिया गया है। गोपथ० २।५।४, तै० ब्रा० १।१।९।४ आदि में इस मत का बीज मिलता है। आधिदैविक क्रियाओं के साथ याज्ञिक क्रियाओं का रूपकात्मक विवरण भी वैदिक ग्रन्थों में मिलता है (मैत्रायणी संहिता, ४।१।१२ अनुवाक, शतपथ० ६।२।२।१७, काठक संहिता ९।११ अनुवाक)।

सर्वथा अनुमोदित है, क्योंकि इस शास्त्र के अनुसार आम्नाय क्रियार्थक है (पूर्वमीमांसा १।२।१)। इस दृष्टि के अनुसार मोक्षशास्त्र से वेद का पृथक् उल्लेख भी किया जाता है। शान्ति० ३२०।५ में जनक नृप के विषय में "वेदे मोक्षशास्त्रे च कृतश्रमः" कहा गया है। एक ही वाक्य में 'वेद' और 'मोक्षशास्त्र' का पृथक् उल्लेख निःसंशय रूप से वेद (त्रयी) की कर्मात्मकता को ही सिद्ध करता है।

कर्ममार्ग की प्रशस्तता भी पुराणों में स्वीकृत हुयी है। ब्रह्म० के "वेदे च निश्चितो मार्गः कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः" (८८।१०) वाक्य में यह मत स्पष्टतया प्रतिपादित हुआ है।

वेदप्रतिपाद्य द्विविधकर्म—वेद प्रवृत्तिमूलक-कर्मपरक है, यह पहले कहा जा चुका है। यह कर्म केवल प्रवृत्तिमूलक ही नहीं, बल्कि निवृत्तिमूलक भी है, यह मत पुराणों में प्रतिपादित हुआ है।[5]

यह निवृत्ति भी कर्मविशेष ही है, सर्वथा कर्मत्याग नहीं—यह तत्त्व वैदिक दृष्टि के अनुसार विशेषतः ज्ञातव्य है। वस्तुतः कर्मत्याग की भावना केवल उपनिषदों में अधिकारी विशेष को लक्ष्यकर दो तीन स्थानों पर ही मिलती है। इससे कुछ विद्वानों का यह अनुमान है कि यह संन्यास-भावना अवैदिक धारा से आकर बाद में वैदिकधारा में मिल गई है (भारतीय संस्कृति का इतिहास, वैदिकधारा, पृ० १५७)।

निवृत्त-कर्म भी कर्मविशेष ही है, इस विषय में ब्रह्म० २३२।४१ श्लोक (ताभ्यामुभाभ्यां पुरुषो यज्ञमूर्त्तिः स इज्यते, उभाभ्यां=प्रवृत्तनिवृत्तकर्मभ्याम्) साक्षात् प्रमाण है। मनु० १२।८८—९० में प्रवृत्त-निवृत्तकर्मों का लक्षण दिया गया है, जो पुराणोक्त मत का मूल प्रतीत होता है। यहाँ काम्य कर्म को प्रवृत्त और ज्ञानपूर्वक निष्काम कर्म को निवृत्त कहा गया है। इन द्विविध कर्मों के फल

---

५. प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्मवैदिकम् (ब्रह्म० २३२।४०); भाग० ७।१५।४२ और कूर्म० १।२।६३ में भी यह वचन है। भाग० ४।४।२० में 'कर्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं वेदे विविच्योभयलिङ्गमाश्रितम्" कहा गया है। इस दृष्टि के अनुसार वेदप्रोक्त धर्माचरण से कामप्राप्ति और मोक्षलाभ दोनों सिद्ध होते हैं, यह कहना होगा, जैसा कि निरुक्तटीकारम्भ में दुर्ग ने कहा है—"सर्वकाम-प्राप्त्यादिः मोक्षान्तः पुरुषार्थो वक्तव्य इति वेदः प्रवृत्तः।" इस प्रसंग में "याज्ञ-दैवते पुष्पफले देवताध्यात्म्ये वा" यह निरुक्तवचन (१।२० ख०) सभाष्य आलोच्य है।

यथाक्रम अभ्युदय और निःश्रेयस कहे गए हैं।[६] वस्तुतः दोनों ही कर्म हैं और मनु-स्मृति १२।८७ गत 'वैदिक कर्मयोग' पद का व्यवहार यह सूचित करता है कि वेद में कर्म ही प्रतिपादित हुआ है, हठपूर्वक कर्मत्याग नहीं; वस्तुतः ज्ञानपूर्वक निष्काम कर्म (निवृत्तकर्म) कर्म का ही प्रकार-विशेष है।

ब्रह्म० २३२।४१-४३ और भाग० ७।१५।४७-६७ में भी इन द्विविध कर्मों का विवरण है। भाग० ७।१५।४२ में यह कहा गया है कि निवृत्ति-मूलक कर्म से अमृतलाभ होता है।

इस निवृत्तिमूलक कर्म को कहीं कहीं कर्मत्याग के रूप में भी कहा गया है— "यदेव वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च" (ब्रह्म० २३६।१)। यह वचन शान्ति० २४१।१ में भी है। चूंकि निष्कामकर्म निवृत्तधर्म है (ब्रह्म० २३६।६), अतः कर्मत्याग के रूप में इसका विवरण दिया जा सकता है, पर यह जानना चाहिए कि यह निवृत्ति कर्माभाव रूप प्रचलित संन्यासमार्ग नहीं है।

उपर्युक्त विषय में किन्हीं विद्वानों का मत है कि वैदिक धर्म का प्राचीनतम स्वरूप कर्म-प्रधान ही है, अपनी उच्छृखल रुचि से शास्त्रविहित कर्मों को छोड़कर जो कृत्रिम वैराग्य की भावना की जाती है वह वैदिक नहीं है। गीतारहस्य में तिलक महोदय ने विशदरूप से इसका प्रतिपादन किया है (परिशिष्ट प्रकरण, भाग४)। इस ग्रन्थ के एकादश अध्याय में भी यह मत सिद्ध किया गया है। "एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्" (शतपथ० १२।४।१।१) "प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः" (तै० उप० (१।११।१), "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" (माध्यन्दिनी संहिता ४०।२), आदि वचन प्राचीन वैदिक दृष्टि के प्रतिपादक हैं। वैराग्य, भिक्षाचर्य आदि केवल उपनिषद् भाग में मिलते हैं (जिनको ब्राह्मणों से पृथक् कर ही गिना जाता है) और विद्वानों का अनुमान है कि इनमें वेदेतर धारा का संयोग हो चुका है।

त्यागमार्गप्रतिपादक वेद—वेद का चरम तात्पर्य सर्वत्याग है, यह दृष्टि भी पुराणों में मिलती है।[७] यह दृष्टि प्राचीनतम नहीं है। 'ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद ही

---

६. वैशेषिकसदृश वस्तुवादी दार्शनिक भी कहते हैं कि धर्म अभ्युदय-निःश्रेयस-कारक है और इस विषय में आम्नाय प्रमाण है (१।१।२-३)।

७. "त्यागेनैवामृतत्वं हि....कर्मणा प्रजया नास्ति" (लिङ्ग० १।८।२७)। कैवल्य उपनिषद् (१।३) में "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः" वाक्य है, यह मत तै० आ० १०।१० पर निश्चयेन आधृत है। ब्रह्म० २३६।१ का "यद्येवं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च" वाक्य भी त्यागवाद की वैकल्पिक सत्ता का

वेद का प्रतिपाद्य विषय है'—यह दृष्टि शङ्कर से प्राचीन भर्तृप्रपञ्च आदि की थी और बौद्धवाद से प्रभावित होकर शंकराचार्यने सबसे पहले त्यागवाद को वेद के चरम-प्रतिपाद्य विषय के रूप में प्रतिष्ठापित किया है (गीतारहस्य, पृ० ११)। प्रस्थानत्रयी के शंकरभाष्यों में पूर्वाचार्यस्वीकृत ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के खण्डन के लिये जितनी प्रबल चेष्टा की गई है, उससे यह सिद्ध होता है कि शङ्कर से पूर्वतन आचार्य परम्परा से प्रवृत्त-निवृत्त कर्म को वेदप्रतिपाद्य समझते थे।[८] शंकरादि संन्यासमार्गी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित त्यागवाद वस्तुतः प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में नहीं मिलता, क्योंकि ईशावास्य उपनिषद् में (१-२ मन्त्र) कर्मवाद ही प्रतिपादित हुआ है।

संन्यास वस्तुतः प्राचीनतम वैदिक मत नहीं है, इस विषय में ४।१।५९-६१ सूत्रीय न्यायभाष्य भी उदारणीय है। यहाँ त्यागवादप्रतिपादक कोई भी प्राचीन वैदिक वचन उद्धृत नहीं किया गया बल्कि मुख्यतः उपनिषद् और अर्वाचीन स्मृत्यादि के आधार पर ही 'त्यागवाद' को वैदिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

जो वादी यज्ञ को वेद का चरम तात्पर्य नहीं मानते, उनका तात्पर्य यह है कि वेद का चरम लक्ष्य निर्वाण या मोक्ष है। इस दृष्टि के मानने वाले उपनिषद् भाग को ही वेद का 'सार' मानते हैं। उपनिषद् में आत्मज्ञान और मोक्ष ही सर्वोच्च प्रमेय माना गया है, यह निश्चित है। इस मत को मानने वालों के मत पुराणों में यत्र तत्र मिलते हैं। यथा—विनाशी द्रव्य से साध्य होने के कारण यज्ञ विनाशी है (विष्णु० २।१४।२१-२४), यह यज्ञ परमार्थ नहीं हो सकता, यज्ञकारी मृत्यु के वश होता है (वायु० १४।४), यज्ञफलजन्य लोक क्षयिष्णु और सातिशय है (भाग० ७। ७।४०) आदि।

पुराणों में यज्ञ का काल त्रेतायुग माना गया है (वायु० ५७।८९, ब्रह्माण्ड० १।२१।६५-६६, विष्णु० १।५।४९, शान्तिपर्व २३८।१४, ३४०।८३-८४)।

प्रतिपादक है। त्यागमत ही निवृत्तिलक्षण धर्म है, यह ब्रह्म० २३६।६ से विज्ञात होता है।

८. वैदिक वाङ्मय का विभागपूर्वक निर्देश कर 'एक भाग कर्मकाण्ड का और अन्य भाग ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन करता है'—ऐसा वेदज्ञ पूर्वाचार्यों ने कहा है। काण्वसंहिताभाष्यभूमिका में सायण स्पष्टतः कहते हैं—तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च (पृ०१०९)। कर्मकाण्डप्रतिपादक और ज्ञानकाण्ड-प्रतिपादक ग्रन्थांश का विवरण भी सायण ने दिया है (अत्रैव)।

श्रीधरस्वामी ने स्पष्टतया कहा है–"कृतयुगे यज्ञानामप्रवृत्तेः" (विष्णु० १।५।४९ टीका)। इससे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि जब याज्ञिक क्रिया नहीं थी, तब मन्त्रों का यज्ञक्रियाविलक्षण कौन-सा अर्थ माना जाता था? वेद के सभी भाष्यादि मुख्यतः याज्ञिकक्रियानुसारी हैं। प्रचलित ब्राह्मणग्रन्थों से भी यज्ञविलक्षण मन्त्रार्थ पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता, यद्यपि भाष्यादि में तथा ब्राह्मणों में स्थान स्थान पर यज्ञविलक्षण अर्थ का संकेत मिलता है।[९]

साम्प्रदायिक दृष्टि में वेदप्रतिपाद्य विषय और वेदार्थ—वेदार्थ और वेद-तात्पर्य के विषय में साम्प्रदायिक दृष्टि पुराणों में सर्वत्र मिलती है। मुख्यतः साम्प्रदायिक दृष्टियाँ तीन प्रकार की हैं—वैष्णव, शैव और शाक्त। प्रत्येक दृष्टि के भी दो भेद हैं। प्रथम —साम्प्रदायिक दृष्टि का प्रारम्भिक रूप, जिसमें अन्ध-साम्प्रदायिक मनोभाव नहीं है, परन्तु स्वाभिमत देव का प्राधान्य ख्यापन करने की इच्छा मात्र है।[१०] द्वितीय—वह दृष्टि, जिसमें शास्त्र के विवक्षित तात्पर्य पर अणुमात्र ध्यान न रखकर किसी न किसी रूप से सर्वत्र स्वाभिमत पदार्थ का ही प्रति-पादन करना। नारायणशब्द की व्याख्या के प्रसंग में वेदान्तस्यमन्तककार बलदेव विद्याभूषण का मत इस विषय का एक प्रसिद्ध उदाहरण है। ब्राह्मणादि में वर्णित सर्वभूताधिष्ठाता नारायण को उन्होंने स्वाभिमत 'श्रीपति' के अर्थ में (वैष्णव सम्प्रदाय में जिनकी चतुर्भुजमूर्ति की पूजा की जाती है और जिनकी मूर्ति को उसी रूप में नित्य माना जाता है; वैष्णव दृष्टि में भगवान् का शरीर नित्य है, द्र० बलदेव गोस्वामिकृत तत्त्वसन्दर्भ टीका, पृ० ७३-७४) घटाया है और कहा है—"नारायणशब्दः खलु श्रीपतेरेव संज्ञा 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' इति तस्यैव णत्व-

---

९. वेदमन्त्रों का यज्ञपरक अर्थ अवरकोटि का है, इस विषय में यास्क का "याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्म्ये वा (निरुक्त १।२० ख०) वाक्य द्रष्टव्य है। ऐतरेयालोचन में सामश्रमी महोदय ने याज्ञिक-अर्थ-विलक्षण वेदार्थ के विषय में अत्यन्त विशद आलोचना की है ('कोऽस्य विषयः' प्रकरण में)। वेदमन्त्र-व्याख्या-परिच्छेद में मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

१०. 'तत्तत्सम्प्रदाय के पारिभाषिक शब्दों को वैदिक क्षेत्र में भी घटाना' एक न्यायदोष है। सांख्य के 'महत्' और 'अव्यक्त' इन दो शब्दों के विषय में शंकराचार्य ने यही दोष दिखाया है—सांख्य में इन दो शब्दों के जो अर्थ हैं, वे वेद में प्रयोज्य नहीं हो सकते (शारीरक भाष्य १।४।७)। वाचस्पति ठीक ही कहते हैं—सांख्य-प्रसिद्धेर्वैदिकप्रसिद्ध्या विरोधान्न सांख्यप्रसिद्धिर्वेद आदर्तव्येत्युक्तम्" (भामती)।

विधानात्"। पाणिनि के ८।४।३ सूत्र के बल पर भी वेदप्रसिद्ध नारायण शब्द वैष्णवसम्प्रदायाभिमत चतुर्भुज श्रीपति का वाचक नहीं हो सकता।

सभी वेद हरि या विष्णु का ही प्रतिपादन करते हैं,—यह (पुराणों में) वैष्णव-दृष्टि के अनुसार कहा गया है। वराह० ३९।१५ में वेद को ही "स्वयं नारायणो हरिः" कहा गया है। भाग० २।५।१५ में जो "नारायणपरा वेदाः" कहा गया है वह भी इसी दष्टि के अनुसार है। यज्ञकर्म द्वारा यज्ञेश्वर विष्णु की पूजा की जाती है—ब्रह्म० २३३।४१ का यह मत इस दृष्टि के मौलिक रूप को प्रकटित करता है। इस दृष्टि का मूल ब्राह्मण ग्रन्थों में है—"यज्ञो वै विष्णु," (शत० १।१।२।१३, गोपथ० २।४।६, तै० ब्रा० १।२।५।१), परन्तु पुराणों में यह मत साम्प्रदायिक दृष्टि के अनुसार कथंचित् परिवर्तित हुआ है—यह निश्चित है।

अर्वाचीन काल के वेदव्याख्याकार भी इस मत का ही प्रतिपादन करते हैं। मध्वसम्प्रदायाचार्य जयतीर्थ ने मध्वकृत ऋग्वेदमन्त्रव्याख्या की टीका में जो "विशेषतश्च वेदानां भगवानृषिः" कहा है (पृ० ४३), वह भी इस दृष्टि का एक उदाहरण है। राघवेन्द्र यति के मन्त्रार्थमञ्जरी ग्रन्थ में यह दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट-रूप से प्रतिपादित हुई है (विष्णुः सर्ववेदप्रतिपाद्यः, सर्ववेदानां विष्णवर्थत्वसिद्धेः, पृ०२)। यह विष्णु वैष्णवसाम्प्रदाय के विष्णु हैं, यह निश्चित है।

प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि आगमप्रामाण्यग्रन्थ में ऐसे अनेक पुराणवचन उद्धृत किए गए हैं, (वाराहपुराण, भविष्यपुराण का नाम लेकर तथा कहीं कहीं नाम न लेकर) जिनमें 'वैष्णवसम्प्रदायाधीश विष्णु ही वेद का प्रतिपाद्य तत्त्व या वेदरहस्यभूत हैं', ऐसा स्पष्टतः कहा गया है।

शैवदृष्टि के अनुसार वेदविषय—शैवदृष्टि से भी वेद-तात्पर्य का वर्णन पुराणों में मिलता है। लिङ्ग० २।१८।७ में ऋग्वेद के "अपाम सोमम्....." (८।४८।३) मन्त्र को शिवपरक माना गया है, जो शैवसम्प्रदाय की एक अयथार्थ दृष्टि का ही उदाहरण है। लिङ्ग० १।५८।१३ में जो "श्रुतिस्मृतीनां लकुलीश-मीशम्" कहा गया है, वह भी इस दृष्टि के अनुसार ही है। कहीं कहीं विभिन्न वेदों को शिव के विभिन्न अङ्गों के रूप में कल्पित किया गया है (लिङ्ग० १।१। २०-२१)।

शिव को वेदप्रतिपाद्य तत्त्व मानकर[11] ही ऋग्यजुः साममन्त्रों से शिवस्तुति

---

११. वेदान्त सूत्र के श्रीकण्ठभाष्य और शिवार्कमणिदीपिका टीका में अनेक सामान्य वेदमन्त्रों के शिवपरक अर्थ किए गए हैं। क्रमशः यह मनोवृत्ति इतनी

करने का बहुशः उल्लेख शैवपुराणकारों ने किया है (रेवा०—१४।३, कूर्म० १।१५।८४; अर्बुद० ३९।२३)।

शाक्तदृष्टि के अनुसार वेदतात्पर्य—देवीभागवत ७।३९।१६ में देवी से वेद की उत्पत्ति कही गई है। कूर्म० १।१२।२५७ में वेद को पराशक्ति से अभिन्न माना गया है। इस प्रकार के वचन निश्चयेन शाक्तदृष्टि के अनुसार ही हैं। इस दृष्टि के अनुसार वेद का तात्पर्य माया, शक्ति या अविद्या माना गया है, जैसा कि देवी० (७।३२।१०) में कहा गया है—"अविद्यामितरे प्राहुर्वेदतत्त्वार्थचिन्तकाः"। यहाँ शाक्तमत को ही वैदिक तात्पर्य के रूप में माना गया है।[१२] वैदिक अविद्या शब्द (ईशोपनिषद्, श्वेताश्वतर आदि में प्रयुक्त) का लक्ष्य शाक्तप्रसिद्ध 'शक्ति' ही है, ऐसा वैदिक ग्रन्थों से सिद्ध नहीं होता; यह शाक्तों की निजी दृष्टि है।

प्रकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टियाँ—इन तीन प्रसिद्ध मतों के अतिरिक्त अन्य साम्प्रदायिक मत भी मिलते हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

सूर्यप्रतिपादक वेद—देवी० १।८।२० में सब वेदों में प्रशंसित सूर्योपासना कही गई है; यह सूर्य ही परमात्मा के नाम से विख्यात है। यह मत 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋग्० १।११५।१) मन्त्र पर आधृत है। सूर्य का प्राधान्य निरुक्त और बृहद्देवता १।६१-७० में भी कीर्तित हुआ है।[१३] अन्यान्य देवताओं

बढ़ चुकी थी कि "तद्विष्णोः परमं पदम्" (ऋग्० १।२२।२०) मन्त्र की शिवपरक व्याख्या भी टीका में की गई है (पृ० ६९)। "य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्" (ऋग्० १०।८१।१) की शिवपरकव्याख्या ब्रह्मसूत्र भाष्य १।२।९ में द्रष्टव्य है। कठोपनिषद् के "सोऽध्वनः पारमाप्नोति" (१।३।९) मन्त्र में उक्त 'अध्वन्' शब्द को 'षडध्वा' के अर्थ में माना गया है (४।४।२२)।

१२. शाक्तदृष्टि के अनुसार वेदतात्पर्य के विवरण के लिये निम्नोक्त दो ग्रन्थ विशेषतः द्रष्टव्य हैं—ब्रह्मसूत्र का शक्तिभाष्य (पञ्चाननतर्करत्नकृत) और सौन्दर्यलहरी की लक्ष्मीधरकृत व्याख्या)।

१३. वेद का सर्वोच्च प्रतिपाद्य तत्त्व 'सूर्य' पद से अभिहित होता था, यह वैदिक ग्रन्थों से स्पष्टतः ज्ञात होता है। ऋक्सर्वानुक्रमणी का निम्नोक्त सन्दर्भ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है—"एकैव वा महानात्मा देवता। स हि सूर्य इत्याचक्षते। स हि सर्वभूतात्मा तदुक्तमृषिणा 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेति' तद्विभूतयोऽन्य देवताः। तदप्येतदृचोक्तम्—इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरिति" (परिभाषा प्रकरण २।१४-२०)। सूर्य के लिये सर्वोच्च-तत्त्वज्ञापक ब्रह्म शब्द का प्रयोग नैरुक्तरीति के द्वारा अनुमोदित है, यह "ब्रह्म जज्ञानम् ......" मन्त्र की व्याख्या से स्पष्टतया

के विषय में भी एतादृश वाक्य पुराण-उपपुराणों में मिलते हैं, यह ज्ञातव्य है।

वेदार्थ और वेदरहस्य—वेदप्रतिपाद्यविषय की तरह वेदार्थ और वेदरहस्य से सम्बन्धित कुछ वाक्य भी पुराणों में मिलते हैं। ईदृश उल्लेख अत्यन्त अल्प हैं, अतः इस पर संक्षिप्त विचार ही किया जा रहा है। ये वाक्य दार्शनिक दृष्टि के अनुसार कहे गए हैं—यह प्रत्यक्षतः प्रतीत होता है।

ब्रह्म० २३०।८९ में एक बहुत ही सारगर्भ श्लोक मिलता है—

> "अर्थवादः परं ब्रह्म वेदार्थ इति तं विदुः।
> अविविक्तमविज्ञातं दायाद्यमिह धार्यते"॥

यह श्लोक कुछ अस्पष्ट है। इसका यह अर्थ प्रतीत होता है कि जिस पर ब्रह्म को (पूर्वमीमांसाविद्) अर्थवाद के रूप में मानते हैं वही वस्तुतः वेदार्थ (वेद का चरम प्रतिपाद्य तत्त्व) है।

हरिवंश० ३।४।४९ में भी यह श्लोक मिलता है। वहाँ नीलकण्ठ ने अर्थ किया है कि परब्रह्म की सत्ता अर्थवाद (अर्थात् सत्य अर्थ का कथन) है; तात्पर्य यह है कि वेद का चरम सत्य परब्रह्म ही है। नीलकण्ठकृत अर्थनिदर्शनप्रक्रिया यद्यपि कुछ क्लिष्ट है तथापि अन्ततोगत्वा यह अर्थ पूर्वदर्शित अर्थ को ही ज्ञापित करता है।

यह आत्मज्ञान (या परब्रह्मसत्ता) ही सर्ववेद का रहस्य है, यह पुराणों में स्पष्टतः कहा गया है। ब्रह्म० २३६ में आत्मज्ञान का वर्णन कर (कठादि उपनिषदों की तरह) कहा गया है—"रहस्यं सर्ववेदानामनैतिह्यमनामयम्। आत्मप्रत्यायकं शास्त्रम्" (श्लोक ३३)। यह श्लोक शान्ति० २४६।१३ में मिलता है। रेवा० ९।२४ में भी इस प्रकार का एक वचन मिलता है—"वेदे रहसि यत् सूक्ष्मं यत् तद् ब्रह्म सनातनम्"। यहाँ वेदरहस्य के रूप में ब्रह्म ही प्रतिपादित हुआ है।

ज्ञात होता है (वाररुच निरुक्त समुच्चय, पृ० २—ब्रह्मशब्देन आदित्यमण्डलमुच्यते)। ऋक्सर्वानुक्रमणी-व्याख्या में षड्गुरुशिष्य ने 'आत्मा वा इदमेक एवा आसीत्' इत्यादि ब्रह्मप्रतिपादक वाक्यों का लक्ष्य सूर्य ही है, ऐसा कहा है।

पुराणों में वर्णित सूर्योपासना इस प्राचीनतम सूर्योपासना का ही विवर्तित रूप है। पौराणिक दृष्टि के अनुसार सूर्योपासना के विवरण के लिये सौरपुराण द्रष्टव्य है।

पञ्चम परिच्छेद

वैदिकमत, वेदवाद और वेदवाक्यनिर्देश

पुराणों में वेदोक्त मतों के बहुधा उल्लेख मिलते हैं। ये उद्धृत वैदिक मत वस्तुतः वैदिक हैं या नहीं, यह एक आवश्यक विचार्य विषय है। इस परिच्छेद में इन विषयों पर सोदाहरण विचार किया जा रहा है।

वैदिक मतोद्धरण की प्राचीनता—पुराण के अतिरिक्त वैदिक मतों का उल्लेख स्मृति[1], महाभारत (द्र० शान्ति०) सूत्रग्रन्थ[2], तथा दर्शनादि अन्यान्य शास्त्रों[3] में मिलता है। चूँकि इन शास्त्रों में वेद को प्रमाणभूत शास्त्र माना गया है, अतः स्वाभिमत के प्रतिपादन के लिए वेदमत का उपन्यास करना (तथा वेदवाक्य का उद्धरण देना) आवश्यक ही था।

वेदमत या वेदविदों के मतों का नामतः उल्लेख जिन विषयों के प्रतिपादन के लिये किया गया है, वे विषय दार्शनिक भी हैं, लौकिक भी हैं। जिन विषयों पर वेदमत के निर्देश पुराणों में मिलते हैं, उनकी संक्षिप्त सूची नीचे दी जाती है। प्रत्येक विषय के साथ आकर-स्थलों का निर्देशमात्र किया जा रहा है। यह निर्देश उदाहरणार्थ ही है।

---

१. मनु० ९।१८ में "निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः" कहा गया है, यह श्रौतमत का अनुवादमात्र है। (द्र० तै० सं० ६।५।८।२।२)।

२. "मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्यविशेषेण श्रूयते" (आ० ध० सू० २।६-१४।११), "निरिन्द्रिया ह्यदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः" (बौ० ध० सू० २।२।५३); "वाजसनेयके विज्ञायते" (वसिष्ठ धर्मसूत्र १२।३१)। इस मत का मूल वाजसनेय शतपथ ब्राह्मण में मिलता है—"तस्माज्जायाया अन्ते नाश्नीयात्" (१०।५।२।९)।

३. पूर्वोत्तर मीमांसा में 'श्रूयते', 'श्रुतिः' आदि पद सूत्रों में व्यवहृत हुए हैं। ये दो वेदवाक्य-विचारक-शास्त्र ही हैं। सांख्य के "श्रुतिरपि प्रधान-

१. **ब्रह्मा, प्रजापति, हिरण्यगर्भ तथा सृष्टिकर्ता**—कुमारिका० २२।६, मत्स्य० २४८।१, हरिवंश० ३।४१।१।

२. **देव, असुर, पितृ, यक्ष, राक्षस आदि**—काशी० १०।१४।

३. **मनुष्य, शरीर, जीव, आयु**—अग्नि० ३७०।१४-१५; गरुड० २।१३।२

४. **ज्ञानयोग, संन्यास, त्याग और मुक्ति**—भाग० २।२।३२, ब्रह्म० १३९। ११, पुरुषोत्तम० ४८।११, ५२।२३, लिङ्ग० १।८।२७, कूर्म० १।३।९, कुमारिका० ४०।१५,

५. **धर्म, योगाभ्यास, कर्मयोग आदि**—ब्रह्म० २३२।४०-४१, ब्रह्म० २३६।६, भाग० ४।४।२०, अरुणाचल० ३।५३, कुमारिका० १३।८३, लिङ्ग० १।७१। ६७-६८।

६. **यज्ञ और कर्मकाण्ड**—ब्रह्म० १६१।१५।

७. **निर्गुणब्रह्मज्ञान**—काशी० ५८।११४।

८. **वर्णाश्रम, सदाचार, पाप, पुण्य**—लिङ्ग १।९०।१२, कूर्म० १।२।५२, ब्र० वै० ३।८।४७, कूर्म० १।२।८७-८८, १।२।७६; ब्र० वै० ४।८५।३, ब्र० वै० १।१०।४८, भाग १०।७८।३६, रेवा० १०३।११, भाग० ४।२१।४६, प्रभास क्षेत्र० २०२।४५-४६, केदार० १६।३९, काशी० ४१।२५, रेवा० २०।६६-६७।

९. **विष्णु या कृष्णादि अवतार**—वराह० १७।२३, ब्र० वै० २।८।५, ब्रह्म० २३३।३९-४०।

१०. **शिव**—वराह० २१।६५-६६।

११. **शक्ति, देवी**—कूर्म० २।४६।७।

१२. **सूर्यगणेशादि देव**—कुमारिका० ४६।१४३।

इनके अतिरिक्त और भी अन्यान्य गौण विषयों पर वैदिक मतों का उल्लेख पुराणों में यत्र-तत्र मिलता है, संक्षेपार्थ जिनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

वेदमत के निर्देश में पुराणगत शैली—पुराणों में वेदमत के प्रसंग में श्रुति,[४]

कार्यत्वस्य (५।१२) आदि सूत्रों में तथा वैशेषिक के ५।२।१०, ४।२।११ आदि सूत्रों में वेदमत लक्षित हुए हैं।

४. कुमारिका० ४६।१४३, ब्र० वै० २।८।५, प्रभासक्षेत्र० २०२।४५-४६, कूर्म० १।२।५२, ब्रह्म० १६१।१५ आदि।

वेद[५], वैदिकी, श्रुति[६], वेदविद्[७], वैदिक[८] इत्यादि वाक्यों[९] का प्रयोग किया गया है। वेदवाद के प्रयोग से भी वेदगत मतों का उपन्यास किया गया है। वेदवाद के स्थलों कुछ आकर के निर्देश यहाँ दिए जा रहे हैं—

भविष्य ब्राह्म० ४३।२८, शान्तिपर्व० २३१।५९-६०, भाग० ११।१८।३०, केदार० १।३६, रेवा० १०३।११, पद्म० ६।२४६।१६५, विष्णु० १।२।२२, पद्म० ५।३१।५-८, ६।२५४।७१, ब्र० वै० ३।८।४६-४७, वराह० २६।५, लिङ्ग० २।१६।२४; देवी० २।६।८ आदि।

ब्र० वै० ४।९७।५३ आदि स्थलों में शाखादि-नामपूर्वक वैदिकमतों का उपन्यास किया गया है।

पुराणों में 'श्रुति' आदि शब्दों का उल्लेख न कर भी वेदमत का उपन्यास किया गया है। इस परिच्छेद में ऐसे प्रसंगों पर विचार करना अप्रासंगिक[१०] होगा।

मतोपन्यास की शैलियाँ—पुराणगत वैदिक मतों के अध्ययन से यह विज्ञात होता है कि सर्वत्र यह मतोपन्यास समान रूप से प्रामाणिक नहीं है। कहीं कहीं आंशिक परिवर्तन कर भी वेदमत का निर्देश किया गया है, और यह परिवर्तन बहुत कुछ साम्प्रदायिक दृष्टियों के अनुसार किया गया है। कहीं-कहीं तो स्व-सम्प्रदाय में प्रचलित मत का ही वैदिकमत के रूप में निर्देश किया गया है। इतना होने पर भी अनेक स्थलों में वेदगत सिद्धान्त अविकल रूप से पुराणों में उद्धृत किए गए हैं। चूंकि बाद में वैदिकों की परम्परा में ही पुराणों का उपबृंहण हुआ

---

५. पद्म० ६।६६।७२, भाग० १।१०।२४, २।२।३२, १।३।३५, ब्रह्म० २३३।३९-४०, रेवा० २०६६-६७ आदि।

६. वराह० २१।६५-६६, ब्रह्माण्ड० १।१३।४, ब्र० वै० ४।८५।३, ब्रह्म० ८८।१० आदि।

७. इति वेदविदः (हरिवंश १।१६।३), आहुर्वेदविदः (हरिवंश० १।४१।-१०) आदि।

८. कूर्म० १।२।३, भाग० ७।१५।४२ आदि।

९. यथा—वेदानुशासन (भाग० १०।७८।३६), वेदवचन (ब्रह्म० २३६।१) आदि।

१०. महाभारत से इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण दिया रहा जा है। शांतिपर्व के ४७वें अध्याय में जो भीष्मस्तवराज है, उसके प्रायः प्रत्येक श्लोक में कोई न कोई वैदिक विषय या वाक्य लक्षित हुआ है। नीलकण्ठ ने अपनी टीका में लक्षित तत्त्वों का सामान्यतया स्पष्टीकरण किया है।

था, इसलिये वेदमत का उपन्यास करना पुराणकारों के लिये स्वाभाविक ही था।

प्रामाणिकता की दृष्टि से वेदमतों के उपन्यास की शैली के निम्नोक्त वर्गीकरण किए जा सकते हैं—

१. वेदमत का यथावत् निर्देश।

२ वेदमत का आंशिक परिवर्तन।

३ साम्प्रदायिक दृष्टि के अनुसार वेदमत का निर्देश।

४. स्वपरम्परागत आचार के वैदिकत्व का निर्देश।

५. वेद से संबद्ध मत का वेदमत के रूप में उल्लेख।

(१) वेदमत का यथावत् निर्देश—इस पद्धति के उदाहरण निम्नोक्त स्थलों में द्रष्टव्य हैं—

काशी० ५८।११४ में "आनन्दं ब्रह्मणो रूपं श्रुत्यैव यन्निगद्यते" कहा गया है; यह "आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात् (तैत्तिरीय उप० ३।६।१) वाक्य को लक्ष्य कर ही कहा गया है। लिङ्ग० २।१६।२४ के "अव्याकृतं प्रधानं हि तदुक्तं वेदवादिभिः" वाक्य का मूल "तद्धेदं तर्हि अव्याकृतमेवासीत्" (बृहदारण्यक उप० १।४।७) ही है। विष्णु० १।२।२२-२३ में जिस वैदिक प्रधानप्रतिपादक वाक्य का संकेत किया गया है, वह वस्तुतः नासदीय सूक्त के अंश विशेष (ऋग् १०। १२९।१-२) को ही लक्ष्य कर कहा गया है। गरुड० २।१३।२ में "शतं जीवति मानवः" मत को "वेदैरुक्तम्" कह कर उपन्यस्त किया गया है। वस्तुतः "शतायुर्वै पुरुषः"—यह वाक्य वैदिक ग्रन्थों में मिलता है (कौ० ब्रा० ११।७)।

(२) वेदमत का आंशिक परिवर्तन या परिवर्धन पूर्वक निर्देश—इस वर्ग में उन मतों का संकलन किया जाएगा जिनमें वैदिक भाव अक्षुण्ण है, यद्यपि आंशिक परिवर्तन आदि कर दिए गए हैं। वाक्यार्थ की विशदता तथा रोचकता के लिये इस प्रकार का परिवर्तन किया गया है—यह स्पष्ट है। यथा—

कुमारिका० २२।६ में "वेदेष्वाहुर्विराड्रूपं.....पातालं पादमूलं च पार्ष्णिपादे रसातलम्" कहा गया है। यहाँ पुरुषसूक्त का "ततो विराडजायत" वाक्य लक्षित है, परन्तु पातालादि का उल्लेख सूक्त में नहीं है। शरीरावयवों के पूर्णप्रदर्शन के लिये ऐसा कहा गया है, यह स्पष्ट है।

अवन्ती क्षेत्र० ३।१३ में 'तपःस्थ स्वयम्भू के द्वारा भूर्भूवः स्वः का उच्चारण' करने का उल्लेख ('इति श्रुतिः' कहकर) मिलता है। यह मत कई ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। (तै० ब्रा० २।२।४।२-३); पुराणों में इसका संक्षिप्त भाव ही कहा गया है। इसी प्रकार "ईश्वराज् ज्ञानमन्विच्छेदित्येषा वैदिकी श्रुतिः" कहा गया

है (ब्रह्म० १३९।११)। वेद में अविकल रूप से यह मत नहीं मिलता, पर "यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्' (ऋग० १०।१२५।५) आदि वेदवाक्यज्ञापित मत ही इसके उपजीव्य हैं, ऐसा कहा जा सकता है। पुरुषोत्तम० ४८।११ में "साक्षात्कार आत्मनो यः स प्रसिद्धः श्रुतौ" कहा गया है। इसका भी अंशतः मूल "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः....." आदि बृहदारण्यक-वचन (२।४।५) ही है।

काशी० १०।१४ में "त्रयस्त्रिंशत् सुराणां या कोटिः श्रुतिसमीरिताः" कहा गया है। श्रुति में त्रयस्त्रिशत् संख्या का बहुधा उल्लेख है (तै० ब्रा० १।२।२।५, १।८।७।१, कौषीतकि ब्रा० ८।६ आदि), पर 'कोटिः' पद कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। यह स्पष्ट है कि उत्तरकालीन पौराणिक धारा के प्रभाव के कारण श्रुति-सिद्धान्त का इस प्रकार परिवर्तन कर उपन्यास किया गया है। (पुराण का तात्पर्य भी वेशनुसारी ही है, यह दृष्टिभेद से दिखाया जा सकता है, पर हम यहाँ स्थूलऐतिहासिक दृष्टि से विचार कर रहे हैं)।

(३) साम्प्रदायिक दृष्टि के अनुसार वैदिक मतों का निर्देश—विष्णु, शिव आदि स्व-सम्प्रदाय के सर्वोच्च लक्ष्य को ही वेदमन्त्रप्रतिपाद्य चरम तत्त्व के रूप में प्रतिपादित करना ही इस शैली का प्रारंभिक रूप है। वेद के सामान्यार्थक मतों को साम्प्रदायिक मत के प्रतिपादक के रूप में पुराणों में प्रायेण दिखाया गया है, जो इस दृष्टि के अनुसार ही है। यथा—

वराह० १७।२३ में "सर्वे देवाः..... विष्णोः सकाशादुत्पन्ना इतीयं वैदिकी श्रुतिः" कहा गया है। प्रजापति से सब पदार्थों की उत्पत्ति ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायेण कही गई है। पुराण में इस मत को ही 'वैदिक श्रुति' के रूप में उपन्यस्त किया गया है। इसी प्रकार "सर्वादिसृष्टौ सर्वेषां जन्म कृष्णादिति श्रुतिः" "वाक्य ब्र० वै० २।८।५ में मिलता है ; यहाँ साम्प्रदायिक दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट है।"[११]

(४) स्वपरम्परागत मत या व्यवहार का वेदमत कहकर उल्लेख—यह शैली पुराणों में सार्वत्रिक है। वैदिक परम्परा में पुराणों का विकास बाद में हुआ था, अतः ऐसा होना स्वाभाविक ही था। यह स्वपरम्परागत मत या आचार वेदविरुद्ध ही हो, यह आवश्यक नहीं, बल्कि इन मतों से वेद का कोई विरोध भी नहीं मिलता; यद्यपि ऐसे स्थलों के लिये 'प्रलीन शाखा की सत्ता' आदि मत पूर्वाचार्यों ने कहे हैं तथापि सामान्यतया यह कहना ही अधिक युक्त है कि यहाँ परम्परागत आचार

---

११. यह पूर्ण संभव है कि किसी अर्वाचीन वैष्णव उपनिषद् में 'कृष्ण से सृष्टि का उल्लेख' शब्दतः मिल जाए।

(चाहे किसी भी कारण से वह समाज में समाविष्ट हुआ हो) ही वेदमत के रूप में भाषित हुआ है। निम्नोक्त उदाहरणों से यह बात प्रमाणित होगी——

अग्नि० ३७०।१४-१५ में शारीरिक अन्त्र सम्बन्धी एक मत "प्राहुर्वेदविदो जनाः" कहकर उद्धृत किया गया है। यह मत यद्यपि वेद का विरोधी नहीं है, परन्तु वेदोक्त भी नहीं है। इसी प्रकार लिङ्ग० १।१०।९२ में जो "स्तेयाद-भ्यधिकः कश्चिन् नास्त्यधर्म इति श्रुतिः" कहा गया है, वह भी शब्दतः वेदोक्त नहीं है। उसी प्रकार "गुरोः शतगुणा पूज्या गुरुपत्नी श्रुतौ मता" यह ब्रह्मवैवर्त-वाक्य (१।१०।४८) भी इस नियम का उदाहरण माना जा सकता है। संभवतः 'सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते" (मनुस्मृति) वाक्य इस मत का मूल है——माता का साम्य गुरुपत्नी में प्रत्यक्षतः ही है।

वेदवादिमत के रूप में कुछ ऐसे वचन पुराणों में मिलते हैं, जो इस शैली के अनुसार ही कहे गए हैं। पञ्चधा पितृत्व का उल्लेख (ब्र० वै० ३।८।४६-४७ में) इस शैली का एक उदाहरण है। यह परम्परा-स्वीकृत स्मृति शास्त्र का मत है; वैदिक ग्रन्थों में इसका स्पष्टतः निर्देश नहीं मिलता।[१२]

इस प्रवृत्ति का अतिरेक भी है। वामन० ५८।९२-९३ में 'गो-ब्राह्मण आदि का वध (अपराधी होने पर भी) नहीं करना चाहिए', इसका प्रतिपादक एक उपजाति छन्द का श्लोक है, जिसके लिये "एषा श्रुतिः. . . ., गायन्ति यां वेदविदो महर्षयः" कहा गया है। यह वस्तुतः श्रुति नहीं है, पर पुराण में परम्परागत मान्य आचार को ही श्रुति के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।

(५) वेदमत कहकर वेद से असंबद्ध मतों का उपन्यास करना——आगमादि के प्रतिपाद्य विषय भी वेदमत कहकर कहीं कहीं उल्लिखित हुए हैं, जो इस शैली के उदाहरण माने जा सकते हैं। यथा——

शिव की पत्नी देवी पार्वती सब लोकों का नाश होने पर भी विराजमान रहती है, यह कूर्म० २।४६।७ में कहा गया है; यह एक 'वैदिकी श्रुति' है। किसी भी प्राचीन वैदिक ग्रन्थ में (अर्वाचीन साम्प्रदायिक उपनिषदों को छोड़कर) ऐसा मत दृष्ट नहीं होता। यहाँ आगमिक (शाक्तागम) सिद्धान्त को ही वेदमत

---

१२. इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि विवाह, स्त्रीधन आदि धर्मशास्त्रीय विषयों से संबद्ध मत स्पष्ट रूप में वेद में नहीं मिलता, यद्यपि कहीं कहीं इन विषयों की छाया वेद में मिल जाती है (द्र० J.B.B.R.A.S, Vol.XXVI पृ० ५७-८२ में काणेकृत लेख)। ये विषय देशकालानुसार परिवर्तित-पल्लवित हुए हैं, यह स्वीकार्य है।

कहा गया है, यह स्पष्ट है । कुमारिका० ४६।१४३ में 'भास्कर तुष्ट होने पर आरोग्य-धनधान्य पुत्र-पत्नी आदि देते हैं' इस मत का ('श्रुतेर्वचः' कहकर) उल्लेख किया गया है। यह भी वेद से असंबद्ध विषय है।

वेदवाद—वेदमत के प्रसंग में वेदवादसम्बन्धी पौराणिक वाक्यों पर विचार करना आवश्यक है। वेदवाद का अर्थ है—वेदोक्तवाद ; वाद=निश्चित मत। यह वाद मुख्यतः दो रूपों में पुराणों में मिलता है। प्रथम—वेदोक्त उपासनादि क्रिया-सम्बन्धी मत तथा द्वितीय—वेदोक्त सिद्ध-वस्तु-परक मत। इस द्वितीय मत का प्रकृष्ट उदाहरण विष्णु० १।२।२३ में मिलता है, जहाँ श्रीधर स्वामी ने कहा है—"वेदवादाः सिद्धार्थपराणि वेदवाक्यानि"। सिद्धार्थ का अभिप्राय है वह अर्थ जो क्रिया का विषय नहीं है, बल्कि प्रमित वस्तु है।

पुराणों में कहीं कहीं वेदवाद की निन्दा भी मिलती है (केदार० १।३६, गीता २।४२-४३, भाग० ४।२।२१, ११।१८।३०)। इन स्थलों में 'हेय कर्मकाण्डपरक वेदमत' ही वेदवाद से विवक्षित है, यह स्पष्ट है। वस्तुतः कर्मकाण्ड-परक वेदमत के लिये 'वेदवाद' पद बहुलतया प्रयुक्त हुआ है।

सामान्य वेद-मत के लिये भी 'वेदवाद' शब्द (या 'वाद' वाची अन्य शब्द) पुराणों में मिलता है (पद्म० ६।२४६।१६५, ६।२५४।७१; मत्स्य० १४२।४९) यह ज्ञातव्य है।

वेदवादी—यह शब्द पुराणों में बहुलतया प्रयुक्त हुआ है। साम्प्रदायिक मतों को वेदवादिमत के रूप में कहना पुराणकारों की एक प्रसिद्ध शैली रही है। काशी० ५।२७ मे "आहु र्वै वेदवादिनः" कह कर 'काशी में शिव सर्वजन्तुओं के कर्णों में तारक ब्रह्मनाम का उपदेश देते हैं', यह कहा गया है। यह वस्तुतः अवैदिक मत है, यद्यपि अर्वाचीन उपनिषद् ग्रन्थों में यह मत मिलता है (द्र० काशीमृतिमोक्षविचार ग्रन्थ)। कहीं कहीं तो विशुद्ध लौकिक बात भी वेदवादिमत कहकर पुराणों में कही गई है—"पाण्डोरपि तथा पत्न्यौ द्वे प्रोक्ते वेदवादिभिः"—देवी भागवत का यह वचन (२।६।८) इस तथ्य का प्रकृष्ट उदाहरण है।

शुद्ध वैदिक विषय भी वेदवादिमत के रूप में उद्धृत हुए हैं। यथा लिङ्ग० २।१६।२४ में "अव्याकृतं प्रधानं हि तदुक्तं वेदवादिभिः" कहा गया है, जो बृहदारण्यक उप० १।४।७ में मिलता है—"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमेवासीत्"।

पद्म० ५।३१।५-८ में वेदगत कथाओं के अध्यात्मिक अर्थ को लक्ष्य कर "ख्याप्यते वेदवादैस्तु वेदवादिभिः" कहा गया है। यहाँ वेदवाद का अर्थ "वेदार्थसम्बन्धी विचार' है, यह ज्ञात होता है। विष्णु० १।६।३० के "वेदवादान् तथा वेदान्" वाक्य में भी वेदवाद का अर्थ वेदसम्बन्धी विचार या मत ही है।

वैदिक वाक्य का उद्धरण[१३]—वैदिक मत के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह पुराणगत वेदवाक्यों के उद्धरणों के विषय पर भी लागू होता है। जिन जिन दृष्टियों से वैदिक मतों का उपन्यास किया गया है, उन दृष्टियों से वैदिक वाक्यों का उद्धरण भी पुराणों में दिया गया है। इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि पुराणोक्त वेदवाक्यों के उद्धरण अनेक स्थलों में भ्रष्ट हो चुके हैं।[१४] इस परिच्छेद में पाठ को शुद्ध कर ही उद्धृत किया गया है और कहीं कहीं उद्धृत पाठ पर संक्षिप्त विचार भी किया गया है (आवश्यकता होने पर)।

उद्धरणसम्बन्धी वर्गीकरण—यह वर्गीकरण मुख्यतः पांच प्रकार का है, यथा—

१. वैदिक भाव को अक्षुण्ण रख कर वाक्यों को अविकल रूप से उद्धृत करना।

२. वैदिक शब्दों को ईषत् परिवर्तित कर उद्धृत करना।

३. वैदिक भाव का ईषत् परिवर्तन, परिवर्जन या परिवर्धन कर उद्धरण देना।

४. वैदिक भावानुसारी साम्प्रदायिक दृष्टि के अनुसार वाक्य का उल्लेख करना।

५. वैदिक भाव का सर्वथा परित्याग कर साम्प्रदायिक दृष्टि के अनुसार उद्धरण देना।

वैदिक वाक्य के उद्धरण के प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि कहीं कहीं वेद-वाक्य का प्रतीक-मात्र ही उल्लिखित हुआ है, जहाँ पूर्वापरविवेकपूर्वक ही प्रकृत वाक्य का स्वरूप निश्चित करना चाहिए। यथा—

---

१३. वैदिक वाक्यों के उद्धरण के विषय में यह ज्ञातव्य है कि वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन में ह्रास होने के कारण अर्वाचीन काल में अनेक वैदिक वाक्यों के मूल के विषय में निबन्धकारों को भी भ्रम हो गया था। यथा—शबर कहते हैं कि "पद्यु ह वा एतत् श्मशानं यच् छूद्रः" यह श्रुतिवाक्य है (६।१।३८)। वसिष्ठ धर्मसूत्र १८।११-१२ में "एके" कह कर इसका अनुस्मरण किया गया है। शूद्रकम-लाकर ग्रन्थ (पृ० ३) में इस वचन को शतपथ-श्रुति कहकर उद्धृत किया गया है, यद्यपि यह वचन काण्व-माध्यन्दिन-शतपथ का नहीं है।

१४. पुरुषोत्तम० २१।२-३ में ऋग्० १०।१५५।३ ("अदो यद् दारु" इत्यादि) उद्धृत है, पर पाठ बहुत ही भ्रष्ट हो चुका है। गरुड० १।४९।३९ में "योऽसावा-दित्येपुरुष....." पाठ है, जो वस्तुतः "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्" होगा (माध्यन्दिन० ४०।१७)।

शिव० २।१।६।११ में "अभिधत्ते सचकितं यदस्तीति श्रुतिः[15] कहा गया है। यहाँ "अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते' यह कठोपनिषद् वाक्य (२।६।१२) ही लक्षित है, यह पूर्वापर संबंध से स्पष्ट होता है। उसी प्रकार "तस्माद्वेत्युपक्रम्य जगत्सृष्टिः प्रजायते" वाक्य शिव० ६।१६।५२ में मिलता है। यहाँ वस्तुतः "तस्माद् वा एतस्माद् आकाशः सम्भूतः......" इत्यादि तै० उप० २।१ का वाक्य लक्षित हुआ है।

वेदवाक्यों का मूलभावानुसारी उद्धरण—ऋग्वेद० ८।१०१।१५ (माता रुद्राणाम्...) भविष्य ब्राह्म० ४।६९।८३-८४ में उद्धृत किया गया है। यहाँ यह मन्त्र गोपरक ही है, जो सर्वथा वेदानुसार है। तथैव ऋग्वेद० १।२२। १६-२१ (अतो देवा अवन्तु नो......पदम्) इसी पुराण (४।५८।६४) में उद्धृत हुआ है। पुराण में भी यह विष्णुपरक ही है (पौराणिक जन वैदिक विष्णु को ही स्वाभिमत विष्णु समझते हैं, यह ज्ञातव्य है)। उसी प्रकार "ते ह नाकं महिमानं सचन्ते (ऋग०१।१६४।५०) मन्त्र पद्म० ६।२५६।६६ में उद्धृत है। द्युलोकस्थ देवों के नित्य अस्तित्व के विषय में यहाँ इसका उद्धरण दिया गया है, जो वेदानुसार ही है। ब्रह्म० १४०।२२ का "यो जात एव....." (ऋग्० २।१२।१) मन्त्र इन्द्रस्तुति में उद्धृत किया गया है, जो सर्वथा वेदानुसारी है। (यह दूसरी बात है कि पुराणकार का 'इन्द्र' और वेद का 'इन्द्र' एक न हो यद्यपि पुराणकार दोनों इन्द्रों को एक ही समझते हैं)।

ब्राह्मणग्रन्थीय वचनों के उद्धरणों में भी अनेक स्थलों पर वैदिक भाव अक्षुण्ण रखे गए हैं। "यज्ञो वै विष्णुः" यह श्रुति ब्रह्म० १६१।१५ में और "ऋतवः पितरो देवाः" वह वैदिकी श्रुति वायु० ३०।४ और ब्रह्माण्ड० १।१३।४ में उद्धृत की गई है। यहाँ शब्द और अर्थ वेदानुसारी ही है (द्र० ब्राह्मणपरिच्छेद)। उसी प्रकार ब्रह्म० १२०।१५ में "सोमेन सह राज्ञा" यह ऋग्वेदीय मन्त्र (१०।९७।२२) उद्धृत किया गया है (धान्यतीर्थ के प्रसंग में); सोम ओषधीश है और धान्य ओषधि-विशेष है (ओषध्यः फलपाकान्ताः, मनु १।४६), अतएव वैदिकवाक्य के अर्थ का अनुगमन कर ही यहाँ उद्धरण दिया गया है, यह स्पष्ट है। उसी प्रकार "अङ्गादङ्-गात्[16] मन्त्र वृक्षोद्यापनविधि में वृक्ष पर पुत्रबुद्धि का आरोप कर भविष्य० ४।१२८। ३९-४० में उद्धृत हुआ है।

---

१५. इस वाक्य के साथ महिम्नःस्तोत्रस्थ "अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि" (द्वितीय श्लोक) तुलनीय है।

१६. द्र० निरुक्त ३।४ ख०, कौषीतकि आरण्यक ४।११, आश्वलायनगृह्यसूत्र १।१५।११ आदि। यह मन्त्र पुत्रवात्सल्यपरक है, यह स्पष्ट है।

वैदिक शब्द को ईषत् परिवर्तित कर उद्धृत करना––अपनी दृष्टि की सिद्धि के लिये मन्त्रगत शब्दों में ईषत् परिवर्तन कर कहीं कहीं मन्त्र का उद्धरण दिया गया है। कहीं छन्द मिलाने के लिये या विवक्षित मनोभावों का स्पष्टीकरण करने के लिये इस प्रकार का परिवर्तन किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। ईदृश परिवर्तन करने पर भी वैदिक भाव अक्षुण्ण रखा गया है। यथा––

पद्म० ६।२५५।६७ में विष्णु के प्रसंग में "तद् विष्णोः परमं पदम्····" मन्त्र (ऋग् १।२२।२०) उद्धृत किया गया है, पर मन्त्र में "अक्षरं शाश्वतं दिव्यम्" इतना अंश जोड़ दिया गया है।

शिव० २।५।५।४० में "भस्मान्तं तच् शरीरं च वेदे सत्यं प्रपठ्यते" कहा गया है। यह वाक्य माध्यन्दिन० ४०।१५ तथा काण्व ४०।१७ में मिलता है (भस्मान्तं शरीरम्)। यहाँ छन्द मिलाने के लिये या श्लोक के पूर्व चरण में पठित वपुः पद के परामर्श के लिये 'तत्' शब्द को संयुक्त किया गया है, यद्यपि मूलभाव सर्वथा अक्षुण्ण है।

ऋग्वेद में "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्····" एक प्रसिद्ध मन्त्र है (१।१६४।३९)। पद्म० ६।२५५।६६ में इसका उद्धरण दिया गया है, पर प्रथम चरण का पाठ "यदक्षरं वेदगुह्यम्" के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है।

ब्राह्मणादि के वाक्य भी इसी प्रकार ईषत् परिवर्तन कर उद्धृत किए गए हैं। लिङ्ग० १।८।२७ में "त्यागेनैवामृत्वं हि" वाक्य उद्धृत है, जो तै० आ० १०।१० में "त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः" के रूप में मिलता है।

सम्प्रदायाभिनिवेशपूर्वक वैदिकवाक्य का उद्धरण––माध्यन्दिन० ३२।४ में "एष हि देवः....सर्वतोमुखः" मन्त्र है, जो सर्वानुक्रमसूत्र के अनुसार आत्मदैवत है (पूरा सर्वमेध अध्याय ही आत्मदैवत है)। लिङ्ग० २।१८।३६ में इस मन्त्र को महेश्वरपरक मानकर उद्धृत किया गया है, उसी प्रकार काशी० ९।६०-६१ में सूर्यपरक रूप में यह मन्त्र उल्लिखित हुआ है।

इसी प्रकार "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादि उपनिषद् वाक्य (तै० उप० २।९) कई पुराणों में उद्धृत हुआ है (कूर्म० २।९।१२, लिङ्ग० १।२८।१८-१९, २।१८।२७, ब्रह्माण्ड० ३।३७।८७ आदि)। इन स्थलों में 'यत्' पद से शिव आदि स्वसम्प्रदाय के अभीष्ट देव लक्षित हुए हैं, जबकि उपनिषद् के इस वचन में साम्प्रदायिक शिव आदि का प्रसङ्ग नहीं मिलता। इस प्रकार के स्थल साम्प्रदायिक दृष्टि के प्रारम्भिक स्तर की सूचना देते हैं, जैसा अन्यत्र दिखाया गया है।

वैदिक भाव से सर्वथा पृथक् दृष्टि से उद्धरण देना––साम्प्रदायिक अभिनिवेश

के अतिरेक के कारण कुछ स्थलों में वैदिक दृष्टि का सम्बन्ध त्याग कर अपनी रुचि के अनुसार भी वेदवाक्यों का उद्धरण पुराणकारों ने दिया है। यथा—

लिङ्ग० २।१८।७ में "अपाम् सोमम्······" (ऋग् ८।४८।३) मन्त्र उद्धृत है। यहाँ यह मन्त्र शिवपरक माना गया है। वेद में शिव से इस मन्त्र का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इस मन्त्र का देवता सोम है। शिवतोषिणी टीका में इसकी शिवपरक व्याख्या भी की गई है (सोमः='उमया सहितः'—इस व्याख्या के अनुसार) जो मध्यकालीन साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का प्रकृष्ट उदाहरण है।

इसी प्रकार का उदाहरण ऋग्वेदीय "अदो यद् दारु प्लवते (१०।१५५।३) मन्त्र के विषय में दृष्ट होता है। पुरुषोत्तम० २१।२-३ में यह मन्त्र उद्धृत हुआ है, जहाँ इसका लक्ष्य पुरुषोत्तमक्षेत्रस्थ मूर्ति का उपादानभूत काष्ठ ही है। वेद में इसका देवता ब्रह्मणस्पति है। इसका अलक्ष्मीपरक व्याख्यान भी सायणभाष्य में मिलता है, पर कहीं भी काष्ठविशेषपरक व्याख्या नहीं मिलती। वस्तुतः 'दारु' शब्द के बल पर ही साम्प्रदायिकों ने इस मन्त्र का उद्धरण पूर्वोक्त दृष्टि से दिया है। रघुनन्दनकृत पुरुषोत्तमतत्त्व (भाग २, पृ० ५६३) में इस मन्त्र की पुरुषोत्तमक्षेत्रीय मूर्तिपरक व्याख्या की गई है।

"सितासिते सरिते यत्र सङ्गथे—" मन्त्र ऋक्परिशिष्ट में पठित हुआ है। काशी० ७।५४ में यह मन्त्र प्रयाग को लक्ष्य कर उद्धृत हुआ है। पद्म० ६।२४६। ३५ में भी इस दृष्टि से ही इसका उद्धरण दिया गया है। यह उदाहरण साम्प्रदायिक दृष्टि का भी ज्ञापक है।

पञ्चम अध्याय

प्रथम परिच्छेद

वेदोत्पत्ति-सम्बन्धी विभिन्न मत

वेदोत्पत्तिवाद की प्राचीनता—वेद की उत्पत्ति या वेद के प्रणयन के विषय में पुराणों में अनेक मत मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकाल में जो मत प्रचलित थे, वे सब संक्षेप-विस्तार के साथ पुराणों में संगृहीत हुए हैं। प्राचीनकाल से ही वेदोत्पत्ति के विषय में अनेक पृथक् और परस्पर विरुद्ध मत[1] दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रचलित थे। चूंकि वेद-रचना का काल अत्यन्त प्राचीन है, इसलिये इस प्रकार के मतभेदों का उद्भव होना स्वाभाविक ही है। यह अनुमित होता है कि परवर्ती काल में जब वेद पर अलौकिकत्व-बुद्धि या भगवद्बुद्धि उत्पन्न हो गई थी तब वेद के विषय में अनेक प्रकार की आध्यात्मिक कल्पनाएँ भी की गई थीं। वेदोत्पत्ति के विषय में कितने ही विलक्षण मत पुराणों में मिलते हैं, जो प्राचीन वैदिकग्रन्थों में स्पष्टतया उपलब्ध नहीं होते। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न साम्प्रदायिक विद्वानों ने भी अपनी दृष्टि से वेदोत्पत्ति के विषय में विचार किया है। बौद्धकाल में वेद की रक्षा के लिये अनेक नवीन मत (वेद की 'अपौरुषेयता' आदि) अनेक विद्वानों द्वारा कल्पित हुए हैं—ऐसा कहा जाता है। अतः हमारी मान्यता है कि पुराणोक्त प्रत्येक मत के लिये कोई न कोई पृष्ठभूमि अवश्य है। विचारपूर्वक उस पृष्ठ भूमि का ज्ञान करना चाहिए, क्योंकि इसके विना पौराणिक मत की उपपत्ति करना सम्भव नहीं है।

---

१. न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन के वेदोत्पत्ति-विषयक मत तुलनीय हैं। न्यायसूत्र २।१६८ की व्याख्या में प्राचीन नैयायिकों ने वेद की आप्तपुरुष-प्रणीतता को स्वीकार किया है। वेद ईश्वरप्रणीत है—ऐसा भी उदयनादि नैयायिकों ने माना है (कुसुमाञ्जलि ४।५ व्याख्या)। पर प्राचीन वैशेषिकाचार्य प्रशस्तपाद ने ऋषियों को आम्नाय के कर्त्ता के रूप में माना है (द्र० कन्दली प्रशस्त पादभाष्य सहित, पृ०, २५८, २१६, काशी संस्क०)। पक्षान्तर में पूर्वमीमांसा में वेद को नित्य और अपौरुषेय माना गया है। वैदान्तिक शंकराचार्य वेद को अपौरुषेय ही मानते हैं (शारीरक भाष्य १।२।२)

पुराणोक्त वेदोत्पत्ति प्रकरण में 'वेद' शब्द का अर्थ सर्वत्र निश्चित नहीं है, अर्थात् यह स्पष्ट नहीं है कि वेद का अर्थ 'मन्त्र' है, या 'मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय' है। पुराणकारों की परम्परा में जो पदार्थ वेदपदाभिधेय था, वही वेद है—इतना ही कहा जा सकता है। मन्त्र और ब्राह्मण की रचना के विषय में पुराणों में पृथक् पृथक् प्रकरण भी हैं, जहाँ 'ऋषियों में मन्त्र का आविर्भाव' और 'ऋषियों द्वारा ब्राह्मणों का प्रवचन' ये दो विषय स्पष्टतः कहे गए हैं (मन्त्रपरिच्छेद, ब्राह्मण-परिच्छेद और ऋषिपरिच्छेद द्रष्टव्य हैं)

चूंकि प्रचलित पुराणों की रचना से बहुत पहले ही वैदिक वाङमय की रचना हो चुकी थी और साम्प्रदायिक विद्वानों में ऐतिहासिक-दृष्टि का प्रायेण अभाव ही था,[२] इसलिये वेद-काल और वेदरचना के विषय में उनकी मान्यताएँ सम्प्रदाया-नुगत विश्वासमात्र ही हैं। यह भी निश्चित है कि कुछ मान्यताओं की उत्पत्ति बौद्ध-जैनमतवादों के विरोध के फल के रूप में ही हुई थी। विभिन्न सम्प्रदायों में वेदोत्पत्ति के विषय में कितने मत प्रचलित थे, उनका एक संक्षिप्त विवरण यहाँ उपनिबद्ध किया जा रहा है। वक्ष्यमाण पौराणिक वचनों का विशदीकरण भी इन मतों के अनुसार ही करना चाहिए।

वेदोत्पत्ति के विषय में निम्नोक्त मत प्रधान हैं:—

१. वेद आप्तपुरुषों द्वारा प्रणीत है। ये आप्तपुरुष ऋषि हैं।

२. वेद ईश्वरप्रणीत है।

३. वेद स्वतः आविर्भूत है और अपौरुषेय है। इसका नाश या ध्वंस नहीं होता।

---

२. इस विषय में निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

अनुशासन० १७।७८ में शिवनाम के रूप में 'निशाकरः' पद प्रयुक्त हुआ है (इस अध्याय में शिवसहस्र-नाम है)। नीलकण्ठ कहते हैं—"निशाकरः चन्द्रः चान्द्रव्याकरणप्रणेता"। शिव को चान्द्रव्याकरणरचयिता के रूप में मानना साम्प्रदायिक अन्धदृष्टि हेतुक ही है। स्वसंप्रदाय की अत्यधिक प्रशंसा करने में नवीन साम्प्रदायिक आचार्य इतना अभिनिविष्ट रहते हैं कि वे स्वसंमत तथ्य की सत्यता कहां तक है, इस पर दृष्टिपात भी नहीं करते। यथा—श्री बलदेव विद्याभूषण कहते हैं कि शंकर के साथ जब मध्व का विवाद हुआ था तब व्यास ने मध्वमत को ही स्वीकार किया था (तत्त्वसन्दर्भ की वैद्याभूषण टीका, पृ० ७६)। इस प्रकार के मिथ्या मत अन्य साम्प्रदायिक आचार्यों में भी दृष्ट होते हैं।

४. वेद ईश्वरात्मक तथा ईश्वररूप है, प्रतिकल्प में उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है।

इन चार मतों के अनेक अवान्तर भेद हैं, जैसे—ऋषियों द्वारा वेद का स्मरण करना या ईश्वर द्वारा कल्पादि में वेद का स्मरण करना (न कि प्रणयन) आदि।

वेद का आविर्भावः—पुराणकारों ने वेदसृष्टि के प्रसङ्ग में सर्वत्र 'विनिःसृत' 'आविर्भूत', 'उत्सृष्ट' आदि शब्दों का व्यवहार किया है (मत्स्य० ३।४, वायु० १।६०-६१) जिससे यह स्पष्टतः ध्वनित होता है कि ये पुराणकार वेद की रचना या वास्तव उत्पत्ति नहीं मानते थे। यह पुराणकारों के समय की प्रसिद्ध दृष्टि थी जिसकी प्रतिध्वनि अर्वाचीन मीमांसकों ने भी की है। ये समझते थे कि वेद नित्य और सनातन है।[३] उसमें परिवर्तन नहीं होता, और इस दृष्टि के अनुसार ही उन्होंने पूर्वोक्त पदों का व्यवहार किया है। प्रसंगतः यह भी ज्ञातव्य है कि वेद-सम्बन्धी जो मौलिक ऐतिहासिक दृष्टि है (अर्थात् ऋषियों द्वारा मन्त्रों की रचना), उसका आभास भी पुराणों में क्वचित् मिलता है। यह पहले ही कहा गया है कि पुराणों में सभी मत सामान्य-विशेष रूप से मिलते हैं, अतः किसी भी विषय में पुराणगत परस्पर विरुद्ध मतों का अस्तित्व कोई दूषण नहीं है।

आदिसृष्टि में वेद का आविर्भाव :—वेदसृष्टि के काल के विषय में पुराणों में सर्वत्र 'सृष्टि का आदि' या 'कल्पादि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यथा—"छन्दांसि च ससर्ज आदो" (मत्स्य० ४।२९) "वेदाः स्मृता ब्रह्मणादौ" (गरुड० १०७।२) आादि। इस प्रकार के वाक्य अन्यत्र भी मिलते हैं (कूर्म० १।२।२७-२८)। कहीं कहीं साम्प्रदायिक दृष्टि से 'कल्पादि में शिवकर्तृक उच्छ्वास से वेद का दान' भी कहा गया है (शिव० २।३।२८।८)।

पुराणों में कहीं कहीं मन्त्रों का ऋषि-हृदय में आविर्भाव कहा गया है। ऐसे स्थलों पर भी 'आदिकल्प' शब्द व्यवहृत हुआ है (मत्स्य० १४२।४५, वायु० ५७।४४)।

कहीं कहीं 'आदिकल्प' आदि न कह कर "पूर्वं प्रोक्ताः स्वयंभुवा' (मत्स्य० १४२।४९) या 'पूर्वं सृष्टाः स्वयंभुवा' (ब्रह्माण्ड० १।२९।५३) कहा गया है। यहाँ पूर्व का अर्थ 'आदिकाल' या 'सृष्टि का आरम्भ' ही है।

---

३. मत्स्य० १४२।२८ गत वेद का 'अनादिनिधन' विशेषण द्रष्टव्य है। ब्रह्म० १६१।१५ में श्रुति को 'सनातनी' कहा गया है। महाभारत और स्मृतियों में भी यह दृष्टि मिलती है।

आदिकल्प आदि वचनों का अभिप्राय स्पष्ट है। वस्तुतः प्रचलित पुराणों के रचनाकाल की अपेक्षा वेद बहुत प्राचीन है। चूंकि वेदरचना-काल का यथावत् ज्ञान करना पुराणकारों के लिये सम्भव नहीं था, अतः उनको पूर्वोक्त प्रकार से ही वेदोत्पत्ति के काल के विषय में कहना पड़ा है। दूसरी बात यह है कि वैदिक परम्परा की दृष्टि में वैदिक धर्म चिरकाल से चला आ रहा है, अतः वेद का आविर्भाव भी कल्पादि से ही होना उसकी दृष्टि में उचित ही है। सम्भवतः इन हेतुओं से ही पुराणों में इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में भी सृष्टिवर्णन के साथ वेदोत्पत्ति कही गई है (शतपथ ११।५।८।३, ६।१।१।८) जो पुराणों के एतादृश मतों का मूल है, यह कहा जा सकता है

सृष्टिकाल में हिरण्यगर्भ द्वारा यज्ञार्थवेदनिर्माण—अनेक पुराणों में निम्नोक्त श्लोक मिलता है—

'ऋचो यजूंषि सामानि निर्ममे यज्ञसिद्धये'

(ब्रह्म० १।४९, हरिवंश १।१।३९, ब्रह्माण्ड० १।५।८८, शिव० ५।२९।२१, अग्नि० १०।१३)। हिरण्यगर्भ के साथ वेद का सम्बन्ध आध्यात्मिक दृष्टि से माना जाता है। यह दृष्टि दुर्गसदृश आचार्य को भी मान्य है; यथा—"सर्व एवायमृग्यजुःसामात्मको ब्रह्मराशिः आदित्यान्तर-पुरुषस्य भगवतो हिरण्यगर्भस्य प्राणस्यार्षम् (निरुक्तटीका १।४ ख०)।

उपर्युक्त श्लोक में निम्नोक्त तीन विषय द्रष्टव्य हैं, यथा—(१) वेद का सम्बन्ध यज्ञ के साथ दिखाया गया है; (२) ऋगादि तीन प्रकार के मन्त्र ही यहाँ विवक्षित हैं। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद विवक्षित नहीं है। तात्पर्य यह है कि इन तीन प्रकार के मन्त्रों से ही यज्ञ निष्पन्न होता है; (३) मन्त्र और यज्ञ सृष्टि के आरम्भ से चले आ रहे हैं।

यहाँ स्पष्टतः "निर्ममे' (निस्+माधातु+लिट्) पद है, जिससे ईश्वर द्वारा मन्त्र-निर्माण रूप पक्ष ही विज्ञापित होता है। गोपथ० १।२।१० में भी 'वेदाः निर्मिताः' वाक्य है। जगत्सृष्टिकर्ता प्रजापति हिरण्यगर्भ से वेद की उत्पत्ति का संकेत वैदिक वाङ्मय में भी मिलता है। पुरुषसूक्तस्थ "तस्माद् यज्ञात्" (ऋग्वेद १०।९०।९) मन्त्र, अथर्वस्थ "यस्मादृचो अपातक्षन्" मन्त्र (१०।७। २०) आदि इस विषय के ज्ञापक हैं।

ब्रह्मा से वेद की उत्पत्ति—चतुर्मुख ब्रह्मा द्वारा वेद का प्रकटीकरण या स्मरण बहुधा कहा गया है, (गरुड १।१०७।२, मत्स्य० ३।२, प्रभास० २।३; २।१८)। कहीं कहीं ब्रह्मा के मुख से वेद का आविर्भाव भी माना गया है, (वायु० १।६१; भाग० ८।२४।८, मार्क० ४५।२०)। पुराणों में यह दृष्टि बहुत्र है, यद्यपि

प्राचीनतर वैदिक संहिताओं में इस दृष्टि का सर्वथा अभाव है। यहाँ तक कि वेदांगभूत निरुक्त में भी यह दृष्टि नहीं है।

पुराण की यह संकुचित दृष्टि यद्यपि अमौलिक है, तथापि प्रजापति से त्रयी विद्या या वेद की उत्पत्ति का निर्देश ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है[४]—यह ज्ञातव्य है। प्रजापति को ब्रह्मा के रूप में अथर्ववेदीय गोपथब्राह्मण २।५।८ में माना गया है। हिरण्यगर्भ भी 'प्रजापति' पदवाच्य है (शतपथ० ६।२।२।५)। श्वेताश्वर उपनिषद् में ब्रह्मा के प्रति वेदप्रदानसंबन्धी विशिष्ट उल्लेख मिलता है (६।१८)। ब्रह्मा के 'वेदात्मा' और 'वेदनिधि' विशेषण ऋक्प्रातिशाख्य के आरम्भ में मिलता है (पृ० ४)। व्याख्याकार विष्णुमित्र ने ब्रह्ममुख से वेदोत्पत्ति के विषय में व्यासकृत एक श्लोक का उद्धरण भी दिया है (पृ०६)।

ब्रह्मा के चार मुखों से चार वेदों का आविर्भाव—यह कहा गया है कि पुराणों में ब्रह्मा के चारों मुखों से चारों वेदों की उत्पत्ति का विशद विवरण मिलता है। इन विवरणों से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा के पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण मुखों से यथाक्रम ऋग्-साम-अथर्व-यजुर्वेद का आविर्भाव हुआ है।[५]

पुराणों के इन स्थलों पर दिग्विभागानुसारी वेदाविर्भाव कहा गया है, जिसका रहस्य अन्वेषणीय है। पूर्वादि दिशाओं के साथ ऋगादि वेदों का कुछ सम्बन्ध ब्राह्मण-ग्रन्थादि में भी कहा गया है (द्र० वेदों की तुलना प्रकरण)। यह निश्चित है कि पुराणों का यह वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों पर आधृत है।

इन विवरणों में वेदोत्पत्ति के साथ यज्ञ, स्तोम और साम की उत्पत्ति भी कहीं कहीं कही गई है। पहले इस पर विचार किया गया है।

निःश्वासजात वेदः—पुराणों में कहीं कहीं वेदों को ब्रह्मा के निःश्वास से जात माना गया है।[६] वेदोत्पत्ति के विषय में यह कल्पना वेदान्ति-सम्प्रदाय में बहुत ही

---

४. गोपथ० १।१।१६, शतपथ० ६।१।१।८, ११।५।८।३, जै० ब्रा० उप० १।१।३ आदि में वेद से प्रजापति का घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाया गया है।

५. विष्णु० १।५।५२।५५, लिङ्ग० १।७०।२४३-२४६, ब्रह्माण्ड० १।८।५०-५३, वायु० ९।४८-५२, पद्म सृष्टि० ३।१०२-१०६, भाग० ३।१२।३६-३७, भविष्य ब्राह्म २।५२-५५, अवन्ती क्षेत्र० २।३७-३९ आदि। (इन स्थलों के मुद्रित श्लोकों में पाठभ्रष्टता है, पर परस्पर तुलना करने पर प्रकृत पाठ का ज्ञान हो सकता है)।

६. शिव० २।३।२८।८, भाग० ८।२४।८, अरुणाचल० १४।१३, पुरुषोत्तम० ७।६४, २१।२१, ५६।२९ आदि।

प्रसिद्ध है। बृहदारण्यक० २।४।१० में वेदादि शास्त्रों की उत्पत्ति के विवरण में 'निःश्वसित' शब्द व्यवहृत हुआ है। इस मत के मूल में यह कल्पना है कि निःश्वास जैसी अयत्ननिष्पाद्य (अनायास होने वाली) क्रिया है, उसमें पौरुष प्रयत्न कुछ भी नहीं रहता, उसी प्रकार वेद भी परमेश्वर की प्रयासहीन इच्छा से उत्पन्न हुए हैं (द्र० शांकरभाष्य)। प्रलयकाल में वेद ईश्वर में रहता है और सृष्टि होने पर ईश्वर से वेद अविकलरूप से पुनः आविर्भूत होता है, यह वैदान्तिक-दृष्टि पूर्व-मीमांसा को अनुमत नहीं है। इस शास्त्र के अनुसार वेद अपरिवर्तनीय नित्य है (प्रवाह रूप से नित्य नहीं) तथा वह ईश्वराधीन भी नहीं है।

इस 'निःश्वासवाद' पर भी साम्प्रदायिक दृष्टियों के अनुसार ब्रह्मा के स्थान में कहीं विष्णु और कहीं शिव आदि के नाम पुराणों में मिलते हैं। पुराणों में निःश्वास मत का प्रतिपादन बहुत अप्रसिद्ध स्थलों में मिलता है, जिससे कदाचित् इस मत की अमौलिकता भी सिद्ध होती है।

सृष्टिकाल में अनेक वेदः—पुराणों में वेदोत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रायेण 'वेदाः' यह बहुवचनान्त पद प्रयुक्त हुआ है।[७] यह दृष्टि यहाँ स्पष्टतः प्रतीत होती है कि चारों वेद चिरकाल से ही चले आ रहे हैं। ऋगादि वेदों में भी अन्य वेदों के संकेत मिलते हैं,[८] जिनसे यह ज्ञात होता है कि वेदों की प्रचलित संहिताओं से बहुत पहले ही मन्त्र पृथक् रूप में थे तथा संहिताओं में भी कालक्रमानुसार परिवर्तन आदि हुए हैं। वेदों के अध्ययन से संहिताओं के निश्चित पौर्वापर्य का ज्ञान करना दुष्कर है, अतः सामान्य दृष्टि से यही मानना पड़ता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से ही चारों वेद परम्परा से चले आ रहे हैं। कहीं कहीं 'एक वेद' का उल्लेख भी मिलता है, इस मत का विशदीकरण यथास्थान किया गया है।

अङ्गादि के साथ वेदोत्पत्तिः—कहीं कहीं पुराणों में वेदोत्पत्ति के साथ साथ 'अङ्गपदक्रमों' की उत्पत्ति भी कही गई है (मत्स्य० ३।२)। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से वेद और इन विद्याओं का आरम्भ समकालिक नहीं हो सकता, तथापि पुराणकारों का यह मत सर्वथा असमीचीन भी नहीं है। वेदाङ्गों के प्रतिपाद्य विषय वेद में भी सामान्यतया मिलते हैं। यह भी ज्ञातव्य है कि अङ्गादि विद्याएँ

---

७. मत्स्य० १४२।४८, ३।२, ३।४, भाग० ३।१२।३७, वायु० १।६१, प्रभास० २।३, गरुड० १।१०७।२ आदि।

८. ऋग्वेद के "ऋचां त्वः...." १०।७१।११ मन्त्र में चारों वेदों के ऋत्विजों के कर्म निर्दिष्ट हुए हैं। ऋग्वेद में अनेक सामनाम भी कहे गए हैं। वेदों के ब्राह्मणग्रन्थों में विभिन्न वेदों के नाम उल्लिखित हुए हैं।

भी चिरकाल से ही परम्परा में चली आ रही हैं—यह मत भी वैदिक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध था। न्यायमञ्जरी में जयन्त भट्ट ने इस दृष्टिकोण को स्पष्टतः कहा है (पृ० ५)। चूंकि सभी शास्त्र वेदमूलक हैं[९] और वेद से ही विभिन्न विद्याओं की उत्पत्ति पूर्वाचार्यों ने मानी है[१०] इसलिये वे समझते थे कि वेद के साथ ही अङ्गादि का भी आविर्भाव होता है। गोपथ० १।२।१० में वेद के साथ ही पुराण, कल्प, संस्कार, स्वर, निरुक्त आदि का भी निर्माण कहा गया है। इन विद्याओं की अत्यन्त प्राचीनता और वेदमूलकता ही ऐसे उल्लेखों से सिद्ध होती है, यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से यह मानना पड़ता है कि पदक्रमादि शास्त्र बाद में ही प्रणीत और व्यवस्थित हुए हैं।

आकाशसम्भव वेदः—पुराणों में यह मत एक ही स्थान पर मिलता है—"आकाशसंभवो वेद एक एव पुराऽभवत्" (नागर० २३९।८)। ऐसा प्रतीत होता है कि वेद की शब्दात्मकता को लक्ष्य कर यह मत भाषित हुआ है, क्योंकि आकाश शब्दगुणक द्रव्य है। यहाँ आध्यात्मिक दृष्टि भी संगत हो सकती है अर्थात् 'हृदयाकाश या चिदाकाश से वेद का आविर्भाव' हुआ[११] है। वेद के लिये वाक्' पद बहुधा प्रयुक्त हुआ है (अनादिनिधना वाक् वेदमयी-शान्ति०, २३२।२४)।

---

९. "निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्" (प्रचलित आभाणक)। इस दृष्टि को लक्ष्य कर कुमारिल ने कहा है—"वेदे व्याकरणादीनि सन्त्येवाभ्यन्तराणि नः" इत्यादि (तन्त्रवार्तिक पृ० २६४-२६५)।

१०. निम्नोक्त वचन इस विषय में द्रष्टव्य हैं—"यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः। तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्" (अनुशासन० १२२।४); "सर्वज्ञानमयो हि सः" (मनु० २।७ का मेधातिथि-भाष्य)। जिन पुराणादि शास्त्रों को वेदोपबृंहणकारक माना जाता है, वे शास्त्र वेदमूलक भी माने जाते हैं। व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत आदि विद्याओं का मूल वेद में है—यह पूर्वाचार्यों की मान्यता है। इसी दृष्टि के अनुसार ही यह मत प्रचलित है कि वेदवक्ता ब्रह्मा ही सब विद्याओं के आदिम आचार्य हैं। विभिन्न विद्याओं के ग्रन्थों में ब्रह्मा के आदिम प्रवक्तृत्व स्वीकृत हुआ है, यथा योगियाज्ञवल्क्य १।१०, चरक सूत्रस्थान १।४-५, चिकित्सास्थान १।४, कामसूत्र १।१।५, ऋक्तन्त्र व्याकरण १।४ आदि।

११. भागवत० १२।६।३७ में वेदोत्पत्ति की पूर्वकालीन अवस्था को लक्ष्य कर "हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते" इत्यादि जो कहा गया है—वह इस विषय में आलोच्य है।

दिव्यवाक् का प्रकटन यदि दिव्य आकाश या ब्रह्म (ब्रह्म भी आकाशपदवाच्य है—द्र० ब्रह्मसूत्र 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' १।१।२२) से कहा जाए, तो यह सर्वथा समीचीन ही है।

यहाँ आकाशसम्भव वेद को 'एक' कहा गया है। ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ एक का तात्पर्य वेद के 'अविभक्त स्वरूप' से है। वेदसंख्याविचारप्रकरण में वेद की एक-संख्यकता पर विशद विचार द्रष्टव्य है।

नागर० में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है। 'एक' वेद का आविर्भाव कहने के बाद कहा गया है—

"ततो यजुः सामसंज्ञामृग्वेदः प्राप भूतये।
ऋग्वेदोऽभिहितः पूर्वं यजुः सहस्रशीर्षेति च" ॥

(२३९।९)। इसका अर्थ यह हो सकता है कि जो एक वेद था वह ऋग्वेद है, और उसके बाद ऋग्वेद ही उत्तर काल में यजुः और सामसंज्ञक हो गया था। ऋग्वेद पहले कहा गया था और बाद में सहस्रशीर्ष मन्त्र घटित यजुर्वेद उत्पन्न हुआ। उत्तरार्ध का पाठ कुछ भ्रष्ट-सा प्रतीत होता है। उत्पत्ति की दृष्टि से ऋग्वेद की प्राथमिकता मीमांसादि द्वारा अनुमोदित नहीं है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यह मत प्रसिद्ध है—यह ज्ञातव्य है।

साम्प्रदायिक दृष्टियों में वेदोत्पत्ति—वैष्णवादि सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में वेद के विषय में विचार मिलते हैं। प्रायेण साम्प्रदायिक दृष्टियों में स्वसम्प्रदाय के 'अधिदेव' के साथ वेद का तादात्म्य माना जाता है। यह सर्वथा अतात्त्विक दृष्टि है, परन्तु वेद के प्रति जनता की आस्था को अविकृत रखने के लिये साम्प्र-दायिकों ने ऐसा कहा है—यह सहजतः समझ में आ जाता है। शब्दमय वेद के लोकातीत दिव्य रूप की कल्पना आध्यात्मिक दृष्टि से वैदिक ग्रन्थों में भी मिलती है। अथर्ववेद में वेद का विशेषण 'विश्वरूप' दिया गया है (४।३५।६)। ज्योति से वेद की उत्पत्ति शतपथ० ११।५।८।३ में कही गयी है, पर यहाँ साम्प्रदायिक दृष्टि नहीं है, बल्कि वेद का सार्वभौम रूप और वेद की उदात्तता इससे ध्वनित होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद को प्राजापत्य भी कहा गया है—"प्राजापत्यो वेदः" (तै० ब्रा० ३।३।२।१ तथा ३।३।७।२ भी द्रष्टव्य है)। यह प्रजापति पौराणिक सम्प्रदायों का अधिदेव नहीं है, यद्यपि यहाँ आलंकारिक दृष्टि स्पष्टतः विद्यमान है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुराणों में वेद की जो देवमूलकता कही गई है उसका मूल वैदिक ग्रन्थों में भी है।[१२] प्राचीनतम वैदिक ग्रन्थों में शैव, शाक्त आदि

---

१२. "सर्वे वेदाः.....प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्" (ऐ० आ०

साम्प्रदायिकभेद नहीं हैं, पर साम्प्रदायिकों द्वारा वैदिक मत को बहुत ही पल्लवित किया गया है—यह ज्ञातव्य है।

यह साम्प्रदायिक दृष्टि मुख्यतः चार प्रकार की है—वैष्णव-दृष्टि, शैवदृष्टि, शाक्त दृष्टि तथा सौरादि क्षीणसम्प्रदाय की दृष्टि।

वैष्णवदृष्टि में वेदोत्पत्ति—विष्णु द्वारा कल्पादि में वेद प्रणीत या स्मृत हुआ है, यह इस मत का तात्पर्य है।[१३] पुराणों में इस विषय में जो वाक्य मिलते हैं, वे वैष्णव सम्प्रदाय के विद्वानों द्वारा कथित हुए हैं—यह पहले कहा गया है। वेद में जो विष्णु हैं, उनसे इन वचनों का प्रत्यक्षतः कोई संबंध नहीं है, यद्यपि कहीं कहीं कुछ साम्य मिल जाता है।

साम्प्रदायिक दृष्टि भी मुख्यतः दो प्रकार की है ; प्रथम—सम्प्रदाय की प्रारम्भिक दृष्टि, जिसमें उदारता अधिक है तथा अन्धता का एक प्रकार से अभाव है। द्वितीय—स्वसम्प्रदाय के प्रति अन्ध अभिनिवेश तथा परमतद्रोह आदि से उत्पन्न दृष्टि। पुराणों में दोनों ही प्रकार की दृष्टियाँ मिलती हैं।

शिव से वेदोत्पत्ति—इस विषय में निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य हैं—वामदेवकर्तृक वेदसर्जन (मत्स्य० ४।२९); वामदेव को ब्रह्मा से वेद मिला था, यह भी कहा गया है।[१४] वायु० ३१।३३ में रुद्र को "ऋक्सामयजुषां योनिः" कहा गया है।

कभी कभी शिव या शिव के अंगों के साथ वेद का तादात्म्य भी दिखाया गया है। स्तुतिस्थलों में ऐसी विवक्षा प्रायेण मिलती है, पर कहीं कहीं तात्त्विक दृष्टि से भी ऐसा कहा गया है (वायु० ५४।७८ लिङ्ग० १।१।२०-२१)।

देवी से वेदोत्पत्ति—दुर्गा, चण्डिका आदि विभिन्न देवियों से वेद का आविर्भाव तत्तत् देवी के माहात्म्य या स्तुतिप्रधान अंशों में कहा गया है। कहीं

२।२।२), "यस्मादृचो अपातक्षन्....." (अथर्व० १०।७।२०) आदि से यह ध्वनित होता है कि वेद पर वेदबुद्धि या अध्यात्मदृष्टि प्राचीन काल से ही चली आ रही है।

१३. विष्णु द्वारा वेद का स्मरण, प्रणयन या विष्णु-वेदाभेद, विष्णुकर्तृक ब्रह्मा के प्रति वरप्रदान आदि के लिये निम्नोक्त स्थल द्रष्टव्य हैं—ब्रह्म० १८०।१४, मार्क० ४।४०, विष्णु० २।११।७, भाग० ११।१४।३, २।५-१५, ६।१।४०, वराह० १।५, ३९।१५, विष्णु० १।२२।८१-८४।

१४. वामदेव शिव का ही एक रूप है। शिव के सद्योजात आदि पाँच मुखों में अन्यतम वामदेव हैं, यह आगमशास्त्र में प्रसिद्ध है।

कहीं इन देवियों के स्वरूप-विशेष के साथ तादात्म्य भी भाषित हुआ है। ऐसे स्थल पुराणों में सर्वत्र मिलते हैं।

कूर्म० १।१२।२५७ में 'वेदसंज्ञक मेरी शक्ति सर्गादि में प्रादुर्भूत होती है' यह देवीवाक्य है। देवीविशेष से वेद का प्रसव (ब्र० वै० १।८।२) या देवी-विशेष को चतुर्वेद की माता (ब्र० वै० २।१।३८) कहने पर भी यही दृष्टि उपपन्न होती है।

सूर्य से वेदोत्पत्तिः—सूर्य-माहात्म्य-प्रकरणों में सूर्य से ऋक् आदि की उत्पत्ति हुई है, ऐसा कहा गया है (मार्क० ७८।२, ७८।११-१३, १०२-१०३ अध्याय, भविष्य ब्राह्म० ५८।२७-३० आदि)। कहीं कहीं ऐसे विवरणों में सूर्य के साथ वेद का तादात्म्य भी कहा गया है जिससे यह उत्पत्ति एक प्रकार का 'आविर्भाव विशेष' ही सिद्ध होती है (उस सम्प्रदाय की दृष्टि में)।[१५]

प्रणव से वेदोत्पत्तिः—इस मत के दो अवान्तर भेद हैं। प्रथम—शब्दरूपी प्रणव से शब्दात्मक वेद की उत्पत्ति और द्वितीय—ब्रह्मादि देवात्मक प्रणव से वेदों का आविर्भाव। कभी कभी प्रणव में वेदों की स्थिति भी कही गई है और कहीं कहीं प्रणव और वेद का तादात्म्य भी दिखाया गया है। यथा—

शिव० ७।६।२७ में अ-उ-म और सूक्ष्म ध्वनि (प्रणवान्तर्गत) का तादात्म्य बृहद्वृच-यजुः-सामनाद-आथर्वण से दिखाया गया है। विष्णु० ३।३।२२ में "प्रणवावस्थितम्...ऋग्यजुः सामाथर्वाणम्" कहा गया है। वायु० २६।१५ में ओंकार और वेद का तादात्म्य और ओंकार से वेद का आविर्भाव कहे गए हैं तथा ओंकार को महेश्वर भी माना गया है—"स ओंकारो भवेद् वेदः अक्षरं वै महेश्वरः"। प्रणव को वेद का आदि माना गया है (अग्नि० ३७२।२१)। उसी प्रकार वेद को 'ओंकारप्रमुख' भी कहा गया है (वायु० २५।८४)। भागवत० १२।६।३७-४४ में ओंकार से वेदाविर्भाव स्पष्टतः दिखाया गया है।

उपर्युक्त मत वस्तुतः अमौलिक है और अप्राचीन भी, क्योंकि इस मत का

---

१५. सूर्य, जिनको लक्ष्यकर "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (ऋग्० १।११५।१) कहा गया है—ही वेद का सर्वोच्च लक्ष्य प्रमेय है, यह मत बृहद्देवता सदृश प्रामाणिक ग्रन्थ (१।६१-६५) से ज्ञात होता है। सूर्य के माध्यम से ऋषि हिरण्यगर्भ प्रजापति की उपासना करते थे और वे आध्यात्मिक दृष्टि से वेद को सूर्य से संबद्ध करते थे, यह निरुक्तदुर्गवृत्ति (१।२ पा०) से भी ज्ञात होता है। यह सूर्य-उपासना ही बाद में विकृत होकर सौर सम्प्रदाय के रूप में परिणत हो गई थी, ऐसा प्रतीत होता है।

संकेत भी निरुक्तादि ग्रन्थों में नहीं मिलता। प्रणव की महत्ता दिखाने के लिये और वेद के आध्यात्मिक रूप के प्रतिपादन के लिये बाद में इस मत का प्रचार विभिन्न सम्प्रदायों में हुआ है—ऐसा प्रतीत होता है।

वेद में 'प्रणव और वेद का सम्बन्ध' बहुशः कीर्तित हुआ है। यथा—'ओम् रूप अक्षर त्रयीविद्या है' (जै० उ० ब्रा० १।१८।१०), 'ब्रह्म ही प्रणव है' (कौषीतकि ब्रा० ११।४), पर कहीं भी प्रणव से वेद की उत्पत्ति स्पष्टतः नहीं कही गई है। अर्वाचीन उपनिषदों में यह मत कहीं कहीं मिलता है।

गायत्री से वेदोत्पत्ति—यह गायत्री मन्त्र-विशेष है (ऋग्० ३।६२।१० तथा अन्य संहिताओं में भी यह मन्त्र मिलता है)। पुराणों में यह दृष्टि कई स्थलों में मिलती है तथा अनेक प्रकार से यह मत भाषित हुआ है यथा—

गायत्री या सवित्री वेदमाता है (वेंकटाचल० १३।१२, कूर्म०१।२०।५०); 'वेद गायत्री-सम्भव है' (मत्स्य०१।७१।२४; यहाँ 'गायत्रि' ऐसा ह्रस्वान्त पाठ है जो सम्भवतः छन्दोरक्षार्थ किया गया है); 'सावित्री सर्ववेदमाता है' (वराह० २।७४)।

यह कल्पना प्रत्यक्ष वेदमूलक नहीं है। ब्राह्मणग्रन्थों में गायत्री की असाधारण महिमा कही गई है,[१६] परन्तु कहीं भी गायत्री से वेदोत्पत्ति नहीं कही गई। ऐसा जान पड़ता है कि गायत्री की असाधारण महिमा के कारण ही बाद में वेदों की गायत्री-मूलकता प्रसिद्ध हो गई थी।[१७] 'गायत्री मन्त्र का जप ब्रह्मप्रापक है' (मनु० २।८२; ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य (१।१।२५) 'गायत्रीमन्त्र सर्वमन्त्र-श्रेष्ठ है' (गीता १०।३५) आदि विचारों के कारण गायत्री का अलौकिक महत्त्व माना जाता था। देवीविशेष से सावित्री का तादात्म्य भी माना गया है और क्रमशः साम्प्रदायिक दृष्टि की प्ररूढता के साथ साथ गायत्री-सम्बन्धी यह मत भी प्रसिद्ध हो गया था।

---

१६. "तेजो वै गायत्री" (गोपथ० २।५।३, तै० ब्रा० ३।९।४।६), "यज्ञो वै गायत्री" (शत० ४।२।४।२०)।

१७. गायत्री और ब्रह्म को अभिन्न मानकर गायत्री से वेदोत्पत्ति का निर्देश करना सर्वथा संगत है। छान्दोग्य उप० ३।१३।१ में "गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किञ्च' कहा गया है, जो गायत्री के प्रति सर्वोच्च भक्ति का प्रतिपादक है। इस विषय में वेदान्तदर्शन के "छन्दोऽभिधानाद्....." (१।१।२५) सूत्र के भाष्यादि द्रष्टव्य हैं।

द्वितीय परिच्छेद

वेद का अपहरण और नाश

पुराणों में वेदापहरण, वेदनाश और वेदार्थविप्लव-संबंधी कतिपय आख्यायिकाओं का उल्लेख मिलता है, यथा—

१. हयग्रीव द्वारा मधुदैत्यनाशपूर्वक वेद का उद्धार (भाग० ११।४।१७);

२. वेदापहर्ता हयग्रीव का विष्णुकर्त्तृक वध और विष्णु के द्वारा मन्त्रों की रक्षा (अग्नि० २।१६-१७);

३. शङ्खासुर का मत्स्य द्वारा नाश एवं वेद का रक्षण (पद्म० ४।२२।२३);

४. मकरदैत्यकर्तृक वेद का अपहरण, मत्स्यकर्तृक वेदोद्धार (पद्म० ६। २५७।१-३१);

५. रसातलस्थ वेद का हयग्रीवकर्तृक उद्धार (भाग० ५।१८।६);

६. मधुकैटभकर्तृक वेद का अपहरण और शिव-प्रेरणा से मत्स्यरूपी विष्णु द्वारा वेदोद्धार (रेवा० ९ अ०);

७. वेदविनाशकाल में विष्णु का मत्स्यरूपधारण (वराह० १५।१०);

८. वेदनाश के बाद रसातलगत मत्स्य द्वारा वेद का उद्धार और ब्रह्मा को वेद-प्रदान (वराह० १५; ११३।२०);

९. लोकनाश के बाद वाजिरूपी विष्णु द्वारा अङ्गपुराणादि के साथ वेद का ग्रहण और कल्पादि में मत्स्यरूप से ब्रह्मा के प्रति उपदेश (मत्स्य० ५३।५-७);

१०. मत्स्यकर्तृक वेदोद्धार (वस्त्रापथ० १८।५४);

११. हिरण्याक्षकर्तृक वेदापहरण और वराहकर्तृक हिरण्याक्षवध (कूर्म० १।१६।७७-८४) आदि।

महाभारत में भी ऐसी घटनाएँ उल्लिखित हुई हैं। शान्तिपर्व में उक्त (३४७ अध्याय) मधुकैटभकर्तृक वेदापहरण और हयग्रीवकर्तृक वेदोद्धार की घटना इस विषय का एक प्रमुख उदाहरण है। उपपुराणों में भी पुराणवत् आख्यायिकाएँ मिलती हैं।

उपर्युक्त आख्यायिकाओं के अभिप्राय के विषय में इस परिच्छेद में समीक्षा की जा रही है। इस प्रसंग में वेद का अभिप्राय मन्त्रों से है या मन्त्र-ब्राह्मणात्मक

शब्दराशि से है, यह स्पष्ट नहीं है। पुराणकार जिसको अपनी दृष्टि के अनुसार वेदपदवाच्य समझते थे, वही तत्तत् स्थलों में ग्राह्य होना चाहिए।

पुराणेतर ग्रन्थों में वेदनाश—प्रसङ्गतः यह भी ज्ञातव्य है कि बृहद्देवता (३।१३०) और सर्वानुक्रमणीवृत्ति (१।९९ सूक्त की टीका) में वेदमन्त्र-लोप का प्रसंग मिलता है। सामशाखालोप का उल्लेख महिदासवृत्ति (चरणव्यूह पृ०४३) में मिलता है। रामायण (किष्किन्धा ६।५) में "नष्टा वेदश्रुतिः" की उपमा दी गई है, जिससे यह सिद्ध होता है कि वेदनाश एक सिद्ध घटना की तरह माना जाता था।

वेदनाश-सम्बन्धी घटना दो प्रकार की है। प्रथम—असुरों द्वारा वेद का अपहरण और देवविशेष द्वारा वेद का उद्धार; द्वितीय—प्राकृतिक विपर्यय आदि के कारण वेदांशों का लोप होना। हम प्रथम प्रकार की घटना के विषय में पहले आलोचना करेंगे।

आख्यानों का अभिप्राय—पुराणों की ऐसी कथाओं का कुछ न कुछ निश्चित अभिप्राय होता है, जिन पर विचार करने से इन पुराणों के रचनाकाल (अर्थात् किस प्रकार की पृष्ठभूमि में इन आख्यायिकाओं की रचना हुई थी) भी ज्ञात होता है। आधुनिक विद्वानों ने ऐसी आख्यायिकाओं के अभिप्राय के आविष्कार के लिये चेष्टा की है। पुराणों के गयामाहात्म्यसम्बन्धी गयासुर की कथा इसका प्रमुख उदाहरण है। इसके अभिप्राय के विषय में राजेन्द्रलाल मित्र (बोधगया ग्रन्थ, पृ० १४-१८), ओ माली (J. A. S. I. Vol. XXXVII part 3 पृ० ७) और बरुआ महोदय (Gayā and Buddha Gayā) ने विचार किया है।[1]

वेदापहरण-सम्बन्धी इन कथाओं के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि पुराणकार यह समझते थे कि वेद एवं वैदिक धर्म के प्रचलन में तथा वैदिक प्रवचनधारा में बीच बीच में अनेक बाधाएँ उत्पन्न हुई थीं और इन बाधाओं के कारण कुछ वेदांशों का विपर्यास एवं लोप भी हुआ था, जिनके फलस्वरूप यज्ञ-वर्णाश्रम के प्रवर्तन में कुछ न कुछ ह्रास भी हुआ था। पुराणकारों ने सर्वत्र असुरों को वेदापहरक

---

१. केवल अतीतकालीन घटना की ही नहीं, बल्कि भविष्यकालीन घटना की भी ऐतिहासिक व्याख्या अपेक्षित होती है। कल्कि को भविष्य अवतार के रूप में पुराणों में कहा गया है, पर इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी है। इस विषय में Indian Antiquary Vol. 46 (1917) **में श्री काशीप्रसाद जायसवाल का लेख तथा १९१८ वर्ष में प्रो० पाठक का लेख और** Brahma Vidyā (Vol. I) **में** Otto Schrader **का लेख द्रष्टव्य है।**

के रूप में चित्रित किया है, जिसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि अत्याचारी और तामसप्रकृतियुक्त वेदविरोधी सम्प्रदायों द्वारा ही वैदिक धर्म में बाधा उत्पन्न की गई थी, जिससे वैदिक धर्म बहुत कुछ भ्रष्ट भी हो गया था। सामाजिक और राजनैतिक कारणों के साथ प्राकृतिक कारणों से भी वेदपरम्परा का उच्छेद हुआ था, इसका उल्लेख भी पुराणों में मिलता है, जैसा कि बाद में दिखाया जाएगा।

पुराणकारों ने यह भी कल्पना की थी कि इन भीषण बाधाओं के रहते हुए भी यज्ञप्रतिपादक वेद और वैदिक धर्म की जो धारा अंशतः प्रचलित रही है, यज्ञेश्वर विष्णु की कृपा से ही ऐसा सम्भव हो सका है, अतः उन्होंने विष्णु या उनके मत्स्यादि किसी दिव्य रूप को ही वेदोद्धारक के रूप में चित्रित किया है।

वेदनाश की प्रवाहनित्यता—पुराणादि में यह भी स्पष्टतः कहा गया है कि चतुर्युग के अन्त में या प्रलय काल में वेद का नाश हो जाता है और पुनः सृष्टि में या कृतयुग में वेद का आविर्भाव होता है (भाग० ११।१४।३, विष्णु० ३।२।४४)। महाभारत (शान्ति० ३९।१०५) में कहा गया है कि जब भी वेद का नाश होता है तभी विष्णु उसका उद्धार या रक्षण करते हैं। दर्शनग्रन्थों में भी 'प्रलयकाल में वेदनाश और उसके बाद वेद-सम्प्रदाय-प्रवर्तन' का उल्लेख प्रायेण मिलता है (न्याय-वार्त्तिकतात्पर्यटीका २।१।६८)। "अयं शाखाभेदो विच्छेदे पुनः पुनः भवति इति आगमः"—यह भर्तृहरिवाक्य (वाक्यपदीय १।६ की स्वोपक्ष टीका) भी वेद की प्रवाहनित्यता को ही लक्ष्य करती है। ऐसे उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि वेद के अंशविशेषों का लोप तथा वेदसंप्रदाय का विच्छेद चिरकाल से ही होता आ रहा है। पुराणों में जो "प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते[२] (मत्स्य० १४५।५८, वायु० ५९।५६) कहा गया है, उसका भी यही अभिप्राय है कि यथाकाल वेद के लोप और नूतन वेदांशों के निर्माण होने के कारण वेद में कुछ न कुछ पार्थक्य आ ही जाता है। विभिन्न मन्वन्तरों में व्यासों द्वारा वेद के विभाग रूप पौराणिक उल्लेख से भी यह अनुमित होता है कि चिरकाल से वेद कोई ह्रास-वृद्धि-हीन शब्दराशि की तरह विद्यमान नहीं है, बल्कि वे५ में नाना प्रकार के परिवर्तन, परिवर्जन और परिवर्धन होते आ रहे हैं।

भारतीय आचार्यों को यह ज्ञात था कि केवल वेद ही नहीं, अपितु सभी धर्म और शास्त्र कालावच्छिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ—नारायणीय उपाख्यान में नारा-

---

२. यहाँ का श्रुति शब्द स्मृति का भी उपलक्षण है, यह तन्त्रवार्त्तिक १।३।३ के 'प्रतिमन्वन्तरं चैव स्मृतिरन्या विधीयते' वाक्य से ज्ञात होता है। वस्तुतः सभी शास्त्रों में यह मत अंशतः चरितार्थ होता है।

यणीय धर्म का बहुधा लोप होने का उल्लेख मिलता है (शान्ति० ३४८।५१-५२)। गीता ४।१-२ में भी योग की कालनष्टता कही गई है, अतः वेदसम्प्रदाय या श्रौतधर्म का भी यथाकाल नाश होता है और पुनः उपयुक्त निमित्त से उसका प्रादुर्भाव होता है, यह मत भारतीय दर्शनपरम्परा को सर्वथा अनुमत है। कहीं-कहीं वेद के साथ पुराणादि के भी नाश और उद्धार की बात कही गई है (मत्स्य० ५३। ५७)। ईदृश स्थलों में भी पूर्ववत् उपपत्ति करणीय है। पुराण की परम्परा भी वेदवत् प्राचीन ही है (द्र० भूमिका) और उसमें भी यथाकाल उच्छेद एवं नवीन संयोजन हुआ है, यह ज्ञातव्य है।[3]

असुरों द्वारा वेदापहरण सम्बन्धी घटनाओं में निम्नोक्त विशेष द्रष्टव्य हैं, यथा——

वेदनाश का काल——पुराणों के पूर्वोक्त स्थलों पर प्रायेण यह कहा गया है कि एकार्णवावस्था में या प्रलयान्तर सृष्टिकाल में असुरों द्वारा वेद का अपहरण किया जाता है। इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि पुराणकार समझते थे कि सृष्टि के आरम्भ से ही वेद का प्रवर्तन होता है (द्र० वेदोत्पत्तिपरिच्छेद) और वेदारम्भ-काल से ही वेदविरोधी सम्प्रदाय सक्रिय रूप से वेद का नाश और अपहरण करना चाहते हैं अर्थात् वैदिक धर्म के विरोधी चिरकाल से ही हैं। पुराणों में तथा वैदिक ग्रन्थों में भी असुरों को प्राजापत्य (=सृष्टिकर्ता प्रजापति से जात) कहा गया है (शतपथ० १।७।२।२२, बृहदारण्यक० १।३।१), अतः सृष्टि के आरम्भ से ही वेदविरोधी असुरकर्तृक वेद के अपहरण का वर्णन करना पुराणकारों की दृष्टि में उचित ही है। सृष्टिकाल के अतिरिक्त अन्य काल में भी वेदोच्छेद का प्रसंग महाभारत आदि में मिलता है, जो यथास्थान विवृत हुआ है।

वेदापहारक असुर——वेदापहारक असुरों में मधुकैटभ, शङ्ख आदि नाम प्रमुख हैं। इन असुरनामों का विवक्षित तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। शान्ति० ३४७।२५-२६, हरिवंश० ३।१३।१-२ (द्र० नीलकण्ठी टीका) में मधु-कैटभ को तामस-राजस कहा गया है; सम्भवतः राजस-तामसप्रकृतियुक्त व्यक्तियों द्वारा वैदिक धर्म का नाश किया जाता है, इस तत्त्व को लक्ष्य कर ऐसा कहा गया हो।[4] जो कुछ भी हो,

---

३. आगमों में भी शास्त्रों का एतादृश उच्छेद स्वीकृत हुआ है। इस सम्प्रदाय में यह प्रसिद्धि है कि नौ करोड़ आगम ग्रन्थों का क्रमशः ह्रास हुआ है (कान्तिचन्द्र पाण्डेय कृत Abhinavagupta **पृ० ७०)। कालविप्लुत सांख्यज्ञान का उल्लेख भाग० १।३।१० में है।**

४. मधुकैटभ आदि का आध्यात्मिक अर्थ भी प्रचलित है, जिस पर यहाँ कुछ कहना अप्रासंगिक होगा। प्रचलित ऐतिहासिक दृष्टि से ही यहाँ विचार किया जा रहा है।

वेदापहरण प्रसंग में असुरों का ही उल्लेख करना असुरों के वेदविरोधी मनोभाव को ज्ञापित करता है तथा यह भी ज्ञापित करता है कि वेदविरोधी असुरप्रकृति के सम्प्रदाय द्वारा ही स्वेच्छा से बलपूर्वक श्रौतधर्म के प्रवर्तन, प्रसारण में बाधा उत्पन्न की गई थी।

ब्रह्मा और वेदनाश—उपर्युक्त आख्यायिकाओं में कहीं कहीं वेदोद्धार के बाद विष्णु द्वारा ब्रह्मा को वेदोपदेश करने का उल्लेख मिलता है। यह स्पष्टतः श्वेताश्वतर० ६।१८ के वचन पर आधृत है। वेद-सम्प्रदाय के प्रवर्तन में ब्रह्मा को मूल पुरुष मानने की प्रवृत्ति यद्यपि प्राचीन वैदिक संहिताओं में नहीं मिलती, तथापि अर्वाचीन उपनिषदों में यह प्रवृत्ति दृष्ट होती है (मुण्डक० १।१।१)। सृष्टिकाल में ब्रह्मा के मुख से वेदों का प्रादुर्भाव भी पुराणों में बहुशः कहा गया है (द्र०-वेद-सृष्टि-परिच्छेद)। यह भी ब्रह्मा को वेदसम्प्रदाय के मूलपुरुष के रूप में सिद्ध करता है। परन्तु यह दृष्टि अप्राचीन और अनैतिहासिक है। इस ब्रह्मा को पुराणों में विष्णु के अधीनस्थ रूप में वर्णित किया गया है, अतः पुराणकारों ने अपनी दृष्टि के ही अनुसार 'ब्रह्मा के प्रति विष्णु द्वारा करुणावश वेदोपदेश' करने का उल्लेख किया है। विष्णु द्वारा ब्रह्मा के प्रति उपदेश करना (भागवत० का प्रथम श्लोक) अर्वाचीन काल की प्रवृत्ति है; प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में ब्रह्मा को प्रजापति (गोपथ० २।५।८) या प्राजापत्य (तै० ब्रा० ३।३।८।३) माना गया है, पर उनके विषय में इस प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता।

वेदोद्धारक विष्णु[५]—वेदोद्धारकर्ता के रूप में विष्णुस्वरूप मत्स्य और हयग्रीव का मुख्यतः उल्लेख है। हो सकता है कि विष्णु सत्त्वगुणधिष्ठित देव हैं (पुराणों के अनुसार), पालन-रक्षण क्रिया विष्णु की है, अतएव उनके द्वारा वेदरक्षण रूप-कार्य दिखाया गया हो। यह भी कहा जा सकता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में "यज्ञो वै विष्णुः" (शतपथ० १।१।२।१३, ताण्ड्य० १।६।१०) कहा गया है, यज्ञ वेदप्रतिपाद्य विषय है, अतः यज्ञप्रतिपादक वेद की रक्षा के लिये विष्णु की चेष्टा का वर्णन करना पुराणकारों की दृष्टि में समीचीन है। प्रायः मत्स्य अवतार को आदिम अवतार के रूप में माना जाता है, अतः सृष्टिकाल में अपहृत वेद का उद्धार मत्स्यावतार के द्वारा कहा गया है। हयग्रीव का आविर्भाव भी सृष्टिकाल में माना गया है (शान्ति० ३४७ अ०)। सृष्टि की प्रवाहनित्यता पुराणों में भी कही गई है, अतः वेदप्रचवन में बार बार बाधाएँ आई हैं, यह भी पौराणिक दृष्टि से सिद्ध होता है।

---

५. विष्णु के इन अवतारों के काल और बहुविध कर्मों के विषय में संक्षेप भागवतामृत ग्रन्थ (अवतारप्रकरण) द्रष्टव्य है।

कहीं कहीं शिव-प्रेरणा से 'विष्णु द्वारा वेदोद्धार' का उल्लेख मिलता है (रेवा० ९ अ०)—यह शैवसम्प्रदाय की दृष्टि के अनुसार ही है।

वेदनाश-जनित हानि[६]—वेदापहरणप्रसंग में तथा अन्यत्र वेदनाशजनित हानियों का जो विवरण पुराणों में दिया गया है (ब्राह्म० २१३।१०७।१०९, पद्म० ६।२५८।१-३१, हरिवंश० १।४१।१०५-१०७) उससे यह ध्वनित होता है कि उन हानियों के प्रति लक्ष्य रखकर ही वेदनाश, वेदार्थविप्लव आदि की कल्पना पुराणकारों ने की है। वे समझते थे कि चिरकाल से ही श्रौतधर्म में ह्रास-विपर्यास होते आ रहे हैं और वे इसके कारण के रूप में वेदपरम्परा का विच्छेद ही समझते थे। जब पुराणों में कहा गया है कि वेद का नाश होने पर यज्ञादि कर्मों का नाश होता है या वेद के विना संसार की सृष्टि नहीं हो सकती (शान्तिपर्व० २४७। ३४) तो उसका अर्थ यही होता है कि पूर्वाचार्य वेद की अविच्छिन्न धारा को लोक और धर्म का आश्रय समझते थे, अतः यज्ञादिधर्मों के ह्रास को देखकर वे अनुमान लगाते थे कि निश्चय ही पूर्व काल में भी वेदप्रवचनधारा में कोई बाधा उत्पन्न हुई थी। वेदप्रचार में बाधा देने की शक्ति असुरों में ही हो सकती है—यह भी उनकी मान्यता थी।

वेदोद्धार के अनन्तर वेद की स्थिति—यह निश्चित है कि केवल वाङ्मय के आधार पर यह विषय विशद रूप से ज्ञात नहीं हो सकता, तथापि पुराणों में इस विषय के जो विवरण मिलते हैं, उनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि कतिपय वेदांशों के नष्ट या विपर्यस्त होने पर भी प्राचीन वेदों के अनेक अंश गुरुशिष्यपरम्परा में प्रायेण अधिकृत रूप में चले आ रहे हैं। इस विषय में पुराणों के एक-दो स्थानों पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। यथा पद्म आदि० ३९।४४-४५ में कहा गया है कि वेद के विशीर्ण होने के बाद पुनः वेद के उद्धृत होने पर जिस ऋषि ने पहले जितना अभ्यास किया था, यह अंश उस ऋषि के पास उपस्थित हुआ। इससे 'ऋषि परम्परा में वेद की बहुत कुछ अक्षुण्ण स्थिति' ज्ञापित होती है। कार्त्तिक मास० १३।४१-४२ में और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आहृत वेद का जितना अंश जिस ऋषि ने प्राप्त किया, उतना अंश उस ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह वाक्य भी पूर्वोक्त सिद्धान्त का ही ज्ञापक है।

कहीं कहीं पुराणों में वेदापहारक असुरों के द्वारा अपहृत वेदों के लिये 'अन्योन्य-मिश्रित'[६] विशेषण दिया गया है (पद्म०६।२५८।२९), इससे यह स्पष्टतः ज्ञात होता

---

६. इस प्रकार 'अन्योन्यमिश्रित' होने के कारण ही कभी कभी वेद को 'एक' कहा जाता है। व्यास को जो वेद परम्परा से मिला था वह 'एकीभूयस्थित' था

है कि वेदों के स्वरूप में नानाविधि विपर्यास भी हो चुके हैं। वेदों में कहीं कहीं प्रकरणों की जो अव्यवस्था दिखाई पड़ती है, उसका कारण भी वैदिक प्रवचन-धारा का आंशिक उच्छेद ही है। पुराणों में यह भी कहा गया है कि अन्योन्य-मिश्रित वेद का विभाग व्यास ने किया है (पद्म० ६।२५८।२९)। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यास को जो वेद मिला था[७] वह बहुत कुछ संकीर्ण था और गुरु-परम्पराप्राप्त वेद का विभाग भी व्यास ने ही किया था। सहस्रों वर्षों से गुरुशिष्य-परम्परा में पल्लवित होने वाले शास्त्र के आंशिक लोप और विपर्यास आदि होना सर्वथा सम्भव ही है और लोप आदि होने पर भी शास्त्र का प्राचीन रूप बहुत कुछ अविकृत रूप से चला आ रहा है--पुराणों के उपर्युक्त वचन इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं।

ऋषियों द्वारा वेदों का उद्धार---विष्णु की तरह कहीं कहीं ऋषिविशेष द्वारा वेदोद्धार की बात भी कही गई है (हरिवंश० १।४१।१०४-१०८, ब्रह्म० २१३। १०७-१०९)। पुराणों की तरह काव्यों में भी ऐसी घटनाओं का अनुस्मरण मिलता है (बुद्धचरित १।४७)। उपर्युक्त पौराणिक उल्लेखों में यह स्पष्ट ही है कि यह घटना सर्गादिकालिक नहीं है, बल्कि यह प्रतीत होता है कि ये स्थल उत्तरकाल में वेदनाश-सम्बन्धी घटना-विशेष का संकेत करते हैं। पूर्वोक्त स्थलों में दत्तात्रेय द्वारा वेदरक्षण का उल्लेख किया गया है। यहाँ के विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वेदनाश और यज्ञादिक्रिया नाश अविनाभावी है और वेद की रक्षा होने पर वर्ण-धर्म-यज्ञादि सुप्रतिष्ठित हो जाते हैं। इन उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि श्रौतधर्म के ह्रास-विपर्यास को देखकर ही वेदापहरण की कल्पना पौराणिकों ने की थी।

प्राकृतिक दुर्घटना से वेदनाश---राजनीतिक कारणों की तरह प्राकृतिक कारणों से भी परम्परागत वेद के अंशों का लोप हुआ है, यह निश्चित है। इन्द्र के द्वारा साम वेद की कुछ शाखाओं का नाश होने (चरणव्यूह, पृ० ४३) की कथा का ऐसा ही कोई अभिप्राय होगा। सम्भवतः किसी प्राकृतिक दुर्घटना के कारण

(भट्टभास्कर-कृत तैत्तिरीय-संहिता-भाष्यारम्भ)। यह विशेषण भी विभिन्न प्रकार के वेदावयवों के अन्योन्य सांकर्य को ज्ञापित करता है। व्यास से पहले वेद की स्थिति ऐसी ही थी और व्यास ने यज्ञकर्मानुसार पुनः परम्परा-प्राप्त वेद के विभाग किए थे। सम्प्रदाय के उच्छेद आदि के कारण वेद की ऐसी स्थिति होना पूर्णतः सम्भव है।

७. महीधरकृत यजुर्वेदभाष्यारम्भ (ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदम्....)

सामशाखाविशेषवित् विद्वानों का सम्प्रदाय उच्छिन्न हो गया था, जिसके लिये यह घटना कल्पित की गई है।

कहीं कहीं अनावृष्टि आदि कारणों का नामतः उल्लेख भी मिलता है (शल्य० ५२।४१-५२)। यहाँ दीर्घकालीन अनावृष्टि के कारण वेदाध्ययन का नाश और सारस्वत द्वारा वेदाध्ययन का पुनः प्रवर्त्तन कहे गए है। सारस्वत की यह कथा बुद्धचरित १।४७ में स्मृत है। पद्म० १।३९।४३-४५ में भी अङ्गिराः—पुत्र सारस्वत द्वारा नष्टप्राय वेद के अध्ययन का प्रसंग है। यहाँ भी "येन यत् पूर्व-मम्यस्तं तस्य तत् समुपस्थितम्" (१।३९।४५) कहा गया है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि वेद का सम्प्रदाय विच्छिन्न होता हुआ भी बहुत कुछ अविकृत रूप से चला आ रहा है।

कलियुग में वेद की नष्टप्राय स्थिति—प्रायः प्रत्येक पुराण में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि कलियुग में वेद की स्थिति नष्टप्राय हो जाएगी।[८] इस प्रकार का कोई संकेत वैदिक ग्रन्थों में (या निरुक्त-बृहद्देवता सदृश ग्रन्थों में) नहीं मिलता। कलि को शयान कहा गया है (ऐ० ब्रा० ७।१५), पर कलियुग में वेद की कैसी स्थिति होगी, इस विषय में कोई उल्लेख प्राप्तव्य नहीं है।

चूँकि प्रचलित पुराणों के रचनाकाल से पहले ही बौद्ध एवं जैनधर्म का प्रचार हो गया था तथा अंशतः बहिश्चर जातियों के कारण वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में आंशिक बाधा उत्पन्न हो गई थी, अतः पुराणकारों ने यह अनुमान किया था कि कलियुग में वेद की मर्यादा क्रमशः नष्ट होती जाएगी। कलिधर्म-सम्बन्धी पौराणिक निर्देश अत्यन्त प्राचीन काल के नहीं हैं, यह भी प्रसंगत ज्ञातव्य है। यह प्रतीत होता है कि बौद्ध-जैन मत के प्रादुर्भाव के बाद कलिधर्म-प्रकरण कथित हुआ है, क्योंकि कलिवर्णन में कुछ इस प्रकार के तत्त्व उल्लिखित हुए हैं,

---

८. वेद की अव्यवस्था तथा नष्टप्राय अवस्था का उल्लेख पुराणोक्त कलि-वर्णन में सर्वत्र देखा जाता है। यज्ञादिलोप का उल्लेख भी वेदलोप का ही ज्ञापक है। कलियुग-वर्णन के कुछ आकर स्थलों का निर्देश यहाँ किया जा रहा है—बनपर्व १८८ अ०, १९० अ०, हरिवंश० ३।३-४ अ०, ब्रह्म० २२९-२३० अ०, वायु० ५८ अ०, मत्स्य० १४४ अ०, कूर्म० १।३० अ०, विष्णु० ६।१-२ अ०, भाग० १२।२ अ०, ब्रह्माण्ड० १।३१ अ०, नारदीय० १।४१ अ०, लिङ्ग० १।४० अ०, नृसिंह० ५४ अ० आदि।

जिनमें स्पष्टतः बौद्धादि की सत्ता का ज्ञान होता है (H. Dh. S. भाग ३, पृ० ८९५ की टि० १७५४)।[१]

युगान्त में वेदनाश—कलियुग-वर्णन के साथ ही यह भी कहा गया है कि युगान्त में वेद का नाश हो जाएगा और सृष्टि के आदि में वेद का प्रादुर्भाव होगा। ये नाश और प्रादुर्भाव वेद की नित्यता को लक्ष्य कर ही कहे गए हैं। पुराणकार वेद और भगवान् को अभिन्न रूप में मानते थे, अतः वे समझते थे कि जिस प्रकार सृष्टि-प्रलय का चक्र आवर्तमान होता है, उसी प्रकार वेद का आविर्भाव भी होता रहता है। इस मत को अर्वाचीन ही समझना चाहिए।

---

१. "शूद्रा वाजसनेयिनः" ऐसा एक पुराणमत मिलता है; यह कूर्मपुराण-वाक्य है, ऐसा वर्षक्रियाकौमुदी पृ० ५७५ में कहा गया है। शूद्रकमलाकर (पृ० ५१) इस वाक्य को उद्धृत कर "इति गौडनिबन्धे दक्षोक्तेः" कहता है। शूद्र यजुर्वेदी की तरह कार्य को निष्पन्न करे—यह इस वाक्य का तात्पर्य है।

तृतीय परिच्छेद

वेदों के पद-क्रम-पाठ और विकृतियाँ

पदक्रमपाठ की आवश्यकता और प्राचीनता—संहितापाठ के साथ पदक्रम-पाठ और जटादिविकृतियों के पाठ वैदिक संप्रदाय में प्रचलित हैं। इन पाठों में पदपाठ प्रत्यक्षत: वेदार्थ के साथ संबद्ध है, क्योंकि इस पाठ में पदों का विभाग (उपसर्ग, धातु आदि का पृथक्करण) किया गया है। निरुक्त सदृश प्राचीन ग्रन्थ में भी पदपाठ का उल्लेख मिलता है (५।२१ ख०, २।१३ ख०)। व्याकरणशास्त्र में भी पदपाठ और अवग्रह का प्रसंग क्वचित् दृष्ट होता है (महाभाष्य ८।२।१६, महाभाष्यप्रदीप ३।१।१०९; ६। ४।६४)। पूर्वाचार्यों ने कहीं कहीं पदपाठ के साथ शब्दशास्त्रीय नियमों के बलाबल पर भी विचार किया है (निरुक्तसमुच्चय पृ० ६७)। कैयट ने पदविच्छेदरूप पदपाठ को 'पौरुषेय' और संहितापाठ को 'नित्य' कहा है (प्रदीप ३।१।१०९)। शब्दविचारपरायण ग्रन्थों में पदपाठ के एतादृश उल्लेखों से इस पाठ की महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

क्रमपाठ यद्यपि प्रत्यक्षत: अर्थ से सम्बद्ध नहीं है, तथापि वैदिक शब्दों की पौर्वापर्य-रक्षा की दृष्टि से यह पाठ महत्त्वपूर्ण है। ऋक्प्रातिशाख्य में इस पाठ पर पर्याप्त विचार किया गया है। (१०-११ पटल)। एकादश पटल के अन्त में क्रमपाठ की प्रशंसा और उसकी आवश्यकता के विषय में जो कुछ कहा गया है, उससे इस पाठ की महत्ता स्वत: सिद्ध हो जाती है। ऐ० आ० ३।१।३ में सायण ने सोदाहरण[1] यह दिखाया है कि क्रमपाठ से उस भ्रम का भी दूरीकरण हो जाता है जिसका दूरीकरण संहितापाठ और पदपाठ की सहायता से सम्भव नहीं है।

इन दोनों पाठों के उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। पाणिनि ने क्रमादिगण (४।२।६१) में क्रम और पद का और उक्थादि गण (४।२।६०) में संहिता तथा पद-क्रम का उल्लेख किया है। यहाँ पदक्रम का एकपद के रूप में उल्लेख इस दोनों की एकजातीयता का ज्ञापक है। ऐ० आ० ३।१।३ में संहिता-पद-क्रम का साक्षात्

---

१. "तथाहि-अग्निमीले इत्यस्यां....क्रमकाले तु नोक्तभ्रमद्वयम् अस्ति, द्विविधस्वरस्य पठ्यमानत्वात्"—यह अंश द्रष्टव्य है।

सम्बन्ध कहा गया है। सायण ने यहाँ स्पष्ट रूप से कहा है कि संहितोपासक महर्षि संहिता-पद-क्रम की एक साथ उपासना करते थे (३।१।३ का आरम्भ)। इन उल्लेखों से इन पाठों की प्राचीनता और महत्ता सिद्ध होती है।

प्रातिशाख्य तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में व्यवहृत निर्भुज-प्रतृण्ण शब्द पुराणों में प्रयुक्त नहीं हुए है, यह ज्ञातव्य है।

जटादि अष्ट विकृतियों की आवश्यकता और प्राचीनता—अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त तथा ऋक्प्रातिशाख्य आदि प्राचीन ग्रन्थों में जटादि अष्ट विकृतियों का उल्लेख नहीं मिलता है। अर्थज्ञान की दृष्टि से इन विकृतियों की कोई आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती, अतः प्रतीत होता है कि अर्वाचीन काल में जब वैदिक सम्प्रदाय में यह प्रसिद्ध हो गया था कि मन्त्रों की आनुपूर्वी के यथाश्रुत पाठ करने पर भी पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, मन्त्रार्थज्ञान की आवश्यकता नहीं है, उस समय इन विकृतियों का प्रचलन हुआ था। यह भी ज्ञातव्य है कि क्रमपाठ द्वारा ही शब्दानुपूर्वी की रक्षा पूर्णतः सम्भव होती है, अतः जटादिविकृतियाँ केवल कर्मजड़बुद्धि वेदशब्दाभ्यासियों का एक अनावश्यक अध्ययन-प्रकार है, ऐसा कहना असंगत नहीं होगा। इन पाठों का सम्बन्ध अदृष्ट और पुण्य के साथ जोड़ा गया है (द्र० जटादिविकृतिलक्षण टीका के आरम्भ में उद्धृत आदित्यपुराणादि के मत तथा सातवलेकर संपादित ऋग्वेद पृ० ८०८ में उद्धृत वराहपुराण का वाक्य)[२] और यह भी कहा गया है कि संहितापदक्रमपाठ से जटापाठ में अधिक पुण्य होता है। अर्थज्ञान में इन विकृतियों की अनावश्यकता के कारण ही इनकी अदृष्टार्थकता समाज में मानी जाती थी, ऐसा कहना असंगत नहीं है।

पुराणों में 'अष्टविकृति' का कोई विवरण नहीं मिलता, और न सब विकृतियों के नाम ही मिलते हैं, केवल जटा और घन विकृति का उल्लेख मिलता है (धर्मारण्य० ६।७, ३९।६)। पुराणों में व्याडिकृत विकृतिवल्ली और जटापटल नामक अष्टविकृतिसम्बन्धी ग्रन्थ का निर्देश नहीं मिलता। कुछ पुराण-श्लोकों की व्याख्या में चरणव्यूहटीकाकार महिदास ने विकृति की चर्चा की है (पृ०३), यथा—भागवत० में कहा गया है कि पैल ने इन्द्रप्रमिति को और इन्द्रप्रमिति ने बाष्कलादि को शाखाविशेष पढ़ाया था (१२।६।५४) इत्यादि। यहाँ महिदास ने "इन्द्रप्रमिति ने जटान्त अध्यापन किया,......शाकल्य ने संहितापदक्रमजटादण्डान्त अध्यापन किया"-ऐसा कहा है।

---

२. प्रचलित सौरपुराण (अर्थात् आदित्य पुराण) और वराह पुराण में ये श्लोक नहीं मिलते हैं।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से ज्ञात होता है कि महिदास की यह व्याख्या असंगत है। भागवतटीकाकार श्रीधर स्वामी ने ऐसी व्याख्या नहीं की है (भागवत० की अन्यान्य व्याख्याएँ भी श्रीधरानुसार ही हैं)। पुराण के शब्दों से महिदास-सम्मत भाव निर्गलित नहीं होता, यह स्पष्ट है। विष्णु० में (वायुब्राह्मण्ड० में भी) यह विषय आया है; विष्णु० की श्रीधरीटीका में इस स्थल का विकृतिपरकव्याख्यान नहीं किया गया है। पाराशर्य व्यास के समय में जटादिविकृतियाँ प्रचलित थीं, इसका प्रमाण नहीं मिलता; किंच पैलादि द्वारा विकृति-पाठ-संहित अध्यापन कहीं वर्णित भी नहीं है, अतः महिदास की व्याख्या असंगत ही है।

जटादिविकृतिसम्बन्धी साहित्य—अष्टविकृति पर व्याडि के दो ग्रन्थ थे—विकृतिवल्ली और जटापटल (द्र० अष्टविकृतिविवृति ग्रन्थ की बंगभाषामय भूमिका)। विकृतिवल्ली के आरम्भ में शौनक को नमस्कार किया गया है। जटापटल इस समय अप्राप्य है। मधुसूदन यति का अष्टविकृतिविवृति मुद्रित है। ग्रन्थारम्भ के श्लोक से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ ऋग्वेद से संबद्ध है और व्याडिमत के अनुसार प्रणीत है (व्याडयाचार्यानुमति, श्लोक १)। सातवलेकर-सम्पादित ऋग्वेद (पृ० ७९४) में जो "शैशिरीये समाम्नाये.....नातिविस्तरात्" श्लोक उद्धृत है, उससे भी व्याडिकृत अष्टविकृति-सम्बन्धी ग्रन्थ की सत्ता ज्ञात होती है। जटादिविकृतिलक्षण नामक एक अन्य ग्रन्थ भी मिलता है। इस ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि व्याडि ने जटापटलसंज्ञक ग्रन्थ रचा था। इस ग्रन्थ के अन्त में गौतम आदि अन्य आचार्यों के नाम भी लिए गए हैं। महिदास ने भी व्याडिकृत जटापटल का स्मरण चरणव्यूहटीका में किया है (पृ० ७, यहाँ "व्याडी" पाठ है, जो 'व्याडि' होगा)। महिदास ने चरणव्यूह (प्रथम खण्ड) की व्याख्या में अष्टविकृतियों का सोदाहरण विवेचन किया है। सातवलेकर-सम्पादित ऋग्वेद (पृ० ७९२-८०८) में भी यह विषय विशद रूप से विवृत हुआ है। गरुडपुराण के रत्नपरीक्षाप्रकरण में रसाचार्य व्याडि का उल्लेख मिलता है (१।६९।३७) पर यह व्याडि विकृतिकार व्याडि ही हैं—ऐसा स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता।[३]

वेद और पदक्रम—पुराणों में वेद के साथ पदक्रम का उल्लेख कई दृष्टियों से किया गया है। यथा—

---

३. व्याडिकृत विकृतिवल्ली को 'ऋग्वेदीय परिशिष्ट' माना जाता है। बह्वृच शौनक के प्रति नमस्कारपरक आरम्भिक श्लोक (नत्वादौ शौनकाचार्यं गुरुं वन्दे महामुनिम्) से भी ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ ऋग्वेद-सम्बद्ध है।

पदक्रम के साथ वेद का आविर्भाव हुआ था, ऐसा उल्लेख पुराणों में मिलता है (मत्स्य० ३।२)। ऐतिहासिक दृष्टि से यह असंगत है, अतः ऐसी उक्ति का अभिप्राय विचार्य है। संहिता के साथ पदक्रम का निकटतम संबन्ध है यह ऐ० आ० ३।१।३ से सिद्ध होता है। संहिता के साथ साथ पदक्रम का अध्ययन करना भी वेदाभ्यासियों की परम्परा में प्रचलित था, अतः पुराणकार यह समझते थे कि वेद और पदपाठ साथ साथ चिरकाल से ही विद्यमान हैं। वस्तुतः मन्त्ररचना-काल और पदपाठकाल में निश्चय ही बड़ा अन्तर है। पदपाठकार अनेकत्र पद-विभागों में सन्दिग्धचित्त भी रहते थे (महाभाष्यप्रदीप ३।१।१०९)[४] तथा सर्वत्र-पदपाठकारों का ऐकमत्य भी नहीं है, अतः मन्त्र और पदपाठ समकालीन नहीं हो सकते। अध्ययन-पद्धति में संहिता के साथ पदक्रम के अविच्छिन्न सम्बन्ध के प्रचलन के कारण ही अर्वाचीन काल में यह धारणा उत्पन्न हुई थी कि वेद के साथ ही पद-क्रमपाठों का भी प्रणयन हुआ था। कुछ प्राचीन विद्वान् भी पदपाठ को वेदवत् प्राचीन नहीं मानते थे; विश्वरूप ने याज्ञवल्क्यस्मृति ३।२४२ की टीका में पदपाठ को पौरुषेय ही माना है (द्र० महाभाष्य प्रदीप ३।१।१०९ भी)।

पुराणों में वेदाध्ययन, वेदगान, वेदपाठ आदि के साथ भी पदक्रम का उल्लेख मिलता है (पद्म भूमि० १०५।५८, काशी०११।४२, भाग० १२।१३।१)। त्रयी को 'पदक्रम से उपजीव्यमाना' कहा गया है (धर्मारण्य० ६।७)। इन उल्लेखों से वेदाध्ययन-क्षेत्र में पदक्रम का स्थान कितना अपरिहार्य था, यह ज्ञात होता है। पदक्रम का क्रमिक अध्ययन अष्टाध्यायी में भी कहा गया है (२।४।५)। अष्टाध्यायी में पदक्रम का समासबद्ध उल्लेख है (४।२।६०) जहाँ संहिता को पृथक् पढ़ा गया है। वैदिक अध्ययन में पदक्रम का पारस्परिक सामीप्य इससे सिद्ध होता है। पुराणों में प्रायः सर्वत्र पदक्रम का युगपत् उल्लेख है—यह व्यवहार भी पूर्वोक्त धारणा के अनुसार ही है।

पुराणों में पदक्रम का विशेष सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ दिखाया गया है। वायु० ६५।२४, ब्रह्माण्ड० २।१।२३ में ऋग्वेद का विशेषण 'पदक्रमविभूषित' दिया गया है (यहाँ ब्रह्माण्ड० का 'यश्चक्रम' पाठ भ्रष्ट है)। पदक्रम के साथ ऋग्वेदीय शतरुद्र के जप करने का उल्लेख वामन० ६२।१४ में मिलता हैं, उसी प्रकार ब्रह्म० ५९।४९

---

४. उक्थादिगण (४।२।६०) में 'पदक्रम' शब्द समासबद्ध है (प्रक्रियासर्वस्व के अनुसार), जो 'पादक्रमिक' इस उदाहरण से प्रमाणित होता है। काशिका के मुद्रित संस्करण में 'पद' 'क्रम' इस प्रकार विभक्त रूप से पाठ है। यह पूर्णतः संभव है कि काशिका में यह मुद्रणप्रमाद हो।

में भी "ऋक्स्वरूपाय पदक्रमस्वरूपिणे" कहा गया है। बह्वृचकर्तृक पदक्रमपाठ भी अनेक स्थलों पर उल्लिखित हुआ है (आदिपर्व ७०।३७। वामन० २४।२१)। ऐसा उल्लेख यजुः-साम के साथ नहीं मिलता; यह सकारण है। पदक्रमपाठ ऋङ्मन्त्रों का ही होता है, क्योंकि क्रमपाठ के लिये अर्धर्च की आवश्यकता होती है (जटादिविकृतिलक्षण, कारिका १२)। पदपाठ यजुःमन्त्र का भी हो सकता है, अतः अन्य वेदों के साथ पदक्रम का उल्लेख नहीं किया गया है। सामवेद में केवल ऋङ्मन्त्र हैं, अतः मन्त्र की दृष्टि से सामवेद का पृथक् पदपाठ नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वररूप है; यजुर्वेद में ऋग्यजुः दोनों प्रकार के मन्त्र हैं, उसमें क्रमपाठ संभव नहीं है, अतः यजुर्वेद का विशेषण 'पदक्रमविभूषित' नहीं हो सकता। ऋग्वेद में केवल ऋङ्मन्त्र हैं (इसीलिये उसका एक नाम 'बह्वृच' है), अतः उसका यह विशेषण उचित ही है। अथर्ववेद में ऋङ्मन्त्र हैं, अतः अथर्वसंहिता का 'पदक्रमयुत' रूप विशेषण आदिपर्व में मिलता है (७०।४०)।

पदपाठ—पुराणों में पदपाठसम्बन्धी कुछ विशिष्ट उल्लेख भी मिलते हैं, जिन पर विचार करना आवश्यक है। वायु० ६०।६३ में शाकल्य को 'पदवित्तम' कहा गया है। यहाँ 'पद' का अभिप्राय 'पदपाठ' से ही है, क्योंकि शाकल्य के पदपाठ का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है (निरुक्त ६।२८ ख०)। दुर्ग ने यहाँ स्पष्टतः शाकल्य को पदकार कहा है; यह पदपाठ ऋग्वेदीय है।

प्राचीन ग्रन्थों में कई पदपाठकार स्मृत हुए हैं, पर पुराणों में इस प्रकार के निर्देश नहीं मिलते। तैत्तिरीयसंहिता-पदपाठ के कर्त्ता आत्रेय का उल्लेख तैत्तिरीयकाण्डानुक्रम में मिलता है।[५] स्कन्दकृत निरुक्त टीका (२।१३ ख०) में भी पदकार स्मृत हुए हैं। पुराणों में आत्रेय बहुधा स्मृत हुए हैं; महाभारत में भी आत्रेय ऋषि का बहुधा उल्लेख है (आदि० ५३।८, वन० १९२।४६, अनुशासन० १३७।३); परन्तु कहीं भी इनके पदपाठ का उल्लेख नहीं मिलता। उसी प्रकार गार्ग्यकृत सामपदपाठ भी दुर्गवृत्ति में स्मृत है (निरुक्त ४।४ ख०)। शब्दवित् गार्ग्य का उल्लेख यास्क-रथीतर के साथ बृहद्देवता में मिलता है (१।२६)। ऋक्प्रातिशाख्य १३।३१ और वाजसनेयी प्रतिशाख्य (४।१७७ उवटभाष्य) में भी गार्ग्य नाम आता है। पुराणों में तथा महाभारत (अनुशासन० ४।५५, १२७।९-१४) में अनेकत्र गार्ग्य का उल्लेख है; परन्तु कहीं भी उनके पदपाठ का नाम नहीं मिलता।

---

५. तैत्तिरीयकाण्डानुक्रम (श्लोक २६-२७); यजुर्वेदभाष्य विवरण भूमिका (पृ०४०, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु सम्पादित द्वितीय संस्क०) में यह विषय विवृत हुआ है।

वामन० २४।२२ में ब्रह्मा की सभा में पदक्रमवित् की स्थिति कही गई है—यह पदवित् की सामाजिक महत्ता और विद्वत्सभा में उसकी प्रतिष्ठा का ज्ञापक है।

क्रमपाठ—क्रमपाठकर्त्ता के विषय में इतिहास-पुराणों में विशिष्ट उल्लेख मिलते हैं। हरिवंश० १।२०।१३ में गालवकृत क्रमपाठ और शिक्षा का उल्लेख है। इनको ब्रह्मदत्त नृप का सखा कहा गया है। हरिवंश० १।२४।३२ में भी पाञ्चाल्य-कृत क्रम और शिक्षा का निर्देश है। हरिवंश० १।२४।१८ में जिस **बाभ्रव्य** का उल्लेख है, वह पाञ्चाल है, यह नीलकण्ठ ने कहा है। यह बाभ्रव्य पाञ्चाल बह्वृच (ऋग्वेदी) था (हरिवंश० १।२३।२१)। बाभ्रव्य बभ्रु का पुत्र (ऋक्प्रातिशाख्य ११।६५ की उवटटीका)।

शान्ति० ३४२।१०३-१०४ में बाभ्रव्य गोत्र पाञ्चाल को क्रम का प्रथम प्रवक्ता कहा गया है। पाञ्चाल को यह विद्या वाम से मिली थी, यह भी यहीं कहा गया है। वाम=वामदेव है (द्र० नीलकण्ठी)। क्रमपाठकार बाभ्रव्य पाञ्चाल ऋक्प्रातिशाख्य में भी स्मृत हुए हैं (११।६५, तथा ११।७० की उवटटीका)।

पूर्वाचार्यों ने क्रम की महत्ता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। इस विषय में ऋक्प्रातिशाख्य का एकादश पटल द्रष्टव्य है। वर्गद्वयवृत्तिकार कहते हैं कि क्रम के अध्ययन में संहिता और पदपाठ व्याप्त हो जाते हैं (पृ० १०)। अष्टविकृतियाँ क्रममूलक हैं, यह अष्टविकृतिविवृति (३ कारिका) से ज्ञात होता है (क्रममाश्रित्य निर्वृत्ता विकारा अष्ट)। इस विषय में "अष्टौ विकृतयः प्रोक्ता क्रमपूर्वा मनीषिभिः" वचन प्रसिद्ध है (अष्टविकृति विवृति की बंगला व्याख्या, पृ० २ में उद्धृत)।

इतिहासपुराण में 'क्रमशिक्षाविशारद' का भी उल्लेख मिलता है (आदिपर्व ७०।४२)। कण्वाश्रम के इस वर्णन से क्रमाध्ययन की महत्ता भी स्पष्ट हो जाती है।

पुराणों में जटादिविकृतियाँ—पुराणों में आठ विकृतियों का नामतः निर्देश नहीं मिलता, केवल जटा-घन—ये दो पाठ ही कथित हुए हैं। जटादिविकृतिलक्षण की टीका में आदित्यपुराण से एक श्लोक उद्धृत किया गया है (जटादिविकृतीनां ये.....पावनाः), जिसमें जटादिविकृति पद प्रयुक्त हुआ है (यह आदित्यपुराण सम्भवतः सौरपुराण है ; यह दृष्टि भी अत्यन्त अर्वाचीन है। यहाँ विकृतिज्ञ को पङ्क्तिपावन कहा गया है, जो अप्राचीन दृष्टि है)। इस टीका में इसी स्थान पर यह भी कहा गया है कि जटादिपाठ से विष्णुलोक-प्राप्ति आदि

फल भी मिलते हैं, जैसा कि वराहपुराण और पराशरस्मृति में कहे गए हैं। इस विषय में यह द्रष्टव्य है कि वराहपुराण में इस प्रकार का वाक्य नहीं मिलता और पराशर स्मृति के प्रचलित संस्करणों में भी ईदृश वचन का सर्वथा अभाव है। यह पूर्ण सम्भव है कि भ्रमवश या अपने मत की पुष्टि के लिये यहाँ पराशरस्मृति का नाम लिया गया हो (द्र० वेदान्तकल्पतरु ३।४।२० जहाँ पराशरस्मृति के एक वचन के विषय में कहा गया है—व्यवह्रिमाणपराशरस्मृतावदर्शनात्)[६]। विष्णुलोक-प्राप्ति कथन से सिद्ध होता है कि यह वाक्य अप्राचीन है।

जटापाठ—यह अष्टविकृतियों में प्रथम-विकृति है। विकृतिसम्बन्धी ग्रन्थों में सबसे पहले जटा का ही विवरण दिय गया है। जटा और दण्डपाठ अष्टविकृतियों में मुख्य हैं (आसां मध्ये जटादण्डयोः प्राधान्यम्-चरणव्यूहटीका, पृ० ७)। संहितापाठ की अपेक्षा जटापाठ में अधिक पुण्य होता है, यह वराहपुराण में कहा गया है (सातवलेकर सम्पादित ऋग्वेद, पृ० ८०८)। धर्मारण्य० ६–७ में त्रयी को 'पदक्रमजटाघनविभूषित' कहा गया है। मार्क० २९।८ में भी यह वाक्य है, परन्तु यहाँ पदक्रमजटाघन के स्थल पर में "साक्षया नापचीयते" पाठ है। मार्कण्डेय० का पाठ धर्मारण्य० से प्राचीनतर है और ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मारण्य-रचनाकाल में जटा-घन के सुप्रचलन होने के कारण ही यह नया पाठ लिखा गया था।

घनपाठ—धर्मारण्य० ६।७ में इस पाठ का उल्लेख है, यह पहले कहा गया है। धर्मारण्य० ३९।६ में संहितापदक्रम के साथ उच्चैः स्वर से घन पाठ करना भी कहा गया है। पुराणों में अन्यत्र घनपाठ का उल्लेख नहीं मिलता।

अष्टविकृतियों में जटापाठ की तरह घनपाठ की अपनी महत्ता है (घनस्तूभयानुसारित्वात्-चरणव्यूहटीका पृ० ७); सम्भवतः पाठों के क्षेत्र में इस महत्ता के कारण ही पुराणों में इन दो विकृतियों का ही उल्लेख मिलता हो, अन्यों का नहीं।

---

६. पुराणवचनों की असत्ता (पूर्वाचार्यों के द्वारा वचन के उद्धृत होने पर भी) स्वयं पूर्वाचार्यों ने ही कही है। मनु० ५।६६ की मन्वर्थमुक्तावली में इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है।

चतुर्थ परिच्छेद

वेद के पर्यायवाची शब्द

पुराणों में वेद के लिये निगम, छन्दः आदि अनेक पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। छन्दः आदि शब्दों के जो विवक्षित विशिष्ट अर्थ हैं, उन पर लक्ष्य रखकर ही इन शब्दों का प्रयोग पुराणकारों ने सर्वत्र किया है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इतना होने पर भी यह देखना आवश्यक है कि पुराणों में वेद के लिये किन-किन शब्दों के प्रयोग बाहुल्येन किए गए हैं या किन शब्दों के प्रयोग कदाचित् ही मिलते हैं। यह भी देखना आवश्यक है कि कहीं पुराणों के प्रयोगों से इन शब्दों के अर्थों पर कुछ प्रकाश पड़ता है या नहीं।

पुराणों में जितने वेद-पर्यायवाचक (या वेदज्ञापक) शब्द व्यवहृत हुए हैं, उनकी सूची यहाँ दी जा रही है। वेद-शब्द से पुराणों में प्रायेण संहिता-ब्राह्मण-उपनिषदों का ही ग्रहण किया जाता है, और कहीं कहीं वैदिकों की परम्परा भी वेदपद से अभिहित होती है, यह ज्ञातव्य है। पूर्व परिच्छेदों में इस पर विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

अनुश्रव—भाग० ३।२५।३२ में 'आनुश्रविक' शब्द है (अन्य पुराणों में यह शब्द नहीं मिलता)। श्रीधर ने इसकी व्याख्या की है—"गुरोरुच्चारणमनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः"। योगसूत्र १।१५ में आनुश्रविक शब्द हैं जहाँ अनुश्रव का अर्थ वेद है—ऐसा तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति ने कहा है। सांख्यकारिका की जयमंगला टीका[1] में अनुश्रव की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"अनुश्रूयते पारम्पर्येण इत्यनुश्रवो वेदः" (द्वितीय कारिका)। यह शब्द वैदिक परम्परा के स्वरूप को स्पष्टतः प्रकट करता है। इसी श्रुधातु से वेदवाची प्रसिद्ध श्रुतिशब्द भी निष्पन्न हुआ है।

---

१. सांख्यकारिका की जयमङ्गलाटीका के रचयिता का नाम अज्ञात है। सम्भवतः इसके रचयिता का नाम शंकराचार्य है (द्र० जयमंगला टीका की पं० गोपीनाथ कविराज कृत भूमिका का अन्तिमांश)।

अपराविद्या—विष्णु० ६।५।६५, लिङ्ग १।१६।५१–५२ और ब्रह्म० २३३।६२-६३ में ऋगादि चार वेदों को अपरा विद्या माना गया है। यह दृष्टि मुण्डक० १।१।४ में भी मिलती है। मुण्डक० में वेद और छह अङ्ग ही अपरा विद्या कहे गए हैं, पर अग्निपुराण में वेद और अङ्गों के साथ पुराणादि भी कथित हुए हैं, जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है।

आगम—विष्णु० ६।५।६१ में शब्द ब्रह्म को आगममय कहा गया है। ब्रह्म० २३३।५९ में भी यह मत है। यहाँ इस शब्द का अर्थ वेद है, यह पूर्वापरसम्बन्ध से जाना जाता है। अन्यान्य शास्त्रों में भी आगम को वेद का वाचक माना गया है।

पुराणों में वेद और आगम शब्द का एकत्र प्रयोग भी मिलता है (शिव० २।२।१०।२९।२।२।२७।३९)। आगमोक्त विधि और वेदोक्त विधि का उल्लेख वराह० २११।९२ में है। इसी प्रकार वेद और शिवागम भी एकत्र कहे गए हैं (शिव० ७।१२।३, लिङ्ग १।८५।३५)। ऐसे स्थलों में आगम का अभिप्राय वेदधारा से पृथक् एक अतिप्राचीन परम्परा या शास्त्र से है, यह ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार सिद्ध होता है। यह भी ज्ञातव्य है कि कहीं कहीं श्रुति की तरह स्मृति भी आगम-पदवाच्य होती है (वाक्यपदीय १।४१ की हरिटीका)[२]। पूर्वाचार्यों ने यह भी कहा है कि परम्परा में अविच्छेद्य रूप से आगत उपदेश आगम है (महाभाष्य की हरिटीका, पृ० १९)।

आम्नाय—भाग० १।४।२९, और ८।३।१५ में वेदसामान्य के लिये यह शब्द प्रयुक्त हुआ है (कर्मकाण्डपरक वेदभाग के लिये इसका प्रयोग भाग० ११।५।५ में मिलता है)। मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय आम्नाय है, यह सर्वत्र माना जाता है। अन्य पुराणों में क्वचित् ही यह शब्द प्रयुक्त हुआ है (वेंकटाचल० ३६।५, काशी० ६५।५१, कूर्म० २।१२।२)।

वेदवाची आम्नाय शब्द वाजसनेयी प्रातिशाख्य में प्रयुक्त हुआ है (१।४ की उवटटीका)। निरुक्तकार ने 'आम्नाय' कह कर ब्राह्मणवाक्यों के उद्धरण दिए हैं। (१।१६ ख०, ७।२४ ख०)। मीमांसा सूत्र में वेदसामान्य-अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है (१।२।१)। महाभाष्य ५।२।२९ में आम्नाय पद का अर्थ वेद ही है (वर्णानुपूर्वी खल्वपि आम्नाये नियता)। वैशेषिक १।१।३ में भी वेदवाची आम्नाय पद का प्रयोग हुआ है।

---

२. द्र० महाभाष्य-पस्पशाह्निक के 'आगमः खल्वपि' वाक्य की शिवरामेन्द्र सरस्वतीकृत व्याख्या—आगमो वेदः, स्मृतिरिति केचित्' (महाभाष्यदीपिका पृ० १९ की टिप्पणी)।

महाभारत (शान्तिपर्व २५९।९) में कहा गया है कि 'आम्नाय से पुनः वेद प्रसृत हुए हैं; यहाँ आम्नाय का अर्थ विचारणीय है। नीलकण्ठ ने 'आम्नाय' और 'वेद का अर्थ यथाक्रम वेद और स्मृति किया है, पर यह अर्थ असमीचीन है। यहाँ आम्नाय=प्राचीनतम मूल परम्परा है और इस दृष्टि से इस वाक्य का अर्थ होगा—प्राचीनतर मूल परम्परा से ही वेद का विकास हुआ। आम्नाय शब्द का 'मूल-परम्परा' रूप अर्थ "यत्र चाम्नायो विदध्यात्" इस गौतमधर्म सूत्रीय (१।५१) प्रयोग से जाना जाता है। यहाँ व्याख्याकार मस्करी कहते हैं—"अथवा आम्नाय-शब्देन मनुरुच्यते"। इससे सिद्ध होता है कि किसी परम्परा का मूल भी आम्नाय पदवाच्य होता है।[3] (यहाँ मूलधर्मशास्त्रकार मनु के मत को लक्ष्य कर आम्नाय पद प्रयुक्त हुआ है।)

आम्नाय पद के मूलभूत म्नाधातु के प्रयोगों से भी वेदवाक्य को लक्षित किया गया है। वेदान्तसूत्र १।२।३२ में "आमनन्ति चैनमस्मिन्" कहा गया है। तथा ३।३।२४ में 'अनाम्नान' शब्द है, यहाँ 'आम्नाय' पद से वेदवचन को लक्ष्य किया गया है।"[3]

ऋषि—भाग० २।१०।२२ और ४।२०।२२ में वेद के लिये ऋषि शब्द का प्रयोग किया गया है (हरिवंश० १।४९।१२ की श्रीधरी टीका, आर्ष=मन्त्र-प्रतिपाद्य)। यह ज्ञातव्य है कि ब्राह्मणग्रन्थों में "तदुक्तमृषिणा" कह कर सर्वत्र मन्त्र ही उद्धृत किए जाते हैं, गद्यमय ब्राह्मणवाक्य नहीं।[4] भाग० ८।७।३० में 'छान्दोमय ऋषि' शब्द है, जिसका अर्थ वेद है (द्र० श्रीधरी)। सम्भवतः आदिम ऋषि मन्त्रों के ही द्रष्टा होते थे (ब्राह्मण का प्रवचन बाद में हुआ है), अतः 'ऋषि' शब्द से मन्त्र का ग्रहण करना परम्परा से चला आ रहा है।

---

३. "चरणात् धर्माम्नाययोः" इस पाणिनिसूत्रवार्तिक (४।३।१२९) की व्याख्या में नागेश ने आम्नाय का अर्थ 'सम्प्रदाय' ही किया है। इसी दृष्टि से गौतमधर्मसूत्र ११।२२ गत आम्नाय पद की मस्करिव्याख्या (वेदधर्मशास्त्रादि) भी संगत ही हैं।

४. ब्राह्मणवचन के लिए भी 'ऋषि' पद प्रयुक्त होता है। महाभाष्य ३।१।७ में 'ऋषि' पठति कहकर जो 'श्रृणोत ग्रावाणः' वाक्य उद्धृत किया गया है, वह ब्राह्मणवाक्य है (तै० सं० १।३।२११)। महाभाष्य में अन्यत्र भी ब्राह्मण वाक्य के लिए ऋषिपद व्यवहृत हुआ है (५।२।९४ भाष्य के 'सन्मात्रे चर्षिदर्शनात' का उदाहरण द्रष्टव्य है)। "तेऽसुरा हेलयः....." इत्यादि गद्य वाक्य को भी 'ऋषि' कहकर पतञ्जलि ने उद्धृत किया है (महाभाष्य पस्पशाह्निक पृ० २६)।

लिङ्ग० १।१७।५६-५७ में कहा गया है कि चूंकि वेद के शब्दों से विश्वात्मा की चिन्ता की गई है, अतः शब्दात्मक वेद ऋषि पद-वाच्य होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि का मूल अर्थ 'वेदचिन्तक' है और लक्षणा से वेद को भी (मनन का प्रयोजक, इस दृष्टि से) 'ऋषि' कहा जा सकता है। कोई कोई ऋषि का मूल अर्थ वेद ही समझते हैं। इस दृष्टि का प्रमुख उदाहरण मेधातिथि के निम्नोक्त वाक्य में मिलता है—ऋषि र्वेद। तदध्ययनविज्ञान-तदर्थानुष्ठानातिशययोगात् पुरुषेऽपि ऋषि शब्दः।[5]

गीः—भाग० ४।२।१३ में "उशतीं गिरम्" प्रयोग आया है। श्रीधर उशतीं वेदलक्षणां गिरम्" कहते हैं। वाक्-सामान्यार्थक गीः शब्द उशती विशेषण के बल से वेदवाची हो गया है, यह ज्ञात होता है।

गीः शब्द का ऐसा प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता है (पुराणों में)। भाग० ४।२।२५ में 'श्रुता गीः' प्रयोग है। श्रीधर ने श्रुता=वेदरूपा कहा है, अतः अर्थ होगा 'वेदरूपा वाणी'।

छन्दः—भाग० ३।५।४०, २।१।३१, २।७।११, में वेद के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। छन्दः पद से केवल मन्त्र ही गृहीत हो, ऐसी सार्वत्रिक विवक्षा पुराणों में नहीं मिलती। स्मृतियों में भी मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय अर्थ में 'छन्दः' पद प्रयुक्त हुआ है। मनु० ४।९८ के 'छन्दांसि' पद की व्याख्या में मेधातिथि ने 'मन्त्र ब्राह्मण-समुदायात्मक वेद' अर्थ ही किया है।

कहीं कहीं 'छन्दः' पद मन्त्र के लिये ही आया है (छन्दांसि अयातयामानि, भाग० ४।१३।२७)। केवल मन्त्रार्थक 'छन्दः' शब्द का प्रयोग अष्टाध्यायी (छन्दोब्राह्मणानि ४।२।६६) आदि प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। दुर्ग ने भी निरुक्त के "छन्दोभ्यः समाहृत्य..."इस प्रारम्भिक वाक्य की व्याख्या में "छन्दांसि मन्त्राः" कहा है। हरिवंश० १।४१।१५ में "छान्दसी श्रुतिः" पद मिलता है, जिसका अर्थ है—वेदसम्बन्धी श्रुत वाणी। मनु० ९।१९ में "श्रुतयः निगमेषु" वाक्य है। यहाँ भी 'श्रुति' का अर्थ 'सुनी हुई या श्रोतव्य वाणी' ही है।

वृत्त के अर्थ में 'छन्दः' शब्द पुराणों में कहीं कहीं मिलता है। विष्णु० १। १२।६२ में "त्वत्तः छन्दांसि जज्ञिरे" वाक्य है (पुरुष सूक्त के आधार पर)। यहाँ यह पद गायत्र्यादि छन्दों का वाचक है। देवी भाग० ८।२।१० में "छन्दोमयैः स्तोत्रवरैः ऋक्सामाथर्वसम्भवैः" कहा गया है। यहाँ 'छन्द' शब्द वृत्त का वाचक

---

५. पुराणों में 'ॠषि' (दीर्घ ऋकारयुक्त') शब्द भी मिलता है (देवी भाग० ८।८।१६)।

है, और इसीलिये ऋगादिशब्द के साथ 'यजु' पद का उपादान नहीं किया गया है। यजु: छन्दोहीन है, यह मन्त्रपरिच्छेद में प्रतिपादित हुआ है।

त्रयी—वेदवाचक त्रयी शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ऋग्-यजु:-साम रूप त्रिविध मन्त्र को त्रयी कहा जाता है (मार्क० १०२।१५, विष्णु० २।११।७, ३।१७।५)। कभी कभी "त्रयं ब्रह्म" प्रयोग भी मिलता है। त्रय का शब्दार्थ है—त्र्यवयव-युक्त या त्रिविध। विद्या के विशेषण होने के कारण त्रय के स्थान पर 'त्रयी' शब्द प्रयुक्त होता है। पुराणों में 'त्रयी विद्या' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है (भाग० ११।१७।१२)। शतपथ० के "त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि" वाक्य से यही अर्थ ज्ञात होता है (४।६।७।१)।

इन तीन प्रकार के मन्त्रों द्वारा श्रौतयज्ञ निष्पादित होता है, इस दृष्टि से पुराणों में "ऋचो यजूंषि सामानि निर्ममे यज्ञसिद्धये" (ब्रह्म० १।४९, ब्रह्माण्ड० १।५।८८, अग्नि० १७।१३) कहा गया है, अतः यज्ञ (=कर्मकाण्ड) प्रतिपादक मन्त्रभाग ही त्रयी पद से अभिहित होता है। मार्क० १०।२७ के "ऋग्यजु: सामसंज्ञित: क्रियाकलाप:" वाक्य से यह स्वरूप और भी स्पष्टतया ज्ञात होता है। ब्राह्मण-भाग का साक्षात् ग्रहण त्रयी में नहीं होता, पर मन्त्रानुगत होने के कारण तथा कर्म-काण्ड के विधायक होने के कारण गौण रूप से ब्राह्मणों का अन्तर्भाव त्रयी में किया जाता है, यह श्री सामश्रमी ने स्पष्टत: कहा है (त्रयीपरिचय, पृ० ३)। पुराणों में यज्ञ के साथ त्रयी या त्रयीविद्या का उल्लेख प्रायेण मिलता है (भाग० १०।४०।५, १।५।२५, ४।३१।१०, ४।१४।२१; अन्यान्य पुराणों में भी ईदृश उल्लेख हैं) जिससे यह सिद्ध होता है कि त्रयी नियमत: यज्ञप्रतिपादक है। त्रयी के इस काण्डात्मक स्वरूप के कारण ही ज्ञानकाण्डप्रतिपादक उपनिषद् भागसे पृथक् कर त्रयी का उल्लेख किया गया है[६] (भाग० १०।८।४५, त्रयी=कर्मकाण्ड रूप—श्रीधर)। इसी दृष्टि से पर-विद्या से पृथक् करत्रयी का उल्लेख (कथंचित् हेयदृष्टि से) भाग० ५।९।८ में भी मिलता है (त्रय्यां विद्यायामेव पर्यवसितमतयो न परविद्यायाम्)।

त्रयी कर्मप्रतिपादक है, अतः उसकी निन्दा (या अप्रशस्तता) भी पुराणों में मिलती है। मार्क० १०।३१ में त्रयीधर्म को अधर्माढ्य कहा गया है।

---

६. बृहदारण्यक० ४।४।२२ में जो "वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" वाक्य है, उसके भाष्य में शंकराचार्य ने 'कर्मकाण्डपरक मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद' और 'उपनिषदात्मक वेद'—इस द्विविध वेद की सत्ता मानी है। आत्मज्ञान की विवक्षा में वेद का अर्थ उपनिषद् ही होगा, यह इस व्याख्यान से ज्ञात होता है। इस स्थल की आनन्दगिरिकृतटीका भी द्रष्टव्य है।

त्रयी में अथर्ववेद का समावेश होता है या नहीं, यह विषय इस ग्रन्थ के वेद-संख्या प्रकरण और अथर्ववेद प्रकरण में विचारित हुआ है।

यह भी ज्ञातव्य है कि वेदसामान्य के अर्थ में भी त्रयी का प्रचुर प्रयोग पुराणों में है (मार्क० ३५।५५)। जब कहा जाता है "सहस्रशीर्षा पुरुषः. . . त्रयीपथे निरुच्यते" (वायु० ७।६६) या "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा" (भाग० १।४।२५) तब त्रयी का अर्थ 'पूर्ण वेद' है, उसमें अथर्ववेद का भी अन्तर्भाव है क्योंकि अथर्ववेद में "सहस्र बाहुः पुरुषः" पठित हुआ है (१९।६।१)। पुरुषोत्तम० २०।३१ में भी "त्रयीप्रसंग सूक्तं पौरुषम्" कहा गया है, यहां भी त्रयी का अर्थ चार वेद हैं। त्रयी में अथर्ववेद का अन्तर्भाव दृष्टिभेद से होता है, यह ज्ञातव्य है।

निगम—भाग० १।१।३, २।७।३६, ११।२८।९ तथा अरुणाचल० १४।१३ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। भाग० ३।७।३८ में 'नैगम' शब्द है जिसका अर्थ औपनिषद है (द्र० श्रीधरी टीका)। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ उपनिषद् के अर्थ में निगम शब्द का प्रयोग किया गया है। निगमशब्दार्थ के विषय में मेधातिथि का यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है—"निगमशब्दो वेदपर्यायः. . . . वेदव्याख्यानाङ्ग-वचनोप्यस्ति" (९।१९)। गरुड० १।५०।३४ में "वैदिक निगम" पद है।[७]

वेद के लिये 'निगम' शब्द अत्यन्त प्रसिद्ध है। यास्क ने 'इत्यपि निगमो भवति' कहकर वेदवाक्यों के उद्धरण दिए हैं (२।३ ख०)। शबरभाष्य में वेद या वैदिक-वाक्यों के लिये निगमशब्द बहुत्र व्यवहृत हुआ है (पृ० ४५७, ४६५, ४७३ आदि बिब्० इन्डिका संस्क०)। धर्मसूत्रों में भी यह शब्द है। वसिष्ठ धर्मसूत्र ४।१-२ में "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्. . . ." इत्यादि मन्त्र को निगम कहकर उद्धृत किया गया है। स्मृति आदि के वचन भी निगम माने जाते हैं, क्योंक याज्ञवल्क्यस्मृति की बालक्रीड़ाटीका (१।११०) में "अनित्यो हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते" वाक्य को निगम कहा गया है।

पुराण—हरिवंश० २।८३।१३ में "यज्ञभागो न विहितः पुराणे" कहा गया है। नीलकण्ठ कहते हैं—"पुराणशब्देनात्र वेदोऽभिधीयते"। इस प्रकार का प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता। इस विषय में विश्वरूप का वाक्य विचार्य है—"वेद एव

---

७. मनु० ४।१९ में 'वैदिकनिगम' पद है। मेधातिथि-कुल्लूक के अनुसार इसका अर्थ 'वेदार्थज्ञानहेतु निगमनिरुक्तादि या वेदार्थावबोधक निगमाख्य ग्रन्थ' (बहुवचन में प्रयुक्त) है। वेद के पौरुषेयत्ववादी वैशेषिक आदि नैगम कहलाते हैं—षट्त्रिंशन्मत का यह अभिमत है, ऐसा व्यवहार-निर्णय में कहा गया है (पृ० १३)।

प्रत्यक्षपरोक्षतया श्रुतिस्मृतिशब्दवाच्यः" (याज्ञ० टीका, पृ० ४)। सम्भवतः इसी दृष्टि से पुराण शब्द वेद के लिये प्रयुक्त हुआ होगा।

ब्रह्म—वेद के अर्थ में ब्रह्म (ब्रह्मन्) शब्द पुराणों में प्रायेण मिलता है।[८] "पुराणं ब्रह्मसंज्ञितम्" वाक्य पुराणों में प्रसिद्ध है (भाग० २।१।८ जहाँ ब्रह्म=वेद है)। कहीं कहीं "पुराणं वेदसंमितम्" पाठ भी मिलता है (ब्रह्म० १।२९) जिससे पूर्वोक्त अर्थ सुप्रमाणित होता है। भाग० १।११।१९ में जो 'ब्रह्मघोष' पद है, वहाँ ब्रह्म=मन्त्र है, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद नहीं (द्र० श्रीधरी)। उसी प्रकार भाग० ९।१।१७ में ब्रह्म=मन्त्र है (द्र० श्रीधरी)। हरिवंश० ३।४८। ९ में जो "ब्रह्मोक्तां ब्राह्मणेरिताम्" कहा गया है वहाँ ब्रह्म=मन्त्र, और ब्राह्मण=मन्त्र-विवरण-रूप ब्राह्मणग्रन्थ है (द्र० नीलकण्ठी टीका)। मन्त्रवाची ब्रह्मशब्द के विषय में तैत्तरीय संहिताभूमिका द्रष्टव्य है (पृ० ४-५ स्वाध्यायमण्डल)।

ऐसा जान पड़ता है कि मन्त्र के लिये 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। दुर्गाचार्य का "ऋग्यजुःसामात्मको ब्रह्मराशिः" वाक्य इस विषय में साक्षात् प्रमाण है (निरुक्त १।४ ख०)। ब्रह्म का व्याख्यान होने के कारण ही ब्राह्मण नाम (मन्त्रव्याख्यानात्मक वाङमय) का प्रचलन हुआ था। पुराणों में मन्त्रकारों की जो सूचियाँ हैं, उनमें भी कहीं कहीं 'ब्रह्मकृत्' पद प्रयुक्त हुआ है, जिससे मन्त्र और ब्रह्म की समार्थकता सिद्ध होती है।

मन्त्र—भाग० ९।४।१२ में 'मन्त्रज्ञ' शब्द है। यह मन्त्र शब्द वेद का वाचक है, केवल अभिधायक ऋगादि मन्त्र का नहीं। शान्ति० १९।२ में जो 'मन्त्र' पद है, यह भी केवल मन्त्र का वाचक न होकर वेद-सामान्य का वाचक है, क्योंकि इस विषय के उपक्रम (प्रथम श्लोक) में 'वेद' पद है।

यजुः—विष्णु० ३।४।११ एवं अग्नि० १५०।२४ में कहा गया है कि 'एक यजुर्वेद ही पहले था, जिसके चार भेद किए गए हैं'। यहाँ यजुर्वेद शब्द सम्पूर्ण वेद के लिये प्रयुक्त हुआ है (द्र० श्रीधरी ३।४।११)। चूँकि वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ है, अतः यज्धातुघटित 'यजुः' शब्द वेद का वाचक हो सकता है। यह भी हो सकता है कि यजुर्मन्त्र ही याज्ञिक क्रिया में सर्वोच्च स्थान रखता है, अतः 'यजुः' शब्द से यज्ञ-प्रतिपादक वेद गृहीत होता हो। निरुक्त ३।४ पा० की व्याख्या में कुछ लोग यह कहते हैं कि यजुः पद मन्त्र सामान्य का भी बोधक है ('यजूंष्येनं नयन्ति' वाक्य की टिप्पणी, पृ० १४४ निर्णयसागर स्क०)। महिदास

---

८. स्मृतियों में भी वेदवाची 'ब्रह्म' पद बहुधा मिलता है (द्र० मनु ४।९१ का मेधातिथि भाष्य)।

ने कहा है—"यज्ञोपयोगित्वरूपयोगात् सर्वोऽपि वेदो यजुर्वेद इत्युच्यते" (चरण-व्यूह, पृ० ३५)।

यज्ञ का यज्ञकारक मन्त्र भी कभी कभी यजुः पद से अभिहित होता है (भाग० ४।१।६, ३।१४।८)।

वाक्—भाग० १।१३।४१ में 'वाक्तन्त्री' शब्द है। यहाँ वाक् का अर्थ वेद है (श्रीधरी टीका)। वेद के अर्थ में यह शब्द अन्यान्य पुराणों में नहीं मिलता; किन्तु वैदिक साहित्य में इस अर्थ में वाक्शब्द का बहुल प्रयोग है यथा—बृहदारण्यक ५।८ में "वाचं धेनुम्" कहा गया है, जहाँ वाक् का अर्थ वेद है (शांकरभाष्य)।[१] शान्तिपर्व ४७।२६ में वाक शब्द है। इस शब्द का अर्थ कर्मप्रकाशन मन्त्र है, ऐसा नीलकण्ठ कहते हैं।

वैदिक श्रुति—पुराणों में इस शब्द का व्यवहार प्रायेण मिलता है (मत्स्य० २४८।१, वाराह० १७।२३, ब्रह्म० १३९।११, हरिवंश० ३।३४।१ आदि)। वैदिक वचनों को लक्ष्य कर इस शब्द का प्रयोग किया गया है, यह निःसन्देह है, क्योंकि वायु० ३०।४ और ब्रह्माण्ड० १।१३।४ में "मध्वादयः षड्तवः...... इत्येषा वैदिकी श्रुतिः" कहा गया है। यह मत शब्दशः ब्राह्मण् ग्रन्थों में मिलता है (शतपथ० २।४।२।२४, ७।२।४।२६, २।६।१।४, और गोपथ २।१।१४)। वैदिक श्रुति कहकर ब्राह्मणग्रन्थ का उद्धरण देना मनुस्मृति में भी दृष्टि होता है (द्र० मनु० २।९७ का मेधातिथि भाष्य)।

पर यह आवश्यक नहीं है कि वैदिकी श्रुति कहकर जो कहा गया है, वह शब्दतः वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त ही हो। ब्रह्म० १३९।११ में "ईश्वराज् ज्ञानमन्विच्छेत्" मत को वैदिकी श्रुति कहा गया है। इस प्रकार का भाव वैदिक ग्रन्थों में यद्यपि मिलता है, परन्तु यह आनुपूर्वी (अंशतः भी) कहीं नहीं मिलती। मत्स्य० २४८।१ में "जगदण्डमिदं पूर्वमासीद् दिव्यं हिरण्मयम् प्रजापतेरियंमूर्तिः" वाक्य को वैदिकी श्रुति कहा गया है। यह भाव भी वैदिकी ग्रन्थों में उपलब्ध है (शत० १०।१।४।९), पर यह आनुपूर्वी नहीं मिलती।

कभी कभी 'वैदिकों में प्रचलित मत' भी वैदिक श्रुति के रूप में माना गया है। "सर्वकामप्रदो रुद्रः" यह वैदिक श्रुति है, ऐसा कूर्म० २।४६।३२। में कहा गया है, पर द्र का कामप्रदातृत्व वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि

---

१. इस प्रसंग में ब्राह्मणग्रंथों के निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य हैं—"वागित्यृक (जै० उ० ब्रा० १।९।२', "वागृक्" (जै० उ० ब्रा० ४।२३।४); "वागेव ऋचश्च सामानि च" 'शत० ४।६।७।५)।

इस स्थल में "वैदिक सम्प्रदाय में प्रचलित मत' इस अर्थ में "वैदिक श्रुति' का प्रयोग किया गया है। यह विषय विशद रूप से अन्यत्र विचारित हुआ है।

शब्दः—यह पद वेद के लिये क्वचित् प्रयुक्त हुआ है। भाग० ३।४।३२ में 'शब्दयोनि' पद है, जिसका अर्थ है वेदकर्ता, अतः शब्द=वेद, यह सिद्ध होता है। ब्रह्मसूत्र में वेदान्त-वचनों को लक्ष्य कर 'शब्द' पद का बहुधा प्रयोग किया गया है (३।१।२५, ३।४।३१)।

शब्द ब्रह्मः—भाग० १०।२०।४, विष्णु० ६।५।६४ और ब्रह्म० २३३। ६१ में जो शब्द-ब्रह्म पद है, वह वेद का बोधक है। भाग० २।२।२ में "शाब्दस्य ब्रह्मणः" कहा गया है, यहाँ शब्द=शब्दमय, ब्रह्म=वेद है। भाग० ११।३।२१ में भी 'शाब्द ब्रह्म" पद है।

शिवः—वेद के लिये 'शिव' शब्द भी बहुधा प्रयुक्त हुआ है। पुराणों के कलि-युग-वर्णन में प्रायः निम्नोक्त श्लोक मिलता है—

अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाः चतुष्पथाः ।
प्रमदाः केशशूलिन्यो भविष्यन्ति युग क्षये ॥

(ब्रह्म० २३०।११, पद्म० ६।१८९।३९, मत्स्य० ४७।२५५, हरिवंश ३।३।१२, कूर्म० १।२९।१२, वन० १९०।५२, १८८।४२ पाठान्तर के साथ)[10]।

शिव=वेद है, यह नीलकण्ठ ने भारतभावदीप में कहा है। पद्म० ६।१८९ ४० में इस प्रसंग में "शिवो वेद इति प्रोक्तः" इत्यादि श्लोक कहा गया है। नील-कण्ठ ने वनपर्व १८८।४२ की व्याख्या में यह श्लोक उद्धृत किया है। भास्कर कहते हैं—"अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथा-इति भारतश्लोके शिवशब्दस्य वेदपरत्वेनैव प्रयोगात्" (भावनोपनिषद् ३) अतः शिव का यह अर्थ प्रसिद्ध ही है।

श्रुतिः—वेदवाचक यह शब्द सर्वत्र प्रसिद्ध है। 'श्रूयते इति श्रुतिः' अर्थात् जो केवल गुरु-परम्परा में सुनी जाती है वह श्रुति है। पहले वेद गुरुशिष्य-परम्परा में केवल श्रवण के आधार पर सुरक्षित रहता था, अतः वेद का यह नाम प्रचलित हुआ था। सम्भवतः यह नाम तब पड़ा होगा जब मन्त्रोपदेश काल था (उपदेशेन

---

१०. शूद्रकमलाकर पृ० २४४ में यह श्लोक उद्धृत किया गया है और उसके बाद कहा गया है—"अस्यार्थमाह परशुरामः—अट्टमन्नं शिवो वेदः शूलं विक्रय एव च। केशश्च भगमित्याहुर्वेदतत्त्वार्थदर्शिनः। नीलकण्ठ ने वन० १८८।४२ टीका में लगभग इस प्रकार का एक अन्य श्लोक उद्धृत किया है।

मन्त्रान् सम्प्राट्ुः, निरुक्त १।२० ख०)। त्रयीपरिचय ग्रन्थ में श्रुतिशब्द पर विशिष्ट विचार द्रष्टव्य है।

पुराणों में इस 'श्रुति' शब्द का व्यवहार[११] वेद-संहिता के अर्थ में मिलता है। शिव० ६।१५।४० में "पञ्चारं चक्रमिति है श्रुतिः" कहा गया है, जो ऋग्वेद १।१६४।१३ है (प्रकृत पाठ "पञ्चारे चक्रे" है)। यह मन्त्र अथर्व० ९।९।११ में भी है तथा निरुक्त ४।२७ ख० में व्याख्यात है। "सहस्रशीर्षा पुरुष......"इत्यादि को भी श्रुति कहा गया है (कूर्म० २।३८।७३)। यह प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त का प्रथम मन्त्र है। पुराण गत श्लोक का उत्तरार्ध मन्त्रस्थ शब्दों से पृथक् है। "तद्विष्णोः परम पदम्" को वेदवाक्य कहा गया है (काशी० ७।६३)। यह मन्त्र ऋग्वेद १।२२।१० है। उसी प्रकार ऋक्परिशिष्टगत "सिता सिते" इत्यादि मन्त्र के लिये श्रुति शब्द काशी० ७।५४ में प्रयुक्त हुआ है।

ब्राह्मण ग्रन्थ के लिये भी श्रुति शब्द प्रयुक्त हुआ है। "यज्ञो वै विष्णु" वाक्य को श्रुति कहा गया है (ब्रह्म० १६१।१५)। यह वाक्य शतपथ० १३।१।८।८ कौषीतकि ब्रा० ४।१, तै० ब्रा० १।२।५।१ आदि अनेक ब्राह्मणों में मिलता है। ब्रह्म० १६१।३५ में "अर्धो जाया इति श्रुतेः" कहा गया है। यह शतपथ० ५।२।१।१० में "अर्धो ह वा एष आत्मनो यज् जाया" वाक्य के रूप में मिलता है।[१२]

आरण्यकों के अनेक वचन श्रुति-वाक्यों के रूप में उद्धृत मिलते हैं। शिव० ४।४२।२३ में "ईशानः सर्वविद्यानाम्......" वाक्य को श्रुति कहा गया है, जो तैत्तिरीय आरण्यक १०।४७ में है। लिङ्ग० १।८।२७ में "त्यागेन वामृतत्वं" को भी श्रुतिवाक्य कहा गया है, यह भी तै० आ० १०।१० में मिलता है। शिव० ६।११।४९ में "ओमितीदं सर्वम्" यह श्रुतिवाक्य उद्धृत है ; यह तै० आ० ७।८ में मिलता है।

---

११. यह स्मर्तव्य है कि पुराणों में वैदिक वाक्यों के साथ लक्षित श्रौत ग्रन्थों का नाम नहींकहा गया, अतः विवक्षित आकर स्थल सम्यक् रूप से ज्ञात नहीं हो सकता। किंच एक ही वाक्य अनेक वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। अतः यहाँ केवल संभाव्य आकर स्थल दिखाए जा रहे हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि उद्धृत वाक्य वस्तुतः किसी वैदिक ग्रन्थ में है या नहीं।

१२. श्रुतिगत कथा से गम्यमान सिद्धान्त को भी 'श्रुति' कहकर उद्धृत किया गया है। मनु० '११।४५ में जो 'श्रुतिनिदर्शन' पद है, उसका लक्ष्य भूत आख्यान ताण्ड्य, ब्रा १८।१।९ में है।

उपनिषद् के लिये श्रुति शब्द का व्यवहार सर्वत्र प्रसिद्ध है। शिव० ६।१३। २९-३०, ७।६।६० आदि में उपनिषद् वाक्यों के उद्धरण श्रुति कहकर दिए गए हैं। ब्रह्म० २३३।६२ में "द्वे विद्ये वेदितव्ये....."वाक्य को आथर्वणी श्रुति कहा गया है, यह मुण्डक उपनिषद् का वाक्य है (१।१।४)।

ब्राह्मणारण्यक-उपनिषद् के लिए 'श्रुति' शब्द का व्यवहार सर्वत्र प्रसिद्ध है। पूर्वमीमांसा ३।६।२०, ६।१।५ तथा उत्तरमीमांसा २।३।४१, २।४।१८, ३।२।४ में यह व्यवहार देखा जा सकता है।

श्रुति कहकर कितने ही ऐसे वाक्य पुराणों में प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें किसी न किसी वैदिक मत का प्रतिपादन किया गया है, पर कथिक आनुपूर्वी वैदिक ग्रन्थों में नहीं मिलती। पहले इस विषय पर विशद विचार किया गया है।

यह भी निश्चित है कि 'वेदप्रामाण्यवादी सम्प्रदायों में प्रचलित या वैदिकों के द्वारा स्वीकृत'—इस अर्थ में भी श्रुति का प्रयोग पुराणों में मिलता है। यथा— "गुरोः शतगुणैः पूज्या गुरुपत्नी"—यह श्रौतमत है ऐसा ब्र० वै० १।१०।४८ में कहा गया है, पर यह मत वैदिक ग्रन्थों में नहीं मिलता। लिङ्ग० १।७१।६८ में "धर्मात् ऐश्वर्यम्" यह श्रुति है, ऐसा कहा गया है; उसी प्रकार १।९०।१२ में "स्तेयादभ्यधिकः कश्चिन्नास्त्यधर्मः" वाक्य को श्रुति कहा गया है। उसी प्रकार शिव० २।३।३३।५८ में 'एकं त्यजेत् कुलस्यार्थे" इसको श्रुति कहा गया है। इस प्रकार के अनेक वचन पुराणों में यत्र-तत्र मिलते हैं। ये सब वैदिक सम्प्रदाय में स्वीकृत सिद्धान्त हैं।

कहीं कहीं इसी दृष्टि से केवल श्रुति न कहकर 'वेदवित् के द्वारा कथिक श्रुति' इस प्रकार के वाक्य भी पुराणों में मिलते है (वामन० ५८।९२)। ऐसे स्थलों में जो वाक्य या मत उद्धृत मिलता है, वह वेद में स्पष्टतः नहीं रहता, पर वैदिकों का वैसा सिद्धान्त है, यह ज्ञात होता है। वामन० ५८।९३ में इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है।

वेदानुक्त विषय भी श्रुति कहकर पुराणों में उद्धृत किए गए हैं, इसका एक प्रमुख उदाहरण कूर्म० १।३०।४१ में मिलता है, जहाँ कलियुग में महादेव-नमस्कार की प्रशस्तता कही गई है। वस्तुतः वेद में कलियुगसम्बन्धी इस प्रकार के विवेचन का अणुमात्र भी उल्लेख नहीं मिलता है।[१३]

---

१३. बाद में श्रौतपरम्परा का ह्रास होने पर जिस प्रकार अवैदिक व्यवहार भी वैदिकवत् मान्य हो गया था, उसी प्रकार अनेक वचनों के श्रौत स्मार्तत्व पर भी मतभेद उत्पन्न हो गया था—वहाभाष्य पस्पशाह्निक में जो "ब्राह्मणेन

लोक में प्रचलित प्रवाद या परम्परागत वाक्यों के लिये भी 'श्रुति' शब्द पुराणों में आया है, जैसे सगर की पत्नी ने एक बीजपूर्ण तुम्बी का प्रसव किया, यह श्रुति है, ऐसा ब्रह्म २।६८ में कहा गया है। मत्स्य० ३५।५ में राजा ययाति के स्वर्ग-गमन को 'श्रुति' कहा गया है। ये सब लौकिक परम्परागत मत हैं और इसी अर्थ में यहाँ 'श्रुति' शब्द का प्रयोग किया गया है।[१४]

पुराणों में श्रुति का लक्षण भी मिलता है। ब्रह्माण्ड० १।३२।३५, वायु० ५९।३१ में (श्रौतधर्म के प्रसङ्ग में) "ऋचो यजूंषि सामानि ब्रह्मणोऽङ्गनि च श्रुतिः" कहा गया है; यहाँ वेद के साथ उनके अङ्ग भी श्रुति में अन्तर्भूत किए गए हैं, यह द्रष्टव्य है।

समाम्नाय—भाग० ३।२२।१५ और १०।८७।४३ में यह शब्द है। भाग० ३।२२।१५ में 'समाम्नाय विधि में गम्यमान विवाह' कहा गया है, यह विधि ऋग्वेदीय मन्त्र (१०।८५।३६) को लक्ष्य कर कहा गया (द्र० श्रीधरी)। भाग० १०।८७।४३ में समाम्नाय और उपनिषद् का एकत्र पाठ है, अतः यहाँ समाम्नाय में उपनिषद् भाग का अन्तर्भाव नहीं किया गया है। श्रीधर सामान्यतः समाम्नाय का अर्थ श्रुति करते हैं। निरुक्त के आरम्भ में जो समाम्नाय शब्द है उसका अर्थ है 'वैदिक शब्दसमुदाय'। यह शब्द-संग्रह मन्त्र से संकलित किया गया है, यह भी यहाँ स्पष्ट है। पुराणों के प्रयोगों से 'समाम्नाय' शब्द के अर्थ पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। सम्भवतः पुराणों में यह वेदवाचक एक रूढ़ शब्द है। आम्नाय-समाम्नाय ये दो शब्द वेद में रूढ़ हैं, यह नागेश भट्ट ने कहा है (माहेश्वर-सूत्र प्रकरण, लघुशब्देन्दुशेखर)। पूर्वमीमांसा १।४।१ में वेदवाची समाम्नाय पद प्रयुक्त हुआ है।

जटादि-अष्टविकृति ग्रन्थ के आरम्भ में 'शैशिरीय समाम्नाय' शब्द है, जिसका अर्थ 'शिशिर' प्रोक्त वेदशाखा विशेष ही है। बृहद्देवता १।१ में 'समाम्नयानु-पूर्वशः कहा गया है, इसका अभिप्राय भी शाखाविशेष से ही है, क्योंकि यह ग्रन्थ भी शाखाविशेष पर ही अवलम्बित है।

षडङ्गो वेद..." वाक्य है, वह श्रुति है या स्मृति है—इस विषय में मतभेद है (शब्दकौ० नवाह्निक भाग, पृ० १०)।

१४. उसी प्रकार 'नर्मदास्थ शूलभेदतीर्थ में जाना चाहिए' (ततो गच्छत राजेन्द्र शूलभेदमिति श्रुतिः, कूर्म० २।४१।१२)—इस वाक्य के साथ प्रयुक्त श्रुतिपद 'लोक प्रचलित शिष्ट आचार' रूप अर्थ का ज्ञापक है। किसी भी वैदिक ग्रन्थ में नर्मदा का उल्लेख नहीं मिलता।

पञ्चम परिच्छेद

विद्याप्रवर्तक ऋषि और वेदाध्ययन

मन्त्रब्राह्मणों के साथ ऋषियों का अच्छेद्य सम्बन्ध है, यह पूर्व परिच्छेदों में दिखाया जा चुका है। अब ऋषियों के विषय में पुराणों में जो विवरण मिलते हैं, उनपर विचार किया जा रहा है।

मन्त्रसंबद्ध ऋषि—पुराणों में कहीं कहीं मन्त्रनिर्देश के साथ साथ मन्त्रों के ऋषि (और देवता) भी कहे गए हैं तथा मन्त्रों के साथ उन ऋषि, छन्द और देवता के स्मरण का उपदेश भी दिया गया है (लिङ्ग० १।२५।२४, गरुड० १।३६। १५, नारदीय० १।२७।४०, भविष्य० २।२।१०, २।२।५, विशेषत: अग्नि० का २१५ वां अध्याय) मन्त्रविनियोग में ऋषिज्ञान आवश्यक है, ऐसा मान कर ये निर्देश किए गए हैं। वृहद्देवता ८।१३६, ऋक्सर्वानुक्रमणी १।१ आदि ग्रन्थों में भी यह मत मिलता है। ऋषि-ज्ञान-पूर्वक मन्त्रविनियोग पूर्वाचार्यसंमत है। शंकराचार्य ने कहा है—"श्रुतिरपि ज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रेणानुष्ठानं दर्शयति-यो हवा अविदित्वा ......"इत्यादि (शारीरकभाष्य १।३।३०)। यह "यो ह वा...."इत्यादि वाक्य दुर्गकृत-टीकारम्भ में तथा आर्षेयब्राह्मण १।१० में उद्धृत है।

मन्त्रों के साथ ऋषियों का उल्लेख करना संहिताकल्प का विषय है, यह नारदीय० १।५१।५ में स्पष्टत: कहा गया है। मन्त्रब्राह्मण-प्रवक्ता ऋषि के साथ विनियोगार्ह ऋषियों का कोई सम्बन्ध है या नहीं—आदि विषय पुराणों में कहीं भी विवृत नहीं हुए हैं, अत: इस परिच्छेद में वेदविद्याप्रवर्तक ऋषियों के स्वरूप, भेद आदि विषय पर ही आलोचना की जा रही है।

पुराणोक्त ऋषियों का वैदिकत्व-अवैदिकत्व—पुराणगत ऋषि-विवरण पर विचार करने से पहले ही यह विवेचनीय है कि पुराणों में ' षि' शब्द का प्रयोग सर्वत्र वैदिक ऋषि को लक्ष्य कर ही नहीं किया गया। वस्तुत: पुराणों में किसी भी तपस्वी या विद्वान् के लिये ऋषि-मुनि शब्दद्वय का निर्विशेष रूप से प्रयोग किया गया है। वैदिक परम्परा के अनुसार मन्त्रद्रष्टा ही ' षि' है, पर पुराण में ' षि' शब्द का प्रयोग मन्त्रद्रष्टा के अतिरिक्त तपस्वी आदि के लिये भी बहुश: मिलता है, यथा-वायु० १।१३ में "ऋषय: संशितात्मान: ऋजव: शान्ता" इत्यादि जो कहा

गया है, वह वेदद्रष्टाओं को लक्ष्य कर नहीं कहा गया। पुराणों में जहाँ वेदसम्बधी विवरण प्रतिज्ञापूर्वक दिया गया है, वहीं ऐसा देखा जाता है कि 'ऋषि' पद का तात्पर्य वैदिक ऋषि है। ऋषि शब्द के साथ मुनि शब्द के बहुल साहचर्य के कारण ही बाद में मन्त्रद्रष्टा के निर्देश में भी कहीं कहीं 'मुनि' शब्द का प्रयोग किया गया है। आर्षानुक्रमणी का "ऋग्वेदमखिलं ये हि द्रष्टारो मुनिपुङ्गवाः" (१।१) वाक्य इस शब्द-साङ्कर्य का एक प्रमुख उदाहरण है। इसी प्रकार ऋक्प्रातिशाख्य के आरम्भ में भी 'मुनीन्द्राः' पद प्रयुक्त हुआ है। विष्णुमित्र ने इसकी व्याख्या में "मुनिप्रधाना ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः" कहा है (वर्गद्वयवृत्ति, पृ० ५)। पौराणिक प्रभाव के कारण ही इस प्रकार के प्रयोग किए गए थे—यह स्पष्टतः विज्ञात होता है।

कहीं कहीं पुराणों में भी मुनि-ऋषि-भेदज्ञापक प्रयोग मिल जाते हैं। मार्कण्डेय० ४५।२३ में कहा गया है कि सृष्टिकाल में सप्तर्षियों ने वेदों का ग्रहण किया था और मुनियों ने पुराणों का ग्रहण किया था। इस वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद का सम्बन्ध ऋषि-परम्परा से और पुराण का सम्बन्ध मुनिपरम्परा से है। "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो मुनिः संलीनमानसः" आदि प्रचलित प्रसिद्ध श्लोकों से भी इन दोनों के भेद का ज्ञान होता है।[1] वैखानस गृह्य० १।१ में अष्टाविध ब्राह्मणों के उल्लेख में "साङ्गचतुर्वेद-तपोयोगादृषिः, नारायण-परायणो निर्द्वन्दो मुनिः" यह वाक्य मिलता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि ऋषि का सम्बन्ध वेद से ही है और मुनि-परम्परा भक्ति और योग धारा से सम्बन्धित है। अर्वाचीन काल में ऋषि को मनुष्यजाति से पृथक् माना गया है (द्र० योगभाष्य ४।३३)।[2]

---

१. तपस्वी आदि को लक्ष्य कर 'मुनि' शब्द ही बहुलतया प्राचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त हुआ है। यथा—"अनग्निरनिकेतः स्यादशर्मशरणो मुनिः" (आप० धर्म-सूत्र २।९।२१।१०), "शून्यागारनिकेतः स्याद् यत्रसायंगृहो मुनिः" 'शाङ्ख स्मृति ७।६, वनपर्व १२।११ भी द्र०)। वेदान्त सूत्र ३।४।४७-४९ का शारीरक भाष्य (भामती आदि सहित) इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। यति, भिक्षु आदि शब्द मुनि के लिए भी प्रायेण प्रयुक्त होते हैं। इन शब्दों के व्याख्यानों से इनका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

२. अर्वाचीन काल में ऋषि के शरीर को भी मानव शरीर से विलक्षण माना गया है प्रशस्तपादकृत भाष्य में कहा गया है—"अयोनिजम् अनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देव-ऋषीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते" (पृ० १२-१३ चौखम्बा)।

ऋषिपद का अर्थ और निर्वचन—गत्यर्थक ऋषि (=ऋषि) धातु से 'ऋषि' पद की व्युत्पत्ति पुराणों में कही गई है (वायु० ७।७५, मत्स्य०, १४५। ८३, ब्रह्माण्ड० १।३२।८७) । ब्रह्माण्ड० १।३२।८९ में जो 'यस्मादृषन्ति ते धीरा महान्तं. . .तस्माद् महर्षयः" कहा गया है, वह भी 'ऋत्रि' धातु का ज्ञापक है। (ऋषी १२८७ गतौ, सिद्धान्त कौमुदी, तिङन्तप्रकरण)।

यह ऋषी धातु तुदादिगणीय है (क्षीरतरङ्गिणी ६।८)। उणादि के "इगुपधात् कित्" सूत्र से ऋषि पद निष्पन्न होता है (प्रक्रिया सर्वस्व उणादिखण्ड ४।१३१; श्वेतवनवासिवृत्ति ४।१२९)

वायु० ५९।७९ में ऋषधातु के और भी कई अर्थ कहे गए हैं:—

ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ ।
एतत्सन्नियतः तस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः ॥

यहाँ 'गति' अर्थ के साथ 'श्रुति' 'सत्य' 'तप' रूप अर्थ भी कहे गए हैं और यह भी कहा गया है कि जिनमें सत्यादि रहते हैं, वे ऋषि हैं। मत्स्य० १४५।८१ में यह श्लोक है, परन्तु पाठ में कुछ भेद है। यहाँ 'ऋषी' धातु का अर्थ हिंसा भी कहा गया है। हिंसा अर्थ का स्वारस्य प्रतीत नहीं होता। याज्ञिक हिंसा को लक्ष्यकर ऐसा कहा जा सकता है, पर यह कल्पना असमीचीन प्रतीत होती है। मत्स्य० में 'विद्या' अर्थ भी कहा गया है, जो संगत ही है।

गत्यर्थक 'ऋषी' धातु से 'ऋषि' शब्द की व्युत्पत्ति पूर्वाचार्य-सम्मत है। दुर्ग ने निरुक्त के 'ऋषिर्दर्शनात्' (१।१२ख०) वाक्य की व्याख्या में 'ऋषी गतौ' धातु से ही ऋषि पद की निरुक्ति की है। वे "ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः" इस न्याय के आश्रय से इस धातु का 'दर्शन' रूप अर्थ भी स्वीकार करते हैं।[३] तैत्तिरीय आरण्यक

ऋषियों को आयोनिज भी माना गया है। शंकर मिश्र ने कहा है—"अयोनिजं देवानामृषीणां च. . ."(उपस्कार ४।२।५)।

३. उणादिसूत्र ४।१२९ की व्याख्या में 'ऋषि' पद की व्युत्पत्ति करते हुए श्वेतवनवासी कहते हैं—"गत्यर्थात् ऋषेर्ज्ञानार्थत्वात् मन्त्रं दृष्टवन्त ऋषयः।" गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक होते हैं—'सर्वे गत्यर्थाज्ञानार्थः' यह मत पूर्वाचार्यानुमोदित है (निरुक्त २।१६ ख० स्कन्दकृत निरुक्त टीका ३।१६ ख० आत्मानन्दकृत अस्यवामीयसूक्त भाष्य पृ० ५४, जयतीर्थकृत ऋग्भाष्य पृ० २, नृसिंहकृत छलारिटीका पृ० ४७ आदि)। यह विषय ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत यजुर्वेदभाष्यविवरण पृ० १० में विवृत हुआ है।

के वचन (अजान् ह वै...२।९) से भी गमनार्थक 'ऋष' धातु की सत्ता ज्ञात होती है।

वेदार्थदीपिका के आरम्भ में 'ऋषि' शब्द का एक विलक्षण निर्वचन दिया गया है—"अर्तेः सनोतेश्च ऋषिशब्दो निरुच्यते"। यह व्युत्पत्ति अन्यत्र दृष्ट नहीं होती।

ऋषियों का मन्त्रद्रष्टत्व—वैदिक परम्परा में मन्त्रद्रष्टा को ही 'ऋषि' कहा जाता है। यास्क का 'ऋषिदर्शनात्" (निरुक्त २।११ ख०) वाक्य इस विषय का परम मान्य वचन है। ऋषियों के हृदयों में मन्त्रों का आविर्भाव या ऋषियों द्वारा मन्त्रों का दर्शन पुराणों में स्पष्टतः कहा गया है,[४] जो निरुक्तादि के मतों पर ही आधृत है।

ऋषिकर्तृक मन्त्रदर्शन रूप मत अत्यन्त प्राचीन है। मन्त्र, सूक्त, मण्डल आदि का दर्शन वैदिक संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक आदि में बहुशः उक्त हुआ है।[५]

मन्त्रदर्शन का प्रकृत तात्पर्य है—मन्त्रार्थज्ञान या मन्त्रप्रतिपाद्य विषय का अनौपदेशिक ज्ञान। 'मन्त्र' शब्द भी इस मत का गमक है। चूँकि मनन-हेतु शब्द मन्त्र है, अतः मन्त्रदर्शन का अर्थ 'मन्त्रप्रतिपाद्य विषय का आन्तरिक मननपूर्वक साक्षात् उपलब्धि' ही है। चिन्तन के अर्थ में 'दृश' धातु का प्रयोग महाभाष्य १।४। २५ में उपलब्ध होता है (स पश्यति...बुद्ध्या संप्राप्य निवर्तते)।

यह दर्शन अर्थदर्शन=ज्ञेय का साक्षात् ज्ञान है, न कि पूर्वप्रचलित शब्दानुपूर्वी का अविकल ज्ञान।[६] "परं हि ऋषते" (परमर्षि का निर्वचन) "ऋषन्ति

---

४. वायु० के "ऋषीणां.....दर्शनेन" (५९।६२) वाक्य मन्त्रदर्शन का ज्ञापक है। तपकारी ऋषियों में मन्त्रों के प्रादुर्भाव के विवरण में भी 'दर्शन' पद प्रयुक्त हुआ है (मत्स्य० १४५।६४, वायु० ५९।६२, ब्रह्माण्ड० १।३२।६९; कहीं कहीं पाठभ्रष्टता है)।

५. सूक्त, मन्त्र, यजुः आदि का दर्शन (षियों द्वारा) वैदिक ग्रन्थों में बहुधा कहा गया है—तै० सं० १।५।४, २।६।८, ५।२।१, काण्वसंहिता १९।११, १०।५, १९।१०; शतपथ० ९।२।२।३८, ९।२।२।१, कौ० ब्रा० १२।१, ताण्ड्य ब्रा० ४।७।३। इनके अतिरिक्त ऋक्सर्वानुक्रमणी २।१, ३।१, ३।३६, ४।१, ७।१, ८।१, ८।४२, बृहद्देवता १।१, आर्षानुक्रमणी १।१, अनुवाकानुक्रमणी २ आदि में भी यह मत मिलता है।

६. "य एव आप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च" इस वात्स्यायनवचन (न्यायभाष्य ४।१।६१) से भी मन्त्रप्रतिपाद्य अर्थ का दर्शन (=साक्षात् ज्ञान) ही सिद्ध होता है, नित्य शब्दानुपूर्वी का श्रवण नहीं। ऋषि शब्दानुपूर्वी के कर्ता

महान्तम्" (महर्षि का निर्वचन) आदि पौराणिक वाक्यों से ऋषियों का तत्त्वदर्शन (या साक्षात्कृतधर्मता) ही सिद्ध होता है, शब्दात्मक मन्त्रदर्शन नहीं। वायु० ५९।८४ में "ऋषयः भूतादौ तत्त्वदर्शनाः" कहकर तत्त्वदर्शनरूप मत को प्रत्यक्षतः स्वीकृत किया गया है।[७]

साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा मन्त्र प्रणीत हैं, यह मत पूर्वाचार्यानुमोदित है। मन्त्रों को देखने से कहीं कहीं उनके रचयिताओं का नाम भी ज्ञात हो जाता है। मन्त्रों में प्रयुक्त 'अस्मद्' शब्द इसका ज्ञापक है। कहीं कहीं तो मन्त्रों में मन्त्रकार ने अपना परिचय भी दिया है। ऋग्वेद ३।३३।५ का "कुशिकस्य सूनुः" पद इसका एक प्रकृष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार ऋग्० १।६३।९ मन्त्र से रचयिता का गोतम-वंशीयत्व स्पष्टतः ज्ञात होता है।

अर्वाचीन काल में मन्त्रदर्शन का अर्थ 'चिरविद्यमान नित्य शब्दानुपूर्वी का श्रवण' माना जाने लगा और अर्वाचीन आचार्यों ने इस मत को अत्यधिक रूप में पल्लवित किया है। वस्तुतः 'मन्त्रदर्शन' शब्दगत दृश धातु का अर्थ चाक्षुष दर्शन नहीं है, यहाँ इसका लाक्षणिक प्रयोग हुआ है, ऐसा मानना ही समीचीन है।

हैं, यह "कठादयो वेदानुपूर्व्याः कर्तार एव" इस कैयट-वचन से ज्ञात होता है (प्रदीप ४।३।१०१)।

७. वाक्यपदीय १।१४५ की स्वोपक्ष टीका में कुछ कारिकाएँ उद्धृत की गई हैं (अत्राह... प्रतिपेदिरे आदि), जिनमें कहा गया है कि आदिम ऋषियों का ज्ञान प्रतिभा से ही उत्पन्न हुआ था। बाद में उपदेश से और उसके बाद अभ्यास से वेदार्थ-ज्ञान दिया जाता था। यह निरुक्त १।२० ख० पर आधृत है। ये कारिकाएँ निरुक्त-वार्तिक की हैं। निरुक्तवार्त्तिक पर श्री विष्णुपद भट्टाचार्य का लेख द्रष्टव्य है (I. H. Q. जून १९५०)।

८. तै० आ० ४।१।१ में 'मन्त्रकृत्' की व्याख्या में भट्ट भाष्कर ने इसका अर्थ 'मन्त्रद्रष्टा' किया है। उसी प्रकार कात्यायन श्रौतसूत्र ३।२।९ में प्रयुक्त 'मन्त्र-कृत्' का अर्थ 'मन्त्रदृक्' किया गया है (कर्कभाष्य)। कहीं कहीं 'मन्त्रकृत्' का अर्थ 'मन्त्रविनियोजक' होता है (तन्त्रवार्त्तिक, पृ० २३१ पूना संस्करण में इसका उदाहरण है), पर मन्त्ररचयिता के अर्थ में 'मन्त्रकृत्' शब्द के आदिम प्रयोगों का अपलाप नहीं किया जा सकता। वेद के अनुवचन-प्रवचन करने वाले ऋषि हैं, यह शतपथ० ४।३।४।१९ में स्पष्टतः कहा गया है (यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिः)।

प्राचीन ग्रन्थों में मन्त्रकृत् शब्द बहुधा मिलता है, जहाँ 'मन्त्ररचयिता' रूप अर्थ ही न्यायसंगत होता है (तैत्तिरीय आरण्यक ४।१।१ और शाङ्खायन आरण्यक ७।१)। बृहद्देवताकार ने तो "सूक्तान्येकस्य वै कृतिः"[९] (१।१४) कहकर इस विषय को सर्वथा विवादशून्य बना दिया है। चूंकि मन्त्र प्रतिभा से स्फुरित होता था (जैसा कि निरुक्तकार ने कहा है—"त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ—" ४।६ ख०), इसलिये मन्त्रदृक् शब्द का प्रयोग क्रमशः प्ररूढ़ हो गया था। "यस्य वाक्यं स ऋषिः" इस सर्वानुक्रमणीवाक्य (२।४) से मन्त्र का वक्ता (अर्थात् अर्थज्ञानपूर्वक प्रथम रचयिता) ही ऋषि है, यह सिद्ध होता है। ऋषियों का वेदकर्तृत्व ४।३।१०१ सूत्रीय महाभाष्य की कैयटीय टीका (प्रदीप) में भी स्पष्टतः प्रतिपादितहुआ है—"ऋषयः संस्कारातिशयाद् वेदार्थं स्मृत्या शब्दरचनां विदधति—इस वाक्य का यही तात्पर्य है। सुश्रुत (सूत्रस्थान ४०।३) में "ऋषिवचनं वेदः" वाक्य है, उसका तात्पर्य भी कर्तृत्व में ही है। वैशेषिक सूत्र ६।१।१ में जो "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृति र्वेदे" कहा गया है, वह वेदप्रणेता की सूक्ष्मबुद्धि को ज्ञापित करता है।[१०]

ऋषि-स्वरूप—ब्रह्माण्ड० १।३३।३१-३५ में ऋषिस्वरूप के विषय में सारवान् विचार मिलता है। यह विवरण वैदिक प्रकरण में आया है, अतः वैदिक ऋषि ही यहाँ विवक्षित है, यह निश्चित है। यहाँ कहा गया है कि जिनमें महान् तप का प्रकर्ष है, वे ऋषि हैं। मेधा और ऐश्वर्य (ईश्वरता=अन्यर्थ इच्छा) का आधिक्य ऋषि में रहता है। अन्यों की अपेक्षा ऋषियों में बल, बुद्धि और धी का उत्कर्ष होता है, यह भी यहाँ कहा गया है। वस्तुतः साधारण मनुष्यों की अपेक्षा प्रज्ञादि का विशिष्ट उत्कर्ष ही ऋषित्व का गमक है, यह दृष्टि वैशेषिकाचार्यों के अनुसार है, यह पहले कहा गया है ; वे ऋषि को आम्नायविधाता के रूप में भी स्वीकार करते हैं (प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० १२८-१२९)।

मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के तारकाख्य ज्ञान का उल्लेख ब्रह्माण्ड० १।३२।६९ और

---

९. बृहद्देवता का यह पाठ आर्यविद्यासुधाकर (पृ० ३३) में उद्धृत हुआ है।

१०. बुद्धि के उत्कर्ष को लक्ष्य कर ऋषित्व का निर्णय करना वैशेषिकों की दृष्टि है। 'संज्ञाकर्म' रूप विशिष्ट बुद्धि व्यापार को लक्ष्य कर ऋषित्व का अनुमान किया जाता है (द्र० वैशेषिक सूत्र २।१।१८ की उपस्कार टीका)। पुराणकारों ने भी इस दृष्टिकोण को माना है। मन्त्रदृष्टि और मन्त्रप्रकार के विवरण के बाद विष्णुधर्मोत्तर० ३।४।१३ में उक्त वचन इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है।

मत्स्य० १४५।६४ में मिलता है।[११] उसी प्रकार पंचधा ऋषिजाति के वर्णन के साथ ऋषि में आहित ज्ञान का विशद विवरण पुराणों में मिलता है (वायु० ५९।७९-८७, ब्रह्माण्ड० १।३२।८६-९५, मत्स्य० १४५।६४—८९)।

इस तारकज्ञान का विशद वर्णन योगसूत्र और उसके भाष्य (३।५४) में मिलता है। निरुक्त २।११ ख० में जो "ऋषिर्दर्शनात्" कहा गया है, उसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य ने भी तारकज्ञान का उल्लेख किया है (तानसौ तारकेन ज्ञानेन पश्यति)। वेदार्थदीपिका में ऋषियों के विशेषण में जो "अनागतातीतवर्तमानार्थवेदी" शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह भी तारकज्ञान का ज्ञापक है।

आर्षज्ञान के स्वरूप के विषय में वायु० ५९ वें अध्याय में एक सारवान् विवरण मिलता है। यहाँ "ऋषीणां यद् ऋषित्वम्" और "आर्षस्य समुद्भवम् वक्ष्यामि" ऐसी प्रतिज्ञा कर ऋषित्व और आर्षज्ञान का स्वरूप अत्यन्त उदार शब्दों में दिखाया गया है (५९।६२-७९)। यह प्रकरण ब्रह्माण्ड० १।३२।६९-९५ में भी मिलता है। इस वर्णन में सांख्यज्ञान की छाया प्रतिपद मिलती है।

ब्रह्माण्ड० १।३२।६९-९५ और वायु० ५९।६३-७८ में प्रोक्त ऋषिस्वरूप के विषय में कई ज्ञातव्य बातें मिलती हैं। यथा—

भृगु, मरीचि आदि दश ईश्वरों के पुत्र (काव्य, बृहस्पति, कश्यप आदि) ऋषि हैं। ये तप से ऋषि हुए हैं (ब्रह्माण्ड० १।३२।९८-१००)। वायु० ५८।८९-९१ में भी यह विवरण है, पर यहाँ ज्ञान से ऋषि होने की बात कही गई है। सम्भवतः तप और ज्ञान का अभेद मानकर ("यस्य ज्ञानमयं तपः", इस मुण्डक उपनिषद् १।१।९ के अनुसार) ऐसा प्रयोग किया गया है। तपोबल से[१२] मन्त्रदर्शन का सिद्धान्त अनुवाकानुक्रमणी में भी है (तै० ब्रा० २।७।७, ४।१।१, ऐ० ब्रा० ६।१, ताण्ड्य ब्रा० १३।३।२४ भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है)। काव्य, बृहस्पति आदि कुछ अन्यान्य ऋषियों को लक्ष्य कर भी "तपसा ऋषितां गतः" कहा गया है (ब्रह्माण्ड० १।३२।

---

११. मत्स्य० में "तारका येन" पाठ है, जो 'तारकाख्येन' होगा। वायु० ५९।६२ में यही श्लोक है, पर 'तारकाख्येन' के स्थान पर "तपः कार्त्स्न्येन" पाठ है। दुर्गादि-टीकाओं के प्रामाण्य से तारकज्ञान की सत्ता को मानना आवश्यक होता है।

१२. तै० ब्रा० के "यानृषयो मन्त्रकृतो मनीषिणः अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण" (२।८।८) वाक्य में मन्त्रकारों की मनीषा, तपश्चरण और अध्यवसाय स्पष्टतः कहे गए हैं। ऋषियों को लक्ष्य कर जो 'धीर' पद प्रयुक्त हुआ है (ऋग्वेद १०।७१। २) वह भी ऋषियों के अतीन्द्रियज्ञान का गमक है। इस विषय में निरुक्तालोचन, पृ० ३१४ और ऐतरेयालोचन, पृ० ३६ द्रष्टव्य हैं।

९८-१०३, वायु० ५९।९०-९१, मत्स्य० १४५।९४)। इसी प्रकार कुछ ऋषियों को लक्ष्य कर वे सत्य से ऋषित्व को प्राप्त हुए, ऐसा वायु० ५९।९२-९४, ब्रह्माण्ड० १।३२।१०० और मत्स्य० १४५।९४-९७ में कहा गया है।

ऋषि के विशेषण में मन्त्रकृत्, मन्त्रकार, ब्रह्मवादी आदि पद मिलते हैं (वायु० ५९ अ० और ब्रह्माण्ड० १।३२ अ० द्र०)। यहाँ ब्रह्म का अर्थ मन्त्र ही है। ब्रह्मवादी कहने का तात्पर्य 'मन्त्रप्रवचनकारी' ही है। प्रवचन करना ऋषियों का शील है, इस दृष्टि से वादी पद प्रयुक्त हुआ है[१३] (द्र० श्वेताश्वर के आरम्भिक वाक्य "ब्रह्मवादिनो वदन्ति" का शांकरभाष्य)। ऋषि के लिये मन्त्रकृत् या मन्त्रकार विशेषण वैदिक ग्रन्थों में सुप्रचलित है।

मन्त्रकृत् ऋषियों की सूची ब्रह्माण्ड० १।३३ अ० में मिलती है। इस पुराण में ऋषि के विषय में यह महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है कि ऋषि का सम्बन्ध मन्त्रों से ही है, ब्राह्मणों से नहीं (१।३२।६७-६८)। यह दृष्टि यास्क द्वारा भी अनुमोदित है (निरुक्त १।२० ख०)। इस दृष्टिभेद के अनुसार ही ब्रह्माण्ड० १।३२ अ० में मन्त्रकृतों की ही सूची दी गई है, ब्राह्मण-प्रवक्ताओं की नहीं।

ईश्वरादि ऋषिभेद का विवरण:—ऋषियों के विभिन्न प्रकारों में ईश्वरादि नाम पुराणों में प्रयुक्त हुए हैं। पुराणों ने इनके यादृश स्वरूप कहे हैं, उनका विवरण संक्षेपतः प्रस्तुत किया जा रहा है—

ईश्वर:—भृगु, मरीचि आदि ब्रह्मा के दश मानसपुत्र (वायु० ५९।८९, ब्रह्माण्ड० १।३२।९६-९८) हैं। ईश्वर, ऋषि और ऋषिक मन्त्रकृत् हैं (ब्रह्माण्ड० १।३२।१०३-१०४, वायु० ५९।९५)।

महर्षि:—उपर्युक्त १० ईश्वर महर्षि भी हैं (ब्रह्माण्ड० १।३२।९७, वायु० ५९।८९)। वे महत्तत्त्व के ज्ञाता और बुद्धि के पारदर्शी हैं (वायु० ५९।८२)।

ऋषिपुत्र या ऋषिक:—[१४]—ऋषिपुत्र ऋषीक हैं; ये गर्भोत्पन्न हैं, यथा—वत्सर, भरद्वाज, दीर्घतमाः। ये सत्य से ऋषि हुए हैं। वायु० ५९।९४ और ब्रह्माण्ड०

---

१३. कुछ आचार्यों के अनुसार 'बद स्थैर्ये' धातु से ब्रह्मवादिन् शब्दगत 'वादिन्' शब्द निष्पन्न होता है (प्रीतिसन्दर्भ ३२ अनुच्छेद), परन्तु यह मत अशुद्ध है, क्योंकि स्थैर्यार्थक 'बद' धातु पवर्गीय 'ब' युक्त ही है।

१४. ऋषि, ऋषिपुत्र आदि के लक्षण के लिये आर्यविद्या सुधाकर ग्रन्थ (पृ० ३१-३२) द्रष्टव्य है। ऋषि="प्रवरै ये समाख्याताः ते ऋषयः" कहा गया है; ऋषि के पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र ऋषिपुत्र हैं ; राजन्य, वैश्य और स्त्री ऋषि ऋषिक हैं ; देवासुरादि ऋषि स्वयंभू हैं।

१।३२।१०३ में ऋषिक पाठ भी है (द्र० ब्रह्माण्ड० १।३२।१००-१०३; वायु० ५९।९२-९४)। इनके वाक्यों के विषय में ब्रह्माण्ड० १।३३।२३-३५ और विष्णु धर्मोत्तर० ३।४।१-९ द्रष्टव्य हैं। यहाँ मन्त्रदृष्टियों का विवरण है। मन्त्रब्राह्मण के विन्यास और स्वरवर्ण के परिवर्तन कर दृष्टिभेद से अनेक संहिताओं का प्रवचन ऋषिपुत्रों ने ही किया है, यह महत्त्वपूर्ण सूचना पुराणों में मिलती है (द्र० संहिता परिच्छेद)।

परमर्षि—"परं हि ऋषते यस्मात् परमर्षिः ततः स्मृतः" यह वायु० ५९।८० में कहा गया है। ब्रह्माण्ड० १।३२।८६ और मत्स्य० १४५।८२ में भी ऐसा ही कहा गया है।

सप्तर्षि—पञ्चधा ऋषिजाति के वर्णन में इनका उल्लेख मिलता है। यहाँ कौन कौन ऋषि विवक्षित हैं, यह नहीं कहा गया है। पञ्चधा ऋषिजाति के अन्तर्गत जो ऋषि नामक भेद है, उसमें सप्तर्षि का अन्तर्भाव किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। वैदिक परम्परा के साथ सप्तर्षि का सम्बन्ध मार्क० ४५।३३ में भी कहा गया है। सप्तर्षि के साथ श्रौतधर्म का अच्छेद्य सम्बन्ध है (मत्स्य० १४५।३२, ब्रह्माण्ड० १।३२।३४, वायु० ५७।५०)।

श्रुतर्षि—"श्रुत्वा ऋषं परत्वेन श्रुतास्तस्मात् श्रुतर्षयः" (मत्स्य० १४५।२२)। ब्रह्माण्ड० १।३३।१ में ऋषिपुत्रकों को ब्राह्मणों का प्रवक्ता कहा गया है।[15] ऋषिपुत्रक=ऋषिपुत्रों का पुत्र। ब्रह्माण्ड० १।३३।१ में ऋषिकों के सुतों को ऋषिपुत्रक कहा गया है, पर वायु० ५९।८६ में ऋषि के सुतों को ही ऋषिपुत्रक कहा गया है। पूर्वापर-सम्बन्ध की दृष्टि से ब्रह्माण्ड० का पाठ संगत है। इन ऋषिपुत्रकों का विवरण ब्रह्माण्ड० १।३३ अध्याय में है। ये श्रुतर्षि भी हैं (ब्रह्माण्ड० १।३३।२)। श्रुतर्षियों की सूची भी इस अध्याय में द्रष्टव्य है। यह सूची प्रधान ऋषिपुत्रकों की है, यह भी १।३३।२० में कहा गया है। ऋषिपुत्रक भी ऋषि कहलाते हैं, क्योंकि वे शाखा (अर्थात् शाखागत ब्राह्मण) के प्रणेता हैं (१।३३।२१)। ऋषिपुत्रकों के वाक्यों के स्वरूप के विषय में काव्यमीमांसा में उद्धृत वचन द्रष्टव्य हैं (अविस्पष्टपदप्रायम्....पृ० २९)। संहिताओं का संहनन श्रुतर्षियों ने किया है, यह सूचना कई पुराणों में मिलती है। संहिताओं में सामान्य-विशेष रूप से या

---

१५. पुनः ब्रह्माण्ड० १।३३।२२ में "ऋषिपुत्राः प्रवक्तारः कल्पानां ब्राह्मणस्य तु" कहा गया है। ईश्वर-ऋषि-ऋषिक मन्त्रवक्ता हैं, यह २१वें श्लोक में उक्त हुआ है। पुराण-पाठों की वर्तमान स्थिति में इस समस्या का प्रकृत समाधान नहीं हो सकता।

किंचित् पाठभेदपूर्वक जो एक ही विषय का उपन्यास मिलता है,[१६] वह श्रुतर्षियों द्वारा कृत है, यह यहाँ कहा गया है (द्र० संहितापरिच्छेद)। श्रुतर्षि-सम्बन्धी एक विशिष्ट विवरण वायु० ६१।१२२-१२४ में मिलता है। यहाँ अष्टाशीतिसहस्र श्रुतर्षि और उतनी ही संहिताओं का उल्लेख किया गया है। यहाँ यह भी कहा गया है कि द्वापर में संहिताओं के व्यसन (=विभाजन) श्रुतर्षियों ने किया है।

त्रिविध ऋषिप्रकृति—विष्णु० ३।६।३० में ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षि नामक त्रिविध ऋषिप्रकृति कही गई है[१७] (ऋषिप्रकृतयस्त्रयः)। वायु० ६१।८० और ब्रह्माण्ड० १।३५।८९-९० में भी ये तीन प्रकृतियाँ कही गई हैं। इसके बाद के कतिपय श्लोकों में इन तीन प्रकार के ऋषियों के नाम भी गिनाए गए हैं। यथा—

१. **ब्रह्मर्षि**—काश्यप, वसिष्ठ, भृगु, अङ्गिराः, अत्रि—इन पांच गोत्रों में उत्पन्न ब्रह्मवादी ब्रह्मर्षि हैं। ब्रह्माण्ड० १।३५।९२ में इनके नाम भी कहे गए हैं। ये ब्रह्मर्षि ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित हैं। "यस्मात् ऋषन्ति ब्रह्माणं ततो ब्रह्मर्षयः" इस पुराणवचन (वायु० ६१।९१) से ब्रह्मर्षि का अर्थ ज्ञात होता है।

२. **देवर्षि**—धर्म, पुलस्त्य, क्रतु, पुलह-आदि के पुत्र देवर्षि कहलाते हैं, यथा नरनारायण, बालखिल्य, कर्दम, कुबेर, नारद, पर्वत आदि। देवर्षि="ऋषन्ति देवान्" (मुद्रित पाठ वेदान् है)। ये देवर्षि देवलोकप्रतिष्ठ हैं।

३. **राजर्षि**—मानववंश और ऐलवंश में जो राजा हैं, ये राजर्षि हैं। राजर्षयः="ऋषन्ति रञ्जनात्"। राजर्षि इन्द्रलोक में प्रतिष्ठित होते हैं। राजर्षि के विशिष्ट लक्षण ब्रह्माण्ड० १।३५।१००-१०२ में दिए गए हैं।[१८]

ऋषि-प्रकृति शब्दान्तर्गत प्रकृति शब्द का तात्पर्य क्या है, ऐसा प्रश्न हो सकता है। गुणकर्मानुसार जो विभाग पुराणों में किया गया है, वह 'ऋषिजाति'

---

१६. मैत्रायणी संहिता १।११।५ और काठक संहिता १४।५ का सन्दर्भ इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। यहाँ चतुर्धा वाक् का वर्णन प्रायः समान आनुपूर्वी में किया गया है।

१७. यहाँ श्रीधरस्वामी "अष्टर्षीनाह" कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि यहाँ ३ ऋषिप्रकृतियों के साथ ५ ऋषिजातियों का भी उल्लेख था। प्रचलित विष्णु० में पाँच ऋषिजातियों का उल्लेख नहीं मिलता (यद्यपि वायु-ब्रह्माण्ड० में यह विषय है) अतः यह अनुमान होता है कि पञ्चधा-ऋषिजाति-विवरण-परक अंश खण्डित हो गया है।

१८. वैदिक ग्रन्थों में राजर्षि के लिये राजन्यर्षि पद भी प्रयुक्त हुआ है (पञ्चविंश-ब्राह्मण १२।१२।६)।

शब्द से कहा गया है, जैसा कि बाद में दिखाया जाएगा। सम्भवतः यहाँ प्रकृति का तात्पर्य है—जिन वर्गों में या जिन जातियों में ऋषि उत्पन्न होते थे, वे वर्ग या जातियाँ प्रकृति हैं। यतः ब्राह्मण, देव और राजन्य—इन तीन जातियों में ही ऋषि उत्पन्न होते हैं, अतः तीन ही ऋषि-प्रकृतियाँ कही गई हैं। तीन वैश्य भी ऋषि हो चुके हैं, अतः यह व्याख्या 'व्यपदेशस्तु भूयस्त्वात्' न्याय से ही सङ्गत हो सकती है। वस्तुतः प्रकृति कहने का तात्पर्य अन्वेषणीय है।

यहाँ जो "तेभ्यः" कहा गया है (ब्रह्मर्षयः तेभ्यो देवर्षयः तेभ्यः राजन्यः) उसका तात्पर्य विचार्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मर्षियों से देवर्षि और उनसे राजर्षियों की उत्पत्ति यहाँ कही गई है। ब्रह्मर्षि का अर्थ है—जो ब्राह्मण ऋषि है (आदिपर्व ६०।५ की नीलकण्ठी टीका)। पहले ब्राह्मण ही ऋषि होते थे। उसके बाद देव जाति (मनुष्यविशेष) और क्षत्रिय जाति के लोग भी ऋषि हुए—ऐसा अर्थ किया जा सकता है। वस्तुतः यहाँ 'तेभ्यः' पद का अर्थ अस्पष्ट है;[१९] यहाँ जो देवजाति को मनुष्यविशेष कहा गया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार ही है।

ऋषियों का चातुर्विध्य—चरक सूत्रस्थान १।७ की भट्टार हरिश्चन्द्रकृत व्याख्या में "मुनीनां चतुर्विधो भेदः" कह कर ऋषि, ऋषिक, ऋषिपुत्र और महर्षि—ये चार प्रकार कहे गए हैं। यहाँ 'मुनि' पद का वास्तव तात्पर्य ऋषि से ही है, यह स्पष्ट है। चक्रपाणि ने सूत्रस्थान की टीका में "चतुर्विधा अपि ऋषयः" कहकर ऋषिक, ऋषिपुत्र, देवर्षि और महर्षि ये नाम कहे हैं। पुराणों में ऐसी गणना नहीं मिलती, यद्यपि ऋषिभेदों के नाम मिलते है।[२०]

---

१९. मनु० ३।२०१ श्लोक से 'ऋषि' के बाद परम्पराक्रम से देव की उत्पत्ति ज्ञात होती है; पर यह श्लोक दुर्ज्ञेयार्थक है, अतः इस विषय में सहसा कुछ निरूपण नहीं किया जा सकता।

२०. भट्टार हरिश्चन्द्र और चक्रपाणि की व्याख्याओं में अन्तर है। इस भेद का कारण क्या है—यह चिन्त्य है। पुराणों में पञ्चधा ऋषिजाति में देवर्षि का उल्लेख नहीं है (यह भेद ऋषिप्रकृति में आता है)। चक्रपाणि ने कहा है—"महर्ष्यनुगामित्वात् ऋषिकादीनामपि ग्रहणमिति"। अर्थात् ऋषिक, ऋषिपुत्र, और देवर्षि महर्षि के अनुगामी होते हैं, और इसीलिये इनको यहाँ ग्रहण किया गया है। तात्पर्य यह है कि वस्तुतः महर्षि ही आयुर्वेद-प्रवक्ता हैं, ऋषिक आदि मूल प्रवक्ता नहीं हैं, पर महर्षि के अनुगत होने के कारण ऋषिक आदि का अन्तर्भाव भी प्रवक्ताओं में कर दिया जाता है। पौराणिक दृष्टि में महर्षि का जो स्वरूप है, वह पहले विवृत हो चुका है।

आर्यविद्यासुधाकर (पृ० ३१) में "ऋषीणां चातुर्विध्यम् उक्तं पूर्वाचार्यैः" कहकर स्वयम्भू, ऋषि, ऋषिपुत्र और ऋषिक नाम दिए गए हैं (यहाँ इन चारों की मन्त्रदृष्टियों के विषय में जो श्लोक उद्धत किए गए हैं, उनका स्वल्प अंश पूर्वोद्धृत विष्णधर्मोत्तर० औरब्रह्माण्ड० के वचनों से मिलता है)। ऋषि जैसे—विश्वामित्र आदि। ऋषिपुत्र जैसे—मधुच्छन्दाः प्रभृति। राजन्य वैश्य स्त्री ऋषि—यथाक्रम त्रसदस्यु, वसुकर्ण, विश्ववारा। देवासुरादि ऋषि स्वयम्भू हैं, जैसे—देवशुनी सरमा आदि।

पञ्चधा ऋषि—पञ्चधा ऋषिजाति का एक विशिष्ट वर्णन वायु० ५९। ६३-८७, ब्रह्माण्ड०, १।३२।६१-९५[२१] मत्स्य० ४५।६५-८९) में मिलता है। इन स्थलों के वर्णन से यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं होता कि ये पांच जातिनाम कौन कौन हैं, पर पांच जातिनामों का विवरण है, यह प्रतिज्ञावाक्य से स्पष्ट ज्ञात होता है। यहाँ ऋषि, महर्षि, परमर्षि, ऋषीक, ऋषिपुत्रक, श्रुतर्षि और सप्तर्षि—ये नाम मिलते हैं। इनमें से दो नामों का अन्तर्भाव अन्य नामों में होकर पाँच जातिनाम अवशिष्ट रहते हैं, यह निश्चित है, पर अभीष्ट पाँच नामों का निर्धारण कथंचित् दुरूह है। यहाँ पुराणपाठों में भी कुछ न कुछ भेद मिलते हैं, जिससे श्लोकों का भाव भी कहीं कहीं अस्पष्ट हो जाता है, यह ज्ञातव्य है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ऋषि, परमर्षि, महर्षि, ऋषीक (=ऋषिपुत्र) और श्रुतर्षि—ये पांच जातियाँ कही गई हैं। इस दृष्टि से सप्तर्षि का अन्तर्भाव ऋषि या महर्षि में करना होगा। ये पाँच नाम पर्जिटर के द्वारा भी समर्थित हैं (A. I. H. T. पृ० ३१५ टि०७)।

काव्यमीमांसा (सप्तमाध्याय) में "ब्राह्मं वचः पञ्चधा" कहकर स्वायम्भुव, ऐश्वर्य, आर्ष, आर्षीक, आर्षिपुत्रक—ये पांच भेद गिनाए गए हैं। राजशेखर ने इस स्थल में इन पांच प्रकारों की व्याख्या भी की है, तदनुसार स्वायम्भुव= स्वयंभू ब्रह्मा से प्रोक्त। ऐश्वर्य=तज्जन्मा भृगु आदि ईश्वरों के सुतों के वाक्य। आर्षीक =ऋषिपुत्र ऋषीकों के वाक्य। आर्षिपुत्रक=ऋषीकों के पुत्रों के वाक्य।

---

२१. राजशेखर ने "तदिदं वायुप्रोक्तपुराणादिभ्य उपलब्धम्" कहा है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि यह प्रकरण वायु० में था। प्रचलित वायु० में यह प्रकरण नहीं मिलता, पर ब्रह्माण्ड० १।३३ अ० और विष्णुधर्मोत्तर० ३।४ अ० में अंशतः मिलता है। राजशेखर-प्रयुक्त 'आदि' पद से यह भी सूचित होता है कि वायु० से पृथक् पुराणों में यह प्रकरण था, जो उनको ज्ञात था। ब्रह्माण्ड-विष्णुधर्मोत्तर० के साक्ष्य से यह मत पुष्ट होता है।

यह पञ्चधा गणना अंशतः पूर्वोक्त गणना के समान है, पर इससे पूर्वोक्त गणनाभेद का पूर्ण समाधान नहीं होता। इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि ब्रह्मा के मानसपुत्र ईश्वर हैं, उससे नीचे की कोटि में क्रमशः महर्षि आदि आते हैं। इस प्रकरण में जो परमर्षि पद है वह ऋषि की श्रेष्ठता दिखाने के लिये ही है, वह कोई अवान्तर जाति नहीं है।

इन पांच प्रकार के ऋषियों के ज्ञान के विषय में मत्स्य० १४५।८८-८९, वायु० ५९।८७, ब्रह्माण्ड० १।३२।९४-९५ में एक विशिष्ट सूचना मिलती है। इन पांच प्रकार के ऋषियों के ज्ञेय विषय क्रमशः अव्यक्त (प्रकृति) महान् (महत्तत्त्व), अहंकार, भूत (विशेष) और इन्द्रिय हैं। वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार का विवेचन नहीं मिलता। सम्भवतः सांख्य ज्ञान के प्रभाव के कारण बाद में ऐसी कल्पना की गई थी।[२२]

सप्तविध ऋषि—अमरकोश २।७।४३ की टीका में भानुजि दीक्षित कहते हैं कि ऋषि सात प्रकार के होते हैं—महर्षि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, परमर्षि, राजर्षि, काण्डर्षि और श्रुतर्षि। यह रत्नकोश का मत है, ऐसा अमरकोश टीकाकार मुकुट ने भी कहा है। शब्दकल्पद्रुम में रत्नकोश का वाक्य उद्धृत किया गया है। त्रिकाण्डशेष कोश में इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—व्यासादि (महर्षि), सुश्रुतादि (श्रुतर्षि),[२३] ऋतुपर्णादि (राजर्षि), और जैमिन्यादि (काण्डर्षि)।

पुराणों में यद्यपि यह मत साक्षात् रूप से नहीं मिलता, तथापि तीन ऋषि-प्रकृतियों और पाँच ऋषिजातियों के विवरण में ये नाम मिल जाते हैं। पुराणों में काण्डर्षि-सम्बन्धी कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता। काण्डर्षि-सम्बन्धी विशद

---

२२. सांख्य की पारिभाषिक प्रक्रिया का प्रभाव ब्राह्मण ग्रन्थों में दृष्ट होता है। "पञ्चविंशः पुरुषः" रूप वैदिक वाक्य सांख्यीय तत्त्वसंख्या पर आधृत है, यह श्री उदयवीर शास्त्रीजी ने स्पष्टतः दिखाया है। (वेदवाणी वर्ष ८, अंक १-२ में प्रकाशित पञ्चविंश पुरुषः.....शीर्षक लेख)। शान्तिपर्व ३०१।१०८ में कहा गया है कि जो महान् ज्ञान वेद आदि में है, वह सांख्य से आया है।

२३. निरुक्तटीका १।२० ख० में दुर्गाचार्य कहते हैं कि साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने जिन अवर (शक्तिहीनों) को उपदेश दिया था वे श्रुतर्षि कहलाते हैं। यतः श्रवण करने के बाद ही उनमें ऋषित्व उत्पन्न हुआ था अतः वे 'श्रुतर्षि' पद-वाच्य हैं।

विवेचन के लिये तैत्तिरीयसंहिता की भूमिका (पृ० ४१-४७, स्वाध्यायमण्डल) द्रष्टव्य है।[२४]

ऋषिवाक्यों के प्रकार या मन्त्रदृष्टि—विभिन्न प्रकार के ऋषियों के वाक्य किस प्रकार के होते हैं, इस विषय में एक मननीय उल्लेख ब्रह्माण्ड० १।३३।२३-२५ तथा विष्णुधर्मोत्तर० ३।४।१-९ में मिलता है। दोनों के पाठ पर्याप्त भ्रष्ट हो चुके हैं, अतः एक सामान्य विवरण ही प्रस्तुत किया जा रहा है।

ब्रह्माण्ड० १।३३।२२-२३ में प्रतिज्ञा की गई है—

"ईश्वराणामृषीणां च ऋषिकाणां सहात्मजैः॥२२॥
तथा वाक्यानि जानीष्व यथैषां मन्त्रदृष्टयः" ॥२३॥

यहाँ ईश्वर (=स्वयम्भू, जैसा कि बाद में कहा गया है), ऋषि, ऋषि(षी) क और ऋषिपुत्रक के वाक्यों को उनकी मन्त्रदृष्टियों[२५] के अनुसार जानने की बात कही गई है। इस प्रतिज्ञा के बाद स्वायम्भुववाक्य, ऋषिवाक्य, ऋषीकवाक्य, ऋषिपुत्रवाक्य, मानुषवाक्य आदि वाक्यों के स्वरूप कहे गए हैं। विष्णुधर्मोत्तर० में स्वयम्भूवाक्य, ऋषिवाक्य (३।४।२ गत 'तादृशीनां' पाठ के स्थान पर 'तदृषीणां पाठ होगा), ऋषीकवाक्य (३।४।३ में 'ऋचीकानां' पाठ है, पर वह 'ऋषीकाणां' होगा), ऋषिपुत्रवाक्य और मिश्रवाक्य के साथ राजर्षि-देव-दानव-गन्धर्व-राक्षस-यक्ष-नागों के वाक्यों के स्वरूप भी कहे गए हैं। विष्णधर्मोत्तर० के श्लोक महाभाष्य नवाह्निक की छायाटीका के आरम्भ में उद्धृत मिलते हैं (पृ० २, निर्णयसागर)

ब्रह्माण्ड० और विष्णुधर्मोत्तर० का यह प्रकरण काव्यमीमांसा में उद्धृत है। वहाँ इस विवरण का मूल "वायुप्रोक्तपुराणादि" कहा गया है, जो सूचित करता है कि कभी यह वर्णन वायु० में भी था, पर वर्तमान वायु० में यह वर्णन नहीं मिलता। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि ब्राह्मवाक्य पाँच प्रकार के हैं—स्वायम्भुव, ऐश्वर, आर्ष, आर्षीक और आर्षिपुत्र। स्वयम्भू=ब्रह्मा। ब्रह्मा से उत्पन्न भृगु प्रभृति ईश्वर हैं। ईश्वर पदवाच्य भृगुआदि के सुत ऋषि हैं। ऋषि के अपत्य ऋषीक हैं और

---

२४. उपाकर्म और उत्सर्जन में काण्डर्षि-स्मरण प्रमुख है। इस विषय में आपस्तम्बगृह्य ८।१-२ और उसकी सुदर्शनाचार्यकृत टीका विशेषतः द्रष्टव्य है।

२५. निरुक्त ७।२ख० में मन्त्रदृष्टि का विवरण है—"एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्र दृष्टयो भवन्ति"। मन्त्रदृष्टि='मन्त्राभिव्यक्ति-निदानभूत भाव'। ये भाव आशीः, परिदेवना आदि हैं। यह स्पष्ट है कि इन भावों के साथ वाक्य-प्रकार की अभिव्यक्ति होती है।

ऋषीक के अपत्य ऋषिपुत्रक हैं। इसके बाद जो श्लोक उद्धृत किए गए हैं वे विष्णुधर्मोत्तर० और ब्रह्माण्ड० के श्लोकों से बहुत कुछ मिलते हैं। आर्यविद्या-सुधाकर ग्रन्थ (पृ० २९-३०) भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

काव्यमीमांसा में पांच प्रकार के ब्राह्मवाक्य कहे गए हैं, जो स्वयम्भू, ईश्वर, ऋषि, ऋषीक और ऋषिपुत्रकों के वाक्य हैं। पुराणों के पाठों की भ्रष्टता को देख कर वाक्यप्रकारों की निश्चित गणना और उनके स्वरूपों का अवधारण नहीं किए जा सकते हैं। ऋषिवाक्यों के सप्त भेद हैं, यह ब्रह्माण्ड० १।१।१०० से ज्ञात होता है, पर ये सात भेद कौन कौन हैं, यह निश्चयेन ज्ञात नहीं हो सकता।

ऋषि और मन्त्रब्राह्मण—पहले मन्त्रोत्पत्ति के प्रसंग में ऋषि के विषय में आवश्यक विवरण दिया गया है; अब मन्त्रब्राह्मण प्रवक्तृत्व से सम्बद्ध अन्यान्य विषयों पर विचार किया जा रहा है, यथा––

"ईश्वरा मन्त्रवक्तारः ऋषयो ह्यृषिकास्तथा ॥२१॥
ऋषिपुत्राः प्रवक्तारः कल्पानां ब्राह्मणस्य तु" ॥२२॥
(ब्रह्माण्ड० १।३३।२१-२२)

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि ईश्वर, ऋषि और ऋषिका—ये तीन मन्त्रवक्ता हैं तथा ऋषिपुत्र कल्प और ब्राह्मणों के वक्ता हैं। ब्रह्माण्ड० १।३२।१०३-१०४ और वायु० ५९।९५ में भी कहा गया है कि ईश्वर ऋषि और ऋषिक—ये तीन मन्त्रकृत् हैं।

यहाँ ईश्वर=भृगुप्रभृति कुछ विशिष्ट ऋषि हैं। इनका स्वरूप "ईश्वराः स्वयमुद्भूता मानसा ब्रह्मणः सुताः" (वायु० ५९।८१; ब्रह्माण्ड० १।३२।८८ में 'ईश्वरात्' पाठ है, जो भ्रष्ट है) श्लोक से ज्ञात हो जाता है। ऋषिका का अर्थ नारी ऋषि हैं। ऋग्वेद के कुछ मन्त्र नारी-ऋषिकर्तृक दृष्ट हैं। अल्पार्थ में क-प्रत्यय कर ऋषिक पद बनता है। ऋषिपुत्र को कहीं कहीं ऋषीक भी कहा गया है (ऋषिपुत्रा ऋषीकास्तु)।

इस वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कल्प और ब्राह्मण मन्त्रों के बाद प्रोक्त हुए हैं। इस विषय की उपपत्ति त्रयीपरिचय ग्रन्थ में यथास्थान द्रष्टव्य है। यह भी द्रष्टव्य है कि यहाँ कल्प और ब्राह्मण को समान आसन में रखा गया है। अन्यत्र भी कल्प और ब्राह्मण को पुराणकारों ने समान स्थान दिया है। द्वापरयुगीन वेद-प्रवचनसंबन्धी "ब्राह्मणं कल्पसूत्राणि मन्त्रप्रवचनानि" वाक्य वायु० ५८।१४, लिङ्ग० १।३९।६०, कूर्म० १।२९।४६, मत्स्य० १४४।१४ और ब्रह्माण्ड० १।३१।१४ में मिलता है। ये कल्प निश्चित ही प्रचलित कल्पसूत्र नहीं हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनतम 'कल्प' का अर्थ था—वह वाक्य जिसमें मन्त्र का विनियोगमात्र कहा गया है और 'ब्राह्मण' वह है जो मन्त्रार्थ या विनियोग पर आख्यायिकादि की सहायता से विचार करता हो। प्रचलित ब्राह्मणग्रन्थों में इन प्राचीन कल्पों का समावेश हो गया है। बाद में याज्ञिक कर्मों की वृद्धि के कारण पृथक् कल्पसूत्र (वेदाङ्गभूत) की रचना हुई है।

पूर्वोक्त श्लोक में कल्प में बहुवचन और ब्राह्मण में एकवचन है। इसका कारण चिन्त्य है। एक शाखा का एक ही ब्राह्मण होता है, जबकि एक शाखा के एकाधिक सूत्र होते हैं, सम्भवतः इसी दृष्टि से यहाँ कल्प में बहुवचन और ब्राह्मण में एकवचन प्रयुक्त हुआ है। यह समाधान पूर्ण सन्तोषजनक नहीं है।[२६]

कल्पों की मन्त्रब्राह्मणवत् स्थिति वस्तुतः सत्य है। यह वेदाङ्गभूत कल्प नहीं है। इस विषय में निम्नोक्त प्रमाण द्रष्टव्य है—

(१) तैत्तिरीय आरण्यक का "इति मन्त्राः कल्पोऽत उर्ध्वम" (१।३१) वाक्य इस अनुमान का एक हेतु है। सायण ने भी इस कल्प को 'अनुष्ठानविधायक ब्राह्मणरूप' ही कहा है। मन्त्रब्राह्मण की समान कक्षा में कल्प की यह विलक्षण स्थिति अन्य ग्रन्थों से भी प्रमाणित होती है। "चत्वारि शृङ्गाः ···· त्रिधा बद्धः" (ऋग्० ४।५८।३) मन्त्र काठक संहिता ४०।७ के ब्राह्मण में व्याख्यात हुआ है। 'त्रिधा' के उदाहरण में मन्त्रब्राह्मणकल्प—ये तीन ही उदाहृत हुए हैं। यास्क भी ऐसा ही कहते हैं (१३।७ ख०)। गोपथ० १।२।१६ में "त्रिधा बद्ध इति मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणम्" कहा गया है।[२७] इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि प्रचलित वेदाङ्गभूत कल्पों से पहले मन्त्रब्राह्मणवत् कल्पवाङमय भी प्रचलित था।

(२) वायु० ५९।१४१ में कहा गया है कि विधिदृष्ट कर्म में मन्त्रों की जो कल्पना की जाती है, वही प्राचीन कल्प का स्वरूप है। दशविध ब्राह्मणलक्षण का

---

२६. कभी कभी दो शाखाओं का एक ही गृह्यसूत्र होता है, यथा—आश्वलायन गृह्यसूत्र शाकल और बाष्कल शाखाओं का है, यह वैदिक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। आश्वलायन गृह्य० ३।५।९ की नारायण कृत टीका इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

२७. "चत्वारि शृङ्गाः....." मन्त्र की व्याख्या में गोपथ० १।२।१६ में "त्रिधा बद्ध इति मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणम्" कहा गया है। यहाँ ब्राह्मण से पहले कल्प का उल्लेख साभिप्राय है (२।२।५ में भी 'मन्त्रकल्पब्राह्मणानाम्' पद प्रयुक्त है), जो ज्ञापित करता है कि केवल मन्त्रविनियोगात्मक कल्प ब्राह्मण से प्राचीन है। यह प्राचीन कल्पवाङमय सर्वथा लुप्त हो गया है।

अन्तिम 'व्यवधारणकल्पना' है, जिसके लिये कल्प की आवश्यकता वायु० में कही गई है (५९।१३८)। यह वचन भी ब्राह्मण-प्राचीन कल्पसूत्र की सत्ता का गमक है। गोपथ० १।१।२७, तै० आ० २।९ आदि में जो वेदाङ्ग (सुतरां कल्प भी) का उल्लेख है, उससे कल्पवाङमय की अत्यन्त प्राचीनता ज्ञात होती है। धर्मसूत्रों में भी (यथा बौधायन धर्मसूत्र १।१।८) वेदाङ्गों का निर्देश है, जिससे प्रचलित कल्पों से पहले की कल्पसत्ता का ज्ञान होता है।

(३) बृहद्देवता १।४१ में "ब्राह्मणे चाथ कल्पे च निगद्यन्तेऽत्र कानिचित्" कहा गया है। यह वाक्य भी ब्राह्मणसदृश कल्पसत्ता का ज्ञापक है, वेदाङ्गभूत कल्प का नहीं। विष्णुधर्मोत्तर० ३।१७।१ में मन्त्रब्राह्मण निर्देश के बाद "कल्पना च तथा कल्पाः कल्पश्च ब्राह्मणस्तथा" कहा गया है; यह भी ब्राह्मणसदृश कल्पसत्ता का ही ज्ञापक है।

ऋषि और ब्राह्मण—मन्त्रों की तरह ब्राह्मण का भी दर्शन (प्रणयन) पुराणानुमोदित है। ये ग्रन्थ ऋषिपुत्र-द्वारा प्रणीत हैं (जो ऋषि-विशेष ही हैं)। ऋषि के साथ दर्शन का सम्बन्ध माना गया है, अतः मन्त्र की तरह ब्राह्मण का दर्शन भी पुराणानुमोदित ही है।[२८]

ऋषियों के द्वारा वेदलाभ—प्रलय के बाद आदिम सृष्टि में तपकारी ऋषियों ने वेद को प्राप्त किया, यह मत इतिहासपुराण में बहुशः मिलता है। महाभारत (शान्ति० २१०।१९) का "युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान्......" इत्यादि श्लोक इस विषय में पूर्वाचार्यों द्वारा उदाहृत हुआ है। वेद का अन्तर्धान और उसके पुनः आविर्भाव का रहस्य अन्यत्र विवृत हुआ है।

गोत्रीय ऋषिसूचि—भृगु, अङ्गिराः, काश्यप, अत्रि, कुशिक, अगस्त्य, क्षत्रियवंश और वैश्यवंश के ९२ ऋषियों के नाम वायु० ५९।९६-१०६,[२९] ब्रह्माण्ड० १।३२।१०४-१२२ और मत्स्य० १४५।९०-११८ में मिलते हैं। यहाँ इन ऋषियों के लिये 'मन्त्रवादिन्' (ब्रह्माण्ड० १।३२।१०६), 'मन्त्रकृत्' (मत्स्य० १४५।१००), 'ब्रह्मवादिन्' (वायु० ५९।१०२), 'मन्त्रकार' (वायु० ५९।१०४) आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

---

२८. न्यायभाष्य ४।१।६१ में "मन्त्र-ब्राह्मणस्य द्रष्टारः" वाक्य प्रयुक्त हुआ है। शंकर ने भी "ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनाम्...." कहा है (शारीरक भाष्य १।३।३३)। वस्तुतः मन्त्र और ब्राह्मण की ऋषिप्रणीतता में संशय नहीं है, पर कालकृतभेद अवश्य हैं।

२९. १०६ श्लोक के बाद पाठ नष्ट हो गया है।

यह द्रष्टव्य है कि इस प्रकरण में वायु० का पाठ वसिष्ठवंशीय ऋषि-गणना के बाद लुप्त हो गया है और इसीलिये वायु० में ९२ संख्या की पूरी गणना नहीं मिलती। वायु० ५९।१०६ पर ग्रन्थसम्पादक की टिप्पणी से भी त्रुटित पाठ का अनुमान होता है। ऋषिनामों की पूर्ण संख्या ९२ है (इति द्विनवतिः प्रोक्ताः मत्स्य० १४५।११७)। ब्रह्माण्ड० १।३२।१२२ में "इत्येषा नवतिः प्रोक्ताः" पाठ है, जो प्रत्यक्षतः अशुद्ध है, क्योंकि प्रतिगोत्र नामों की संख्या पुराणों में दी गई है, जिसको जोड़ने पर ९२ संख्या ही होती है। यथा—

भृगु	ऋषि	१९—	भृगु,काव्य, प्रचेताः, ऋचीक आदि।
अङ्गिराः	,,	३३—	अङ्गिराः, भरद्वाज, गर्ग, शिनि आदि।
कश्यप	,,	६—	काश्यप, वत्सार, नैध्रुव, रैभ्य आदि।
अत्रि	,,	६—	अत्रि, श्यावाश्व, गविष्ठिर आदि।
वसिष्ठ	,,	७—	वसिष्ठ, शक्ति, पराशर आदि।
कुशिक	,,	१३—	विश्वामित्र, देवरात, मधुच्छन्दाः आदि
अगस्त्य	,,	३—	अगस्त्य, दृढ़ायुः, इध्मवाह।
क्षत्रिय	,,	२—	वैवस्वत मनु और पुरूरवाः।
वैश्य	,,	३—	भलन्दन, वत्स्य और संकील।
		९२	

इन ९२ नामों में पर्याप्त भ्रष्टपाठ हैं। पुराणों के हस्तलेख तथा गोत्रप्रवर-सूचियों[३०] को देखकर इन नामों का संशोधन करना अपेक्षित है।

ऋषिपुत्रों की सूचिः—ऋषिनामों की गणना के बाद ऋषिपुत्रों के नामों का विवरण दिया गया है। मत्स्य० १४५।११८ में कहा गया है—"ऋषिपुत्रान् निबोधत, ऋषीकाणां सुता ह्येते ऋषिपुत्राः श्रुतर्षयः"; यह पाठ भी चिन्त्य है, क्योंकि ऋषिपुत्र ही ऋषीक हैं और ऋषीकसुत ऋषिपुत्रक कहलाते हैं—यह पहले काव्यमीमांसादि के वाक्यों के अनुसार दिखाया गया है। वायु० में यह अंश नहीं है तथा मत्स्य० १४५।११८ में यद्यपि इस विवरण को कहने के लिये प्रतिज्ञा की गई है तथापि एतत्सम्बन्धी अध्याय लुप्त हो गया है।

ब्रह्माण्ड० १।३२ अ० में मन्त्रकृतों का विवरण समाप्त कर १।३३ अ० से ऋषि-

---

३०. गोत्र-प्रवर-सूची पुराणों में भी मिलती है; द्र० मत्स्य० १९५-२०२ अ० तथा विष्णुधर्मोत्तर० १।१११-११८ अ०।

कसुतों (=ऋषिपुत्रकों) के नामों की सूची दी गई है। ये ऋषि ब्राह्मणों के प्रवक्ता थे, यह वहीं (१।३३।१) स्पष्टतया कहा गया है, तदनन्तर १।३३।२ में यह कहा गया है कि इन ब्राह्मणप्रवक्ता श्रुतर्षियों की गणना में प्रधान प्रधान नामों का ही उल्लेख किया जाएगा।

ब्रह्माण्ड० १।३३।४-५ में बह्वृच श्रुतर्षियों की संख्या ८६ कही गई है। १।३३।६-७ में चरकाध्वर्यु श्रुतर्षियों की संख्या भी ८६ कही गई है। सामग श्रुतर्षियों की संख्या ४६ दी गई है (१।३३।९)। १।३३।११ में होत्रवत् ब्रह्मचारियों की संख्या ९० कही गई है। यहाँ १।३३।१७-२० तक ब्रह्मवादिनी नारियों के नाम दिए गए हैं। १।३३।२०-२१ में कहा गया है चूंकि ऋषिपुत्रक भी वेदशाखाओं के प्रणेता हैं, इसलिये वे भी ऋषि हैं।

श्रुतर्षियों के नामों में कुछ नाम तो स्पष्टतः शाखाकारों के हैं, यथा—जाजलि, माठर, पराशर, इन्द्रप्रमति, बाष्कलि, हिरण्यनाभ, कुसुमि, लाङ्गलि, ब्रह्मबल, मुद्गल आदि। व्यास के शिष्य पैल, वैशम्पायन, जैमिनि के नाम भी इस सूची में हैं।

वेदाध्ययन

वेद के अध्ययन-अध्यापन और मनन के विषय में पौराणिक मतों पर संक्षिप्त विचार कर यह ग्रन्थ समाप्त किया जाएगा। इन विषयों में पुराणों में अनेकत्र सदृश विचार ही मिलते हैं, अतः सभी पुराणों से वाक्यों के उद्धरण देकर व्याख्या करना अनावश्यक है। विशिष्ट मतों पर स्मृति आदि की सहायता से पुराणवचनों की व्याख्या करना ही इस प्रकरण का उद्देश्य है।

वेदाध्ययन की महत्ता और आवश्यकता—पुराणों में वेदाध्ययन की महती प्रशंसा उपलब्ध होती है। कई पुराणों में कहा गया है कि श्रुति का अध्ययन करना तप है (पद्म० ६।२८।४५)। श्रुति का अध्ययन-अध्यापन और जप की पुण्यजनकता भी उल्लिखित हुई है (पद्म० ६।२८।४५-४६)। पद्म० ४।८४।४४ में वेदाध्ययन को 'वाचिकव्रत' कहा गया है। तपःपूर्वक वेदाध्ययन के उल्लेख (मत्स्य० १४२।४८) से भी वेदाध्ययन की महत्ता सिद्ध होती है। उसी प्रकार ब्रह्मचर्यादिपूर्वक वेदाध्ययन करने का उल्लेख मिलता है (मत्स्य० ३०।१४)। स्मृतियों के मत के अनुरूप ही पुराणों में भी ब्रह्मण्यरक्षा के लिये वेद का अध्ययन विहित हुआ है (कूर्म० २।१४।४६)।

वैदिक ग्रंथ तथा धर्मसुत्रादि में भी वेदाध्ययन का प्रसंग है। शतपथ० ११।५।६।१ में ब्रह्मयज्ञ का उल्लेख है। यहाँ "स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः" कहा गया है। तै० आ० २।१० में "यत् स्वाध्यायम् अधीयीत् एकैकामृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः" कहा गया है। गृह्यसूत्रों में ब्रह्मयज्ञ का विस्तृत विवरण है (आश्व०

गृह्य० ३।१।४ कण्डिका)। आपस्तम्बधर्मसूत्र १।४।१२।१३-१५ में पञ्चयज्ञान्तर्गत स्वाध्याय कथित हुआ है।

स्वाध्याय=ब्रह्मयज्ञ—पुराणों में स्वाध्याय का लक्षण 'अर्थज्ञानयुक्त वेदाध्ययन' कहा गया है—"स्वाध्यायो नाम मन्त्रार्थसन्धानपूर्वको जपः" (पद्म० ४।७८।१३)। वेद का स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ कहलाता है। पञ्चमहायज्ञ के वर्णन में स्मृतिपुराण में सर्वत्र ऐसा ही कहा गया है। ऐसे स्थलों पर स्वाध्याय का अर्थ 'स्वशाखा का अध्ययन' है, यह व्याख्याकार कहते हैं। लिङ्ग० १।२६।१६ में कण्ठतः "स्वशाखाध्ययनं ब्रह्मयज्ञः" कहा गया है।

पुराणों के वर्णाश्रमधर्म-प्रकरणों में स्मृतिग्रन्थों के अनुरूप स्वाध्याय या ब्रह्मयज्ञ का उल्लेख मिलता है।

सार्थ वेदाध्ययन—पुराणों में अर्थज्ञान-सहित वेदाध्ययन का विशद निर्देश प्रायेण मिलता है। कूर्म० २।१४।६८-८७ में वेदाध्ययन के बाद वेदार्थ-विचार करने की विधि कही गई है। यह दृष्टि स्मृतियों में भी मिलती है (औशनस स्मृति, भाग १, पृ० ५१७, अपरार्क टीका पृ० ७४-७५)। वेङ्कटाचल ३२। ४० में 'अर्थावबोध रहित श्रुतिपाठ' की उपमा नदीहीन देश के लिये दी गई है। पुराणकारों ने यहाँ तक कहा है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अविनाभावी होने के कारण वेद का शब्द अवश्यमेव अर्थवान् है (पुरुषोत्तम० २८।४२)।

कहीं-कहीं वेदाध्यायी से वेदार्थवित् की श्रेष्ठता भी कही गई है (भाग० ३।२९ ३१)। यह दृष्टि भी स्मृतियों में मिलती है। उदाहरणार्थ मनु० के "अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः" इत्यादि श्लोक में (१२।१०३) अर्थज्ञानहीन पाठ से अर्थयुक्त पाठ की श्रेष्ठता कही गई है। पद्म० १।५३।८५-८६ में कहा गया है कि वेदपाठ से ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए; जो वेद का अध्ययन कर वेदार्थ का विचार नहीं करता, वह मूढ़ है। "वेद का अध्ययन करने के बाद उसका अर्थ जानकर" ही कोई स्नातक हो सकता है, यह पद्म० १।५८।१ में कहा गया है।

अर्थज्ञान की महत्ता पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत हुई है। निरुक्त १।१८ ख० के "स्थाणुरयं भारहारः. . ." इत्यादि श्लोक में अर्थज्ञान की महत्ता प्रतिपादित हुई है। अर्थज्ञानपूर्वक वेदाध्ययन का उल्लेख मनु० १२।१०३ आदि में भी मिलता है। वेदमन्त्र का अर्थज्ञान याज्ञिक दृष्टि से भी उपयोगी है, यह शबर के "दृष्टो हि तस्यार्थः. . .समामनन्ति" (शाबरभाष्य १।१।१) वाक्य से ज्ञात होता है। अर्वाचीनकाल में इस धारणा का विपर्यास हो चुका है। यद्यपि अर्थज्ञानपूर्वक अध्ययन प्रशस्त माना गया है, तथापि यह ज्ञातव्य है कि संहिता-काल में ही मन्त्रार्थ-

ज्ञानसम्बन्धी संशय उत्पन्न हो गया था। "उत त्वः पश्यन्...." इत्यादि मन्त्र से (ऋग्वेद १०।११।१) यह भाव स्पष्टतः ध्वनित होता है।

अर्थहीन वेदाध्ययनः—अर्थज्ञानहीन वेदाध्ययन भी पुराणों में उल्लिखित है। प्राचीन रीति के अनुसार यह अध्ययन 'निगदपाठ' कहलाता था (निरुक्त १।१९ ख०)। अर्थज्ञानहीन वेदाध्ययन को प्रायः ग्रन्थधारण कहा जाता है (ब्रह्म० २।२।१४, शान्ति० ३०५।१३)। इतिहास-पुराण में स्पष्टतः कहा गया है कि अर्थज्ञान हीन का ग्रन्थधारण वृथा है और वह भारवाही है। (ब्रह्म० २४२।१४-१५, शान्ति० ३०५।१३-१४)। अर्थज्ञानहीन वेदाध्ययन भी ऋग्वेदसंहिता के प्रणयकाल से ही चला आ रहा है, यही कारण है कि ऋग्० १०।७१।५ में अर्थज्ञान-हीन वेदपाठ की निन्दा की गई है। महाभारत में भी अर्थज्ञानहीन श्रोत्रिय की बुद्धि को 'अतत्त्वार्थदर्शिनी' कहा गया है (शान्ति० १०।१, सभा० १३२।६)।

सस्वर वेदपाठः—उदात्तादि स्वरों के विषय में नारदीय पुराणान्तर्गत शिक्षाध्याय (१।५० अ०) में अनेक ज्ञातव्य बातें मिलती हैं। यह विवरण शिक्षाग्रन्थों के अनुसार ही है। नारदीय० २।३५।२१ में स्वरहीन वेदाध्ययन की उपमा पद्महीन सरः से दी गई है। स्वरहीन वेदपाठ की निन्दा पूर्वाचार्यों ने की है। किसी प्राचीन ग्रन्थ का "दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह" इत्यादि वचन इस प्रसंग में स्मार्य है[३१] (पस्पशा० पृ० २७)। नारदीय शिक्षा १।६ में 'स्वर और वर्ण से हीन मन्त्र की अनुपयोगिता' कही गई है। स्वर के अनुसार पदवाक्य के अर्थ की तीव्रता और अतीव्रता मानी जाती है, जैसा कि निरुक्तकार ने कहा है—"तीव्रार्थतरम् उदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्" (४।२५ ख०)। वेंकटमाधवकृत स्वरानुक्रमणी (१।३।२; ३, २२) में एतद्विषयक विशिष्ट विचार द्रष्टव्य है। मन्त्रजिज्ञासु के लिये स्वर भी एक अवश्य ज्ञेय विषय है। इस विषय का एक श्लोक वर्गद्वयवृत्ति में उद्धृत है—"स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा दैवं योगार्थमेव च। मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे" (पृ० ३)।

पञ्चधा वेदाभ्यासः—काशी० ३५।१८५-१८६ में पञ्चधा वेदाभ्यास का उल्लेख है। यह वचन दक्षस्मृति २।३४ में भी है। यहाँ वेद का स्वीकार (गुरु से अध्ययन), अर्थविचार (अर्थज्ञान), अभ्यास (बार बार स्वयं अध्ययन), जप

---

३१. यह शिक्षा-वाक्य है, ऐसा छायाकार ने कहा है (महाभाष्य नवाह्निक पृ० २८)। पाणिनीय शिक्षा में "मन्त्रो हीनः..." इत्यादि श्लोक है (कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित और मनोमोहन घोष द्वारा सम्पादित पाणिनीय-शिक्षाग्रन्थ द्रष्टव्य)।

और शिष्य को पढ़ाना—ये पांच प्रकार कहे गए हैं। यह श्लोक मिताक्षरा ३। ३१०, अपरार्क टीका (पृ० १२६) तथा वर्णद्वयवृत्ति (पृ० ३) में उद्धृत है। काशी० में यह भी कहा गया है कि इस प्रकार के वेदाभ्यास से अलब्ध की प्राप्ति और प्राप्त की सुरक्षा होती है। धर्मारण्य० ५।११४ में भी यह श्लोक मिलता है, यहाँ 'जप' के स्थान में 'तप' पठित हुआ है, पर यह भ्रष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि जप ही वेदाभ्यास का एक प्रकार हो सकता है, तप नहीं। गोतमधर्मसूत्र ९।१ के मस्करिभाष्य में वेदाध्ययन के चार प्रविभाग कहे गए हैं (अध्ययनं वेदस्य ग्रहण-धारण-अभ्यास-जपादिरूपम्)। पञ्चधा विभाग से इसका साम्य लक्षणीय है।

वेदपारायण—वेदजप, वेदाध्ययन की तरह वेदपारायण का प्रसंग भी पुराणों में सामान्य रूप से मिल जाता है (वेंकेटाचल० ६।५५)। पारायण सम्बन्धी विशिष्ट बातें इस साहित्य में नहीं मिलती। सामान्य वेदपाठ के लिये 'ब्रह्मघोष' शब्द पुराणों में प्रायेण व्यवहृत हुआ है (नारदीय० १।६०।३)।

वेदोच्चारण—वेदोच्चारण-सम्बन्धी सामान्य निर्देश भी पुराणों में मिलते हैं। नारदीय पुराणान्तर्गत शिक्षा-विवरणाध्याय (१।५० अ०) में इस विषय पर शिक्षाग्रन्थपठित श्लोक सदृश श्लोक मिलते हैं।

हरिवंश० ३।६६।२९-३० में वेदोच्चारण सम्बन्धी विशद उल्लेख है। यहाँ "गम्भीरोदार, मधुर, सुस्वर, हंसगद्गद" ये विशेषण "वेदोच्चारणनिःस्वनः" के दिए गए हैं। अध्येता (लोकायतिक) का विशेषण है—"ऐक्यनानात्वसंयोगस-मवायविशारद"। नीलकण्ठ ने इसकी कुछ भी व्याख्या नहीं की है, तथापि इसका यह अर्थ प्रतीत होता है—'स्वरों के सजातीय-विजातीय भेदों के यथावत् आरोह-अवरोह-पूर्वक प्रयोग में पटु'। पुरुषोत्तम० २२।२८-२९ में स्वाध्याय शब्द (=वेद-ध्वनि) के विशेषण में 'सुपद' 'स्पष्टवर्णक्रमस्वर' और 'असंकीर्णोज्ज्वलपद', ये तीन पद दिए गए हैं। शिक्षाग्रन्थों में पठनक्रिया के जो विवरण मिलते हैं, ये पौराणिक निर्देश उन पर आधृत हैं—ऐसा प्रतीत होता है।

उच्चैः स्वर से वेदाध्ययन का उल्लेख भी यत्र तत्र मिलता है (मत्स्य० १७२। ५०)। वेदोच्चारण के प्रसंग में संहिता-पद-क्रम-घन-पाठ का उल्लेख क्वचित् मिलता है (धर्मारण्य० ३९।५-६)। इसी स्थल में 'ऋग्वेद का उच्चैः स्वर से पाठ' भी कहा गया है। इस प्रसंग में सामगकर्तृक स्तोत्र-पाठ, शस्त्र (मुद्रित 'शास्त्र' पाठ अशुद्ध है), याज्यापुरोनुवाक्या भी उल्लिखित हुए है (धर्मारण्य० ३९।७)। नागर० में 'तारनाद से वेदाभ्यास' का उल्लेख है (३७।५)।

वेदों का विशिष्ट अध्ययन—ऋगादि प्रत्येक वेद के अध्ययन के विषय में कहीं कहीं विशिष्ट वाक्य पुराणों में मिल जाते हैं। कई पुराणों में ऋग्-यजुः-साम-

अथर्वाङगिरस् वेदों के अध्ययन की उपमा क्षीर-दधि-घृत-मधु-आहुति (देवों के प्रति) के साथ दी गई है (पद्म० १।५३।४७-४८ और गरुड० १।९४।२६-२७)। यह विचार स्मृतियों में भी मिलता है (याज्ञ० १।४१-४४) तथा इसका मूल ब्राह्मण ग्रन्थों में है (शतपथ० १५।४।६ ब्रा०)।

ओंकारपूर्वक वेदाध्ययन का निर्देश पद्म० आदि ३९।४५ में मिलता है। यह मत पर्याप्त प्राचीन है।

प्रकीर्ण अध्ययन—संहिताध्ययन का उल्लेख वैदिकी भक्ति के विवरण में अवन्ती० ७।५-१५ और पद्म० ४।८५-९ में मिलता है। यहाँ केवल संहिता का उल्लेख क्यों है, ब्राह्मणों का भी क्यों नहीं—यह चिन्त्य है। मन्त्रों की प्रमुखता के कारण तथा स्तुति का प्राधान्य होने के कारण ही ऐसा कहा गया है—यह अनुमित होता है।

'सविस्तर' वेदाध्ययन का उल्लेख क्वचित् मिलता है (भाग० ३।३।२)। सविस्तर=अङ्गादिसहित (श्रीधरी टीका)। कहीं कहीं (पद्म० भूमि १०५।५८) पदक्रम और षट् अङ्गों के साथ वेदाध्ययन करने का उल्लेख है।

वेद का अध्यापन—वेदाध्यापन सम्बन्धी कुछ विवरण पुराणों में मिलते हैं। एतादृश उल्लेख स्मृतियों में भी हैं। गरुड० १।९४।१९-२१ में गुरु, आचार्य, उपाध्याय आदि के लक्षण दिए गए हैं। अनूचान का लक्षण नारदीय० १।५०।१२ में दिया गया है। नारदीय० १।९।८६-८७ तथा १।९।९३-९४ में वेदाध्यापक सम्बन्धी सामान्य विवरण दिया गया है।

शश्वत्पुण्यहिरण्यगर्भरसनासिंहासनाध्यासिनी
सेयं वागधिदेवता वितरतु श्रेयांसि भूयांसि वः।
यत्पादामलकोमलाङ्गुलिनखज्योत्स्नाभिरुद्वेल्लितः
शब्दब्रह्मसुधाम्बुधिर्बुधमनस्युच्छृङ्खलं खेलति॥
(भविष्यपुराण, उत्तर पर्व १।२)

इति कृष्णयजुर्वेदान्तर्गत-तैत्तिरीयशाखाध्यायिना गार्ग्येण श्रीरामशंकर भट्टाचार्येण विरचितः पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन-नामा हिन्दीग्रन्थः समाप्तः।

परिशिष्ट

प्रमाणरूप से उपन्यस्त ग्रन्थ-पत्रिकादि का विवरण

इस विवरण में आधारभूत २१ पुराणों (उनकी टीकाओं का भी) का विवरण प्रदत्त नहीं हुआ है (द्र० प्राक्कथन)।

ग्रन्थों के जिन संस्करणों का मुख्यतः उपयोग किया गया है, वे ही यहां निर्दिष्ट हुए हैं। किसी विशेष कारण से जहां अन्य संस्करणों का व्यवहार करना पड़ा है, वहां ग्रन्थ में ही तत् तत् संस्करणों का उल्लेख कर दिया गया है।

ग्रन्थविवरण में ग्रन्थकार का नाम मुख्यरूप से लिखित हुआ है। जिन ग्रन्थों के लिये ऐसा लिखना संभव या आवश्यक नहीं है, उनके विवरण में ग्रन्थसम्पादक का नाम (या अनुवादक का नाम) तथा संस्करण का नाम उल्लिखित हुआ है। कुछ स्थलों में केवल संस्करण का नाम ही दिया गया है। अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ (यदि वह एक बार ही छपा है तो) के लिये केवल ग्रन्थकार नाम या प्रकाशन-स्थाननाम का उल्लेख करना ही पर्याप्त माना गया है।

इस ग्रन्थ में जिन ग्रन्थों के केवल नाम उद्धृत हुए हैं (ग्रन्थावलोकनार्थ), जिनके वचनों का उद्धरण नहीं दिया गया, उन ग्रन्थों का परिचय इस सूची में प्रायेण नहीं दिया गया है। ग्रन्थ के निर्दिष्ट स्थलों में ही एतादृश ग्रन्थों का परिचय प्राप्तव्य है।

व्याख्याग्रन्थ का परिचय व्याख्येय ग्रन्थ के साथ ही दिया गया है, यथा मनुस्मृति के साथ ही मन्वर्थमुक्तावली का भी परिचय दिया गया है। जो व्याख्यान ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से प्रचलित हैं (यथा महाभाष्य, पदमञ्जरी, न्यास आदि) उनके नाम पृथक् रूप से वर्णानुक्रम में पठित हुए हैं।

जिन ग्रन्थों के एकाधिक नाम प्रसिद्ध हैं, उनके प्रसिद्धतर नाम ही प्रधानतः उल्लिखित हुए हैं और अप्रसिद्ध नाम कोष्ठक में दिए गए हैं। विशिष्ट क्षेत्र में दोनों नाम ही वर्णानुक्रम के अनुसार उल्लिखित हुए हैं। जिन व्याख्याग्रन्थों के विशिष्ट नाम हैं (उज्ज्वला, अनाविला आदि), उनके नामों का निर्देश भी प्रायेण व्याख्याकार-नाम के साथ कर दिया गया है।

व्याख्या-वृत्ति-टीका आदि शब्द प्रायेण एकार्थक समझे जाते हैं। व्याख्याकार स्वकृत व्याख्यान के लिये वृत्ति, टीका, व्याख्या आदि शब्दों का उल्लेख क्यों न करें, व्यवहार में सभी टीका या व्याख्या पद से अभिहित होते हैं। इस ग्रन्थ में भी वृत्ति-टीका-व्याख्या शब्दों का सांकर्य है, पर इससे व्यवहारतः कोई संशय उत्पन्न नहीं होता, यह ज्ञातव्य है।

इस सूची में उल्लिखित कुछ संस्कृत ग्रन्थ बंगीय लिपि में हैं, जिनका देव-नागरी संस्करण भी प्रचलित है। कुछ बंगलाभाषीय ग्रन्थ भी व्यवहृत हुए हैं, जिनका निर्देश यथास्थान कर दिया गया है।

(क) संस्कृत-हिन्दी-बंगला-भाषामय ग्रन्थ[1]

ग्रन्थ नाम	संस्करणादिविवरण
अथर्ववेद (मूल)	स्वाध्यायमण्डल।
अथर्ववेद (शौनकसंहिता)	शंकर पाण्डुरंग पण्डित सम्पादित सायणभाष्यसहित, बम्बई।
अथर्वपरिशिष्ट	शिक्षा संग्रह में प्रकाशित, बनारस संस्कृत सीरीज।
अथर्ववेदीय दन्त्योष्ठविधि	रामगोपाल शास्त्री सम्पादित, लाहौर।
अथर्ववेदीय पञ्चपटलिका	भगवद्दत्त सम्पादित, लाहौर।
अथर्वप्रातिशाख्य	डा० सूर्यकान्त सम्पादित।
अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी	लाहौर।
अथर्ववेदपरिशिष्ट	वालिङ्गसम्पादित विभिन्न परिशिष्ट।
अथर्वशिरस् उपनिषद्	अष्टोत्तर शतोपनिषदन्तर्गत।
अनुवाकसूत्राध्याय	शुक्लयजुर्वेद संहिता के अन्तर्गत (निर्णयसागर)।
अनुवाकानुक्रमणी	शौनकीय, एसियाटिक सोसायटी संस्क०।
अनेकार्थसंग्रहकोश	हेमचन्द्रकृत, चौखम्बा।

---

१. प्रदत्त ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनके वाक्यों का उद्धरण किया नहीं गया है; निबन्धस्थ प्रतिपाद्य विषयों की उपपत्ति के लिये उनकी सहायता ली गई है।

अप्रकाशित उपनिषद्	उपनिषद् ब्रह्मयोगिकृतव्याख्यासहित, अडयार।
अमरकोश	भानुजिकृत व्याख्यासुधा टीका (निर्णय सागर), क्षीरस्वामिकृत अमरकोषोद्घाटन, पूना।
अर्थशास्त्र	कौटिल्यकृत, मैसूर।
अष्टादशपुराणदर्पण	ज्वाला प्रसाद मिश्र कृत, वेंकट०।
अष्टविकृतिविवृति	मधुसूदनकृत, माधवदास सांख्यतीर्थसम्पादित, बंगला व्याख्यासहित, कलकत्ता।
अष्टाध्यायी	पाणिनिकृत, काशिकागत सूत्रसंख्या ही उद्धृत की गयी है।
अष्टोत्तरशतोपनिषद्	(=ईशाद्यष्टोत्तर०), काशी।
अहिर्बुध्न्यसंहिता	अडयार संस्क० श्रेडर सम्पादित।
आगमप्रामाण्य	यामुनाचार्यकृत, काशी।
आपस्तम्बगृह्यसूत्र	हरदत्तकृत अनाकुलावृत्ति तथा सुदर्शनाचार्यकृत गृह्यतात्पर्यदर्शन टीका सहित, काशी संस्कृत सीरीज।
आपस्तम्बधर्मसूत्र	हरदत्तकृत टीका सहित, कुम्भकोण संस्क०।
आपस्तम्बमन्त्रपाठ	डा० विण्टरनिट्ज सम्पादित।
आपिशलिशिक्षा	युधिष्ठिर मीमांसक सम्पादित, "शिक्षासूत्राणि" के अन्तर्गत, बनारस।
आयुर्वेद का इतिहास	कविराज सूरमचन्द्रकृत, शिमला।
आर्यविद्यासुधाकर	यज्ञेश्वर चिमण भट्टकृत, लाहौर।
आर्षानुक्रमणी	एसियाटिक सोसायटी संस्क०।
आर्षेय ब्राह्मण	माधवदाससांख्य तीर्थ कर्तृक सम्पादित तथा बंगला में अनूदित, श्री भारती ग्रन्थमाला ; इसका सायण भाष्य सत्यव्रत सामश्रमिककर्तृक सम्पादित हुआ है।
आश्वलायन-गृह्यसूत्र	निर्णयसागर संस्क०, नारायण कृत टीकासहित।

आश्वलायन-गृह्यसूत्रपरिशिष्ट	उपर्युक्त आपस्तम्बगृह्यसूत्र के अन्त में मुद्रित।
आश्वलायन-श्रौतसूत्र	गार्ग्यनारायण कृत टीका सहित,
ईशोपनिषद्-ईशावस्योपनिषद्	द्र० ईशादिपञ्चोपनिषद्।
ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्	काशी; अष्टोत्तरशतोपनिषद् शब्द प्रायेण व्यवहृत हुआ है।
ईशादिपञ्चोपनिषद्	दीपिका-आनन्दगिरि-टीका सहितशांकर भाष्य (ईशकेनकठ प्रश्न मुण्डक), बनारस।
उणादिसूत्र	
—श्वेतवनवासिकृत वृत्ति	टी० आर० चिन्तामणि सम्पा०, मद्रास।
—नारायण कृत वृत्ति	टी० आर० चिन्तामणि सम्पा०, मद्रास।
उपनिदानसूत्र	सरस्वती भवन टेक्स्ट, काशी।
उपनिषद्	ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद द्र०। जी०
उपलेखसूत्र	पर्टस सम्पादित।
ऊनविंशतिसंहिता	अत्रिविष्णुहारीत आदि १९ स्मृतियां बंगवासी संस्क०, कलकत्ता।
ऋग्वेद (मूल), परिशिष्ट सहित	स्वाध्यायमण्डल।
—सायण भाष्यसहित	वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।
—ऋक्परिशिष्ट	स्वाध्यायमण्डल; वैदिक संशोधन मण्डल प्रकाशित ऋग्वेद का चतुर्थ भाग।
—उद्गीथ भाष्य सहित (आंशिक)	लाहौर।
—स्कन्द भाष्य वेंकटमाधव-व्याख्यान सहित	अनन्त शयन संस्कृत ग्रन्थावली।
—स्कन्द स्वामि भाष्य	मद्रास विश्वविद्यालय।
ऋक्सर्वानुक्रमणी	षड्गुरुशिष्यकृत वेदार्थदीपिका सहित, मैकडोनल सम्पादित।
ऋग्विधान	जगदीश शास्त्री सम्पादित।
ऋग्यजुःपरिशिष्ट	शुक्लयजुर्वेदीय प्रातिशाख्यान्तर्गत, बनारस संस्कृत सीरिज।

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य	शौनककृत; वर्गद्वयवृत्ति और उवटकृत टीकासहित, डा० मङ्गलदेव शास्त्री सम्पादित।
ऋग्वेदानुक्रमणी	माधव भट्ट कृत, मद्रास विश्वविद्यालय।
ऋग्वेद की ऋक्संख्या	युधिष्ठिर मीमांसक कृत, अजमेर।
ऋग्वेद पर व्याख्यान	भगवद्दत्तकृत, लाहौर।
ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका	दयानन्दस्वामिकृत, अजमेर।
ऐतरेय आरण्यक	सायण भाष्य सहित, आनन्दाश्रम।
ऐतरेय उपनिषद्	शांकर भाष्य, गिरिटीका सहित, आनन्दाश्रम।
ऐतरेय ब्राह्मण	सायण भाष्यसहित, आनन्दा० तथा षड्गुरुशिष्यकृत सुखप्रदा व्याख्य-सहित, त्रिवेन्द्रम्।
ऐतरेयालोचन	सत्यव्रतसामश्रमिकृत, बिब्लिओ-थिका इन्डिका संस्क०।
कठ उपनिषद्	ईशादिपञ्चोपनिषदन्तर्गत, शांकर-भाष्य, गिरि-गोपालयतीन्द्र-कृत टीकाद्वयसहित।
कर्म प्रदीप	कात्यायनकृत, एसियाटिक सोसायटी संस्करण।
कल्किपुराण	ताराचांद दास एण्ड सन्स, कलकत्ता।
कल्पतरु	अमलानन्दकृत; भामती टीका, परि-मलसहित, निर्णयसागर।
कृत्यकल्पतरु	लक्ष्मीधरकृत (विभिन्न काण्डों में), बरोदा।
काठकगृह्यसूत्र	सव्याख्या, कालेण्ड सम्पादित
काठक संहिता	स्वाध्याय मण्डल
काठकोपनिषद्	कठोपनिषद् द्रष्टव्य।
कात्यायन श्रौतसूत्र	कर्किभाष्यसहित, चौखम्बा; वेवर-सम्पादित देवयाज्ञिक व्याख्यासहित संस्करण।
कामन्दकीय नीतिसार	बिब्लिओथिका इन्डिका सीरीज

कामसूत्र	वात्स्यायनकृत, जयमङ्गलासहित, चौखम्बा।
कालिकापुराण	वेंकट०
काव्यमीमांसा	राजशेखरकृत, वरोदा।
काशिका	अष्टाध्यायीवृत्ति, चौखम्बा, १९३१ ई०।
काश्यपसंहिता	राजगुरु हेमराज सम्पादित।
किरातार्जुनीय	भारविकृत, मल्लिनाथ कृत टीका सहित
केन उपनिषद्	भाष्यद्वयसहित, ईशादिपञ्चोपनिषदन्तर्गत।
कैवल्य उपनिषत्	अष्टोत्तर शतोपनिषदन्तर्गत।
कोदण्डमण्डन (धनुर्वेदीय ग्रन्थ)	बंगला अक्षर, श्यामाकान्त तर्कपञ्चानन-सम्पादित, वसुमती साहित्यमन्दिर, कलकत्ता।
कौशिक सूत्र	केशवकृत टीकांशसहित, ब्लूमफील्ड सम्पादित।
कौषीतकि-गृह्यसूत्र	चौखम्बा।
कौषीतकि-आरण्यक	आनन्दा०।
कौषीतकि-ब्राह्मण	आनन्दा०।
क्षीरतरङ्गिणी	रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण।
खादिर-गृह्यसूत्र	रुद्रस्कन्दवृत्तिसहित, उदयनारायणवर्मसम्पादित, मुजफ्फरपुर।
गीता, शांकर भाष्य- आनन्दगिरि-टीकासहित।	श्रीधरकृत टीका सहित, कलकत्ता।
रामानुज टीका	गीताप्रेस।
गीतारहस्य	बालगङ्गाधर तिलककृत, माधवरावसप्रेकृत हिन्दी अनुवाद।
गोपथ ब्राह्मण	गास्ट्रा सम्पादित, लीडन।
गोभिल गृह्य प्रकाशिका	सुब्रह्मण्यशास्त्रिकृत
गौतमधर्मसूत्र	मस्करिकृतभाष्यसहित, मैसूर।
चतुरध्यायिका (=अथर्ववेद प्रातिशाख्य)	ह्विटने सम्पादित।
चतुर्वर्गचिन्तामणि	हेमाद्रिकृत।

चतुर्विंशतिमतसंग्रह	बनारस संस्कृत सीरीज ।
चरक संहिता	चक्रपाणिकृत टीका सहित, कलकत्ता
चरणव्यूह	महिदासकृत टीका सह, चौखम्बा, १९३८ई०; इसके अन्यान्य संस्करण भी व्यवहृत हुए हैं, बर्लिन से प्रकाशित संस्करण भी द्र० ।
चारायणीयमन्त्रार्षाध्याय	लाहौर ।
छन्दःसंख्या (=छन्दः संख्या परि-शिष्ट)	स्वाध्यायमण्डल, ऋग्वेदपरिशिष्टा-न्तर्गत ।
छन्दःसूत्र	पिङ्गलसूत्र कृत, हलायुधकृत टीका सहित, निर्णयसागर ।
छन्दोनुक्रमणी	एशियाटिक सोसायटी संस्क० ।
छान्दोग्य उपनिषद्	शांकर भाष्य-गिरिकृत टीका सहित, जीवानन्द०
छान्दोग्यमन्त्रभाष्य	गुणविष्णुकृत, कलकत्ता ।
छान्दोग्योपनिषद्	शांकर भाष्य-गिरि टीका सह, जीवा-नन्द०
जयाख्यसंहिता	कृष्णमाचार्य सम्पादित, बरोदा ।
जाबालोपनिषद्	अष्टोत्तरशतोपनिषदन्तर्गत ।
जैमिनीय आर्षेय ब्राह्मण	बर्नल सम्पादित, मंगलोर ।
जैमिनीय गृह्यसूत्र	कालेण्ड सम्पादित ।
जैमिनीयन्यायमालाविस्तर	माधवाचार्यकृत, आनन्दा० ।
जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण	श्री रामदेव सम्पादित, लाहौर ।
तत्त्वसन्दर्भ	जीवगोस्वामिकृत, बलदेव-राधामोहन-कृत टीकाद्वय सहित अच्युत ग्रन्थ-माला संस्क० काशी ।
तन्त्रवार्त्तिक	कुमारिलकृत, आनन्दा० ।
तन्त्राधिकारिनिर्णय	भट्टोजिदीक्षितकृत, काशी ।
ताण्ड्य महाब्राह्मण	सायणभाष्यसहित, चौखम्बा
तीर्थचिन्तामणि	वाचस्पतिकृत, एसियाटिक सोसायटी कलकत्ता ।
तीर्थप्रकाश (वीरमित्रोदयान्तर्गत)	मित्रमिश्रकृत, चौखम्बा ।

तैत्तिरीय आरण्यक	सायण भाष्य सहित, आनन्दाश्रम
तैत्तिरीय उपनिषद्	शांकरभाष्य–गिरि-टीका सहित, आनन्दाश्रम
तैत्तिरीय प्रातिशाख्य	पदक्रमसदन भाष्य सहित, मद्रास।
तैत्तिरीय ब्राह्मण	सायण भाष्यसहित (आनन्दाश्रम) तथा भट्टभास्करकृत भाष्य (मैसूर)
तैत्तिरीय संहिता (मूल)	स्वाध्याय मण्डल
—भट्टभास्करकृत ज्ञानयज्ञ भाष्य	मैसूर।
	मैसूर।
—सायणकृत व्याख्या	आनन्दाश्रम।
त्रयीपरिचय	सत्यव्रत सामश्रमिकृत, कलकत्ता।
त्रिस्थलीसेतु	नारायणभट्टकृत, आनन्दा०।
दक्षस्मृति	आनन्दाश्रम।
दयानन्द सन्देश (पत्रिका)	देहली
देवीपुराण	बंगाक्षर, बंगवासी प्रेस, कलकत्ता।
दैवत ब्राह्मण (=देवताध्याय)	जीवानन्द०
धर्मशास्त्रेतिहास	= History of Dharmasastra (काणेकृत)।
धातुपाठ	पाणिनिप्रणीत; इस ग्रन्थ में सिद्धान्तकौमुदीगत संख्या या क्षीरतरङ्गिणीगत संख्या विवक्षानुसार दी गई है।
नाट्यशास्त्र	भरत प्रणीत, बरौदा।
नारदपञ्चरात्र	वेंकट०।
निघण्टु	देवराजयज्वकृत टीका सहित, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता।
निर्णयसिन्धु	कमलाकरकृत, चौखम्बा।
निरुक्त (दुर्गटीकासहित)	आनन्दाश्रम; तथैव वर्क्सीकृत व्याख्या सहित, निर्णयसागर; स्कन्द-महेश्वर टीका सहित, लाहौर।
निरुक्त-समुच्चय	वररुचिकृत, मद्रास।
निरुक्तालोचन	सत्यव्रत सामश्रमिकृत कलकत्ता।

नीतिमञ्जरी	ढुयाद्विवेदकृत, काशी ।
नृसिंहपुराण	गोपाल नारायण को० बम्बई ।
न्यायकन्दली	श्रीधरकृत, प्रशस्तपादभाष्यसहित, काशी।
न्यायकुसुमाञ्जलि	उदयनकृत, हरिदासीटीकासहित, काशी ।
न्यायदर्शन	वात्स्यायन कृत भाष्य सहित, फणिभूषण तर्कवागीश कृत विशद व्याख्या (बंगला), बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता।
न्यायमञ्जरी	जयन्तभट्टकृत, चौखम्बा ।
न्यायलीलावती	वल्लभाचार्यकृत, चौखम्बा ।
न्यायवार्त्तिक	उद्योतरकृत, चौखम्बा।
न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका	वाचस्पतिमिश्र कृत, चौखम्बा ।
न्यायवार्त्तिक-भूमिका	विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदीकृत, काशी।
पञ्चविंश ब्राह्मण	ताण्ड्य ब्राह्मण द्र० ।
पञ्चविधसूत्र	आर० सायमन सम्पादित।
पदमञ्जरी (काशिका टीका)	हरदत्तमिश्र कृत, काशी ।
पराशरस्मृति	ऊनविंशतिसंहितान्तर्गत ।
पराशरधर्मसंहिता	सायणमाधवीय टीका सहित, बम्बई संस्कृत और प्राकृत सीरीज।
पाणिनिकालीन भारतवर्ष	डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत, बनारस।
पाणिनिशिक्षा	डा० घोष सम्पादित, कलकत्ता विश्वविद्यालय।
पातञ्जलयोगदर्शन	तत्त्ववैशारदी, वार्त्तिक आदि सहित, चौखम्बा ;
पादविधान	शौनककृत, अडयार लायब्रेरी बुलेटिन में प्रकाशित ।
पारस्करगृह्यसूत्र	श्रीधरशास्त्री पाठक सम्पादित
पिङ्गलछन्दःसूत्र	हलायुधवृत्तिसहित, निर्णयसागर।
पुराणम् (पत्रिका)	सर्वभारतीय काशिराजन्यास, काशी ।
पुराणप्रवेश (बंगला)	गिरीन्द्रशेखर वसु, कलकत्ता ।

पुरुषोत्तमतत्त्व	रघुनन्दनकृत, जीवानन्द ।
पुष्पसूत्र	सामप्रातिशाख्य अजातशत्रुकृत भाष्य सहित चौखम्बा ।
पूर्वमीमांसा (=मीमांसा)	जैमिनिकृत शाबरभाष्य, तन्त्रवार्त्तिक और टुप्टीका सहित, आनन्दा० ।
प्रक्रियाकौमुदी	रामचन्द्राचार्य कृत, विट्ठल कृत टीका सहित, बम्बई संस्कृत और प्राकृत सीरीज।
प्रक्रियासर्वस्व	नारायण भट्ट कृत, अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि।
प्रतिज्ञासूत्रपरिशिष्ट	कात्यायन कृत, सभाष्य (अनन्तदेवकृत), शुक्ल यजुः प्रातिशाख्यान्तर्गत, बनारस संस्कृत सीरीज।
प्रतिष्ठामयूख	नीलकण्ठकृत, घरपुरे सम्पा० बम्बई।
प्रवरमञ्जरी	पुरुषोत्तमकृत, मैसूर।
प्रस्थानभेद (महिम्नस्तोत्रटीकान्तर्गत) त्रयी सांख्यंयोगः श्लोक का व्याख्यान)	मधुसूदन सरस्वतीकृत, चौखम्बा। (इस अंश का पृथक संस्करण भी प्रचलित) है।
प्रश्न उपनिषद्	ईशादिपञ्चोपनिषदन्तर्गत ।
प्रीतिसन्दर्भ	जीवगोस्वामिकृत ।
बृहत्संहिता	वराहमिहिरकृत, उत्पलकृत टीका सहित, सुधाकर द्विवेदी सम्पा० ।
बृहद्धर्मपुराण	बंगवासी प्रेस, कलकत्ता।
बृहद्वैष्णवतोषणी	सनातनगोस्वामिकृत, पुरीदास–गोस्वामि-सम्पादित।
बृहद्देवता	ए० ए० मैकडोनल सम्पादित, हर्वर्ड ओरियेन्टल सीरीज।
बृहदारण्यक उपनिषद्	शांकरभाष्य- गिरिकृत टीका सहित, काशी ।
बौधायनपितृमेधसूत्र	बौधायनगृह्यसूत्रान्तर्गत ।
बौधायन गृह्यसूत्र	डा० शामशास्त्रि सम्पादित, मैसूर ।

बौधायनगृह्यशेषसूत्र	डा० शामशास्त्रि सम्पादित, मैसूर।
बौधायन धर्मसूत्र	आनन्दा० ।
भगवन्नामकौमुदी	लक्ष्मीधर कृत, सव्याख्या, अच्युत ग्रन्थमाला काशी।
भामती (शारीरक भाष्य टीका)	वाचस्पति मिश्रकृत, निर्णयसागर संस्क० (कल्पतरु-परिमल-सहित) ।
भागवत सम्प्रदाय	बलदेव उपाध्यायकृत, काशी।
भारतवर्ष का इतिहास (द्वितीय संस्करण)	भगवद्दत्तकृत देहली।
भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (प्रथमभाग)	भगवद्दत्तकृत, देहली।
भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिकधारा)	डा० मङ्गलदेवशास्त्री, काशी।
भारद्वाजगृह्यसूत्र	डा० सोलोमन्स सम्पादित, लीडन।
भावनोपनिषद्	भास्करराजकृतभाष्यसहित, सौन्दर्य-लहरी-अन्तर्गत, मैसूर।
भारतद्वाजशिक्षा	नागेश्वरकृतव्याख्यासहित, पूना।
भाषिकपरिशिष्ट-सूत्र	शुक्लयजुः प्रातिशाख्यान्तर्गत, सभाष्य बनारस संस्कृत सीरीज।
मदनपारिजात	मदनपालकृत ।
मनुस्मृति	कुल्लूकभट्टकृत मन्वर्थमुक्तावली टीका, तथा मेधातिथिकृतभाष्य, कलकत्ता।
मन्त्रब्राह्मण	सत्यव्रतसामश्रमिसम्पादित।
मन्त्रार्थदीपिका	शत्रुघ्नकृत, चौखम्बा
महाभारत	गीताप्रेस; नीलकण्ठकृत टीका (चित्रशाला) और देवबोधकृत टीका (पूना) भी व्यवहृत हुई है। क्वचित् भण्डारकरसंस्थान का समीक्षात्मक संस्करण भी स्वीकृत हुआ है।
महाभारत-मीमांसा	चिन्तामणि विनायक वैद्यकृत (हिन्दी-अनुवाद) बनारस।

महाभाष्य	प्रदीपोद्द्योत-छाया टीकांशसहित[1] निर्णयसागर।
महाभाष्य	भर्तृहरिकृत दीपिकाटीकांश, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु संपा०।
माण्डूक्योपनिषद्	शांकर भाष्य सहित, गीता प्रेस।
मानवगृह्यसूत्र	अष्टावक्रकृत टीका सहित, बरोदा।
मानवार्षभाष्य	इन्दिरारमणकृत, काशी।
मार्कण्डेय स्मृति	स्मृतिसन्दर्भान्तर्गत, गुरुमण्डलग्रन्थमाला, कलकत्ता।
मुक्तिकोपनिषद्	अष्टोत्तरशतोपनिषदन्तर्गत।
मुण्डक उपनिषद्	ईशादिपञ्चोपनिषदन्तर्गत।
मेदिनीकोश	जीवानन्द संस्क०
मैत्रायणीय आरण्यक	स्वाध्यायमण्डल (मैत्रायणी संहितान्तर्गत)।
मैत्रायणी उपनिषद्	अष्टोत्तरशतोपनिषदन्तर्गत।
मैत्रायणीसंहिता	स्वाध्यायमण्डल।
यज्ञतत्त्वप्रकाश	चिन्नस्वामिकृत, कलकत्ता।
यजुर्विधानशिक्षा	शिक्षासंग्रहान्तर्गत, बनारस संस्कृत सीरीज।
यजुर्वेदसंहिता (वाजसनेयि माध्यन्दिन)	स्वाध्यायमण्डल।
—उवट-महीधर-व्याख्या सह माध्यन्दिन संहिता	निर्णय सागर
यजुर्वेदीय काण्व संहिता (मूल)	” ”
यजुर्वेद-काण्वसंहिता	सायण भाष्य सह, चौखम्बा,
यजुर्वेदभाष्य	दयानन्दकृत, ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत विवरण सहित, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर। (कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय-काठक मैत्रायणी शाखाएं तत्तत्स्थलों में द्र०)

१. नवाह्निक भाग १९३८ ई०; अन्यान्य भागों का प्रथम संस्करण।

यजुर्विधानशिक्षा	शिक्षासंग्रहान्तर्गत ।
याज्ञवल्क्यशिक्षा	शिक्षा संग्रहान्तर्गत; अमरनाथ शास्त्रि-कृत टीका सहित अन्य संस्करण, काशी।
याज्ञवल्क्यस्मृति	विज्ञानेश्वरकृत मिताक्षरा टीका और वीरमित्रोदय टीका (चौखम्बा); विश्वरूपकृत बालक्रीड़ाटीका (अनन्तशयन) संस्कृत ग्रन्थावली। तथा अपरार्क टीका (आनन्दा०)
युक्तिमल्लिका	वादिराजतीर्थकृत, गौडीयमिशन कलकत्ता।
योगदर्शन	व्यासभाष्य, तत्त्ववैशारदी आदि सहित, चौखम्बा।
रत्नप्रभा-भूमिका	गोपीनाथ कविराज कृत; अच्युत ग्रन्थ-माला, भाष्यरत्नप्रभा के हिन्दी अनुवाद की भूमिका।
राजधर्मकाण्ड	लक्ष्मीधरकृत कल्पतरु का अंशविशेष, लाहौर।
राजधर्मकौस्तुभ	अनन्तदेवकृत, वरोदा।
रामायण	निर्णयसागर
रुद्राध्याय	भट्टभास्कर सायणभाष्य सहित, आनन्दा०।
लघुव्यासस्मृति	जीवाननन्द संस्क० ।
लघुशब्देन्दुशेखर	चौखम्बा ।
लघ्वाश्वलायन	आनन्दाश्रम संस्क० ।
ललितासहस्रनाम	भास्करराय कृत भाष्य सहित, निर्णय-सागर।
लाट्यायन श्रौतसूत्र	अग्निस्वामिभाष्य सहित, एसियाटिक सोसायटी, संस्क० ।
लौगाक्षिस्मृति	स्मृतिसन्दर्भान्तर्गत, गुरुमण्डल ग्रन्थ-माला कलकत्ता।

वंशब्राह्मण	सामवेदीय, सायण भाष्य सहित साम-श्रमिकर्तृकसम्पादित।
वर्गद्वयवृत्ति	डा० मङ्गलदेवशास्त्रि-सम्पादित ऋक्-प्रातिशाख्य के आरम्भ में, विष्णुमित्र कृत।
वर्षक्रियाकौमुदी	एसियाटिक सोसायटी, कलकत्ता।
वसिष्ठधर्मशास्त्र (=वसिष्ठ धर्मसूत्र)	बम्बई संस्कृत और प्राकृत सिरीज
वाक्यपदीय	चारुदेवशास्त्रि-सम्पादित, लाहौर।
वाक्यपदीय	भर्तृहरिकृत, हेलाराज-पुण्य राज कृत टीका सहित, चौखम्बा।
वाजसनेयी प्रातिशाख्य (=शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य)	चौखम्बा।
वासिष्ठी शिक्षा	शिक्षासंग्रहान्तर्गत, बनारस संस्कृत सीरीज।
विकृतिवल्ली	व्याडिकृत, गङ्गाधर भट्टाचार्य कृत टीका सहित
विष्णुधर्मसूत्र	डा० जाली सम्पादित, कलकत्ता।
विष्णुसहस्रनाम	शांकर भाष्य सहित, गीताप्रेस।
वीरमित्रोदय	मित्रमिश्र कृत, इसके विभिन्न 'प्रकाश' हैं, यथा—तीर्थप्रकाश, लक्षणप्रकाश, परिभाषाप्रकाश इत्यादि, चौखम्बा।
वृद्धत्रयी	गुरुपदहालदार-कृत, कालीघाट, कलकत्ता।
वृद्धहारीतस्मृति	आनन्दाश्रम।
वेद की इयत्ता	स्वामी स्वतन्त्रानन्द कृत, नई देहली।
वेदविद्यानिदर्शन	भगवद्दत्तकृत, देहली।
वेदभाष्यभूमिकासंग्रह	बलदेव उपाध्याय सम्पादित चौखम्बा; इसमें तै० सं०, ऋग्वेद; सामवेद, काण्संहिता और अथर्ववेद के सायण कृत भाष्यों के भूमिकांश हैं।

वेदवाणी (पत्रिका)	काशी।
वेदान्तस्यमन्तक	बलदेवकृत, श्यामलाल गोस्वामी सम्पादित।
वेदार्थसंग्रह	रामानुजकृत, सुदर्शनसूरि-कृत व्याख्या सहित, काशी।
वैखानसधर्मप्रश्न	अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि
वैखानस स्मार्तसूत्र	डा० कालेण्ड सम्पादित, कलकत्ता।
वैतानसूत्र	कालेण्ड सम्पादित।
वैदिक कोष	हंसराजकृत, लाहौर।
वैदिक छन्दोमीमांसा	युधिष्ठिर मीमांसक कृत, रामलाल कपूर ट्रस्ट।
वैदिक पदानुक्रम कोश (संहिता-ब्राह्मण-भाग)	विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर।
वैदिक वाङ्मय का इतिहास	भगवद्दत्त कृत, प्रथम भाग का द्वितीय संस्क० (रामलाल कपूर ट्रस्ट), अन्यान्य भागों का प्रथम संस्करण, लाहौर।
वैदिक स्वर मीमांसा	युधिष्ठिर मीमांसककृत, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर।
वैद्यक वृत्तान्त (बंगला)	गुरुपद हालदार कृत, कलकत्ता।
वैशेषिक सूत्र	प्रशस्तपाद भाष्य तथा उपस्कार सहित, चौखम्बा।
व्यवहारनिर्णय	वरदराज कृत, अडयार संस्क०।
व्यवहारतत्त्व	रघुनन्दन कृत, जीवानन्द संस्क०।
व्यास स्मृति	ऊनविंशतिसंहितान्तर्गत।
व्रात्यता-प्रायश्चित्त-निर्णय	नागेशकृत, चौखम्बा।
शङ्खस्मृति	ऊनविंशति संहितान्तर्गत, बंगवासी, कलकत्ता।
शतपथब्राह्मण	काण्वशाखीय, कालेण्ड सम्पादित।
शतपथ ब्राह्मण (माध्यन्दिन)	अच्युत ग्रन्थमाला, सायण भाष्य सहित, सत्यव्रतसामश्रमि-सम्पादित।
शब्दकल्पद्रुम	बंगाक्षर, राधाकान्तदेव सम्पादित।

शब्दकौस्तुभ	भट्टोजिदीक्षितकृत, चौखम्बा ।
शाङ्खायन आरण्यक (=कौषीतक्यारण्यक)	आनन्दा० ।
शाङ्खायन-गृह्यसूत्र	कौषीतकिगृह्यसूत्र, बनारस संस्कृत सीरीज ।
शाङ्खायन ब्राह्मण	आनन्दा० ।
शाङ्खायन श्रौतसूत्र	डा० हिलेब्रेण्ट सम्पादित ।
शाबर भाष्य	शबरकृत जैमिनि सूत्रभाष्य, आनन्दा० ।
शारीरक भाष्य	शंकरकृत ब्रह्मसूत्र भाष्य, भामती कल्पतरु परिमलसहित, निर्णय सागर ।
शास्त्रदीपिका	पार्थसारथि मिश्र कृत, निर्णय सागर, द्विटीका सहित ।
शिवार्कमणिदीपिका	अप्पय्यदीक्षित कृत श्रीकण्ठभाष्य की टीका, निर्णयसागर ।
शिक्षासंग्रह	३२ शिक्षाग्रन्थयुक्त, बनारस संस्कृत सीरीज ।
शुक्रनीतिसार	जीवानन्द संस्करण ।
शुक्लयजुः सर्वानुक्रम सूत्र	कात्यायनीय, अनन्तदेव कृत भाष्य सहित, बनारस संस्कृत सीरीज ।
शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य	चौखम्बा ।
शुक्लयजुर्वेद संहिता (माध्यन्दिन)	उवटकृतभाष्य-महीधरकृत वेददीप-व्याख्या सहित, निर्णय सागर ।
शूद्रकमलाकर	कमलाकरकृत, निर्णयसागर, चतुर्थ संस्क०
शूद्रकृत्यतत्त्व	रघुनन्दन कृत, जीवानन्द० ।
श्राद्धकल्पलता	नन्दपण्डित कृत, चौखम्बा ।
श्रीभाष्य	रामानुजकृत ब्रह्मसूत्रभाष्य, दुर्गाचरण सांख्यवेदान्त तीर्थ सम्पादित, कलकत्ता ।
श्रौतपदार्थ-निर्वचन	विश्वनाथशास्त्रिसम्पादित, काशी ।
श्री राधा का क्रमविकास	डा० शशिभूषण दासगुप्त कृत, वाराणसी ।

श्री सनातन धर्म लोक	दीनानाथ सारस्वत कृत, देहली।
श्रौतयज्ञपरिचय (हिन्दी)	विद्याधर गौड़ कृत कात्यायनश्रौत-सूत्र की भूमिका का अंशविशेष, काशी।
श्वेताश्वतर उपनिषद्	शांकर भाष्य सहित, गीताप्रेस।
षड्विंश ब्राह्मण	सायण भाष्य सहित, जीवानन्द०।
संस्कार प्रकाश	वीरमित्रोदयांशभूत, चौखम्बा।
संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास	युधिष्ठिर मीमांसककृत, देहली।
संहितोपनिषद्	ए० सी० बर्नल सम्पादित।
सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र	आनन्दा०।
साङ्ख्यदर्शन	विज्ञानभिक्षु भाष्य सहित, चौखम्बा
सनत्सुजातीयम्	गुरुपदहालदार सम्पादित बंगाक्षर, कलकत्ता।
सर्वानुक्रमसूत्र	कात्यायनकृत, शुक्ल यजुर्वेद संहिता के अन्तर्गत (निर्णय सागर)।
सर्वदर्शनसंग्रह	माधवाचार्य कृत, अभ्यंकर टीका सहित, पूना।
सांख्यकारिका	भाष्य सहित, चौखम्बा; माठर वृत्ति सहित जयमङ्गलासहित।
सामप्रातिशाख्य=पुष्पसूत्र	अजातशत्रु कृत भाष्य सहित, चौखम्बा
सामविधानब्राह्मण	सायण भाष्य सहित, सत्यव्रतसामश्रमि-सम्पादित, कलकत्ता तथा बर्नल-सम्पादित भीद्र०।
सामवेद, सायण भाष्य सहित	सत्यव्रतसामश्रमिसम्पादित, कलकत्ता
सामवेदीय, कौथुम शाखा, ग्रामगेयगान और आरण्यक गान	स्वाध्यायमण्डल, २०१५ ई०।
सामवेद (मूल; कौथुमीय)	भूमिकासहित, स्वाध्याय मण्डल।
सामप्रातिशाख्य पुष्प सूत्र	अजातशत्रुभाष्य-सहित, चौखम्बा।
सारस्वती सुषमा	राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी
सिद्धान्त कौमुदी (=वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी)	बालमनोरमा-तत्त्वबोधिनी सहित चार भाग, मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर।

सिद्धान्तशिरोमणि	भास्कराचार्यकृत
सुश्रुत संहिता	डल्हणटीका सहित
सूतसंहिता	सायणकृत-टीका सहित, आनन्दा० ।
सौन्दर्यलहरी	शंकराचार्यकृत, लक्ष्मीधर कृत व्याख्या, भावनोपनिषद् सभाष्यादि सहित, मैसूर।
सौरपुराण	आनन्दा० ।
स्मृतिचन्द्रिका	देवण्ण भट्टकृत, घरपुरे-सम्पादित।
स्मृतिमुक्ताफल	वैद्यनाथ कृत, घरपुरे सम्पादित।
हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र	जे० किस्टे सम्पादित, वियेना
हरिवंश	गीताप्रेस; नीलकण्ठ कृत टीका सहित चित्रशाला प्रकाशन, पूना।
हिन्दुत्व	रामदास गौड़कृत, काशी।

विशिष्ट शब्द, विषय एवं वाक्यों की अनुक्रमणिका

अक्षरगणना ७८
अक्षर-संख्या-महत्ता ७८
अक्षर-संपद् ७७
अक्षसूक्त ३३३
अगस्ति २६०
अगस्त्य १९२, २६०
अग्न आयाहि १३९
अग्निदेवता १३२
अग्निमाठर २६३
अग्निमित्र ३५९
अग्निमीले १३९
अग्निरित्यादिकं पुण्यम् ११२
अग्निष्टोम ६५, १३१, १३३, १४६
अग्निसूक्त १९६, २१०
अग्ने नय सूक्त १९५
अघमर्षण जप १९७
अघमर्षण सूक्त १९६
अघोर मन्त्र १९७
अघ्न्या ३४१
अङ्गादङ्गात् १५०, ३६९
अङ्गादि के साथ वेदोत्पत्ति ३८०
अङ्गिरस् अंश ११८
अङ्गिराः १८५, ११९
अङ्गिराः द्वारा संकलित अथर्वमन्त्र २३२
अङ्गिरोधारा ११८
अजामेकाम् ११२, ३२९
अज्ञातज्ञापक विधि ६३
अट्टशूला जनपदाः ४१०
अतत्त्वमसि ३२०
अतिरात्र १३१, १६७
अतो देवा अवन्तु नो १५०
अत्याश्रम ११२
अथ य एषोऽन्तरादित्ये ३३८
अथर्व ७७, ११९, १८३, १८२
अथर्वक १८३
अथर्वकृत भाग १८५
अथर्वण ११६
अथर्वण-मन्त्र-सामर्थ्य १९२
अथर्वदृष्ट मन्त्र २३२
अथर्व-मन्त्र ६७
अथर्व-मन्त्र और जप १९०
अथर्व-मन्त्र का अन्यान्य कर्मों में प्रयोग १९१
अथर्वविधि १९२
अथर्ववेद १४, १६, ११६, ११७, ११८, १२०, १२१, १२७, ३०९, ४०७
अथर्ववेद और अनुष्टुप् छन्द १३४
अथर्ववेद और एकविंशस्तोम आदि १९२
अथर्ववेद और पुराण १३, १५
अथर्ववेद और पुरोहितकर्म १८९
अथर्ववेद और राजा १९१
अथर्ववेद और शौनक १९२
अथर्ववेद का आद्यत्व १२७
अथर्ववेद का उपवेद १९२
अथर्ववेद का ऋग्वेद में समावेश १२१
अथर्ववेद का क्रमपाठ ३१०
अथर्ववेद का प्राथम्य १२७
अथर्ववेद का प्राधान्य १२९
अथर्ववेद का मन्त्रोद्धार १९२
अथर्ववेद का वैशिष्ट्य १८७
अथर्ववेद का स्वरूप १८६
अथर्ववेद की पदानपूर्वी १९२
अथर्ववेद की परम्परा १४९
अथर्ववेद के पाँच कल्प १८८

अथर्ववेद-परिमाण २३१
अथर्ववेद-शाखा की संख्या २५६
अथर्ववेदीय वाक्य १२४
अथर्ववेदीय प्रथममन्त्र १३९
अथर्ववेदीय शाखाविवरण ३०९
अथर्ववेदोक्त अभिचार १९०
अथर्ववेदोक्त शान्ति-पुष्टि १९१
अथर्वशिरः १०९
अथर्वसम्बन्धी एक विधि १९३
अथर्वा १५, ११७, ११८, ११९, १८२, ३१०
अथर्वा का प्रतिपाद्य विषय १८८
अथर्वाङ्गिरस् ११८
अथर्वाङ्गिरस १८४
अथर्वाङ्गिरसी श्रुति १८५
अथर्वाङ्गिरोवेद ११८
अथाधिविद्यम् आचार्यः पूर्वरूपम् ३३७
अदो यद् दारु प्लवते १५१
अध्वन् ३२०
अध्वर्यु १५९
अध्वर्युवेद १५४
अनादिनिधन ३७७
अनाम्नान ४०४
अनावृष्टि ३९२
अनुब्राह्मण २५०
अनुमन्त्र ६६
अनुवाक १५६
अनुवाद ६५
अनुशाखा २५०
अनुश्रव ४०६
अनुष्टुप् १५, १३१, १३४, १९२
अनूचान ४३६
अन्योऽन्यमिश्रित (वेद) ३९१, ३९२, ११३, ११४
अपराजितमन्त्र १९७
अपराजितादेवी सूक्त १९७
अपराविद्या ५६, ५७, १२६, ४०३
अपान्तरतमा १४९
अपाम सोमम् १५०, ३३०, ३७१
अप्रतिरथ १९७
अप्रधान शाखा २४७
अपसूक्त १९७
अब्दैवत तृच १९७
अब्लिङ्ग १९७
अभय १९७
अभिचार ११८, १८७, १८९, १९०
अभिचार-शान्ति १२०
अभिचार-शान्तिप्रधान १२०
अभिचारादिविधि १८८
अभिजन ७६
अभिजनस्तोत्र ७५
अभिधायक ६४
अभ्यास (सामविकार) ८१
अभ्यास (वेदपाठ) ४३४
अमानवपुरुष ३३५
अयातयाम २९१
अरुण १७३
अर्थज्ञान की महत्ता ४३३
अर्थज्ञान सहित वेदाध्ययन ४३३
अर्थज्ञानहीन वेदाध्ययन ४३४
अर्थवशतः पादव्यवस्था ७७
अर्थवाद ६५
अर्थवाद के भेद ६४
अथर्वादगत कथा ३२
अर्थवादप्रामाण्य ६४
अर्थवादादि-वेदभाग ६४
अर्थवादः परं ब्रह्म ३६०
अर्थविचार ४३४
अर्थशास्त्र १९३
अर्धो जाया ४११
अर्धो भार्या इति श्रुतेः १००
अवग्रह ३९५
अवसान ७८
अवान्तर शाखा २५०
अविद्या ६१, ३५९
अविमुक्त ३४२
अव्यक्त ३५७
अश्वगज आदि अष्टादश महाशान्ति-विधियां १८८
अश्वसूक्त १९७

अष्ट विकृतियां ३९६
असुर ३४६, ३४८, ३६२, ३८९
अस्यवामीय १९५, २१०
आकाशसम्भव वेद ३८१
आख्यान २२, ८२
आख्यान-उपाख्यान-गाथा-कल्प २१
आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः २१
आगम ३७, ४८, ३६६, ३८९, ४०३
आगमधारा ४९, ५०
आगममुख्य वेदवादी की दृष्टि ४९
आगमसम्बन्धी प्राचीन और अर्वाचीन दृष्टियाँ ४८
आगमोक्त मार्ग ४९
आग्नेयसाम १७३
आङ्गिरसी संहिता १८५
आचार्य ४३६
आत्मज्ञान ३५६, ३६०
आत्मज्ञानप्रतिपादक वेद ३५२
आत्मानं चेद् विजानीयाद् ३२६
आत्मानं रथिनम् १११, ३३३
आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो ३३५
आथर्वण १८२
आथर्वण कर्म १२०
आथर्वण मन्त्र ७६
आथर्वणमन्त्रजनित दीक्षा १९२
आथर्वणमन्त्रजनित शक्तिस्तम्भन १९१
आथर्वणिक १८२
आथर्वणी श्रुति ३३७
आदि ८०
आदिकल्प ३७७
आदित्य ३४९
आदित्यसम्प्रदाय २८८, २८९
आदिपुराण २३
आदिम पुराण ११, १२, १६
आदिसृष्टि ३७७
आद्य ११४
आधिदैविक क्रियाएँ ३५३
आध्यात्मिक दृष्टि से वेद ११५
आध्यात्मिक यज्ञ ३५२
आध्वर्यव १५७, १५८
आध्यर्यव वेद २४९
आपिशलि-शिक्षा ३०६
आप्तोयमि १३१, १३५, १९२
आभिचारिक १८७
आभिजनक ७५
आम्नाय ४०३, ४०४
आयु ३६२
आयुर्वेद १२१, १४९, १९२, १९३
आयुष्य मन्त्र १९८
आयुष्य सूक्त १९९
आरण्य १०१
आरण्यक १६८
आरण्यक और उपनिषद् १०२
आरण्यक की महत्ता १०१
आरण्यक के आचार्य १०३
आरण्यकजप १०३
आरण्यकों के नाम १०२
आरण्यक के नामान्तर १०१
आरण्यगान ८१
आरुण १७३
आरुणि २७८, २७९
आर्ष ४०४, ४२५, ४२७
आर्षज्ञान ४२०
आर्षिपुत्र ४२७
आर्षिपुत्रक ४२५
आर्षीक ४२५, ४२७
आलम्बि २७८, २७९, २८०
आलोल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वम् ११२
आवन्त्य ३०२
आवृत्ति १३२
आशास्ति ८२
'आश्रावय' आदि पांच मन्त्र १६०
आश्वलायन शाखा २७५
आसुरायण ३०७
इज्या १२९, १५७
इतिहास २२
इतिहास (वेद) १६
इतिहास-पुराण १६, २२, २५, ३१९
इतिहास-पुराण का पृथक्-पृथक् उल्लेख १४

इतिहास-पुराण का भेदपूर्वक निर्देश १७
इतिहास-पुराण के श्रोता ३८
इन्द्रप्रमिति २५९, ३९६
इन्द्रशत्रु विवर्धस्व १०६
इन्द्रसूक्त १९८
इन्द्रस्तुति १५१
इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः ११२
इषे त्वोर्जे १३९
ईशान मन्त्र १९८
ईशानः सर्वविद्यानाम् ४११
ईशावास्यमिदं ३२५
ईश्वर ४२१, ४२७, ४२८
ईश्वर-द्वारा मन्त्र-निर्माण ३७८
उक्थ १३१, १५९, १३३
उत्तरनारायण १९५
उत्तरा १७२, १७३
उत्तरेण १९५
उत्तम २६०
उत्तम पुरुष ६०
उदीच्य-प्राच्यसामग ३०२
उद्गातृगीत १६७
उद्गात्र १६६
उद्गीथ ८०, १६५
उपखिल २२७
उपद्रव ८०
उपनिषद् ६२, १०२, १०४, १०६, १०७
उपनिषद्-पर्याय १०५
उपनिषद्-वचनों की व्याख्या ३२२
उपनिषद्वाक्य १११
उपनिषदों की संख्या ११०
उपपुराण और पुराणों का सम्बन्ध ३
उपबृंहण १, ३९
उपमा ९८
उपमान ९८
उपह्व १७२
उपाख्यान-गाथा २२
उपाध्याय ४३६
उर्वारुक ३२८
ऊह १६८
ऊह्य १६३, १६८
ऊह्यगान १६९
ऋक् आदि शब्दों का तात्पर्य ७१
ऋक् और ऋग्वेद का तात्पर्य ६७
ऋक्लक्षण ७७
ऋक्समुदाय १३०
ऋक्समूह १४५
ऋक्संहिता १४३, २५९
ऋक् संहिता के मन्त्र १५०
ऋगादिक्रम की वैदिकता १२५
ऋगादिवेद की शब्दात्मकता १३५
ऋग्भिः पूर्वाह्णे ३२९, ३३२
ऋग्यजुःछन्दमात्मक १६२
ऋग्-यजुः-साम की संहिताओं का संहनन २४९
ऋग्यजुःसामाथर्वक्रम १२५, १२६, १२७
ऋग्वेद १२१, १३२, १३७, ३९८,
ऋग्वेद और गायत्री आदि का सम्बन्ध १३५
ऋग्वेद और पूर्वदिक् १४९
ऋग्वेद का उपवेद १४९
ऋग्वेद का प्राधान्य १२८
ऋग्वेद की उपयोगिता और विषय १४८
ऋग्वेद की शाखासंख्या २५३
ऋग्वेद-ज्ञान से सर्ववेदज्ञान १२८
ऋग्वेद नाम की प्राथमिकता १२६
ऋग्वेद-पर्याय १४३
ऋग्वेद-प्रणयन १४६
ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि शब्दों का अर्थ ७१
ऋग्वेदसंहिता १४३
ऋग्वेदस्वरूप १४५
ऋग्वेदीय ब्राह्मणों का परिमाण २२५
ऋग्वेदीय-मन्त्रपरिमाण २२१
ऋचा १४३
ऋचाभ २७९
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् १५१, ३२५
ऋतवः पितरो देवाः १००, ३६९
ऋत-सत्य ३४१

ऋतु ३४२
ऋषि ७४, ४०४, ४०५, ४१४, ४१५, ४१७, ४१८, ४२१ ४२३, ४२५, ४२७, ४२८, ४३०,
ऋषिक ४२१, ४२३, ४२७
ऋषिक-नाम ४२५
ऋषि-चातुर्विध्य ४२३
ऋषिजाति (पंचधा) ४२०
ऋषिपद का अर्थ ४११
'ऋषि' पद की व्युत्पत्ति ४१६
ऋषिपुत्र ९९, ४२१, ४२२, ४२३, ४२५ ४२८,
ऋषिपुत्रक ४२५, ४२७
ऋषिपुत्र-कर्तृक मन्त्रब्राह्मणविन्यास २४९
ऋषिपुत्रों की सूचि ४३१
ऋषिप्रकृति ४२३
ऋषिभेद ४२१
ऋषियों का मन्त्रद्रष्टृत्व ४१७
ऋषियों का वैदिकत्व-अवैदिकत्व ४१४
ऋषियों द्वारा वेद का उद्धार ३९२
ऋषियों द्वारा वेदलाभ ४३०
ऋषियों के वाक्य ४२७
ऋषियोंके हृदय में मन्त्रों का प्रकटन ७३
ऋषिवाक्यों के सप्त भेद ४२८
ऋषि-स्वरूप ४१९, ४२०
ऋषिशरीर ४१५
ऋषीक ४२५, ४२८
'ऋषी' (धातु) ४१६
एकविंश स्तोत्र १३१, १३५, १९२
एक वेद ११३
'एक' वेद का आविर्भाव ३८२
'एक' वेद का काल ११५
'एक' वेद का परिमाण ११५
एको देवः सर्वभूतेषु ११२
एतदेवाक्षरं ब्रह्म १११
एतमु है व बहबृचा महत्युक्थे ३३६
एष हि देवः...सर्वतोमुखः १६१
ऐश्वर ४२७
ऐश्वर्य ४२५
ओम् ३४८
ओमिति सत्यम् नेत्यनृतम् ३३७
ओमितीदं सर्वम् १०३, ४११
ओंकार ८०, १२६, १३८
ओंकारपूर्वक कर्म १५५
ओंकारपूर्वक वेदाध्ययन ४३६
ओंकारवदनोज्जवल १५४, १५५
ओंकार से वेद का आविर्भाव ३८४
औत्तमि २६०
औद्गात्र १६६
औपनिषद धर्म १०५
औपनिषदी श्रुति १०५
कठशाखा १४७, २४८
कठी २८३
कठोपनिषद् १०९
कण्डिका १५६
कण्व २९२
कथाओं का उपबृंहण ३९
कपर्दिसूक्त १९४
कबन्ध ३१०, ३११
कबन्ध आथर्वण ३१०
कराली ३२७
कर्दम ३४२
कर्मकरण (मन्त्र) ६४, ७८
कर्मकाण्ड ३५६, ३६२
कमप्रचोदक ६२, ९६
कर्ममार्ग ४५, ३५४
कर्मयोग ३६२
कर्मस्तोत्र ७५
कलबशाखा ३०४
कलाप २४८
कलियुग ३९२
कल्कि ३८७
कल्प २२, ६५, १८८, ४२८
कल्पना च तथा कल्पा: ४३०
कल्पसूत्र ६६, ४२८
कल्पित २२१
कल्पैक्य २५४
कल्पों की मन्त्र-ब्राह्मणवत् स्थिति ४२९
कश्यप ३३६, ३४५

कंसारी ३१२
काठक संहिता १२४
काण्डर्षि ४२६
काण्वशाखीय बृहदारण्यक २९४
काण्वशाखोक्त पद्धति १६१
काण्वसाम १७४
काल्य २६०
कात्यायन २५४, २६०, २९५
काली ३२०
काली कराली च मनोजवा ३२६
काव २९२, २९४
काश्यपीया पुराण-संहिता १८
कुक्षि ३०६
कुथुमि ३०५
कुथुमि के शिष्य ३०७
कुन्तापसूक्त २१२
कुमुदादि ३१२
कुम्भसूक्त १९८
कुलक्रमागत शाखा ६८, ६९
कुल्य ३०६
कुशीदि ३०६
कुष्माण्ड १९८
कृत ३०३
कृत और उनके शिष्य ३०३
कृतघ्न (षोडशविध) १८०
कृतयुग ३५७
कृताकृत (ब्रह्मा) १८८
कृत्याविधि १८६
कृत्यासूक्त २०५
कृष्ण (यजुः) १३८,
१५६, २५४ २८९, २९०
कृष्णयजुः की शाखा २८१
कृष्णयजुः के तीन विभाग २७८
कृष्ण (व्यक्ति) ३६, १८१
कृष्णादि अवतार ३६२
केनोपनिषद् १०८
कैवल्योपनिषद् १०९
कौशला २९९
कौटल्य (कौटिल्य) १९०
कौत्ससूक्त १९६
कौथुम ३०१
कौथुमशाखा १८१
कौथुमाः ३०५
कौसल्य २९९
क्रमपाठ ३९५, ४००
क्रम-शिक्षा-विशारद ४००
क्रोध ८२
क्षत्रिय १३३
खिल २२६, २२८, २२९
गण १९९
गणेश ३६२
गद्य (ब्राह्मणग्रन्थ की भाषा) ९७
गन्धद्वाराम् १५१
गवांव्रतसाम १७४
गन्धर्ववेद १६८
गाथा १५०
गाथ १७२
गायत्रसाम १७४
गायत्री १३१, १३२, १९९, २१०,
२१४,, ३२४,, ३३७, ३४७
गायत्री (रौद्री) २१०
गायत्री और ब्रह्म की अभिन्नता ३८५
गायत्री और सन्ध्याक्रिया १९९
गायत्रीछन्द १४६
गायत्रीव्याख्या ३२७
गायत्रीशिरः २००
गायत्री से वेदोत्पत्ति ३८५
गारुड १७९
गार्गक २६९
गार्ग्य ३९९, २६७
गालव २६८, २६९, ४००
गीः ४०५
गीतसाम १६९
गुणत्रय १३५
गुणस्तोत्र ७५
गुरु ४३६
गु -शिष्यपरम्परागत नामों का क्रम
२९६
गुह्योपनिषद् १०४, १०८
गृहस्थजीवन ४४

गृह्यकर्म ११७
गृह्यसंस्कार १२०
गृह्यसूत्रीय कर्म १२०
गेय १६३, १६८
गेयगान १६९
गोखल २६८
गोत्र-प्रवर-सूची ४३१
गोत्रीय ऋषिसूचि ४३०
गोपरक मन्त्र १५०
गोव्रत १७४
गौतम १६४
गौतम शाखा ३०४
ग्रामेगेयगान ८१
घनपाठ ४०१
चतुर्थ १२४
चतुर्थवेद १८६
चतुर्दश मनु ६०
चतुर्धा विभाग (वेद का) १२३
चतुर्युग ३८२
चतुर्विध मन्त्रगुण ७५
चतुर्विशति-लक्षण (मन्त्रभेद) ८४
चतुष्पाद (वेद) ११३, ११४
चतुःषष्टि १४३, १९८
चत्वारः पुरुषाः ६०
चत्वारि शृङ्गाः ३३१
चरक २७७, २८०
चरकशाखा २७८
चरकाध्वर्यु २७७, २८०
चरण २५१, ४०४
चातुर्होत्र १२३
चारण-विद्या ३१५
चारणवैद्य २३१, ३१५
चिकित्सा और भेषज १४९
छन्दः १३४, १६२, ४०५
छन्दःपुरुष ३३८
छन्दसिका १६२
छन्दसी १६२
छन्दोग १३४, १६२, १६३
छन्दोगशाखा १७५
छन्दोगसंहिता १६२
छान्दोग्य १६३
जगती छन्द १३१, १६७
जटा-दण्ड-पाठ २६७
जटादि अष्टविकृतियां २७०, ३९५, ३९६, ४००
जटापाठ ४००
जननीसूक्त २०८
जप १९०
जप ४३४
जाजलि ३१३
जातवेदस्सूक्त २००
जातूकर्ण्य २६४, २७१,२७२
जाबाल १०८
जाबाल-उपनिषद् ११०
जाबालशाखा २९५
जीव २६२
जैन-बौद्ध सम्प्रदायों के मत ४७
जैमिनि २९६, ३००
जैमिनिशिष्य ३०१
जैमिनीय संहिता २९७
ज्येष्ठपुत्र २९७
ज्येष्ठसाम १७१, १४७
ज्योतिः २००
ज्योति ब्राह्मण २००
ज्योतिष्मती २००
ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद ३५५
ज्ञानयोग ३६२
तत्पुरुष मन्त्र २०१
तत्त्वमसि ३१९
तद्विष्णोः परमं १५१, ३३०, ४११
तन्त्र ३७, ५०
तन्त्रधारा ४९
तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः ३३५
तलवकार शाखा १७५, ३०५
ताण्डिपुत्र ३०६
ताण्ड्य २७९
ताण्ड्य ब्राह्मण ३०६
तान्त्रिक ३६
तान्त्रिक धारा ४९

तान्त्रिक पञ्चदेवोपासना ६०
तान्त्रिक रीति ३२७
तान्त्रिक विधि ४८
तान्त्रिक सम्प्रदाय १४
तमात्मसंस्थं येऽनुपश्यन्ति ११२
तारक ज्ञान ७३, ४२०, ४१९
तारनाद ४३५
ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै ३३०
तित्तिरि २८०, २८१, २८२
तुलापुरुष १८७
तृच १३२
ते ह नाकं महिमानं सचन्त १५०
तैत्तिरीय उपनिषद् ११०
तैत्तिरीयक २८३
तैत्तिरीयशाखा २८०, २८१, २८६
तैत्तिरीयसंहिता २८२
त्याग ३६२
त्यागमार्ग-प्रतिपादक वेद ३५५
त्यागेनैवामृतत्वं हि ३७०
त्रिणाचिकेत १००, २०१
त्रिमधु २०१
त्रियम्बक ६०
त्रियम्बकं त्वां च यजामहे वयं ३२३
त्रियम्बक मन्त्र २०१
त्रिविध मन्त्र ७६, १२१
त्रिवृत् वेद ५७, ११४
त्रिवृत् स्तोम १३१, १३२, १४६
त्रिवेद १२०
त्रिष्टुप् १३१, १३३, १५९
त्रिसुपर्ण २०१, १०३
त्रिसौपर्ण २०२
त्रयं ब्रह्म ४०६
त्रयी ५७, ११७, ११६, ४०६ ४०७
'त्रयी' और 'उपनिषद्' का पृथक् उल्लेख १०७
त्रयीधर्म ४५
त्रयीविद्या ४६, ५७, १२१
त्रयो वेदाः ११६, ११७ १२०
त्रय्येव विद्या तपति ३३८
त्रेतायुग ३५६
त्रेतायुगीय संहिताप्रणयन ११५
त्रैमासिक व्रत १७९
त्रैविद्य ११९, १२०
त्र्यम्बक ३२८
त्र्यम्बक मन्त्र २०१
त्र्यम्बकं यजामहे ३२७
त्वरित मन्त्र २०२
दन्तमार्जनकाष्ठ १८०
दर्शादि चार मन्त्र १४८
दशमण्डलवत्ता (ऋग्वेद की) १४५
दशस्तोत्र १७६
दाक्षायण २६७
दाक्षि २६०
दानादिकर्म १८७
दारुण १८६, ३०९
दाशतयी १४५
दिक् और वेद १३५
दीक्षा (आथर्वण मन्त्र से) १९२
दुन्दुभिसूक्त २०६
दृष्टिविभ्रम ९९, २४९
देव ३६२
देवदर्श ३११
देवमित्र २६६
देवयानमार्ग ३३५
देवर्षि ४२३
देवी ३६२
देवीभागवत २
देवीसूक्त २०२
देवी से वेदोत्पत्ति ३८३
द्रविण १७
द्रव्य (=नाम) ७६
द्रव्यस्तोत्र ७५
द्रावण १७१
द्रुपदा २०२
देवव्रतसाम १७५
द्वापर में व्यास द्वारा वेद का विभाग १२२
द्वा सुपर्णा ३२६
द्विपदा १९५

द्विमात्र १५६
द्विशरीरशिराः ११९, १८६
द्विषत् २४४
द्वेष ८२
धनुर्वेद १५९, १६०
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति ३२५
धर्म ३६२
धर्मगण २०२
धर्मशास्त्र ५५
नक्षत्रकल्प १८८
नक्षत्रादिपूजाविधि १८८
नमक २०९
नवविध मन्त्र ८३
नाचिकेत २०३
नाचिकेताग्नि २०१
नाम (=द्रव्य) ७६
नामनिर्वृत्ति ३४५
नारद १८१
नारायण ३५७
नासदीय १९५
निगद १५६
निगम १०६, ४०७
निगमागम ३६, ४२, ४८
निधन ८०
निधि ९८
निबन्धक ६३
नियताक्षर यजुः ७९
निरुक्तकृत् २७३
निर्मूल शब्दार्थ ३४२
निर्वचन ३४०, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७
निवृत-कर्म ३५४, ३५५
निशाकर ३७६
निःश्वासजात वेद ३७९, ३८०
नीति-शिल्प-शस्त्र-विद्या १९३
नीलरुद्र २०३
नगम १०६
न्यासपूजाविधि ४८
पञ्चकल्प ११९, १८९
पञ्चदश स्तोम १३१, १३३, १५९
पञ्चधा ऋषि ४२५
पञ्चनिधान साम १७५
पञ्चनिरय साम १७५
पञ्चब्रह्म मन्त्र १०३, २०३
पञ्चम वेद १६
पञ्चरात्र ५०, २९५
पञ्चलक्षण १२, १९, २८
पञ्चविध यजुर्वाक्य १५७
पञ्चविधसामगणना ८०
पञ्चविध्य ८०
पतञ्जलि (शाखाकार) ३०८
पतञ्जलि (महाभाष्यकार) १२४
पथिसूक्त २०३
पदक्रम १४५, १४६, २५८, २५९, ३९५, ३९८, ३९९
पदपाठ ३९५, ३९९
पदपाठ (गार्ग्यकृत) २६७
पदस्तोत्र ८१
पदार्थ-गणना १२४
परकृति ९८
परक्रिया ९८
परक्षुद्र २२७
परमर्षि ४२२, ४२५
परम्परागत मत ६१
परम्परागत वाक्य ४१३
परम्परा-समाहित ६१
परशाखाध्ययन १३७
परा-अपरा-विद्या ३३२
पराशर ३५९, २६३
पराशरकल्पिक २६३
पराशर के शिष्य ३०७
परिदेवन ८२
पशुपति ३२८
पश्य ३११
पाकयज्ञ १२०
पाञ्चभक्तिक ८०
पाञ्चरात्र ४९
पाञ्चाल ४००
पाठ ८
पाठभ्रष्टता ३

पाठव्यवस्था ७७
पाणिनीय तन्त्र प्रोक्त शाखाप्रवक्ता २३८
पाद ७९
पादाक्षरनियम ७९
पाप ३६२
पारत्रिक ११८
पार्वतीमन्त्र १८०
पावमानी १९६
पाशुपतादि-धर्म ४७
पाषण्ड ३४९
पितृ ३६२
पिप्पलाद ३१२
पिप्पलादशाखा १३९, २०५
पिप्पलाद संहिता ३१३
पिप्पलायनि ३१२
पुण्य ३६२
पुत्र ३४६
पुत्रोत्पत्ति के लिये आथर्वण मन्त्र १९१
पुराकृति ९८
पुराण ९, ११, १३, १२, १५१९, ४०७,
पुराण और अथर्ववेद का घनिष्ठ सम्बन्ध १४
पुराण और इतिहास २२
पुराण और तन्त्र ४८
पुराण और स्मृति ५०
पुराण का बहुधा उपबृंहण २८
पुराण का श्रवण १३
पुराण के विषय १८
पुराणगत उपबृंहण का स्वरूप ४०
पुराणगत विवरण की सामान्यात्मकता ३१
पुराणगत वेदक्रम १२५
पुराणग्रन्थों की आधुनिकता ३३
पुराणज्ञ १०
पुराण धर्म की सफलता ४६
पुराणधारा १५
पुराणनाम (विषयानुसार) २६
पुराणपाठों का उद्धरण ७
पुराणप्रामाण्य की श्रेष्ठता ४२
पुराणरचनाकाल के निर्णायक हेतु ३४
पुराणवाचक २६
पुराणवित् १०
पुराणवेद १६
पुराण (वेद का उपबृहंक) ३८
पुराण (वेद से प्राचीन) ३७
पुराण (वेदाधिक) ४१
पुराण (सर्वबलिष्ठरूप) ४२
पुराण संहिता ९, १०, २०, २२, २३, २४
पुराणं ब्रह्मसंज्ञितम् ४०८
पुराणं वेदसंमितम् ४०८
पुराणानि १६
पुराणीय उपबृंहण १
पुराणेतर ग्रन्थों में वेदनाश ३८७
पुराणोक्त ऋग्वेदवित् १४८
पुराणोक्त कलिवर्णन ३९२
पुराणोक्त निर्वचन ३४४, ३४५, ३४८
पुराणोक्त याज्ञिकक्रिया १५९
पुराणोक्त वैदिक और वेदबाह्य सम्प्रदाय ४७
पुराणोक्त शाखा-सामग्री २३७
पुराणों का नामकरण १८
पुराणों का बहुधा उपबृंहण ३०
पुराणों का रचनाकाल ३२
पुराणों (अष्टादश) का विकास २६
पुराणों का स्वरूप २३
पुराणों की दो धाराएँ ९
पुराणों की वेदसदृशता ३७
पुराणों की वेदापेक्षया प्राचीनता ४१
पुराणों की संग्रहात्मकता ३१
पुराणों के असाम्प्रदायिक विषय ३२
पुराणों के पाठ ७
पुराणों में सर्वसम्प्रदायों का समन्वय ५०
पुराणोक्त शाखाप्रकरण २३७
पुरुष ३४७
पुरुषगतिसाम १७५
पुरुषगीति १७५
पुरुषव्रत साम १७५
पुरुषसूक्त १७५, २०३, २०४, ३३०, ३३२

पुरुषोत्तममूर्ति १५१
पुरुषोत्तम-वाद ६०
पुरूरवाः-उर्वशीकथा ४०
पुरूरवाः-उर्वशी-सूक्त २०४
पुरोहित १२०, १८९
पुल ३४२
पुष्टिवर्धन ३२८
पूजन ५९
पूजा ५९, ३४२
पूर्व-मन्वन्तर ७२
पैज २७२
पैतामह व्रत १६१
पैतृकमन्त्र २०५
पैप्पलादक २६९, ३१२, ३१३
पैल २५८
पौराणिक व्याख्या ३२१
पौराणिक व्याख्याओं का वर्गीकरण ३२३
पौरुषेय ३९५
पौरोहित्य १८९
पौष्करसादि ३१४
पौष्टिक सूक्त २०५
पौष्पिण्ड २९९
पौष्पञ्जि ३०१
पौष्यिञ्जि २९८, २९९
प्रकृतिं सत्यमित्याहुः ३३५
प्रगीतमन्त्रवाक्य (साम) १६४
प्रजापति ३३६, ३६२
प्रणव ८०
प्रणव और वेद का सम्बन्ध ३८५
प्रणव से वेदोत्पत्ति ३८४
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा १११, ३२४
प्रतिमन्वन्तर ७४, १२३, ३८८
प्रतिशाखा २५०
प्रतिहार ८०
प्रत्यङ्गिरस मन्त्र १८४
प्रत्यङ्गिरस-योग १८६
प्रत्यङ्गिरससूक्त २०५, ३१३
प्रथम वेद १२७, १२९
प्रधानशाखा २४७, २५०, २५३
प्रपाठकचतुःषष्टि १४३
प्रलयकाल ३८८
प्रवक्तृ-नामानुसारी पुराण २६
प्रवचनभेद २४३
प्रवचनवंश २४१
प्रवृत्त-निवृत्त-कर्म ३५६
प्रवृत्तिमार्ग ३५३, ३५४
प्रशस्ति ९८
प्रशंसा ९८
प्रश्न ८२
प्रसंख्यान ८२
प्रस्ताव ८०
प्राकृतिक दुर्घटना से वेदनाश ३९२
प्राक्तनय २९७
प्राचीनयोगपुत्र ३०८
प्राच्यसामग ३०३, ३०३
प्राजापत्या श्रुति २४३
प्राजापत्य वेद ३८२
प्राण ३३३
प्रायश्चित्त १३०, १२९
प्रैष १५६, १५९, २२१, २२२
प्रैषाध्याय २२२
प्रोक्त ग्रन्थ २४४
प्रोक्ताधिकार २४४
फलवत्कर्मशेषत्व ११७
फलस्तोत्र ७५
बन्धु ७६
बभ्रु ३१४, ३१५
ब्रह्मसम्प्रदाय २८८
बह्वृच् १४४
बह्वृच १४४, १४५, १४८ २५८, ३३७,
बह्वृच शाखा २५८
बालखिल्य ऋचाएँ २७०, २७४
बालखिल्य-मन्त्र २२१, २२२, २७४,
बालखिल्यशाखा २३०
बालखिल्यसंहिता २७४
बालखिल्य सूक्त २२१, २७५
बाष्कल २५९, २६०, २६३, २७३
बाष्कल के शिष्य २६२

बाष्कलशाखा २६१
बाष्कलादि ३९६
बाष्कलि २६०, २६२, २७३
बाष्कलि भारद्वाज २७४
बृहत् १३१, १७१
बृहत्साम १३३, १५९, १७२, १७३, १७५
बृहदारण्यक १०२, १०९
बोध्य २५९
बौध्य २६२, २६३
ब्रह्म २६४, २७६, ३४७, ४०८
ब्रह्मकाण्ड २५६
ब्रह्मकृत् ७१
ब्रह्मघोष ४३५
ब्रह्मज्ञान ३६२
ब्रह्मत्व १३०
ब्रह्मन् (=मन्त्र) ७०
ब्रह्मप्रवचन ७१
ब्रह्मबल ३१२
ब्रह्मयज्ञ ४३३
ब्रह्मराशि ३७८
ब्रह्मर्षि ४२३
ब्रह्मवाक्य ४२८
ब्रह्मवादी ४२१, ४३०
ब्रह्मवेद १३०, १८३
ब्रह्म सूक्त २०६
ब्रह्मा ११७, ११८, ११९, १३०, १८८, ३६२, ३८६ ३९०,
ब्रह्मा और सावित्री का सम्बन्ध २०६
ब्रह्मा से वेद की उत्पत्ति १२२, ३७८
ब्राह्मण (वेदभाग) ६३, ६४, ६५, ६६, २०६, २५०, ४२८, ४३०
ब्राह्म कर्म १३०
ब्राह्मण और यज्ञ ९७
ब्राह्मण का प्रवचन ९९
ब्राह्मण का स्वरूप ९५, ९६
ब्राह्मणकारों की सूची २४०
ब्राह्मण की भाषा ९७
ब्राह्मण की विधियाँ ९७
ब्राह्मण की व्याख्या ९९
ब्राह्मण के लक्षण ९७
ब्राह्मणप्रवचन २४०, २४१
ब्राह्मणप्राचीन कल्पसूत्र ४३०
ब्राह्मण शब्द का अर्थ ९६
ब्राह्मणसम्बन्धी द्विविध दृष्टि ९५
ब्राह्मण संहित ऋग्यजुःसाम ६८
ब्राह्मणों का संहितावत् संहनन २४०
ब्राह्मणों के प्रवक्ता २००
ब्राह्मणवचनों की व्याख्या ३३४
भक्तियाँ १३०, १६९
भद्रकाली देवता २०५
भर्तृप्रपञ्च ३५६
भविष्यत् पुराण १०, १७
भस्मधारण ११२
भस्मान्तं तच्च शरीरं १६०, ३७०
भागवत-सम्प्रदाय २८८
भारण्डसाम १७६
भारद्वाज १७२
भारुण्डसाम १७३, १७६
भिद्यते हृदयग्रन्थिः ११२
भीष्मीस्तवराज ३६३
भूतवस्तु ५८
भूतार्थव्यापक ६२
भूति ३३०
भूत्यै न प्रमदितव्यम् ३३०
भूलोक १३२
भृगु १९२
भृगु-अथर्वन्-अङ्गिरस् १८४
भृगुदृष्ट मन्त्र २३२
भृगुविस्तार ११८, २३३
भृग्वङ्गिरावेद ११८, १९२
भेद २४५
भेरुण्ड साम १७६
भेषज्य-सूक्त १९३, १९९
भ्रातृव्य २४४
मकरदैत्यकर्तृक वेदापहरण ३८६
मण्डलब्राह्मण १०९, २०६
मन्त्रिधातु ७०
मत्स्यकर्तृक वेदोद्धार ३८६
मत्स्यावतार की कथा ४०

मधुकाण्ड २०१
मधुकैटभकर्तृक वेदापहरण ३८६
मधु-दैत्य २०६, ३८६
मधुब्राह्मण २०६
मधुमती २०६
मध्यकठी २८३
मध्यन्दिन २९२
मध्वपरकव्याख्या ३१९
मनु ७५
मनुष्य ३६२
मनोजवा ३२७
मन्त्र ६२, ६७, ७० ७१, ४०८,
मन्त्र (कर्मकरण) ६४
मन्त्रकार ४२१
मन्त्र की त्रिविधता ७६
मन्त्र की महत्ता ६५
मन्त्र के २४ प्रकार ८४
मन्त्रकृत् ७१, ४१७, ४१९, ४२१, ४३१
मन्त्रजिज्ञासु ४३४
मन्त्रत्व १५५
मन्त्रदर्शन १७२, ४१७, ४१८
मन्त्रदृष्टि ४२७
मन्त्रद्रष्टा ४१७
मन्त्रधर्म ८३, ८४
मन्त्रधातु ७०
मन्त्र (नवविध) ८३
मन्त्रपरिमाण २१९
मन्त्रपर्याय ७०
मन्त्रप्रतीक १३९
मन्त्रप्रवचन ७१, ४२८
मन्त्रब्राह्मण ६३, ६८, ६२, ७१, ४२८
मन्त्रभेद ८४
मन्त्रराशि (वेद) ६९
मन्त्रलक्षण ७७, ८३, ८५
मन्त्रवादी ४३०
मन्त्रसंबद्ध ऋषि ४१४
मन्त्रसंहनन २४०
मन्त्रस्थविशिष्टशब्दघटित नाम १७१
मन्त्राविर्भाव ७२, ७४, ७५
मन्त्रो देवता १००
मन्त्रोपनिषद् १०७
मन्त्रों का वर्गीकरण १२२
मन्त्रों का सज्जीकरण १२३
मन्त्रों की चतुर्विधता ७६
मन्त्रों में अनुस्यूत धर्म ८५
मन्देह राक्षस ३३७
मन्वन्तर ७२, ७४
मन्वन्तरानुसार २४६
मरीचि ३४१
महत् ३५०
महती (वीणा) १६९
मर्हषि ४१७, ४२१, ४२३, ४२५
महाराज्य सूक्त २०६
महानात्मा ३५९
महाविद्या १०५
महाव्रत १६७, २०६, २०७
महाशान्तिविधि १८८
माण्डूक २६४
माण्डूकेय २५३, २५९, २६१, २६४ २६५, २६६
माण्डूकेय आम्नाय २६५
माण्डूक्य उपनिषद् ११०
माता रुद्राणां दुहिता वसूनां १५०
माध्यन्दिन २९२, २९३
मानसपुरुष ३३५
मानुष १५८
मार्कण्ड २६२
मार्कण्डेय २६१, २६२, २६५
मिश्र ४८
मिश्रक ३६
मुक्ति ३६२
मुञ्जकेशाः ३१५
मुण्डक १०८
मुद्गल २६८, २६९
मुनि ४१५
मुनि-परम्परा १९, ४१८
मूलभूत पुराण १२
मूलशाखा २४७
मूल संहिताएँ २३

मृत्यु ३२८
मृत्युञ्जय मन्त्र १९५, २०१, २०७, २१३
मैत्र २०७
मैत्रक २०७
मैत्रायणी २४८, २८४
मैत्रीसूक्त २०७
मोक्ष ३५६
मोक्षशास्त्र ३५४
मोद ३१२
मौदक ३१२, २६९
मौद्गल्य २७६
य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत् ३२०
य एष अन्तरादित्ये हिरण्मयः ३३६
यक्ष ३६२
यजुः १५३, ३४७, ४०६, ४०८
यजुःलक्षण ७८
यजुः प्राधान्य १२८
'यजुः' शब्द का अर्थ और निर्वचन १५३
यजुःसंहिता १५७
यजुर्मन्त्र की छन्दोहीनता ७९
यजुर्मन्त्र के पाद ७९
यजुर्वेद १२७, १३३, १५३, १५८,
यजुर्वेद और त्रिष्टुप् १५९
यजुर्वेद का उपवेद १५९
यजुर्वेद का प्राधान्य १२८
यजुर्वेद का स्वरूप १५४
यजुर्वेद की संख्या २५३
यजुर्वेदवित् १५९
यजुर्वेद-विषय १५७
यजुर्वेदीय छन्द का परिमाण २२५
यजुर्वेदीय मन्त्रपरिमाण २२५
यज्ञ १८, ९७, ११७, १२३, ३५१, ३५२, ३५३, ३५६, ३६२
यज्ञघ्नयजुः २०७
यज्ञ-तीर्थ की तुलना ६४
यज्ञनिन्दा ४५, ४६
यज्ञप्रतिपादक वेद ३५२
यज्ञसारथि १७१
यज्ञस्वरूप १५८
यज्ञायज्ञीय साम २०६
यज्ञार्थ-संपृक्त (यजुर्वेद) १५४, १५५,
यज्ञेश्वर विष्णु ३५८
यज्ञो वै विष्णुः ९९, ३६९
यतो वाचो निवर्तन्ते ११२
यदक्षरं वेदगुह्यं ३२५
यमक २००
यमगाथा २०८
यमसूक्त २०८
याजुष्क पथिसूक्त २०३
याज्या-पुरोनुवाक्या
याज्ञवल्क्य १५९, २६३, २६४, २५९, २८१, २८४, २८७, ३००, ३०१
याज्ञवल्क्यकर्तृक शुक्लयजुर्वेदप्रवर्तन २८६
याज्ञवल्क्य के १५ शिष्य २९१
याज्ञवल्क्य-वाजसनेय २८५
याज्ञिक दृष्टि १२८
याज्ञिकों के लोभ, दम्भ, अज्ञान ४५
यातयाम २९०, २९१
यामसाम १७१
यास्क २७६
युगान्त में वेदनाश ३९३
युञ्जत इत्यनुवाकं तु १९५
युद्धशास्त्र १५९
ये रुद्रास्ते खलु प्राणाः ३३५
योऽन्यां देवतामुपास्ते ३३८
योऽसावादित्यपुरुषः सोऽसावहम् १६०, ३२५
योग की कालनष्टता ३८९
योगाभ्यास ३६२
यो जात एव प्रथमो मनस्वान् १५१
योनिऋक् १७२, १७३
योनिगान १६३
योनिभूत ऋचाएँ १६३
रक्षोघ्न १७१, १७६, १९६, २०८
रजनी (=रात्रि) सूक्त २०८
रथन्तर १३१, १३२, १४६, १७०, १७३, १७२ २७१

रथन्तररीति १७२
रथन्तरसाम १७६
रवि ३४६
रहस्य-ब्राह्मण १०१
राक्षस ३६२
राजकर्म १८७
राजकर्मसूक्त २०६
राजन १७२
राज-कार्य १९१
राजन-रोहिण १७६
राजन्य १३३
रार्जषि ४२३
राणायनी ३०७
राधा १८०, ३४९
रात्रिसूक्त २०८
रुद्र ३४०, ३४१, ३४६, ३४८, ३५०
रुद्रगायत्री २१०
रुद्रसंहिता १७६, २१०
रुद्राध्याय २०९
रोमहर्षणिका संहिता १८, २४१
रौद्र आथर्वण मन्त्र से स्वमांसहोम १९१
रौद्रकजप २०९
रौद्रसूक्त २०९
रौरवसाम १७६
रौहिण १७२, १७६
लक्षण ८४
लक्षश्लोकात्मक वेद २२०
लक्ष्मी सूक्त २१०
लघुत्वमारोग्य ३२५
लाङ्गलि २९९, ३०६, ३०७
लुप्त ऋग्वेदीय मन्त्र २२१
लोकवृत्त १०, १८
लोकायतिक ४७
लोमहर्षण २५, २६
लोमहर्षणिका २३
लोगाक्षि ३०५, ३०६
वयस्साम १७६
वराह ३५३, ३८६
वरुण-हरिश्चन्द्र की कथा ४०
वर्णस्तोभ ८१
वर्णाश्रम ३६२
वर्ष ३४६
वलाक २७२
वसिष्ठ १४८, १९२
वसिष्ठशाखा ३६४
वस्तुवाद ५८
वह्निसूक्त २१०
वाक् ४०९
वाक्यस्तोभ ८१, ८३
वाग्रूप धेनु ३३६
वाजसन २८१, २८५, २८७, २८९, २९०
वाजसनेय २९२
वाजसनेयक वेद २२७
वाजसनेयी २९२, २८५
वाजसनेयी शाखा २८६, २८७
वाजसनेयी संहिता २२७
वाजसनेयों की मंत्रसंख्या २२९
वाजिरूपी विष्णु ३८६
वाजिरूपी याज्ञवल्क्य २८७
वाजिरूपी सूर्य २९०
वात्सक २६९
वात्स्य २६८, २६९
वामदेव मन्त्र २१०
वामदेव्य साम १७१, १७२
वामसूक्त २१०
वामीयक २१०
वारवन्तीय १७१
वारुण २१०, २११
वारुणी ऋक् २११
वार्त्रघ्नलिङ्गमन्त्र २११
वार्ताशास्त्र १९३
विकर्षण ८१
विकर्णसाम १७६
विकल्प (=शाखा भेद) २४२, २४३
विकार ८१
विकृतियाँ (जटादि) ३९५
विकृतियों की अनावश्यकता २९६
विकृतिवल्ली की टीका २३९

विद्या ४६, ३३७
विद्यागणना ५६
विद्याप्रवर्तक ऋषि ४१४
विधानकल्प १८८
विधि ९७, ९२
विधि-अर्थवाद ६३, ९६
विधि-अर्थवाद-अनुवाद ९६
विधिदृष्ट कर्म ४२९
विधिभाग ६५
विधिलक्षण ९७
विधेय ९७
विध्यर्थवादमन्त्रात्मा ६३
विध्यात्मक ब्राह्मण ९७
विनियोजक (ब्राह्मण) १५५
विभ्राट्सूक्त २११
विमर्श ६१
विरज २७२
विराम ८१
विरूपाक्ष २११
विलाप ८२
विश्लेषण ८१
विश्वरूप ३८२
विश्वावसु आदि गन्धर्व १६३
विषय १६६
विष्णु ३४३, ३४७, ३५८, ३६२, ३८६, ३८७, ३९०
विष्णुपुराण २
विष्णु-व्रत-साम १७८
विष्णु सूक्त २११
विष्णुस्वरीय साम १७८
विष्णोर्नु ३२६
वृक्षोद्यापन १५०
वृत्ताढ्य १५४, १६३
वृत्र ३४१, ३४९
वृषाकपि २११
वेद ४३, ६५—६८ १०५, १६८
वेद (अनेक वेद की उत्पत्ति) ३८०
वेद (अन्योन्यमिश्रित) ३९१
वेद (ईश्वर प्रणीत) ३७५
वेद एक है ११३
वेद और उपनिषद् १०६
वेद और कर्ममार्ग ३५३
वेद और तन्त्रधारा का योग ४९
वेद और दिक् १३५
वेद और पदक्रम ३९७
वेद और पुराण की पृथक् धाराएँ ३६
वेद और शिवागम ३२०
वेदकल्प १८८
वेद का अपराविद्यात्व ५६
वेद का आविर्भाव: ३७७, ३९८
वेद का चतुर्धा विभाग १२१, १४७, १८८
वेद का नाश ३९४
वेद का प्रकटन ७३
वेद का प्रतिपाद्य विषय ३५१
वेद का प्रथम मन्त्र १३६
वेद का मुख्य तात्पर्य ३५१
वेद की उत्पत्ति ३७५, ३८४
वेद की स्थिति (कलि में) ३९२
वेद के अंशों का लोप ३९२
वेद के नित्यतापरक विशेषण ४३
वेद के पर्यायवाची शब्द ४०६
वेदगत शब्दों के पौराणिक पर्याय ३४३
वेदगान १६९
वेदचतुष्टय ११६
वेद-तात्पर्य ३५८, ३५९
वेदधर्म की जटिलता ४६
वेदधामरस १६२
वेदधारा १५
वेदधारा के उच्छेद १२२
वेदनामक्रम में परिवर्तन १२६
वेदनामघटित स्तुति १२६
वेदनाम-निर्देश १२४, १२५
वेदनाश ३८६, ३९०
वेदनाश का काल ३८९
वेदनाश की प्रवाहनित्यता ३८२
वेदनाश-जनित हानि ३९१
वेद (नित्य और औपरुषेय) ३७५
वेदनिन्दा ४३, ४४, ४५, ४७
वेद-परिमाणनिर्देशक ग्रन्थ २१८

वेदपरिमाणविचार की आवश्यकता २१८
वेदपादात्मक शिवस्तोत्र ३५०
वेदपारायण ४३५
वेदपुरुष, महापुरुष, शरीरपुरुष ३३८
वेदप्रतारण १
वेदप्रतिपाद्य विषय ३५७, ३५८
वेदप्रतिपाद्य द्विविधकर्म ३५४
वेदप्रशंसा ४२
वेदप्रामाण्यवाद ३९
वेदबाह्य ३७, ४७, ४८
वेद (ब्रह्म) ४३
वेदभ्रम-भञ्जक ४२
वेदमत ३६१, ३६२, ३६५
वेदमत का आंशिक परिवर्तन ३६४
वेदमत का यथावत् निर्देश ३६४
वेद (मन्त्रब्राह्मणात्मक) ९५
वेदमन्त्रव्याख्या की प्राचीनता ३२०
वेदमन्त्रों का यज्ञपरक अर्थ ३५७
वेदमन्त्रों की व्याख्या ३१९
वेदरहस्य ३६०
वेदवचन ३६३, ३६९
वेदवाद ३६७
वेदवादिमत ३६६, ३६७
वेदवादी ६१
वेदविद् ३६१, ३६३, ३६६
वेदविद्या ५६
वेदविभाग १४७, २४६
वेदविरुद्ध ४७, ५०
वेदविरोधी असुर ३९९
वेदव्रतसाम १७६
वेदव्याख्या ३२०, ३२१
वेदव्यास २४९
वेद शब्द का एकवचनान्त प्रयोग ११५
वेद शब्द का गौण तात्पर्य ५९
वेद शब्द का तात्पर्य ५८
वेद शब्द के कुछ विशिष्ट प्रयोगस्थल ६१
वेदशब्दपूर्वक सृष्टि ४३
वेदशाखा की संख्या २५२
वेदश्रुति ३८७
वेद-संज्ञा का विस्तार ६६
वेदसंबद्ध छन्द आदि १३१
वेदसम्बन्धी काल्पनिक तुलना १३५
वेदसाम १६९
वेद से असंबद्ध मत ३६६
वेद से शास्त्रों की उत्पत्ति ४३
वेदस्वीकार ४३४
वेदादिम-मन्त्र १३६, १३७
वेदाध्ययन ३९२, ४३२
वेदाध्ययन के चार भाग ४३५
वेदाध्यापक ४३६
वेदानुशासन ३६३
वेदान्त १०५, १०६
वेदान्तगुह्योपनिषद् १०५
वेदापहरण ३८६
वेदापहरणसम्बन्धी कथा ३८७
वेदाभ्यास ४३४
वेदार्थ ३५७, ३६०
वेदार्थवित् की श्रेष्ठता ४३३
वेदार्थविप्लव ३८६
वेदाविर्भाव १३८
वेदाहमेतं १६०, ३२४, ३२९, ३३२
वेदोच्चारण ४३५
वेदोत्पत्ति ३७५, ३७८, ३८५
वेदोद्धारक विष्णु ३९०
वेदोद्धार २४७, ३९१
वेदों का आविर्भाव ३८४
वेदों का क्रम १२४
वेदों की एकात्मकता ११४
वेदों की तुलना १२७, १२९
वेदों की संख्या ११३
वेदों का उच्छेद २४७
वेदों का गोत्र १३६
वेदों का रूप १३५
वेदों का विशिष्ट अध्ययन ४३५
वेननृप १९२
वेयगान १६३
वैताल २७२

वैतानिक ब्रह्मत्वादिविधि १८८
वैदिक ३६
वैदिक कथा ४०
वैदिक कर्मयोग ३५५
वैदिक धर्म का नाश ३८९
वैदिक निगम ४०७
वैदिक मत ३६१, ३६३
वैदिक वाक्य का उद्धरण ३६८, ३७०
वैदिक-शब्दनिर्वचन ३४८
वैदिक-शब्दबहुल स्तुतियाँ ३५०
वैदिक शब्दार्थ के उदाहरण ३४०
वैदिक शब्दों का अर्थ ३४०
वैदिकी श्रुति ५८, ३६६, ४०९
वैराज साम १३१, १३५, १७६, १९२
वैरूपसाम १३१, १३४, १६७
वैशम्पायन २७७, २८६
वैशम्पायनकृत शाखा २५४
वैशम्पायन के शिष्य २५४
वैश्य १३४
वैश्वदेव सूक्त २१२
वैश्वानर ३४०
वैष्णव दृष्टि ३५८, ३८३
वैष्णव साम १७८
वैष्णवागम ५०
वैष्णवानुवाक २११
वैष्णवी गायत्री १९६
व्यवधारणकल्पना ४३०
व्यास १०, २६, २४९, २९६, ३७६, ३९२
व्यासकृत पुराणसंहितानिर्माण २०
व्यास द्वारा वेदविभाग २४७
व्यासपरम्परा के सूत २५
व्यासपूर्व पुराण १०
व्यासपूर्व शाखाप्रणयन २४६
व्याहृति या महाव्याहृति २१२
शक्ति ३५९, ३६२
शंकराचार्य ५६, ३५६
शाखाप्रणयन २४७
शङ्खासुर कर्तृक वेदापहरण ३८६
शतऋक् २१२
शतकल्प ११९, १८६
शतपथ १००, २४१
शतबलाक २७१
शतबलाक्ष मौद्गल्य २७३
शतभेद ११९
शतरुद्र २१२, २१३, ३९८
शतरुद्रिय २१२, २१३
शतर्ची २१२
शतशब्द २५२
शतशाखा (अथर्ववेद) १८६
शतसाहस्र संज्ञित २२०
शंनो देवी १३९
शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ४३३
शब्द ब्रह्म ४१०
शब्दयोनि ४१०
शब्द (=वेद) ४१०
शरीर ३४८, ३६२
शस्त्र १२९, १४६, १६६
शाकपूणि २७२, २७३, २७१
शाकपूणि रथीतर २७१
शाकलक २६७
शाकल-बाष्कलौ २६७
शाकलशाखा २२४, २४८, २५३, २६४, २६५
शाकल्य २६५, २६६, २६७, २७४
शाकल्य के शिष्य २३९, २६८
शाकल्यकृत पदपाठ २६६
शाकल्य-सतीर्थ्य २७३
शाकुन सूक्त ११३
शाक्त दृष्टि ३५९
शाक्तागम ५०
शाक्तागम सिद्धान्त ४९
शाक्रसूक्त २१३
शाखाओं की पूर्ण संख्या २५२
शाखाकार व्यास २४९
शाखाकार व्यासशिष्य २४९
शाखा के प्रकार २५०
शाखाध्यायी (चरण) २५१

शाखानाम की आनुपूर्वी २५६
शाखानिर्माण काल २४७
शाखानिर्माण क्रम २४८
शाखाप्रकरण में अनुक्त शाखाएँ २७५
शाखा-प्रणयन २३७, २४४, २४५, २४६
शाखाभेद २४३, २४६, २४८, २५४
शाखारण्ड १३७
शाखा-लक्षण २४३
शाखा (मन्त्रात्मक संहिता) २३९
शाखाविवरण का वैदिक मूल २३९
शाखाविवरणों का प्रामाण्य २३८
शाखासंख्या में मतभेद २५२
शाखासम्बन्धी पौराणिक विवरण २३८
शाखा सामग्री २३७
शाखास्वरूप २४१
शाङ्ख २७६
शाङ्खायन २७५, २८९
शाङ्खायन-माण्डूक २६२
शाङ्खायन संहिता २२२
शान्ति (१८ महाशान्ति) १८८
शान्ति, शान्तिक १७८, २१३
शान्तिक-पौष्टिक-आभिचारिक १८७
शान्तिक-पौष्टिक कर्म १८७
शान्तिकल्प १८८
शान्तिकर ११९
शान्तिकरणाध्याय ११४
शान्तिकर्म ११७
शान्तिद्वय २१३
शान्तिधर्म २१३
शान्तिपुष्टि १२०, १८७
शान्ति-पुष्टि-अभिचार १९१
शान्तिपुष्टिकारक अथर्ववेद १८५
शान्तिसूक्त २१४
शार्दूल ३०४
शार्व अनुग्रह १२३
शालीय २६८, २६९
शांशपायनकृत संहिता २४
शास्त्र ६३
शिरः २१४
शिव २१४, ३५८, ३६२
शिव (=वेद) ४१०
शिवसंकल्प २१४
शिव से वेदोत्पत्ति ३८३
शिवागम ६७, ३२०
शिशिर २६९, २७०, ४१३
शिशुमार ३३६
शिष्य ४३५
शुक्रिय २१४, २२९, २२७, २२८
शुक्ल २९०
शुक्ल-कृष्ण-रूप द्विविधता २२९
शुक्लयजुः १३८, २५४, २८४, २८७, २८९
शुक्ल-याजुष शाखा १५९
शूद्र ११८, ११९, १८७
शूद्रा वाजसनेयिनः ३९४
शैवदृष्टि ३५८
शैवागम ४९, ५०
शैवादिमतों का (वैदिक-अवैदिक रूप) अन्तर्विभाग ४७
शैशवसाम १७८
शैशिरीय समाम्नाय २७०, ४१३
शैशिरीयसंहिता २७०
शौशिरिशाखा २७४, २४८
शोषणी विद्या १९२
शौनक १०३, १९२, ३१३, ३१४
शौनक शाखा १३९, २०३, ३१३
शौष्कायनि ३१२
श्रायन्तीय साम १७८
श्रीपति ३५७
श्रीसूक्त १२६, १५१, १७८, २१०, २१४
श्रुतर्षि २७९, ४२२, ४२५, ४२६, ४३२
श्रुति ६१, १०५, ३३४, ३६१, ३६६, ३८८, ४१०, ४१२, ४१३
'श्रुति' का अभिप्राय ६७
श्रुतिगत कथा ४११
श्रेष्ठ साम १७४

श्रोत्रिय २५२
श्रोत्रिय ४३४
श्रौत-अश्रौत रूप द्विविध भेद ४७
श्रौतधर्म ४४, ३५३
श्रौत परम्परा ४१२
श्रौतयज्ञधारा १५
श्रौतयज्ञार्थ ११७
श्यामायणि २७८, २७९
श्लोकाध्याय २१५
श्वेताश्वतर ११०, २८३
षडङ्ग (वेदनामक) ६७
संक्षिप्त १२३
संख्यावाची शब्दों का अर्थ २२०
संग्रहश्लोक ९८
सग्राम्यारण्यक २३०
संज्ञाकर्म ४१९
संन्यास ४४, ३५६, ३६२
सत्यगण २१५
सत्यतर २६५
सत्यव्रत सामश्रमी २३९
सत्यश्रवाः २६५
सत्यश्री २६५, २७३
सत्यहित २६५
सदाचार ३६२
सनातन धर्म ४२
सनातनी ३७७
सन्ध्याकर्म ३३७
सन्नति, सन्नतिमान् ३००, ३०३
सपञ्चाङ्ग रुद्रजप २०९
सप्तदश १३१
सप्तदश-स्तोम १३४, १६७
सप्तर्षि ७५, ४२२, ४२५
सप्तर्षि-प्रोक्त मन्त्र ७५
सप्तर्षि में मन्त्रों का प्रादुर्भाव ७४
सप्तविध ऋषि ४२६
सप्तविध्य ८०
सप्तस्वर १६९
सबालखिल्य २२८
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा ३२४
समाम्नाय ४१३
सम्प्रदायाभिनिवेश ३७०
सरस्वती पूजा १६१
सरस्वतीस्तुति २८६
सर्गश्च प्रतिसर्गश्च १९
सर्पवेद ५७
सर्पसाम १७९
सर्वं खल्विदं ब्रह्म ११२
सर्वगेयपुरःसर १६३
सर्वमन्त्रलक्षण ८२
सर्ववेदवित् १३०
सर्वशाखा २५०
'सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म' सिद्धान्त २४१
सर्वाननशिरोग्रीवः ११२
सविस्तर वेदाध्ययन ४३६
सस्वरवेदपाठ ४३४
संहनन ११५
सहस्रनाम (कृष्ण के) १८१
सहस्रशब्द २५२
सहस्रशाखासहस्रगीत्युपाय २५५
सहाय ६३
संहिता २४
संहिताओं का संस्कार १४७
संहिताओं के प्रवचन २४९
संहिताकल्प १८८
संहितादिविधि १८८
संहिताध्ययन ४३६
संहितापदक्रम ४०१, २६७
संहितापाठ ३९५
संहिताप्रवचन २४०
संहिता-प्रवर्त्तक २३९
संहिताभेद २३९, २४८
संहिताविकल्पक २४०
सहोह २३०
सात्यमुग्र ३०६
साप्तमक्तिक ८०
साम ८१
साम और स्वर १६९
साम की अशुचिता १६६
साम के पर्याय १६२

साम के साथ ब्रह्म का निकटतम सम्बन्ध १६५
सामगान ८१, १६८, १६९, २५५
सामगान और भक्तियां १६९
सामगान और वाद्य १६९
सामगानपरिमाण २३१
सामगानों के नाम १००
सामतर्पण २९६
सामनामकरण १७०, १७१
सामलक्षण ८०, ८१
सामपरिमाण २३०
सामभक्तियाँ ८०
साममन्त्रपरिमाण २२९
सामयोनिमन्त्रसंहिता २३०
सामवेद १२७, २३०
सामवेद का आविर्भाव १६४
सामवेद का उपवेद १६८
सामवेद का निर्माण १६४
सामवेद का प्राधान्य १२९
सामवेद का स्वरूप १६३
सामवेद की उपयोगिता १६६
सामवेद की महत्ता १६४
सामवेद की सहस्र शाखाएं २९८
सामवेद के साथ जगती आदि छन्दों का सम्बन्ध १३३
सामवेद-विधान १७९
सामवेदीय अभिचार कर्म १६७
सामवेदीय दुर्गामन्त्र १८०
सामवेदीय पदपाठ २६७
सामवेदीय राधानिर्वचन १८०
सामवेदीय व्रत १७९
सामवेदीय शाखा में कृष्णसहस्र नाम १८०
सामवेदोक्त ध्यान १००, १८१
सामवेदोक्त षोडशविध कृतघ्न १८०
सामशक्ति १६६
सामशाखा की संख्या २५५
सामशाखानाश २५५
सामसंगीत १६८
साम्प्रदायिक दृष्टियाँ ४६, ३५७, ३६५ ३८२, ३८५,
साम्प्रदायिक विद्वान् ३७६
साम्प्रदायिक वेदव्याख्या ३१९
सारस्वत ३९२
सारस्वत सूक्त २१५
सार्थ वेदाध्ययन ४३३
सावनसूक्त २१५
सार्वणिकृत संहिता २३
सावित्र सूक्त २१५
सावित्री १६१, १९९,२०६,२१५,३८५
सांख्य ३७, ३८९, ४२०, ४२६
सांख्यीय पारिभाषिक शब्द ३७
सितासिते सरिते १५२, ३७१
सिद्धार्थपरक वेद ५८, ३६७
सुकर्मा २९६, २९८
सुगन्धि ३२८
सुत्वा २९०
सुधूम्रवर्णा ३२७
सुपर्णप्रेक्ष २३०
सुपर्ण, सौपर्ण १७९
सुमङ्गल सूक्त २१५, २१६
सुमन्तु २९६, २९७, ३०९, ३१०
सुलोहिता ३२७
सुक्त १४६, १५६
सूक्त-ब्राह्मण-मन्त्रवान् (यजुवद) १५४, १५५
सूक्ष्मासूक्ष्म २१६
सूत १३, २५, २६
सूतजाति १२, २५
सूत-प्रोक्त पुराण १३, २४
सूर्य (तत्प्रोक्त वेदरहस्य) १००
सूर्य २८७, ३५९, ३६२, ३८४
सूर्योपासना ३५९
सृष्टिकाल में अनेक वेद ३८०
सैन्धव ३१५
सैन्धवायन ३१४, ३१५
सोत्तर १०६
सोम का छन्द १३४
सोमेन सह राज्ञा १५०, ३६९
सोमो ददद् गन्धर्वाय ३३२
सोम्य सूक्त २१६

सौक्रत १७१
सौति २६
सौदर्शिनी ऋक् २१६
सौपर्ण ७१, २२१, २२२
सौपर्ण ऋक् २२२
सौपर्ण सूक्त २१६
सौभरि २६६
सौर मन्त्र २१७
सौरसूक्त १७९, २१६
सौवर्ण २१६
स्कन्द २१७
स्कम्भ सूक्त १९८
स्तावक ६२, ६३
स्तुति-स्तोत्र १२९
स्तुति-स्तोम १६५
स्मृति ३८८
स्मार्त धर्म ४४, ५०
स्मृति-पुराण का विरोध ४२
स्तोत्र (चतुर्विध) ७५
स्तोत्र १३०, १४६, १६६
स्तोत्रगत साम १३०
स्तोत्रस्तोम १६६
स्तोभ ८१, ८३, १६७, १६९
स्तोम १३०, १३२, १३३, १४६, १६६, १६७
स्थापत्य १९२, १९३
स्नातक ४३३
स्फुलिङ्गिनी ३२७
स्वकीय मन्त्र १७०
स्वकुलक्रमागत शाखा २५१
स्वगृह्योक्तविधान १९६
स्वपरम्परागत मत ३६५
स्वभाववादी ४७
स्वयम्भू ४२५, ४२७
स्वर १६९
स्वरित १६९
स्वशाखा ११५, १३७, १५१
स्वसूत्रातिक्रमण ६९
स्वस्त्ययन २१७
स्वाध्याय ११५, २४३
स्वाध्याय शब्द ४३५
स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ६८
स्वायम्भुव ४२५, ४२७
हयग्रीव ३८६
'हवि' 'हावि' 'हायि हावु' आदि स्तोभ १६९
हारिद्रव २४८
हिंकार ८०, ८२
हिरण्यगर्भ १६०
हिरण्यगर्भ द्वारा यज्ञार्थ वेदनिर्माण ३७८
हिरण्यगर्भ प्रजापति की उपासना ३८४
हिरण्यगर्भ सूक्त २१७, ३२९
हिरण्यनभ २९९, ३००, ३०१
हिरण्यनाभि २९९
हिरण्यवर्णां हरिणीम् १५१
हिरण्याक्षकर्तृक वेदापहरण ३८६
हुम् (उच्चारण) ८१, ८२
हृदयाकाश या चिदाकाश से वेद का आविर्भाव ३८१
होतृकर्म १४५
होतृवेद १४५
होत्र १४९

वर्णानुक्रम के स्थापन में अनुस्वार और विसर्ग को अव्यवहित पूर्व स्वर में अन्तर्भूत कर लिया गया है; पहले अनुस्वारघटित और उसके बाद विसर्ग-घटित सब्द संकलित हुए हैं।

शुद्धि-पत्र

आकरस्थल-निर्देशपरक संख्याओं में कुछ स्थल अशुद्ध रूप से मुद्रित हुए हैं। निम्नोक्त सूची के अनुसार उन स्थलों को शुद्ध कर लेना चाहिए। पृ० १६२ में द्वितीय परिच्छेद मुद्रित हुआ है, जो तृतीय परिच्छेद होगा।

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रितपाठ	शुद्ध
१६	२५	१।७।२४	११।७।२४
१६	२५	१३।२।१।१२-१३	१३।४।३।१३
१६	२६	१।४।१-२	३।४।१-२
३०	९	१।१९।१-३	१।९९।१-३
४९	२९	५।१३८	६।१३८
५९	१३	१।७।१६७	१।९।१६७
८८	१७	३।१६	२३।३५
९२	२७	४।२।१०१	४।३।१०१
९३	९	११।३	११।३।३
९६	२२	३।१।९।१०	३।१।९
१००	२	२।२।२।२४	२।४।२।२४
१०५	१८	१४४।१४-१५	२४४।१४-१५
१०८	१३	३।१ख०	३।१२ ख०
१११	२४	१।४।६-८	१।४४।६-८
१११	२९	१।३।३९	१।३।९
११२	१६	३९।६२	३९।६३
११३	१५	२।४।२	३।४।२
१२२	२२	२।५।१०	२।४।१०
१३१	१३	१।१७।२०	१।१७-२०
१४४	१८	१२।६।६२	१२।६।५२
१५७	१७	६०।१८८	६०।१८
१५८	१	४७।४३	४७।४४
१५८	१	४७।२	४७।२७

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रितपाठ	शुद्ध
१६०	१४	४।७।३१	४।७।४१
१६०	१६	१।६।१।११	१।६।११
१६१	१०	२।८।५३-६८	२।८।५३-६१
१६३	१३	२।२६-२७	३।२७
१६४	२९	३।१०-६	३।१०।५
१६८	११	१६।८८	१६।४८
१७३	३१	९३।१२३-१३२	९३।१२९-१३२
१७४	२१	११।२।१२३	११।२।२२३
१७५	२४	३६५।२८	२६५।२७-२८
१७६	२४	५८।३८	५८।२६
१७६	२९	९३।२३१	९३।१३१
१७७	८	२।२३	३।२३
१८५	९	११।५	११।१५
१८६	२	२०।११३-१८	२०।२।१३, १८
१९१	११	१०।२।२	१०।२।५
१९५	९	१।२।४२	१।२७।४२
१९७	२०	३।१९।२	३।१२।१३
२०३	८	१।४८।५३-५५	१।४८।५३-५६
२०४	१४	२६६।६२	२६६।५२
२०८	१५	१।२।१४-१-२	१।२।१४।१-२
२०८	२२	५।४१।४७	५।५१।४७
२०९	१०	१।१४४	१।११४
२११	४	१।२४१९	१।२४।१४
२११	३०	९६।४७	९६।४०
२१२	१०	६४।१५	६४।१६
२१२	३०	२।११।५७	२।३१।५७
२१७	२	४।५९।६	४।४९।६
२२५	४	२४६।१६	२४६।१४
२४१	२५	३।६।३	३।९।८
२५१	२०	३।४।३	२।४।३
२५१	२६	५।३।६३	४।१।६३

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रितपाठ	शुद्ध
२५४	५	२०	२७
२७७	११	१।३६।१४	१।३५।१४
२९४	२४	१।२।२७	१।२।२०
२९७	३०	३।१।१५	३।१।२५
२९९	२	३।९।३	३।९।८
३००	१९	१।३०।४२-४४	१।२०।४२-४४
३०४	२	१।३०।४२-४४	१।२०।४२-४४
३१४	११	५।१।१६३	४।१।१६३
३२१	२९	१।९१।४४९	१।९१।४९
३२५	१९	१।१६४।२९	१।१६४।३९
३३०	७	६।२५५।५७	६।२५५।६७
३३०	२५	६।२५५।७०-७३०	६।२५५।७०-७३
३३५	२४	२२।२४	१।२२।२४
३४०	११	१।२२।५।५-६	१।२२।५-६
३४०	२१	१४।८१०।१	१४।८।१०।१
३४६	१	५९।३३	५९।१३३
३४८	१४	३।५५।३	३।३५।३
३६३	२५	१।२।३	१।२।६३
३७५	१८	२।१६८	२।१।६८
३८३	२८	२।५-१५	२।५।१५
३८५	१२	१।७१।२४	१७१।२४
३८५	२६	३।१३।१	३।१२।१
३८८	१३	३९।१०५	३३९।१०५
४०६	१९	१।५।२५	११।५।२५
४०९	१६	२।१।१४	२।१।२४
४२१	२९	३१-३२	२९-३५
४२५	९	४५।६५-८९	१४५।६५-८९
४३३	१२	२।१४।६८-६७	२।१४।८६-७
४३४	२	१०।११।१	१०।७१।४
४३४	२९	२८	२७
४३६	८	४।८५-९	४।८५।९